प्रकाशक :
श्री बड़ाबाजार कुमारसभा पुस्तकालय
१५६ महात्मा गांधी रोड
कलकत्ता - ७०० ००७

प्रथम संस्करण : ९०० प्रतियाँ
जनवरी १९७९
मूल्य : २५)

मुद्रक :
महावीर प्रेस, वाराणसी
[illegible] प्रेस, कलकत्ता

प्रकाशकीय

संकल्प की पूर्ति में वाधाएँ भी कम नहीं आतीं, किन्तु शुभ संकल्प ही शक्ति देता है उनका अतिक्रम करने की। हमें प्रसन्नता है, "सूरदास : विविध सन्दर्भों में" हम समय से प्रकाशित कर सके।

हिन्दी साहित्य के सृजन एवं प्रचार-प्रसार के इतिहास में जो स्थान कलकत्ता का है, वही स्थान कलकत्ता की साहित्य-सेवी संस्थाओं में श्री वड़ावाजार कुमारसभा पुस्तकालय का है। सन् १९१८ ई० में अपने जन्म से ही, राष्ट्रीय विकास के हर चरण में अपना सक्रिय और सारस्वत योगदान करने की, पुस्तकालय की परम्परा रही है। 'यंग इण्डिया' में प्रकाशित महात्मा गांधी की लेखमाला को पुस्तकालय ने १९२२ ई० में दो खण्डों (१२५० पृष्ठ) में प्रकाशित किया था। उसके पश्चात् नोवेल पुरस्कारप्राप्त अनातोले फ्रांस की 'थाया' के प्रेमचन्दकृत अनुवाद 'अहंकार' का प्रकाशन किया। किन्तु पुस्तक-प्रकाशन के साथ जुड़ी अन्य समस्याओं के कारण इस तरह का प्रकाशन-कार्य दीर्घकाल तक वन्द रहा।

विशिष्ट अवसरों पर राष्ट्रीय-सांस्कृतिक चेतना को झंकृत करने के उद्देश्य से पुस्तकालय ने १९७५ ई० में छत्रपति शिवाजी की राज्यारोहण त्रिशताब्दी पर, १९७६ ई० में हल्दीघाटी चतुःशती पर और १९७७ ई० में वन्दे मातरम् शतवर्ष-पूर्ति पर स्मारिकाएँ प्रकाशित की थीं, जिन्हें राष्ट्रीय एवं अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर भी ख्याति मिली। सूरदास के प्रति अपनी सर्जनात्मक श्रद्धांजलि स्मारिका के रूप में ही अर्पित करने की आरम्भ में हमारी योजना थी, किन्तु विद्वानों के सारस्वत सहयोग ने उसे पुस्तक-रूप देने की प्रेरणा दी। इन विद्वानों के प्रति हम अपनी हार्दिक कृतज्ञता ज्ञापित करते हैं।

हम आभारी हैं उन सवके प्रति जिन्होंने विभिन्न रूपों में सहयोग देकर हमारी योजना-पूर्ति में सहायता की है।

शिवरत्तन जासू
मंत्री
श्री वड़ावाजार कुमारसभा पुस्तकालय

हीरक जयन्ती वर्ष
१९७८

सम्पादकीय

विषमता-पीड़ित मध्ययुग की मानवीय चेतना को सूरदास ने मधुर कोमल स्वरों की रागिनी से सहलाया था, लीला-रस के उच्छल आनन्द से विषण्ण युग-जीवन को आप्यायित किया था। प्रेम सौन्दर्य के गायक थे वे – कृष्ण की भावना में तन्मय। उनके समर्पित जीवन की सहज स्फुरित वाणी उनके अपने युग की तो थी ही, वह दिक्काल की सीमाओं का अतिक्रम कर हमारे जीवन में भी रस-सृष्टि कर रही है।

यह सूर-पंचशती वर्ष है। विभिन्न स्तरों पर नये सिरे से सूरदास के महत्त्व का आकलन हो रहा है। परंपरित दृष्टि तो है ही, आधुनिक दृष्टि भी अपनी भंगिमा से सूरदास का मूल्यांकन कर रही है, युग-सन्दर्भ में उनकी प्रासंगिकता खोज रही है। इन भिन्न दृष्टियों से, अलग-अलग पीढ़ियों के विद्वानों द्वारा सूरदास को देखने-समझने की चेष्टा प्रस्तुत पुस्तक में हुई है। उदार सारस्वत सहयोग के लिए हम इन विद्वानों के आभारी हैं।

अपनी सीमाओं से परिचित हैं हम। सूरदास के महिमामण्डित जीवन, साहित्य, दर्शन और साधना को यह पुस्तक पूर्णतः समेट पायी है, ऐसा दावा हमारा नहीं है। फिर भी यह उनकी समर्थ झलक दे पायेगी, इसी विश्वास के साथ सूरप्रेमियों को यह पुस्तक समर्पित है।

३१ दिसम्बर, १९७८ **जगन्नाथ सेठ**

अनुक्रम

१. प्रणति	आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी	१
२. राष्ट्रीय जीवन में सूरदास	श्री शान्ताकुमार	३
३. भक्त कवि सूरदास : जीवनवृत्त	सुश्री निर्मला भाउवाला	५
४. भक्तप्रवर महाकवि सूरदास के नाम-उपनाम	डॉ० शिवनारायण खन्ना	१०
५. सूर और उनका साहित्य	आचार्य सीताराम चतुर्वेदी	१३
६. सूर की कविता का आकर्षण	डॉ० प्रभाकर माचवे	१५
७. सूर-साहित्य की दार्शनिक पीठिका	डॉ० राममूर्ति त्रिपाठी	१९
८. सूर की आत्मवादी सौन्दर्य-दृष्टि	डॉ० वीरेन्द्र श्रीवास्तव	२३
९. सूरदास का काव्य-सौष्ठव और रस-दृष्टि	डॉ० विजयेन्द्र स्नातक	२९
१०. सूरदास की कीर्तन-पद्धति	डॉ० प्रभुदयाल मीतल	४१
११. वल्लभ-दर्शन के परिप्रेक्ष्य में सूर-काव्य का मूल्यांकन	डॉ० वासुदेव सिंह	४६
१२. हिन्दी साहित्य के प्रथम स्वच्छन्दमार्गी कवि सूरदास	आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र	५५
१३. भ्रमरगीत में सूर की रससाधना का मूल रहस्य	डॉ० गोवर्धन नाथ शुक्ल	५९
१४. सूरदास का प्रकृति-बोध	डॉ० प्रभुदयाल मीतल	६२
१५. वल्लभ सम्प्रदाय में दैन्य-तत्त्व : सूरदास के संदर्भ में	श्री विष्णुकान्त शास्त्री	६५
१६. सूर का वात्सल्य-वर्णन	आचार्य विनयमोहन शर्मा	७२
१७. सूरदास का वात्सल्य-निरूपण	डॉ० जितेन्द्रनाथ पाठक	७७
१८. सूरदास और बाल-मनोविज्ञान	डॉ० वचनदेव कुमार	८५
१९. सखा मध्य मोहन छबि पावत	श्री जगन्नाथ सेठ	९२
२०. सूर की कृष्णप्रिया	डॉ० प्रेमशंकर	१०९
२१. सूर-वर्णित चीर-हरण : एक अनुचिन्तन	श्री श्यामसुन्दर शुक्ल	११४
२२. सूर-वर्णित श्रीकृष्ण रासक्रीड़ा और गोपियाँ	डॉ० राजनारायण राय	१२२
२३. कृष्णप्रिया मुरली	श्री मृत्युञ्जय उपाध्याय	१२६
२४. मानलीला	श्रीमती भारती शर्मा	१३६
२५. सूर के भ्रमरगीत की दार्शनिक पृष्ठभूमि	डॉ० आदर्श सक्सेना	१४४
२६. भ्रमरगीतसार में अभिव्यंजना-कौशल	डॉ० भ० ह० राजूरकर	१५५
२७. सूरदास के उद्धव : भ्रमरगीतसार के संदर्भ में	डॉ० राजमल बोरा	१६०
२८. सूरदास की कुब्जा	श्री लाल बहादुर सिंह	१६४

२९.	भ्रमरगीत : गाँव बनाम नगर	डॉ० युगेश्वर	१६८
३०.	सूर का काव्य-कौशल	डॉ० राजकिशोर पाण्डेय	१७४
३१.	सूर की काव्य-भाषा	डॉ० परमानन्द श्रीवास्तव	१७८
३२.	सूर-साहित्य में अलंकार-योजना	डॉ० रामस्वरूप आर्य	१८३
३३.	सूरदास का दृष्टिकूट-काव्य	श्री चन्द्रप्रकाश आर्य	१९१
३४.	सूर की लोकमंगल-भावना	डॉ० भगवती प्रसाद सिंह	१९७
३५.	सूरदास का काव्य : लोकजीवन के अनुभवों की रागात्मक परिणति	डॉ० वेदप्रकाश अमिताभ	२०४
३६.	सूरसागर में लोकतत्त्व	डॉ० शम्भुशरण शुक्ल	२०९
३७.	सूर का सौन्दर्य-बोध	डॉ० बच्चन सिंह	२१५
३८.	मध्यकालीन वैष्णव चेतना और सूरदास	डॉ० कृष्ण बिहारी मिश्र	२१९
३९.	महाकवि सूरदास की काव्यमयी उपासना	श्री कन्हैयालाल ओझा	२२२
४०.	महाकवि सूरदास का राम-काव्य	डॉ० लक्ष्मीनारायण दुबे	२३३
४१.	सूरदास : कालजयी कवि	डॉ० विजय शुक्ल	२४२
४२.	शाश्वत भावों के कवि सूर	श्री नर नारायण राय	२४५
४३.	सूरदास का गीत-काव्य	डॉ० नगेन्द्र चौरसिया	२४९
४४.	महाकवि सूरदास	श्री श्रीनिवास त्रिपाठी	२५३
४५.	महाकवि सूरदास और उनका काव्योपादान श्रीकृष्ण	श्री वासुदेव पोद्दार	२६१
४६.	सूर का वात्सल्य-चित्रण	डॉ० सोम शेखर सोम	२६८
४७.	सूर के संदर्भ में माधुर्य : एक अनुचिन्तन	डॉ० कमला प्रसाद द्विवेदी	२७२
४८.	सूरसागर	डॉ० सत्येन्द्र	२७६
४९.	सूरसागर और प्राकृत-अपभ्रंश का कृष्णकाव्य	डॉ० मान्धाता राय	२८२
५०.	सूरसागर और रामचरित मानस का दर्शन-साम्य	श्री अमरेन्द्र मिश्र	२८७
५१.	गुजराती कृष्ण-काव्य के परिप्रेक्ष्य में सूरदास का अध्ययन	डॉ० अम्बाशंकर नागर	२९२
५२.	सूरदास : एक और दृष्टि	डॉ० श्यामसुन्दर घोष	३०९
५३.	सूर का सामाजिक सोच	डॉ० रमेश चन्द्र सिंह	३१३
५४.	सूरदास के काव्य की प्रासंगिकता	डॉ० हरदयाल	३१८
५५.	सूरदास की प्रासंगिकता	डॉ० विश्वम्भर नाथ उपाध्याय	३२४
५६.	सूरदास की कविता के प्रगतिशील आयाम	डॉ० शिवकुमार मिश्र	३२८
५७.	सूर की अपेक्षा क्यों है ?	डॉ० रमेश कुंतल मेघ	३३८
	परिशिष्ट		
	श्री गोकुलनाथ कृत "चौरासी वैष्णवन की वार्ता" में कीर्तित सूरदासजी	Prof. Enzo Turbiani	३५१

प्रभाते





आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी

सूरदास महाप्रभु वल्लभाचार्य जी के शिष्य थे। ऐसा कहा जाता है कि पहले वे दैन्यसूचक और विनयपरक पद लिखा करते थे। महाप्रभु वल्लभाचार्य जी के संपर्क में आने से, पहले के दैन्य-परक भजनों का लिखा जाना बंद हो गया और उन्होंनें लीला-गान के पद लिखने शुरू किये। सूरदास का मुख्य वर्ण्य विषय श्रीकृष्ण, श्रीराधा और अन्य गोपियों की प्रेम-लीलाएँ है। उनका मन इन्हीं में रमता है और इन्हीं लीला-पदों में उनका कवि-हृदय अपनत्व अनुभव करता है। महान् गुरु के संपर्क में आने का सबसे सुखद परिणाम यह हुआ कि उन्हें अपने 'स्व-भाव' का पता चल गया। कहते हैं कि महाप्रभु वल्लभाचार्य ने उन्हें अपनी भागवत पर लिखी सुबोधिनी टीका के आरंभिक अंश का ही उपदेश दिया था। बाद में सूरदास ने बहुत कुछ सीखा-सुना होगा, लेकिन उनके 'स्व-भाव' के उद्रेक के लिए उतना ही पर्याप्त था।

असल में सूरसागर शास्त्रीय वैष्णव-भक्ति-शास्त्र से प्रेरणा अवश्य लेता है, पर शास्त्रीय होने की अपेक्षा वह लोक-धर्म के अधिक निकट है। हिंदी प्रदेश के लोक-गीतों में श्रीकृष्ण-लीला का प्रवेश महाप्रभु वल्लभाचार्य से बहुत पहले हो चुका था। इसका मतलब यह है कि इस प्रकार की प्रेम-गीतियाँ, जिनमें कुछ प्रेम और विरह की अनुभूतियों का मार्मिक चित्रण था, पहले से ही लोक में प्रचलित थीं। महाप्रभु वल्लभाचार्य जैसे मनीषियों के संपर्क में आकर भक्त कवियों ने उन्हें सुव्यवस्थित भक्ति-परक गानों का रूप दिया।

सूरसागर में गोपियों की विविध प्रेम-लीलाओं का इतना अधिक वर्णन है कि इसे स्त्री-चरित्र का विशाल काव्य कहा जाये तो अनुचित न होगा। माता के वात्सल्य में तो वह बेजोड़ है ही, प्रेमिका का, पत्नी का, कुमारी का, गृहिणी का, गोपवधू का, परिहास-पेशला का, चुहल करनेवाली का, विरहिणी का, वासकसज्जा का, प्रोषितपतिका का वह अद्‌भुत, स्वाभाविक और सरस चित्रण करता है; परन्तु यह सब कुछ लोक-जीवन के निपुण निरीक्षण पर आधारित है। सूरदास का लोक-जीवन का अद्‌भुत ज्ञान अपने ढंग का अनोखा और अद्वितीय है।

लोक-जीवन ही सूरसागर की लीलाओं की मुख्य सामग्री है। बिसातिन, दही बेचनेवाली, नट-बाजीगर, मेला, पनघट आदि के प्रसंग में सूरदास की वाणी सहस्र सुरों में मुखरित हो जाती है। इस प्रकार लोक-विश्वासों पर आधारित सरस लीलाओं का भण्डार है सूरसागर। उसका मूल प्रेरणा-स्रोत है महाप्रभु वल्लभाचार्य का लीला-विषयक उपदेश, और प्रचुर उपादान जुटाया गया है लोक-जीवन से।

माँ यशोदा, कीरति मैया, नन्दबाबा, राधा और उनकी सखियाँ, ग्वालबाल, सब की विभिन्न परिस्थितियों और उनसे उत्पन्न मनोभावों का ऐसा सहज-मनोहर चित्रण अन्यत्र दुर्लभ है, पर सब कुछ लिया गया है सुनिरीक्षित लोक-जीवन से। गृहस्थ के जीवन के सारे आनन्द, औत्सुक्य, चिंता, प्यार, प्रेम, विरह, सुख-दुख इतनी गहराई से चित्रित होकर भी अन्ततः भगवान् की मधुर लीलाओं में पर्यवसित हुए हैं। इस प्रकार सूरदास जी एक महान् भक्त कवि थे। उनके काव्य में विद्यमान लोकतत्त्व की लोकोत्तर परिणति चकित कर देनेवाली है।

उनकी पाँच सौवीं पुण्यतिथि के अवसर पर उस लोकोत्तर महान् कवि के प्रति मैं हार्दिक प्रणति-निवेदन करता हूँ।

●

चरन-कमल बंदौं हरि-राइ।
जाकी कृपा पंगु गिरि लंघै, अंधे कौं सब कछु दरसाइ।
बहिरौ सुनै, गूँग पुनि बोलै, रंक चलै सिर छत्र धराइ।
सूरदास स्वामी करुनामय, बार बार बंदौं तिहिं पाइ॥

(सूरसागर १)

●

राष्ट्रीय जीवन में सूरदास

श्री शान्ता कुमार

भारतीय लोक-संस्कृति और परम्परा को एक ऊँची पीठिका पर आसीन करने में संतप्रवर सूरदास और उनके द्वारा रचित काव्य-साहित्य का महत्त्वपूर्ण योगदान रहा है। उन्होंने द्वापर के नायक श्री कृष्ण भगवान की वाल-लीलाओं का समसामयिक लोक-आस्था के अनुरूप चित्रण किया और भगवान को एक ऐसे लोकनायक के रूप में प्रस्तुत किया जो सांसारिक के रूप में उन सभी मानवीय गुणों से परिपूर्ण थे जो साधारण जीवधारी में होते हैं। भगवान को लौकिक रूप में प्रस्तुत कर सूरदास ने हमारे समाज को एक नयी आस्था और अवधारणा दी है।

जिस युग में उनका जन्म हुआ, वह भारतीय संस्कृति की पराजय का युग था – शौर्य से निस्तेज, धर्म से च्युत और आध्यात्मिकता से विमुख। हर्षवर्धन (६४७ ई०) का मौखरी शासन नष्ट होने के वाद उत्तर भारत की राजनीतिक अवस्था विशृंखल हो गयी थी। झूठी मर्यादा और इन्द्रिय-लोलुपता के वशीभूत भारतीय सामन्त शताब्दियों तक आपस में लड़ते रहे। उनकी सीमित दृष्टि और असंगठन के कारण महमूद गज़नवी और मुहम्मद गोरी के आक्रमण हुए और फलतः देश को दासता के दिन देखने पड़े। विदेशी शक्तियाँ देश के एक कोने से दूसरे कोने तक अपना दमनचक्र चलाती रहीं। सत्ता, प्रशासन, वाणिज्य आदि सभी क्षेत्रों में उनका आधिपत्य था। देश पूरी तरह टूट चुका था।

ऐसे अन्धकारमय युग में सूरदास का उदय हुआ। रामानन्द, वल्लभ, चैतन्य, कवीर, दादू, मीरावाई, तुलसीदास, नरसी मेहता और तुकाराम जैसे सन्तों की वाणियाँ गूँजीं और पूरे का पूरा जनमानस उस धारा की ओर उन्मुख हुआ। भक्तियुग सांस्कृतिक एवं धार्मिक पुनर्निर्माण का युग था और एक समय इन सन्तों का इतना वोलवाला था कि मुसलमान शासक भी इनके आगे झुकते थे। इनकी वाणी में ओज था और इनके पीछे जन-आस्था की प्रवल शक्ति थी।

भक्ति-आन्दोलन में सूर, कवीर और तुलसीदास का स्वर अधिक मुखर था। सूर के काव्य में उपदेश की शुष्कता न होने के कारण वे न केवल व्रज-क्षेत्र में, वल्कि पूर्व से पश्चिम तक पूरे उत्तर और मध्य भारत में लोकप्रिय हुए। उनके द्वारा रचे गये भ्रमर-गीत और सहस्रों पदों के लालित्य ने समूचे सामाजिक परिप्रेक्ष्य के दृष्टिकोण को ही वदल दिया। कृष्ण के सौम्य और मानवी रूप का प्रभाव लोगों के आचार-व्यवहार पर पड़ा। जन-समुदाय ने, जो गुलाम-परस्त शासकों के अत्याचारों से तंग आ चुका था, अपनी रक्षा-हेतु एक नये मनो-विश्व का निर्माण किया और यह मनो-विश्व था आस्था का, आध्यात्मिक वोध और प्राचीन भारतीय परम्परा के प्रति पुनः समर्पणशील होने का।

भक्ति की यह लहर दक्षिण से आयी थी और उत्तरी भारत में उसकी अधिक आवश्यकता थी, क्योंकि यवनों द्वारा हमारी संस्कृति को नष्ट करने के निरन्तर प्रयास हो रहे थे। इससे पूर्व समाज में ऐसी स्थिति कभी नहीं आयी थी। अनेक आक्रान्ता जातियाँ भारत में आयीं और यहीं की धरती में रच-वस गयीं। यह दो विरोधी जातियों के संघर्ष का काल था। लेकिन मुसलमानों में ही एक सहिष्णु सम्प्रदाय सूफ़ियों का भी था जिसने भारतीय संस्कृति और लोक-आस्था को अपनी साधना और दर्शन का आधार वनाया।

विदेशी संस्कृति से बचाव के लिए भारत में उस समय दो विभिन्न शक्तियाँ कार्य कर रही थीं – एक निर्गुण और दूसरी सगुण। निर्गुण धारा ने जहाँ जातिवाद और धर्माडम्बर के विरुद्ध अपना अभियान छेड़ा, वहाँ सगुण धारा ने पुरानी आस्था को पुनः प्रज्वलित किया। तुलसीदास राम के और सूरदास कृष्ण के चरित्रांकन से लोकमानस को आलोकित कर गये।

सूरदास यद्यपि अपनी साधना के अन्तर्गत पुराने शास्त्रों को मान्यता देते हैं, लेकिन उनके काव्य में अन्य धर्मों के प्रति सहिष्णुता का भाव है। उनके पदों में कहीं भी विरोध की ध्वनि नहीं है। वास्तव में सूर का काव्य लालित्य, वात्सल्य और प्रेम का काव्य है। सूर के समय नाथों और सिद्धों द्वारा प्रवर्तित मत पतनगामी हो रहा था। उनकी अटपटी भाषा और आसन, ध्यान आदि जनसाधारण के उपयोग की वस्तु नहीं थे। पूरे का पूरा योग-दर्शन अन्धविश्वास के कुचक्र में फँस गया था। सूरदास ने 'भ्रमर - गीत' में लक्षणा और व्यंजना का आवरण डाल कर गोपियों के मुख से बड़ी ही शिष्ट भाषा में नाथों के 'निर्गुण' मत पर कटाक्ष किये हैं। उदाहरणार्थ सूरसागर की ये पंक्तियाँ लीजिये –

आये हैं कहियत ब्रज ऊधौ, ब्रज जुवतिन लै जोग।
आसन, ध्यान, नैन मूँदे सखि, कैसे कटै वियोग॥

ऊधो को कृष्ण ने भेजा है गोपिकाओं को समझाने कि वे श्री कृष्ण को उनके सूक्ष्म रूप में ही मानें। लेकिन गोपियाँ प्रभु के 'निर्गुण' स्वरूप से सन्तुष्ट नहीं हैं और ऊधो से कहती हैं कि इस असहनीय वियोग को योग आदि से दूर नहीं किया जा सकता है।

सूरदास ने श्रद्धा और भक्ति को लोकधर्म और युगधर्म के उपादान के रूप में माना है। यही तत्त्व उनके काव्य में भी अनायास ही प्रतिपादित हुआ है। उनका कवि और उनका भक्त जीवन की यथार्थताओं के अधिक निकट है। यही कारण है कि उनके पद आज तक ग्रामजनों का कण्ठहार बने हुए हैं। उनमें संगीत है, सौन्दर्य है और है मानवीय सहजता, जो बड़े ही परोक्ष ढंग से उदात्त मूल्यों को संकेतित करती है। सूर के भ्रमर-गीत ने मुसलमान कवि रसखान को इतना प्रभावित किया कि वह कृष्ण का भक्त बन गया और उनके सम्मान में उसने अनेक पदों की रचना की।

सूरदास ने अपने पदों में मनुष्य-जीवन का पूरा चित्र खींचा है और मनुष्य की विफलता का कारण भजन का अभाव बताया है। भक्ति के अच्छे प्रभाव में उनके शृंगार के पद भी अश्लीलता का आभास नहीं देते। डॉ० हजारी प्रसाद द्विवेदी के शब्दों में "उन्होंने भजन के पारस पत्थर से स्पर्श कराके विलासितारूप कुधातु को सोना बना दिया है।"

सूर महान थे, क्योंकि उनकी रचना महान है। उनके सम्बन्ध में यह दोहा तो अति प्रसिद्ध है –

सूर सूर, तुलसी ससी, उडुगन केसवदास।
अब के कवि खद्योत सम, जहँ तहँ करत प्रकास॥

इससे कवि के रूप में सूर की महानता सिद्ध होती है।

राष्ट्र को एक नया मोड़ देने में सूर-साहित्य का विशेष योगदान है। उनके भक्ति-साहित्य ने समाज को प्रभावित करनेवाले तात्कालिक कुठाराघातों से बचा कर जन-मानस को नया राष्ट्रीय चिन्तन प्रदान किया।

आज भी उनका साहित्य एक महान् राष्ट्रीय धरोहर है। भक्तिरस में प्रवीण संत कवि सूरदास राष्ट्रीय संस्कृति के महान् संरक्षक रहे, इस तथ्य को नकारा नहीं जा सकता। ●



भक्त कवि सूरदास : जीवन-वृत्त

—सुश्री निर्मला भाउवाला

मध्य युग के अन्य भक्त कवियों की तरह सूरदास के जीवन-वृत्त के सम्बन्ध में भी हमारा ज्ञान अत्यल्प है। उनके लिए महत्त्व अपनी अस्मिता का नहीं, आराध्य का था। इसीलिए उनके जीवन सम्बन्धी अन्तःसाक्ष्य नहीं के बराबर मिलते हैं। सम्प्रदाय के विभिन्न ग्रंथों तथा अन्य स्रोतों से जो वाह्यसाक्ष्य मिलता है, उसमें भी श्रद्धा-निवेदन अधिक है, तथ्यपरक सूचनाएँ कम। फिर भी उपलब्ध सामग्री का जो विवेचन आधुनिक विद्वानों ने किया है, उसी के आधार पर यहाँ सूरदास का संक्षिप्त जीवन-वृत्त प्रस्तुत है।

पुष्टि सम्प्रदाय की यह मान्यता है कि सूरदास वल्लभाचार्य से आयु में दस दिन छोटे थे। अतः आचार्य का जन्म संवत् १५३५ होने के कारण सूरदास का भी जन्म संवत् १५३५ ठहरता है। गोसाईं गोकुलनाथ जी की निजवार्ता से, वल्लभाचार्य के वंशज श्री गोपिकालंकार "मट्टू जी महाराज" के एक पद से तथा 'भाव-संग्रह' के रचयिता द्वारिकेश जी के मत से भी इस बात की पुष्टि होती है। यह भी कहा जाता है कि 'भाव-प्रकाश' के रचयिता हरिराय जी के वचनामृतों में भी सूरदास जी के वल्लभाचार्य से दस दिन छोटे होने का कथन है।

डॉ० दीनदयाल गुप्त ने काँकरोली और नाथद्वारा से यह जनश्रुति संग्रहीत की कि सूरदास वल्लभाचार्य से दस दिन छोटे थे। उनके अनुसार "श्री नाथद्वारे में सूरदास जी का जन्मोत्सव श्री वल्लभाचार्य के जन्म दिन वैशाख वदी ११ के वाद वैशाख सुदी ५ को मनाया जाता है।"

"चौरासी वैष्णवन की वार्ता" में सूरदास की जन्म-तिथि का कोई स्पष्ट उल्लेख नहीं है, पर उसकी कुछ घटनाओं के आधार पर डॉ० ब्रजेश्वर वर्मा भी सूरदास का जन्म संवत् १५३५ ही मानते हैं। उनके मत से सूरदास को वल्लभाचार्य के दर्शन सं० १५६७ में हुए। सम्प्रदाय-प्रवेश के समय सूरदास की आयु ३०-३२ वर्ष अनुमान कर वे उनका जन्म संवत् १५३५ स्वीकार करते हैं। डॉ० प्रभुदयाल मीतल को भी यही समय मान्य है।

मिश्र-बन्धु, डॉ० नलिनी मोहन सन्याल आदि कुछ विद्वानों की असहमति के बावजूद प्रामाणिक अन्तःसाक्ष्य एवं विरोधी बाह्यसाक्ष्य के अभाव में वैशाख शुक्ल पंचमी सं० १५३५ ही सूरदास की जन्म-तिथि मान ली गई है।

सूरदास के जन्म-स्थान के संबंध में अन्तःसाक्ष्य मौन है। उसके लिए हमें वाह्यसाक्ष्य पर ही निर्भर करना पड़ता है। मूल चौरासी वैष्णवों की वार्ता में इसके सम्बन्ध में कोई उल्लेख नहीं है।

श्री हरिराय ने 'भाव-प्रकाश' में सूरदास का जन्म स्थान दिल्ली से चार कोस दूर स्थित सीही नामक स्थान को माना है। हरिराय जी के कथन की पुष्टि उनके पूर्वज प्राणनाथ कवि के निम्न कथन से भी होती है –

श्री बल्लभ प्रभु लाडिले, सीही सर जल-जात।
सारसुती दुज तरु सुफल, सूर भगत बिख्यात ॥

आगरा और मथुरा के पास रुनकता एक स्थान है। वहाँ के निवासियों का कहना है कि सूरदास वहीं रहते थे। रुनकता के समीप ही गौघाट एवं गोपाचल है। चौरासी वार्ता के अनुसार वल्लभाचार्य के दर्शन से पहले सूरदास गौघाट में निवास करते थे। अतः डॉ० मुंशीराम शर्मा का कथन है कि संभवतः यहाँ से वे गोवर्द्धन आ गये हों। लेकिन इन मान्यताओं से ऐसा कोई प्रमाण प्राप्त नहीं होता कि रुनकता, गौघाट या गोपाचल उनका जन्म-स्थान था। हाँ, ये स्थान जन्म के बाद उनके निवास-स्थान हो सकते हैं। अतः अन्य प्रमाणों के अभाव में अधिकांश विद्वान दिल्ली के निकट सीही को ही सूरदास का जन्म-स्थान मानते हैं।

सूरदास के नाम से प्रसिद्ध रचनाओं में उनके मुख्यतः पाँच नाम मिलते हैं – सूर, सूरदास, सूरज, सूरजदास, और सूरश्याम। इनके अलावा कुछ पदों में सूरसुजान, सूरसरस, सूरजश्याम और सूरजश्याम-सुजान नाम भी मिलते हैं। प्रश्न यह है कि ये नाम भिन्न भिन्न व्यक्तियों के हैं या एक ही व्यक्ति के हैं। डॉ० ब्रजेश्वर वर्मा के अनुसार 'सूरजदास' नाम से छपे पद अन्य व्यक्तियों के हैं। भक्त प्रवर का नाम तो सूरदास था। कुछ अन्य विद्वानों के अनुसार 'साहित्य-लहरी' रचना या कम से कम वह पद जिसमें 'सूरजचन्द' नाम आया है, प्रामाणिक नहीं है। सूर शब्द ही प्रमुख है और उसके साथ लगे प्रभु, स्वामी, स्याम शब्द समास रूप में प्रयुक्त हैं; नाम इनका सूरदास ही है। जनार्दन मिश्र ने अपने ग्रंथ 'सूरदास' में सूरज, सूरजदास और सूरश्याम के नाम से मिलनेवाले पदों को प्रक्षिप्त बताया है।

डॉ० दीनदयाल गुप्त एवं डॉ० मुंशीराम शर्मा उपर्युक्त मत के विरुद्ध उन नामों को सूरदास ही का नाम मानते हैं। डॉ० मीतल के मत से उनका नाम सूरज था। सूरज का लघु रूप सूर है। फिर वैष्णवता के कारण सूरजदास, सूरदास अथवा सूरश्याम नाम पड़ गये।

गोसाइँ विट्ठलनाथ जी, गोकुलनाथ जी एवं अष्टसखाओं के समकालीन वृंदावन-निवासी प्राणनाथ कवि ने अपने ग्रंथ 'अष्टसखामृत' में सूरदास को 'सूर' और 'सूरजदास' कहा है। हरिराय जी ने 'भाव-प्रकाश' में इनके चार नाम बताये हैं – सूर, सूरदास, सूरजदास एवं सूरश्याम। किन्तु लोक में सूर और सूरदास नाम ही अधिक प्रसिद्ध हैं। अपनी रचनाओं में इन्हीं नामों का सूरदास ने अधिक प्रयोग किया है।

सूरदास की रचनाओं के अन्तःसाक्ष्य एवं चौरासी वार्ता, भक्तमाल आदि बाह्यसाक्ष्य वंश-परिचय के सम्बन्ध में मौन हैं। सिर्फ नामभर को साहित्य-लहरी का एक पद मिलता है, पर उसकी प्रामाणिकता पर सन्देह किया जाता है।

हरिराय जी के 'भाव-प्रकाश' में इतनी ही सूचना है कि उनके पिता दरिद्र ब्राह्मण थे और उनके चार पुत्रों में सूरदास सबसे छोटे थे। किसी पूर्वज के नाम का उसमें उल्लेख नहीं है। 'साहित्य-लहरी' के उस पद में भी अन्य पूर्वजों का जहाँ नाम है, वहाँ पिता का नाम नहीं है। इसका समाधान प्रस्तुत करते हुए डॉ० मुंशीराम शर्मा कहते हैं कि पिता के कुछ लज्जापूर्ण कार्यों के सम्पादन के कारण सूर ने उनका नाम नहीं लिखा।

अबुलफजल ने आइने अकबरी में और अलबदाउनी ने मुंतखिब-उल-तवारीख में अकबर के दरबार के गायक रामदास और उनके पुत्र सूरदास का उल्लेख किया है। डॉ० ग्रियर्सन आदि कई विद्वानों ने यह प्रसंग अष्टछापी सूरदास के साथ जोड़ दिया है। लेकिन आचार्य नन्ददुलारे बाजपेयी का कहना है कि अकबर के गद्दी पर बैठने के पूर्व सूरदास आचार्य की शरण में आ गये थे, वे विरक्त एवं वैरागी थे। अतः उनका दरबारी होना कतई सिद्ध नहीं हो सकता। साथ ही वार्ता में इन्हें अकबर द्वारा बुलाने का और अकबर से इनकी भेंट का जो सन्दर्भ है, वह पिता के वहाँ रहने से निरर्थक हो जाता है।

अतः कुछ विद्वानों द्वारा दिया गया सूर का वंश-परिचय अप्रामाणिक सिद्ध हुआ है और उनसे सम्बन्धित यह प्रश्न अबतक अन्धकारमय है।

सूरदास की जाति के सम्बन्ध में अनेक मत हैं। 'साहित्य-लहरी' के एक पद के प्रथम कुछ शब्दों के पाठांतर के कारण कुछ विद्वान इन्हें भाट और कुछ प्रार्थज गोत्रोत्पन्न मानते हैं। डॉ० मुंशीराम शर्मा ने 'पृथु जाग तें' से जाति सूचक अर्थ न लेकर पृथु के यज्ञ से उत्पन्न ब्रह्मराव को इनका वंशज माना है। सरस्वती ब्रह्मराव की माता बनी। आज भी इनके वंशज ब्राह्मण सरस्वती-पुत्र कहलाते हैं। इनके अनुसार भट्ट ब्राह्मण चंदबरदायी इसी वंश में हुए थे। इस प्रकार इन्होंने भाट को ब्राह्मण शब्दवाची माना है। लेकिन मुख्य बात तो यह है कि उस पद की प्रामाणिकता ही संदिग्ध है।

डॉ० ब्रजेश्वर वर्मा का कहना है कि अन्तःसाक्ष्य से सूरदास के ब्राह्मण होने के तो नहीं, वरन् न होने के ही प्रमाण मिलते हैं। उनके अनुसार ब्राह्मण के लिए बाँभन और पाँडे जैसे शब्दों के प्रयोग ब्राह्मणों के प्रति उनकी घृणा का ही परिचय देते हैं।

कुछ अन्तःसाक्ष्यों के आधार पर कुछ विद्वान इन्हें ढाढ़ी या जाट भी कहते हैं। उनकी मान्यता की आधारभूत कुछ पंक्तियाँ हैं—

हौं तौ तेरे घर कौ ढाढ़ी, सूरदास मोहि नाऊँ॥

x x x x x x

हौं तेरौ जनम जनम कौ ढाढ़ी, सूरज दास कहाऊँ॥

लेकिन ऐसे शब्दों का प्रयोग आत्मनिवेदनात्मक पदों में ही है और ये पद माया मोह से ग्रस्त व्यक्तियों के लिए हैं। इन्हें सूरदास के जीवन-चरित्र का आधार मानना भ्रमात्मक है। इस बात की पुष्टि अन्य कई भक्तों के पदों से भी होती है। कृष्णदास, चतुर्भुजदास, नंददास आदि ने भी अपने लिए ढाढ़ी शब्द का प्रयोग किया है। अतः उक्त आधार पर तो इन्हें भी ढाढ़ी मानना होगा। इसके अतिरिक्त वल्लभ सम्प्रदाय की सेवा-प्रणाली के अध्ययन से भी यह बात भ्रांत सिद्ध होती है। इस प्रणाली में राधाष्टमी के दिन सभी सेवक श्री नाथ जी के मन्दिर में ढाढ़ी बन कर आते हैं एवं तत्सम्बन्धी पद गाते हैं। अतः इन पदों के आधार पर सूर को ढाढ़ी मानना असंगत है।

कुछ अन्तःसाक्ष्यों से पता चलता है कि सूरदास उच्च जाति के थे। उनका कथन 'सूरदास प्रभु तुम्हरी भक्ति लगि, तजी जाति अपनी' में जो जाति छोड़ने का उल्लेख है वह उच्च जाति ही होगी, क्योंकि निम्न जाति के त्याग का क्या मोल? उच्च जातियों में भी श्रेष्ठ ब्राह्मण हैं। अतः इन्हें ब्राह्मण माना जा सकता है। इसकी पुष्टि बाह्यसाक्ष्यों से भी होती है। हरिराय ने भाव प्रकाश में स्पष्ट कहा है कि सूरदास एक दरिद्र सारस्वत ब्राह्मण के यहाँ प्रकट हुए। गोसाई विट्ठलनाथ जी के छठे पुत्र गोस्वामी यदुनाथ जी ने भी इन्हें सारस्वत ब्राह्मण माना है। सूर के समकालीन होने के कारण इनका मत प्रामाणिक माना जा सकता है। आधुनिक विद्वानों में आचार्य नन्ददुलारे बाजपेयी, डॉ० दीनदयाल गुप्त, डॉ० मीतल आदि ने इनके सारस्वत ब्राह्मण होने का समर्थन किया है। अतः इन्हें सारस्वत

ब्राह्मण माना जा सकता है। यों भक्तों की भला जाति क्या ! सब भक्त एक जाति के होते हैं। कुल उनकी जाति का द्योतक नहीं होता वरन् भक्ति की कोटि ही उनकी उच्चता-निम्नता प्रकट करती है।

सूरदास के अन्धत्व के सम्बन्ध में विस्तृत रूप से विचार प्रकट किये गये हैं। आज किसी अन्धे गायक को देख उसके मूल नाम की उपेक्षा कर उसे सूर कह कर पुकार लिया जाता है। सूरदास शब्द अन्धे के लिए रूढ़-सा हो गया है। अन्तःसाक्ष्य, बाह्यसाक्ष्य एवं सभी जनश्रुतियाँ सूरदास के अन्धत्व को सिद्ध करती हैं, पर मतभेद इस बात पर है कि वे जन्म से अन्धे थे या जन्म के बाद अन्धे हुए।

जो उन्हें जन्मान्ध नहीं मानते, वे जोर देकर यह कहते हैं कि रंगों का ऐसा सूक्ष्म वर्णन, प्रकृति के क्रिया-कलापों का, मनुष्य के हाव, भाव, अनुभावों का ऐसा सुन्दर एवं यथार्थ चित्रण जन्मान्ध व्यक्ति के लिए कर पाना असंभव सा है, सहज विश्वास करने योग्य नहीं। अवश्य ही उन्होंने वृद्धावस्था में या अन्य किन्हीं कारणों से नेत्र खो दिये थे। इस मत के समर्थकों में मिश्र-बन्धु, डॉ० श्यामसुन्दर दास, डॉ० बेनीप्रसाद, नलिनी मोहन सन्याल, आचार्य नंददुलारे वाजपेयी, डॉ० ब्रजेश्वर वर्मा आदि प्रमुख हैं। ब्रजेश्वर वर्मा ने तो यहाँ तक कहा है कि "सूरदास जी को जन्मांध माना जाये, तो इस विचार और युक्ति के युग में भी हमें चमत्कारों पर विश्वास करना पड़ेगा।" डॉ० दीनदयाल गुप्त सूरदास के जन्मान्ध होने के प्रमाणों से प्रभावित होते हुए, आधुनिक विद्वानों के अनुमान का किंचित् समर्थन करते हुए, सूरदास का वृद्धावस्था में नहीं बल्कि बाल्यावस्था में अन्धा होना मानते हैं।

डॉ० मुंशीराम शर्मा इन्हें जन्मान्ध मानते हैं। इनके अनुसार जन्मान्ध न होने के जो उपर्युक्त तर्क हैं, वे साधारण जनों के लिए ठीक हो सकते हैं, पर उच्च कोटि के भक्त के लिए नहीं। डॉ० मीतल भी ऐसा ही मानते हैं। सूरदास बाह्य चक्षुओं से हीन थे पर दिव्य दृष्टि-सम्पन्न उच्च कोटि के भक्त थे। इन्होंने ब्रह्म का भी साक्षात्कार कर लिया था। ब्रह्मज्ञानी सर्वज्ञ हो जाता है। विषय के अनुभव के लिए उसे बाह्य चक्षुओं की आवश्यकता नहीं रहती, वह स्वयंप्रकाश हो जाता है। सूरदास भी स्वयं-प्रकाश हो गये थे; उन्होंने दिव्य शक्ति के आधार पर ही विषय-वर्णन किया। सूरदास की वार्ता में कहा गया है—"सो इनके हृदय में स्वरूपानन्द कौ अनुभव है। तासों जैसो तुम सिंगार करौगे सो तैसो ही पद सूरदास जी वर्णन करिके गावेंगे। तासों भगवदीय की परीक्षा नाहीं करनी।"

प्राणनाथ के अष्टसखामृत के निम्नलिखित पद में सूरदास की जन्मान्धता का ही प्रमाण हैं—

बाहर नैन बिहीन सो, भीतर नैन बिसाल।
तिन्हैं न जग कछु देखिवौ, लखि हरि रूप निहाल॥

नाभादास जी के कथन से भी सूरदास की जन्मान्धता का ही बोध होता है—

प्रतिबिंबित दिवि दिष्टि, हृदय हरि लीला भासी।
जनम करम गुन रूप सबै रसना परकासी॥

भक्तविनोद में मियासिंह ने उन्हें जन्मान्ध ही लिखा है—"जनम अन्ध दृग ज्योति बिहीना।" रघुराजसिंह ने भी 'रामरसिकावली' में इन्हें जन्मान्ध माना है—"जन्मति तें हैं नैन बिहीना। दिव्य दृष्टि देखहिं सुख भीना"। भक्तमाल में भी इनके दिव्य दृष्टि पाने का उल्लेख है। अतः बोध होता है कि ये जन्मान्ध थे।

'भाव-प्रकाश' में हरिराय ने इन्हें सिलपट्ट अन्धा कहा है। जो जन्म के पीछे अन्धे होते हैं, उन्हें अन्धा और जो जन्म से अन्धे होते हैं, उन्हें सूर कहते हैं। सूरदास जी सूर थे। इसीलिए, चौरासी वार्ता के अनुसार, जब वल्लभाचार्य से उनकी भेंट हुई तो आचार्य ने उनसे कहा था—"सूर ह्वै कै ऐसी घिघियात काहे को हौ"।

सूरदास के निम्नलिखित अन्तःसाक्ष्य से भी उनकी जन्म से ही चक्षुविहीनता का पता चलता है –

बिप्र सुदामा कियौ अजाची, प्रीति पुरातन जानि।
सूरदास सौं कहा निहोरौ, नैननि हूँ की हानि ॥

x x x x x x

सूर कूर, आँधरौ, मैं द्वार पर्यौ गाऊँ ॥

सूरदास के प्रारम्भिक जीवन के सम्बन्ध में अंतःसाक्ष्य एवं चौरासी वार्ता में कुछ भी उल्लेख नहीं है। 'भाव-प्रकाश' से ज्ञात होता है कि दिल्ली के पास सीही में सूरदास का जन्म हुआ था। छः वर्ष की आयु तक ये माता पिता के साथ रहे। उसके बाद गृह त्याग कर सीही से चार कोस दूर एक ग्राम में चले गये। यहाँ ये अपनी आयु के अठारह वर्ष तक रहे। इन्होंने यहाँ जमींदार की खोई हुई गायों का पता बता दिया। धीरे धीरे शकुन विद्या के अच्छे जानकार के रूप में इनकी ख्याति फैल गई। लोग इनपर श्रद्धा करने लगे, इनके सेवक हो गये और इन्हें स्वामीजी कहने लगे। इन्हें भेंट भी चढ़ने लगी। एक दिन इन्हें बोध हुआ कि फिर ये बंधन में बँध गये हैं। बस, सब कुछ छोड़कर गौघाट में आकर स्थायी रूप से रहने लगे एवं कृष्ण-लीला में रम गये।

सूरदास गऊघाट पर रहकर भजन गाते थे। एक बार वल्लभाचार्य अड़ैल से ब्रज जाते हुए गऊघाट पर रुके। यहाँ वे सूरदास से मिले और उन्हें कुछ गाने को कहा। सूरदास ने "प्रभु हौं सब पतितन कौ टीकौ। और पतित सब दिवस चारि कै हौं तौ जनमत ही कौ ॥" गाकर सुनाया। इस पर वल्लभाचार्य ने कहा कि सूर होकर ऐसे घिघियाते क्यों हो? कुछ भगवद्-लीला गान करो। सूर के यह कहने पर कि भगवद-लीला का उन्हें ज्ञान नहीं है, वल्लभाचार्य ने उन्हें अपने सम्प्रदाय की नाम एवं समपर्ण दीक्षा दी और श्रीमद्भागवत के दशम स्कंध की अनुक्रमणिका सुनाई। इस प्रकार वे सम्प्रदाय में दीक्षित होकर आचार्य के आदेश पर गोवर्द्धन आये और श्रीनाथजी के मंदिर में लीला-गान करने लगे। उनका शेष जीवन यहीं कीर्तन करते बीता – "नंद जू! मेरे मन आनँद भयौ, सुनि गोवर्द्धन तैं आयौ"।

'वल्लभ दिग्विजय' के अनुसंधान के अनुसार सूरदास का जन्म संवत् १५३५ है और ३२ वर्ष की आयु में ये आचार्य की शरण में आये थे। अतः इनका शरणागतिकाल सं० १५६७ सिद्ध होता है। चौरासी वार्ता में भी ऐसा ही उल्लेख है। श्रीनाथजी के मंदिर-निर्माण-काल आदि प्रमाणों से भी यही संवत् निश्चित होता है। हिन्दी के अधिकांश विद्वान् भी इससे सहमत हैं।

सूरदास की निधन-तिथि के संबंध में मतभेद है। चौरासी वैष्णवों की वार्ता के अनुसार सूरदास को अपने अन्त समय का आभास मिल गया था, अतः वे गोवर्द्धन से अपने निवास-स्थान पारसौली आ गये और श्रीनाथजी, वल्लभाचार्य, विट्ठलनाथ का स्मरण करने लगे। विट्ठलनाथ को जब मालूम पड़ा कि वे पारसौली गये हैं तो वे समझ गये कि अब उनका अन्तिम समय निकट आ गया है। उन्होंने कहा कि पुष्टिमार्ग का जहाज जा रहा है, जिसको जो लेना है, ले लो। वे शिष्यों सहित सूर के निकट पहुँचे। सूरदास उनकी बाट जोह रहे थे। वे "देखौ देखौ जू हरि को एक सुभाई" के बाद "खंजन नैन रूप रस माते" गाने लगे और गाते गाते उनके प्राण कृष्ण में लीन हो गये।

अधिकांश विद्वान् सं० १६४० को सूरदास की निधन-तिथि मानते हैं। इस दृष्टि से उनको १०५ वर्षों की दीर्घायु मिली जिसको समपर्ण-भाव से आराध्य के लीला-गान में व्यतीत कर उन्होंने भक्तों को और हिन्दी के भक्ति-काव्य को सुधासिक्त कर दिया। ❂



भक्तप्रवर महाकवि सूरदास के नाम - उपनाम

डॉक्टर शिवनारायण खन्ना

भक्तप्रवर महाकवि सूरदास की रचनाओं में उनके अनेक नाम - उपनाम मिलते हैं। उनके समकालीन नाभादासजी ने अपने भक्तमाल में उनका परिचय देते हुए कहा है —

उक्ति, चोज, अनुप्रास, बरन अस्थिति अति भारी।
वचन प्रीति - निर्वाह अर्थ, अद्भुत तुकधारी॥

प्रतिबिम्बित दिवि दृष्टि, हृदय हरिलीला भासी।
जन्म, कर्म, गुन, रूप, सबै रसना जु प्रकासी॥

बिमल बुद्धि गुनि और की, जो वह गुन स्रवनन धरै।
श्री सूर कवित सुन कौन कवि, जो नहिं सिर चालन करै॥

उपर्युक्त पद से मात्र 'सूर' नाम का परिचय मिलता है। सूरदास के सम्बन्ध में नाभादासजी ने अन्यत्र कुछ नहीं कहा है।

'सूरसागर' तथा 'साहित्य - लहरी' में रचनाकार के लिए सूर, सूरदास, सूरज, सूरजदास, सूरश्याम आदि नाम - उपनाम प्रयुक्त हुए हैं। कुछ स्थलों पर सूर सुजान, सूरसरस तथा सूरजश्याम उपनाम भी हैं। इन नामों को लेकर विद्वानों में इस बात पर मतभेद है कि ये सभी नाम एक ही व्यक्ति के हैं अथवा एक से अधिक व्यक्तियों के। डॉ० जनार्दन मिश्र के मत से सूरज, सूरजदास तथा सूरश्याम नाम से रचित पद प्रक्षिप्त हैं। अर्थात् ये पद सूरदास के न होकर अन्य व्यक्तियों के हैं। डॉ० दीनदयाल गुप्त, डॉ० जनार्दन मिश्र के मत से असहमति प्रकट करते हुए कहते हैं, "उक्त छाप के पद वल्लभ - सम्प्रदायी प्राचीन संग्रहालयों में भी उपलब्ध होते हैं और उन पदों में सूर के साम्प्रदायिक विचारों की छाप है।" इस सम्बन्ध में डॉ० मुंशीराम शर्मा का कथन है — "संभव है, सूरसागर के कुछ पदों के साथ अन्य कवियों के पद सम्मिलित हो गए हों, पर जहाँ तक उपर्युक्त तीन नामों का सम्बन्ध है, वे एक ही कवि के नाम जान पड़ते हैं।"

साहित्य - लहरी के एक आत्मपरिचयात्मक पद से ज्ञात होता है कि चंद के वंश में हरचंद हुआ। हरचंद के आगरे में सात पुत्र हुए। सातवें का नाम सूरजचंद था। प्रथम छः पुत्र बादशाह से युद्ध करते हुए परलोक सिधार गये। सातवाँ पुत्र नेत्रहीन होने के कारण बच गया —

सो समर करि साहि सेवक गये बिध के लोक।
रहो सूरजचंद दृगते हीन भर वर सोक॥

सूरदास कहते हैं — इस संसार में किसी ने मेरी पुकार नहीं सुनी। सातवें दिन स्वयं यदुपति श्रीकृष्ण ने आकर उद्धार किया। उन्होंने मुझे दिव्य दृष्टि दी और कहा — हे पुत्र, सुन, जो वर चाहे माँग ले। मैंने कहा — हे प्रभो, मैं आपकी भक्ति और स्वाभाविक शत्रुओं का नाश चाहता हूँ। राधाकृष्ण को देखकर अब किसी दूसरे का रूप न देखूँ। यह सुन करुणासिंधु ने कहा — ऐसा ही हो। दक्षिण के ब्राह्मण कुल से तेरे शत्रुओं का नाश होगा। उन्होंने प्रसन्न होकर समस्त बुद्धि, विचार-शक्ति और विद्या देकर मेरे नाम सूरजदास, सूर एवं सुस्याम रखे —

नाम राखे मोर **सूरजदास सूर सुस्याम**।
भये अन्तरध्यान बीते पाछली निस जाम॥

उपर्युक्त पद की प्रामाणिकता पर कुछ विद्वान् सन्देह करते हैं। डॉ० प्रभुदयाल मीतल ने इस पद की अप्रामाणिकता के अनेक प्रमाण दिये हैं। सूर-निर्णय के लेखक-द्वय द्वारिकादास परीख तथा प्रभुदयाल मीतल इस पद को प्रक्षिप्त मानते हैं। पर सूरदास के 'सूरज' नाम के संबंध में ये विद्वान् भी एकमत हैं। डॉ० मीतल इनका मूल नाम 'सूरज' मानते हैं और डॉ० मुंशीराम शर्मा उपर्युक्त पद के आधार पर 'सूरजचन्द', जिसका संन्यासी रूप सूरजदास होता है।

सूरदास ने अपने जिन नामों, उपनामों एवं छापों का पदों में प्रयोग किया है, उनके उदाहरण प्रस्तुत हैं —

पिय प्यारी तनु स्रमित भए।
....
ऐसे गुन किनि तुमहिं सिखाए, तिरनी कटि कसि दीन्ही।
सूर कहति पिय सौं तिय बातैं, आजु तुमहिं मैं चीन्ही॥

* * *

प्रीति करि काहू सुख न लह्यौ।
....
हम जौ प्रीति करी माधव सौं, चलत न कछू कह्यौ।
सूरदास प्रभु बिनु दुख पावत, नैननि नीर बह्यौ॥

* * *

मैया, कबहिं बढ़ैगी चोटी?
....
काँचौ दूध पियावति पचि पचि, देति न माखन-रोटी।
सूरज चिरजीवौ दोउ भैया, हरि हलधर की जोटी॥

* * *

चकई री, चलि चरन-सरोवर, जहाँ न प्रेम-बियोग।
....
लछमी सहित होति नित क्रीड़ा, सोभित **सूरजदास**।
अब न सुहात विषय-रस-छीलर, वा समुद्र की आस॥

* * *

अब या तनहिं राखि कह कीजै।
....
दुसह बियोग विरह माधौ के, को दिन ही दिन छीजै।
सूरस्याम प्रीतम बिनु राधे, सोचि सोचि कर मीजै॥

हरि गृह जा पति पतिनि सहेली ।
....

पग रिपु ता महँ परत गजल के को तनतैं सुरझावे ।
उक्ति गूढ़तैं भाव उदै सब **सूरज स्याम** सुनावे ॥

* * *

आजु रन कोप्यौ भीम - कुमार ।
....

बैठे जदपि जुधिष्ठिर सामे सुनत सिखाई बात ।
भयौ अतदगुन **सूर सरस** बढ़ बली बीर विख्यात ॥

* * *

सजनी, हौं न स्याम मुख हेरो ।
....

पलटन बान भानुजा तटमैं निरखत दुख बहुतेरो ।
सूर सुजान बिभावन पहिलो किंकर कर तन चेरो ॥

उपर्युक्त पदों से स्पष्ट है कि सूरज अथवा सूरजचन्द ने 'सूर', 'सूरदास', 'सूरजदास', 'सूरस्याम', 'सूर सुजान' तथा 'सूरजस्याम' आदि उपनाम अपने पदों में प्रयुक्त किए हैं। मुंशीराम शर्मा के मत से ये सभी नाम (और उपनाम) महाकवि सूरदास के ही हैं। पद - रचना में जहां जैसा उपयुक्त जान पड़ा और पद के अनुकूल बैठ गया, वहां वैसा ही नाम उन्होंने प्रयुक्त कर दिया है। सुजान, सरस आदि शब्द भी भावसहित उमंग की लपेट में इसी प्रकार प्रयुक्त हो गए हैं। जो लीला ही सरस हो और सुजान श्याम से सम्बन्ध रखनेवाली हो, उसमें ऐसे शब्दों का आ जाना स्वाभाविक है। इसी प्रसंग में डॉ० मुंशीराम शर्मा एक नयी उद्भावना भी करते हैं — "सूर के पद विभिन्न गायकों के हाथों में पड़कर अपने मूल रूप से कुछ भिन्न भी हो गए हैं। सम्भव है इन गायकों ने अपनी रुचि के अनुकूल उनमें सूर के प्रसिद्ध उपनामों में से कहीं 'सूरदास', कहीं 'सूरश्याम' और कहीं 'सूर सुजान' उपनाम रख दिए हों। पद की पंक्ति को थोड़ा इधर-उधर कर देने से ये सभी उपनाम उसमें खप जाते हैं।"

किन्तु हरिरामजी ने 'भाव - प्रकाश' में सूरदास के नामों के सम्बन्ध में कहा है, "सो इन सूरदासजी के चार नाम हैं। श्री आचार्यजी आप तो 'सूर' कहते। जैसे सूर होय सो रण में सों पाछौ पाँव नाहीं देय, जो सबसों आगे चले। तैसेई सूरदासजी की भक्ति दिन-दिन चढ़ती दिसा भई। तासों श्री आचार्यजी आप 'सूर' कहते। और श्री गुसाईंजी आप 'सूरदास' कहते। सो दास भाव में कबहू घटे नाहीं। ज्यों ज्यों अनुभव अधिक भयौ, त्यों त्यों सूरदासजी को दीनता अधिक भई। सो सूरदासजी कों कबहूँ अहंकार मद नाहीं भयौ। सो 'सूरदासजी' इनको नाम कहे। और तीसरौ इनकौ नाम 'सूरजदास' है। जो श्री स्वामिनीजी के सात हजार पद सूरदासजी ने किये हैं, तामें अलौकिक भाव बरनन किये हैं। तासों श्री स्वामिनीजी कहते जो ये 'सूरज' हैं। जैसे सूरज सों जगत में प्रकास होय, सो या प्रकार सरूप कौ प्रकास कियो। सो जब श्री स्वामिनी जी नें 'सूरजदास' नाम धरयौ, तब सूरदासजी ने बहौत कीर्तनन में 'सूरज' भोग धरे। और श्री गोवर्धननाथ जी ने पचीस हजार कीर्तन आपु सूरदासजी के करि दिये, तामैं 'सूरस्याम' नाम धरे। सो या प्रकार सूरदासजी के चार नाम प्रकट भये। सो सूरदास जी के कीर्तन में ये चारों 'भोग' कहे हैं।"

उक्त उदाहरण से लगता है कि वल्लभाचार्यजी द्वारा 'सूर' तथा गोसाईं विट्ठलनाथजी द्वारा 'सूरदास' कहे जाने से उनके ये दोनों नाम लोक में प्रसिद्ध हुए। स्वामिनीजी ने 'सूरजदास' तथा श्री गोवर्धननाथजी ने 'सूरस्याम' नाम रखा था। हमारे मत से ये सब नाम उपनाम एक ही व्यक्ति के हैं, जिसका मूल नाम इन्हीं में एक है।



सूर और उनका साहित्य

आचार्य सीताराम चतुर्वेदी

ललित गायक, प्रसिद्ध संगीत-शास्त्री, संसिद्ध कीर्तनिया, रस-सिद्ध महाकवि और अप्रतिम कृष्ण-भक्त सूरदासजी मूलतः अदृष्ट-वक्ता, ज्योतिषी, सुकवि और सुकंठ गायक थे। उन्होंने संगीत-शास्त्र और काव्य-शास्त्र का अध्ययन कहाँ, किसके यहाँ किया, यह तो अज्ञात है, किन्तु यह निश्चय है कि उन्होंने व्यवस्थित रूप से संगीत और काव्य-शास्त्र का गंभीर अध्ययन और अभ्यास किया था। उन्होंने पुराणों का नियमित श्रवण और मनन किया था, ज्योतिष में उनकी अप्रतिहत गति थी, विशेषतः फलित ज्योतिष उनकी सहज दिव्य दृष्टि का प्रसाद था। व्रज भाषा के साथ साथ फारसी, पंजाबी, गुजराती आदि भाषाओं पर भी उनका व्यापक अधिकार था। उन्होंने संस्कृत साहित्य-शास्त्र का भी अध्ययन किया था और शब्दकोष पर उनका असाधारण प्रभुत्व था। हमारे यहाँ कहा जाता है —

अवैयाकरणस्त्वन्धः बधिरः कोष-वर्जितः।
साहित्यरहितः पंगुर्मूकस्तर्कविवर्जितः॥

व्याकरण न जाननेवाला अन्धा होता है, शब्दकोष न जाननेवाला बहरा होता है, साहित्य न जाननेवाला लँगड़ा होता है और तर्क न जाननेवाला गूँगा होता है। सूरदासजी व्याकरण के पंडित थे या नहीं, यह तो नहीं कहा जा सकता, किन्तु कोष का और पुराणों का उन्हें प्रचुर ज्ञान था, यह सूरसागर और साहित्य-लहरी से, तथा तर्क का ज्ञान भ्रमर-गीत के संवादों से, स्पष्ट व्यक्त हो जाता है।

वे जन्मान्ध थे, अतः उन्होंने स्वयं कुछ नहीं लिखा। उनके सहयोगी कीर्तनकारों तथा भक्तों ने जिस प्रकार उनकी रचनाओं का संग्रह किया, वह अत्यन्त अव्यवस्थित है। उन संग्रहकारों को न तो वर्तनी का ज्ञान था, न भाषा का और न क्रम का। इसलिए सूरसागर किसी निश्चित परिमाण या क्रम का कोई व्यवस्थित ग्रन्थ नहीं है। यह केवल यदृच्छा-संग्रह-ग्रंथ है जिसमें पदों की भाषा, भाव, वर्तनी, क्रम, पदों की संख्या, पदों के चरणों का क्रम और उनकी संख्या, उनकी टेक, सब अव्यवस्थित है, जिसका दुष्परिणाम यह हुआ कि छपी और हस्तलिखित, सब प्रतियों के पाठ अत्यन्त अशुद्ध, अक्रम, और असंबद्ध हैं। विभिन्न प्रतियों का मिलान करने पर ज्ञात होता है कि सबमें कुछ न कुछ नये पद मिल जाते हैं और उनमें पदों की संख्या ३०० से लेकर ४५०० तक मिल जाती है। एक समानता अवश्य सबमें दिखाई पड़ती है कि सभी संग्रहकारों ने यथासम्भव सभी लीलाओं का समावेश करने का प्रयत्न किया है, किन्तु लीलाओं के क्रम में फिर भी अन्तर बना हुआ है।

सूरदास भी कई हो गए हैं जिन्होंने कृष्ण-लीला का गान किया है, इसलिए यह भी अधिक सम्भव है कि उन सूरदासों की रचनाएँ भी सूर की रचनाओं में आ मिली हों।

सूरदासजी को महाप्रभु श्री वल्लभाचार्यजी 'सागर' कहते थे, इसलिए उनकी रचनाओं को भी सूरसागर कह दिया गया — 'जे पद तौ सूरसागर को है' का अर्थ है, यह पद उन महाकवि सूरदास द्वारा विरचित है जो सागर थे।

सूरसारावली में 'सरसठ बरस प्रवीन' का अर्थ यह नहीं है कि उनका जन्म १५६७ में हुआ। यह तो उनकी दीक्षा का संवत् है जब गौघाट पर उन्होंने महाप्रभु से दीक्षा ली थी। उस समय उनकी अवस्था ३२ वर्ष की थी।

सूरदास के सम्बन्ध में यह प्रसिद्ध है कि उन्होंने सवा लाख पद लिखे थे। सूरसारावली में भी 'एक लक्ष पद-बन्द' की बात आई है। वास्तव में पद-बन्द का अर्थ एक कड़ी अर्थात् दो पंक्तियाँ हैं, जैसे गजल में एक शेर को एक बन्द कहते हैं। कलकत्ते के श्री हनुमान प्रसाद पोद्दारजी के पास जो सूरसागर की प्रति है, उसमें पद तो २४३१ ही हैं, किन्तु पद-बन्दों की संख्या १६००० दी हुई है। इस गणना के अनुसार सूरदास ने लगभग बारह सहस्र पद रचे होंगे।

सूरदास ने सूर, सूरदास, सूरज और सूरजदास नाम से रचनाएँ की हैं। कुछ पदों में 'सूर स्याम' शब्द देखकर कुछ विद्वानों को यह भ्रम हो गया है कि सूर ने 'सूरस्याम' के नाम से भी रचना की है, यहाँ तक कि एक कथा ही चल पड़ी कि कृष्ण ने ही सूरस्याम की छापवाले पद ला जोड़े। किन्तु जहाँ सूरस्याम आया है वहाँ सूर तो सूरदास के लिए और स्याम, कृष्ण के लिए आया है। और फिर सूरसागर कोई सूरदास के हाथ का लिखा ग्रन्थ तो है नहीं। यह तो संग्रह मात्र है, फिर कृष्ण जोड़ते तो कहाँ जोड़ते। सूरदासजी ने तो अपने हाथ से कुछ लिखा ही नहीं।

सूरसारावली के अन्त में फलश्रुति के रूप में जो 'सरस समतसर' की चर्चा आई है, वह रचनाकाल का निर्देश नहीं है। उसमें 'सरस' शब्द तो 'संवत्सर-लीला' का विशेषण है जिसका तात्पर्य यह है कि "जो व्यक्ति कृष्ण की सरस वार्षिक लीलाओं का गान करेगा, उसे गर्भवास नहीं सहना पड़ेगा।"

सूरदास की प्रामाणिक रचनाएँ हैं — विनय के पद, रामगीतावली (नवम स्कन्ध में प्राप्त राम-कथा), दशम स्कन्ध, सारावली, सेवाफल और साहित्य-लहरी। शेष स्कन्धात्मक रचना अत्यन्त निम्न कोटि की दरिद्र तुकबन्दी है जिसे किसी अनाड़ी तुक्कड़ ने सूर के नाम से चला दिया है।

संगीतशास्त्र के अनुसार प्राप्त पदों का समीक्षण करनेपर ज्ञात होता है कि कुछ पदों की टेकें इतनी अव्यवस्थित हैं कि अन्तरे के साथ पकड़ में नहीं आतीं। उनमें शब्द और मात्राएँ या तो अधिक हैं या कम हैं या अक्रम हैं।

सूरदास की असंख्य रचनाएँ गायकों, कीर्तनियों, पुष्टिमार्गीय पद-संग्रहों में बिखरी पड़ी हैं जिनका संग्रह और सम्पादन अत्यन्त आवश्यक है। उनका कवि-रूप इतना उभार दिया गया कि उनका गायक और कीर्तनिया रूप लुप्त हो गया। सम्प्रदाय में तो वे कवि माने ही नहीं जाते, केवल कीर्तनिया और अष्टसखाओं में एक माने जाते हैं। उन्होंने केवल गेय पदों की ही रचना नहीं की, बहुत-सी लीलाओं को प्रबन्धात्मक शैली में भी लिखा है जो सूरसागरों में 'दूसरी लीला' के नाम से उपलब्ध हैं।

सूर को यमक बहुत प्रिय था। सारंग शब्द पर उन्होंने बहुत शब्द-लीला की है। संयोग और विप्रलंभ शृंगार के सभी पक्षों का उन्होंने निर्गुप्त और निःशंक होकर अनेक रूपों और असंख्य परिस्थितियों में अनेक रूपकों के साथ वर्णन किया है। वे दिन में कृष्ण के सखा और रात को चम्पकलता नाम की सखी के भाव में रहते थे। उन्होंने सब लीलाएँ अनेक रूपों में अपनी दिव्य दृष्टि से देखकर उनका सटीक वर्णन किया है।

उन्होंने दृष्टकूट काव्य के रूप में नन्दनन्दनदास अर्थात् कृष्ण के दासों या भक्तों के लिए साहित्य-लहरी की रचना की जिसे समझना और जिसका अर्थ लगाना सामान्य वैदुष्य की बात नहीं है। ●



सूर की कविता का आकर्षण

डॉक्टर प्रभाकर माचवे

सूरदास के समय में और आज के समय में पाँच सौ वर्षों का व्यवधान है। उनकी देश-काल-परिस्थिति में और आज उनकी कविता पढ़ने-सुननेवाले भारतीय या भारतेतर देशवासी व्यक्तियों की देश-काल-परिस्थिति में कितना अन्तर है! फिर भी वह क्या बात है जो उनके पदों का आकर्षण अक्षुण्ण बनाये हुए है ?

व्यक्तिगत बात करूँ, तो आठवीं में, दरबार हाई स्कूल, रतलाम में, मैं पढ़ता था। उसे आज अड़तालीस साल से ऊपर हो गये। तब पंडित लेखराजजी से पद पढ़े और ब्रज-भाषा के प्रति आकर्षण पैदा हुआ। बाद में नाद-माधुर्य से विद्यापति, फिर भाषा-प्रेम से चण्डीदास और थोड़ी समझ आने पर जयदेव पढ़ा। वैष्णव भक्ति-साहित्य अनेक भाषाओं में पढ़ा। भागवत के आधार पर कृष्ण की लीलाएँ—वही यशोदा का वात्सल्य और राधा का कान्ताभाव—कितने-कितने रूपों में, चित्रों में, गीतों में, आख्यानों में, नृत्यों में, नाटकों में बराबर सुनता, पढ़ता, गुनता रहा, पर "जनम अवधि हम रूप निहारिनु, नयन न तिरपित भेल" वाला हाल है। फिर भी "आँखें नहीं भरीं"।

भक्ति-कविता के इस आकर्षण के मूल में क्या है ? अष्टछाप के कवि विभिन्न जातियों और वर्गों के थे। परमानन्ददास कान्यकुब्ज ब्राह्मण थे तो कृष्णदास शूद्र, कुम्भनदास किसान थे और प्रधान कीर्तनकार होते हुए भी वे बराबर खेती करके अपने परिवार का भरण-पोषण करते थे। "सूरदास की जाति क्या थी, यह निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता", ऐसा सूर-विशेषज्ञ डॉ० ब्रजेश्वर वर्मा कहते हैं। कुछ लोग उन्हें सारस्वत ब्राह्मण और कुछ ब्रह्मभट्ट सिद्ध करने का यत्न करते थे, पर वे अपनी जाति के विषय में पूर्ण उदासीन थे। चतुर्भुजदास कुम्भनदास के पुत्र थे और उन्हीं का पेशा करते थे। गोविन्ददास सनाढ्य ब्राह्मण थे; बाद में संन्यासी हो गये थे। छीतस्वामी पुरोहित-वृत्ति के मथुरा के चौबे थे। नन्ददास सनाढ्य थे, पर उनके जीवन के बारे में बहुत कम उल्लेख मिलता है। "चौरासी वैष्णवन की वार्ता" और "दो सौ बावन वैष्णवन की वार्ता" से इनके जीवन और दैनिक कार्यक्रम के बारे में रोचक जानकारी मिलती है।

वल्लभाचार्य ने प्रेम-भक्ति का प्रचार किया। उसीके साथ-साथ भगवान के माहात्म्य के ज्ञान और ध्यान की बात कही। तत्त्वदीप-निबन्ध में उन्होंने कहा—

माहात्म्यज्ञानपूर्वस्तु सुदृढः सर्वतोऽधिकः।
स्नेहो भक्तिरितिप्रोक्तस्तया मुक्तिर्नचान्यथा॥

श्रवण - कीर्तनादि नवधा भक्ति का अन्तिम सोपान है आत्म-निवेदन। वही पुष्टि-मार्ग का पहला कदम है। भगवान के प्रति उत्कट प्रेम दृढ़ होना चाहिये। वियोग से यह प्रेम द्विगुणित होता है। श्री कृष्ण-मिलन की आकांक्षा इतनी प्रबल होती है कि संसार की अन्य वस्तुओं से अनासक्ति आप से आप हो जाती है। पुष्टि-मार्ग में इसे राग-विनाश की स्थिति कहते हैं। 'नारद-भक्ति-सूत्र' में एकादश आसक्तियाँ वर्णित हैं – गुणमाहात्म्यासक्ति, रूपासक्ति, पूजासक्ति, स्मरणासक्ति, दास्यासक्ति, सख्यासक्ति, कान्तासक्ति, वात्सल्यासक्ति, आत्मनिवेदनासक्ति, तन्मयतासक्ति, परमविरहासक्ति। ये आसक्तियाँ विकासक्रम के अनुसार हैं। आसक्ति के अनुसार विकास की तीसरी स्थिति व्यसन कहलाती है। इसीको 'निरोध' या आत्म-विस्मृति भी कहते हैं। प्रेम - भक्ति की यही अन्तिम सर्वश्रेष्ठ परिणति है। इसीको "सा त्वस्मिन् परमप्रेमरूपा अमृतस्वरूपा च" कहा है।

शाण्डिल्य - भक्तिसूत्र में इसीको 'परानुरक्तिरीश्वरे' कहा गया है। प्रेम के अनेक भाव हैं। भक्ति भी अनेक भावों से की जा सकती है। भागवत में कहा गया है –

कामं क्रोधं भयं स्नेहमैक्यं सौहृदमेव च।
नित्यं हरौ विदधतो यान्ति तन्मयतां हि ते॥

सूरदास ने भी भागवत के आधार पर कहा –

काम क्रोध में नेह सुहृदता कोई विधि करै कोई।
धरै ध्यान हरि को जो हठ करि सूर सो हरि सों होई॥

वल्लभाचार्य की 'सुबोधिनी' टीका में कहा गया कि काम स्त्री - भाव में, क्रोध शत्रु - भाव में, भय वधिक-भाव में, स्नेह सम्बन्धियों के भाव में, ऐक्य ज्ञान-अवस्था में और सौहार्द्र सख्य-भाव में होता है। किसी भी भाव से भजन करने से वह भाव भगवन्मय हो जाता है।

यह सब दार्शनिक पीठिका इसलिए आवश्यक है कि सूरदास के पदों में वात्सल्य (यशोदा, बाल-लीला) और सख्य तथा कान्ताभाव (राधा, गोपी, रास, निकुंजलीला) बहुत अधिक है। कविता का भी सम्बन्ध इसी प्रकार की आसक्ति से है। पहले सालोक्य, फिर सामीप्य, फिर सारूप्य और अन्त में सायुज्य भक्त की सीढ़ियाँ हैं। प्रेमी भी पहले देखता है – यानी दृक्प्रत्यय इसकी पहली अवस्था है। रूपासक्ति अन्धे सूरदास का बहुत बड़ा मनोवैज्ञानिक विषय है। डॉ० सत्येन्द्र ने 'सूरदास के नेत्रवर्णन' लेख में निम्न पद उद्धृत किये हैं –

– मन कैं भेद नैन गए माई।
– मन तैं ये अति ढीठ भए।
– नैन भए हरि ही के।
– नैना ऐसे हैं बिसवासी।
– नैना भए प्रगट ही चेरे।
– मेरे नैना ये अति ढीठ।
– हौं तौ ता दिन कजरा दैहौं।
– अँखियाँ हरि दरसन की भूखीं।
– नैननि उहै रूप जौ देखौं।

वे लिखते हैं, "गोपी और उसके नयनों के आचार का यही मर्म है। जिस संघर्ष ने आचार की सुन्दरता प्रकट की है, वह नयनों के सौंदर्य को निखारता है। कृष्ण का पूर्वरूप सूरदास ने अवश्य रखा है, किन्तु नयनों का, उन नयनों का चित्र नहीं, चरित्रांकन किया गया है। कुछ भी परिचय नहीं, फिर भी वे खंजन, मीन, कमल, मृग के-से हैं, अथवा कैसे हैं, यह कुछ विदित नहीं। होंगे ऐसे ही! किन्तु उनका अंतरंग सौंदर्य हमारे सामने अपने अपरिवर्त्तनीय ढंग से उपस्थित है। तृष्णा, अतृप्ति, दाहक हूक, चिरंतन गति और अबाध पीड़ा में जो सौंदर्य है, वह इन नयनों में है। जिसे नयनों का-सा हृदय मिल जाये, वह क्या हो जाये!" (सूर साहित्य सन्दर्भ, पृष्ठ ४६२-४६३)

प्रेम की पहली शर्त है दर्शन और उससे उत्पन्न आकर्षण। इन्द्रिय-संवेद्य सालोक्य में से सामीप्य की, सख्य की भावना जागती है। 'भ्रमर-गीत' उस भावना की उत्कटता का सर्वोत्तम प्रतीक है। दर्शन से स्पर्शन की ओर, सालोक्य से सामीप्य की ओर यह विकास प्रेम की दूसरी स्थिति है।

कृष्ण की लीला-सहचरी अनन्य प्रियतमा राधा चैतन्य के गौड़ीय सम्प्रदाय में प्रचलित कान्तारति और गोपीभाव की महत्ता से, समकालीन राधावल्लभी और हरिदासी वैष्णव सम्प्रदायों से वल्लभाचार्य के बाद पुष्टिमार्ग में आयी। वल्लभाचार्य ने राधा को मान्यता नहीं दी थी। पर उनके दूसरे पुत्र विट्ठलनाथ ने श्रीनाथजी की सेवा के मण्डान में राधा को ब्रह्मोत्सवों के रूप में सम्मिलित किया। श्री कृष्ण के जन्मोत्सव की तरह राधा का जन्मोत्सव भी मनाया जाने लगा। कौन थी यह राधा? वेद में तो राधा धन, अन्न और नक्षत्र का नाम है। पुराणों में कहीं राधा नहीं। भागवतपुराण के दशम स्कंध में कृष्ण की एक प्रियतमा गोपी का उल्लेख है। विरहातुरा गोपियाँ चारों दिशाओं में कृष्ण को खोजते-खोजते, कृष्ण के चरणचिह्नों के साथ-साथ एक युवती के पदचिह्न देखती हैं—

अनयाऽऽराधितो नूनं भगवान् हरिरीश्वरः।
यन्नो विहाय गोविन्दः प्रीतो यामनयद् रहः॥

'आराधित' शब्द से ही विद्वानों ने राधा की व्युत्पत्ति बताई है। प्रेम और भक्ति में केवल आकर्षण ही काफी नहीं होता। उसमें आराधना भी आवश्यक है। तभी आकर्षण दर्शन स्पर्शन से परे रस-वर्षण तक पहुँचता है।

राधा का स्पष्ट उल्लेख ब्रह्मवैवर्तपुराण में है। श्री कृष्ण ने राधा को अर्धांश और मूल प्रकृति कहा है। राधा को कृष्ण की पूरक शक्ति कहा है। सूरदास के पदों में

राधा तू अति हीं है भोरी।
भूठहिं लोग उड़ावत घर-घर हम जान्यौ अब तौ री॥

आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने कहा है—"सूर का संयोग-वर्णन एक क्षणिक घटना नहीं है, प्रेम-संगीतमय जीवन की एक गहरी चलती धारा है, जिसमें अवगाहन करनेवाले को दिव्य माधुर्य के अतिरिक्त और कहीं कुछ नहीं दिखलाई पड़ता।"

कृष्ण का रथ चल पड़ता है—राधा के पाँव आगे नहीं पड़ना चाहते। नेत्र पीछे ही देखते रहते हैं। अब व्रज लौटकर क्या होगा? मन तो रथ के साथ चला गया। राधा की बेवसी है—वह पवन तो नहीं बन सकी, धूल भी नहीं बन सकी जो रथ के साथ जाती—

पवन न भई पताका अंबर, भई न रथ के अंग।
धूरि न भई चरन लपटातीं, जातीं उहँ लौं संग॥

कृष्ण के विरह में रात-रात भर जागती, कृष्ण का चित्र बनाती वृषभानु-कुमारी अति मलीन हो गई है। संयोग-काल के श्रम-जल से भीगी साड़ी को धुलवाती भी नहीं, और

अध मुख रहति अनत नहिं चितवति, ज्यौं गथ हारे थकित जुवारी।
छूटे चिकुर बदन कुम्हिलाने, ज्यौं नलिनी हिमकर की मारी॥

सूरदास का यह शृंगार-वर्णन अद्भुत है। यशोदा ने राधा से कहा—बार-बार तू यहाँ मत आ। उत्तर में वह क्या कहती है—

मैं कह करौं, सुतहिं नहिं बरजति, घर तैं मोहिं बुलावै॥
मोसौं कहत तोहिं बिनु देखैं, रहत न मेरो प्रान।
छोह लगति मोकौं सुनि बानी, महरि तुम्हारी आन॥

सूर के राधाविषयक पद "सुनहु सखी राधा सरि को है," और अन्य पद इस बात के साक्ष्य हैं कि सूर ने इन्द्रियपरक शृंगार और प्रेम का उन्नयन करके उन्हें इन्द्रियातीत बना दिया। यही सूरदास की कविता के चिरन्तन आकर्षण का रहस्य है।

मनुष्य सदा शरीर में रहकर शरीर से परे होना चाहता है। रवीन्द्रनाथ ने लिखा—

मोह मोर मुक्तिरूपे उठिबे ज्वलिया,
प्रेम मोर भक्तिरूपे उठिबे फलिया।

यही "प्रेम औ भगति को जनम जनमरो नातो" मीराबाई में तालावेली पैदा करता था। यही गोपियों द्वारा यमुना और मुरली से ईर्ष्या करवाता था। इसी पर मुग्ध नामदेव ने छह सौ वर्ष पहले लिखा—"जमुना काली, गगरी काली, गले में की मणिमाला भी काली। रात भी काली, कृष्ण भी काला, पानी भरन जानेवाली भी काली है माई।"

इसी 'कृष्णिमा' (सेंघोर के 'नेग्रिटे' का सुनीति बाबू द्वारा अनुवाद) ने श्यामा नयनाभिरामा को विद्यापति से "साँवरि तोरा लागी विकल मुरारि" कहलवाया। यही सूर की कृष्णा, रवीन्द्रनाथ की 'श्यामला' बनी। यही सुमित्रानन्दन पन्त की रंगिणी कहलाई। एक परम्परा है, जो आकर्षण को बराबर बनाये रखती है।

स्याम सुख-रासि, रस-रासि भारी।
रूप की रासि, गुन-रासि, जोबन-रासि, थकित भईं निरखि नव तरुन नारी।
सील की रासि, जस-रासि, आनँद-रासि, नील-नव-जलद-छबि बरन-कारी।

"राधा निरखि भूली अंग", "राधे, तेरौ बदन बिराजत नीकौ", "राधा हरि कैं गर्व गहीली", "चितैबो छाँड़ि दै री राधा", "दुहि दीन्ही राधा की गाइ"—कितने पद गिनायें! सूरदास के सौंदर्य-वर्णन की यह विशेषता उनकी कविता के आकर्षण का आधार है।

दर्शन, स्पर्शन, रस-वर्षण····सालोक्य, सामीप्य, सारूप्य····जैसे प्रेम में, वैसे भक्ति में, वैसे ही काव्यास्वाद में। इन तीनों अवस्थाओं में सूरदास का कोई जोड़ नहीं! "किधौं सूर की सर लग्यौ" "किधौं सूर को पद लग्यौ" बन गया। ●



सूर साहित्य की दार्शनिक पीठिका

शुद्धाद्वैतवाद के आलोक में ब्रह्म : जीव : जगत् (प्रपंच और संसार)

डॉक्टर राममूर्ति त्रिपाठी

सूर-साहित्य के मूल में जो 'दृष्टि' निहित है, वह उनके गुरु श्रीमद्वल्लभाचार्य द्वारा प्रदत्त है। इस 'दृष्टि' या 'दर्शन' की संज्ञा शुद्धाद्वैतवाद है। 'शुद्धाद्वैतवाद' शब्दान्तर्गत 'शुद्धाद्वैत' शब्द सामासिक है। इसमें कर्मधारय तथा तत्पुरुष समास की सम्भावनाओं का अस्तित्व है। कहा गया है –

शुद्धाद्वैतपदे ज्ञेयः समासः कर्मधारयः।
अद्वैतशुद्धयोः प्राहुः षष्ठीतत्पुरुषं बुधाः॥

शंकराचार्य का ब्रह्म इनकी दृष्टि से मायाशवल है, अतः शुद्ध नहीं है, जब कि वल्लभ का ब्रह्म 'माया-संबंधरहितं शुद्धमित्युच्यते बुधैः' – माया सम्बन्धरहित है, अतएव शुद्ध है। इस प्रकार शुद्ध अद्वैत का पक्षधर होने से यह दर्शन 'शुद्धाद्वैतवाद' है। इस मत में कारणब्रह्म और जगत्रूप कार्यब्रह्म में कोई अन्तर नहीं है। शांकरमत में कार्यजगत् माया-प्रसूत है, पर इस मत में स्वयम् ब्रह्म ही जगत्रूप में प्रसृत है। अन्तर इतना ही है कि जहाँ कारणब्रह्म में चिदंश तथा आनन्दांश प्रकट रहता है, वहाँ कार्यब्रह्म में तिरोभावशक्ति द्वारा अव्यक्त रहता है। शांकरमत में निर्धर्मक, निर्गुण, निर्विशेष ब्रह्म माया के सम्पर्क से सगुण प्रतीत होता है, पर यहाँ उस परतत्त्व को 'अहिकुण्डलवत्' विरुद्धधर्माश्रय माना जाता है। साँप में ऋजुता भी है, कुण्डलिता भी। यह उसका स्वातन्त्र्य है कि वह जब जैसा चाहे हो जाये। कहा गया है – "कार्यकारणरूपंहि शुद्धं ब्रह्म न मायिकम्।"

शांकर ब्रह्म अकर्ता, अभोक्ता तथा अनियन्ता है, पर वल्लभ का ब्रह्म कर्त्ता, भोक्ता और नियन्ता, सब कुछ है। हाँ, यह अवश्य है कि यह सब लौकिक नहीं, लोकोत्तर है। शांकर ब्रह्म निर्धर्मक है, यह सधर्मक है। यहाँ धर्म तथा धर्मी में, शक्ति तथा शक्तिमान् में अभेद है, अतः सधर्मक होने पर भी अद्वैत है। शांकर-मत में जीव तथा जगत् व्यावहारिक सत्य हैं, जबकि वल्लभ के यहाँ पारमार्थिक सत्य हैं। वल्लभ के यहाँ सच्चिदानन्द ब्रह्म ही आनंदशक्ति का तिरोभाव कर 'जीव', तथा चिदानंद का तिरोभाव कर 'जगत्' हो जाता है। इस प्रकार यहाँ सर्वोत्तमवाद है। निष्कर्ष यह कि वल्लभसम्मत ब्रह्म में जहाँ विरुद्ध धर्माश्रयत्व है, वहाँ सर्वभवनक्षमत्व भी। यह ब्रह्म सगुण भी है, कारण, विरुद्ध धर्मों का आश्रय है। साथ ही इसमें अप्राकृत गुण भी हैं – व्यापकत्व, अव्ययत्व, सर्वशक्तितत्व, स्वातंत्र्य, सर्वज्ञत्व तथा प्राकृतगुण-राहित्य। प्राकृत गुणरहित तथा अभिमानशून्य होने के कारण 'निर्गुण' भी है। अनन्तमूर्ति होने से अनेक है, अद्वैत होने से वह एक भी है। वह कूटस्थ भी है और चल भी। उसमें सजातीय, विजातीय तथा

स्वगत – किसी भी प्रकार का भेद नहीं है। सजातीय जीवों से भिन्न नहीं, विजातीय जड़ जगत् से भिन्न नहीं, स्वगत अन्तर्यामी से भी भिन्न नहीं। ब्रह्म जगत् का समवायी कारण भी है और निमित्त भी।

यह सच्चिदानन्दमय परमात्मा नित्य रमणशील है। कभी वह अपने मूल अनभिव्यक्त-रूप में रमण करता है और कभी प्रपंच-रूप में आत्मव्यक्ति कर। प्रपंच-रमण की इसी इच्छा को उपनिषदों में "एकाकी नारमत वहुस्यां, प्रजायेय" कहा गया है। सुबोधिनीकार महाप्रभु वल्लभ ने कहा है कि यह महा इच्छा अथवा स्वातन्त्र्य-शक्ति द्विधा विभक्त है – 'वहुस्याम्' तथा 'प्रजायेय'। प्रथम इच्छा के फलस्वरूप सच्चिदानन्दात्मक ब्रह्म सत्, चित्, आनन्द, तीन रूपों में विखर जाता है और 'प्रजायेय' के फल-स्वरूप आविर्भाव तथा तिरोभाव नामक शक्तियों के कारण जीव और जगत् के रूप में परिणत हो जाता है।

पुरुषोत्तम पदवाच्य नित्यानन्द-स्वरूप परतत्त्व ही जव वहुत होना चाहता है, तव जिस रूप में परिणत होता है, उस रूप को अक्षरब्रह्म कहा गया है। यह सव कारणों का कारण है। इसे ही कारण-ब्रह्म कहा गया है। इस स्थिति में सत्त्वांश का प्राधान्य होने के कारण आनन्दांश प्रायः तिरोहित रहता है। यह अक्षरब्रह्म भक्त और ज्ञानियों को विभिन्न रूपों में प्रतीत होता है। अक्षरब्रह्म में रहती है सभी गुणों की सत्ता, पर भक्तों को वह व्यापी वैकुंठ आदि प्रतीकों के रूप में दृष्टिगोचर होता है, जहाँ कतिपय गुणों का प्राकट्य है और कतिपय का अप्राकट्य। यही अक्षरब्रह्म ज्ञानी को गुणातीत, देशकालातीत तथा स्वप्रकाश प्रतीत होता है। इनकी दृष्टि से वहाँ सभी धर्मों का तिरोभाव है – वह निर्धर्मक ब्रह्म है।

पुरुषोत्तम का एक और रूप है – अन्तर्यामी, जो सूर्यमण्डल आदि में है। इन्हीं का नामान्तर पुरुष या नारायण है। पुरुष तीन प्रकार के हैं – महत्स्रष्टा, ब्रह्माण्डसंस्थित तथा सर्वभूतस्थ। यह मुख्य अन्तर्यामी कहा जाता है। परम कारण अक्षर के सदंश से सत्कणाएँ, चिदंश से चित्कणाएँ तथा आनन्दांश से अन्तर्यामी निकलते हैं। ये अन्तर्यामी उस मुख्य अन्तर्यामी के अंश हैं। ये आनन्दप्रधान, जीव-सदृश प्रति शरीर में भिन्न तथा तत् तत् जीव के नियामकमात्र हैं। जड़ और जीव के अन्तर में रहकर सवका नियमन करनेवाले पृथक्-पृथक् अन्तर्यामी-समूह होते हैं। इनमें अन्तर्यामी का एक-एक अंशमात्र प्रकट होता है।

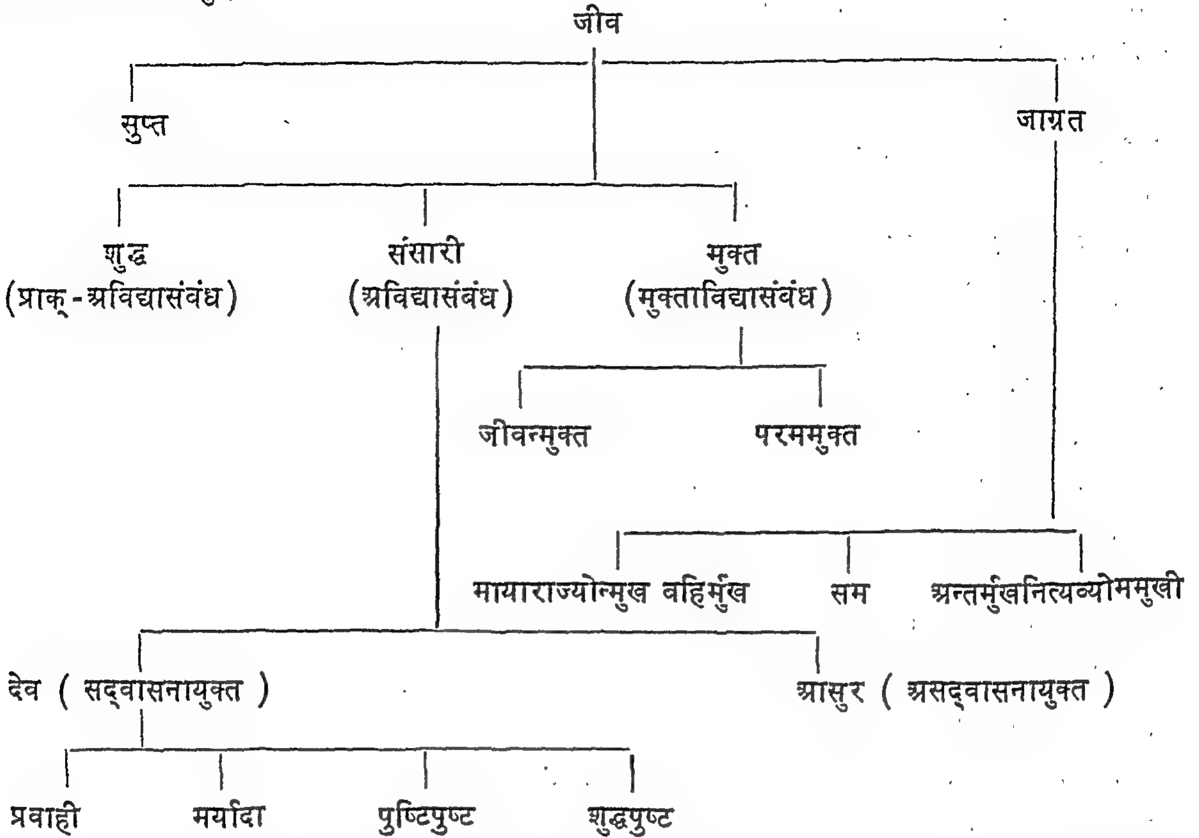
इसके पूर्व कि 'जीव' के स्वरूप के सम्वन्ध में विचार किया जाये, यह आवश्यक है कि ब्रह्म की अनन्त शक्तियों में से कतिपय उपयोगी शक्तियों के विषय में जान लिया जाये। ब्रह्म अनन्त शक्तियों से संवलित है, जिनमें वारह प्रमुख हैं। उनमें भी एक तो उनकी स्वरूपशक्ति चित् शक्ति है और दूसरी जड़ शक्ति। ये दोनों शक्तियाँ परस्पर विरुद्ध तथा परस्पर व्यावृत हैं, पर जिस 'स्वरूप' के आश्रित हैं, उससे इनका कोई विरोध नहीं है। माया, विद्या तथा अविद्या इन्हीं वारह शक्तियों में हैं। 'माया' उनके 'सर्वभवन सामर्थ्य' का ही नामान्तर है, ठीक वैसे ही जैसे पुरुषों में कार्य करने की क्षमता होती है। इसी शक्ति के वल पर लीला का विस्तार तथा सृष्टि का आविर्भाव-तिरोभाव होता है। अविद्या तथा विद्या का सम्वन्ध जीव से ही है। अविद्या से ही जीव संसार में फँसता है और विद्या से उसे स्वरूपज्ञान तथा 'अक्षर'-ज्ञान होता है। इस मायाशक्ति का आविर्भाव तव होता है जव ब्रह्म में 'वहुस्याम्' होता है, सिसृक्षा होती है। इस समय शुद्ध व्यापक ब्रह्म मायावेष्टित हो जाता है। इसी परिवेष्टन के कारण वह लीला के लिए स्वेच्छा से अपने आनन्दांश तथा चिदंश को तिरोहित कर जीव एवम् जगत् की सृष्टि करता है। शंकर की माया से वल्लभ की माया भिन्न है। एक तो शंकर की माया की तरह वल्लभ की माया स्वतन्त्र नहीं है, वह पुरुषोत्तम की इच्छा के अधीन है; दूसरे वह स्वाश्रय ब्रह्म से अविरुद्ध स्वभाव है; तीसरे उससे आविर्भूत जगत् परमार्थतः है, मिथ्या या अनिर्वचनीय नहीं है। अविद्या से जो 'संसार' होता है, वह अवश्य मिथ्या है।

ब्रह्म की चित् शक्ति दो विभिन्न धाराओं में काम किया करती है — एक धारा में वह अविच्छिन्न प्रवाह में प्रवाहित रहती है और दूसरी धारा में कण-कण करके झरती रहती है। यह क्षरण अक्षर का क्षरण माना जाता है। इस क्षरणशील धारा को 'स्वरूप' की तटस्थ शक्ति कहा जाता है। सृष्टि के आदि क्षण में एक स्पंदन होता है। उस स्पंदन में जो बहिर्मुख भाव होता है, उसीके प्रभाव से ये जीवकणाएँ उद्भूत होती हैं। इसे यों भी कहा जाता है कि महा इच्छा या स्वातन्त्र्य के उन्मेष से जब सृष्टि की सूचना होती है, तब ये सब अन्तर्लीन परमाणु-पुंजन चैतन्य के तलदेश से ऊपर की ओर वेग से उठते हैं। स्वरूप में जितने भी परमाणु-पुंजन एकरस अव्यक्त दशा में रहते हैं, उनमें से कुछ तो जाग्रत होकर अपनी-अपनी प्रकृति के अनुसार जड़ राज्य अथवा नित्यधाम की ओर मुड़ते हैं और कुछ अनादि काल की घोर सुषुप्ति में निमग्न रहते हैं। निष्कर्ष यह कि सृष्टिकाल में ये चित्कणाओं की अवस्थाओं में रहती हैं — सुषुप्त तथा जाग्रत। इन जाग्रत जीवकणाओं की भी तीन स्थितियाँ होती है — एक अन्तमुखी, दूसरी बहिर्मुखी और तीसरी मध्यस्थ। अन्तर्मुखी प्रकृतिवाले जीव जाग्रत होते ही चिदानन्दमय राज्य में प्रविष्ट होते हैं और जिनकी प्रकृति बहिर्मुख होती है, वे आत्मविस्मृतिपूर्वक बाह्य शक्तिरूपी माया के आकर्षण से मायागर्भ में प्रवेश करते हैं। जिनका दोनों तरफ सम आकर्षण है, वे मध्य में स्थित रहते हैं। इसी तथ्य को अन्यत्र अन्यथा भी कहा गया है।

यह तो स्पष्ट ही है कि जब परतत्त्व प्रपंच रमण चाहता है, तब वही अपनी तिरोभाव शक्ति आनन्दांश को ढक लेता है और जीवरूप में परिणत हो जाता है। अवरोहण तथा आरोहण की दृष्टि से विचार करें, तो जीव तीन प्रकार का माना जा सकता है — शुद्ध, संसारी तथा मुक्त। शुद्धावस्था स्फुलिंगवत् व्युच्चरण की अवस्था है। इस स्थिति में आनन्दांश का तिरोधान रहता है। अविद्या का संस्पर्श नहीं रहता, इसीलिए षाड्गुण्य का तिरोधान भी नहीं रहता। शांकर दर्शन की तरह यहाँ का जीवभाव अनित्य नहीं रहता, नित्य होता है। परिमाण में अणु तो है ही। यही शुद्ध जीव अविद्या का सम्बन्ध होते ही संसारी हो जाता है। यहाँ षाड्गुण्य का तिरोभाव हो जाता है। षाड्गुण्य है — ऐश्वर्य, वीर्य, यश, श्री, ज्ञान तथा वैराग्य। ऐश्वर्य के तिरोधान से दीनता, यश के तिरोधान से हीनता, वीर्य के तिरोधान से असामर्थ्य, श्री के तिरोधान से समस्त विपत्तियों का आस्पद, ज्ञान के तिरोधान से अनात्मरूप देहादिकों में आत्मबुद्धि रखता है। इसीको पंचविध अध्याय कहा जाता है — स्वरूपविस्मरण तथा उसके कारण देह, इन्द्रिय, प्राण तथा अन्तःकरण में आत्माध्यास उत्पन्न होता है। ये ही अविद्या के पंचपर्व हैं। (वैराग्य ?) आनन्द के तिरोधान से (राग ?) दुःख पैदा होता है। बद्ध या संसारी जीवों में भी दो प्रकृति के लोग देखे जाते हैं — दैव-भावापन्न तथा आसुर-भावापन्न। देवत्व है सूक्ष्म सद्वासना-विशिष्ट मुक्ति-अधिकार, और असुरत्व है निम्नगामिनी असद्वासना। इसे यों भी कहा जा सकता है कि सृष्टिकाल में शक्ति अलग की जाती है। तब शक्ति-परिगृहीत भाव असुरत्व है और स्व-परिगृहीत भाव देवत्व। शक्तिपरिगृहीत माया विवाहित है और स्वपरिगृहीत भगवत्परिगृहीत है। दोनों दोनों को नहीं छोड़ते। असुर जीवों में मायावश मोह होता है और ज्ञान तथा भक्ति जैसी शक्तियाँ सक्रिय नहीं होतीं। इसीलिए उन्हें सायुज्य नहीं मिलता, पर भगवदिच्छा से सब कुछ होता है और हो सकता है। अनुग्रहप्राप्त दैव जीव चार प्रकार के होते हैं — शुद्ध पुष्ट, पुष्टि-पुष्ट, मर्यादा-पुष्ट तथा प्रवाह-पुष्ट।

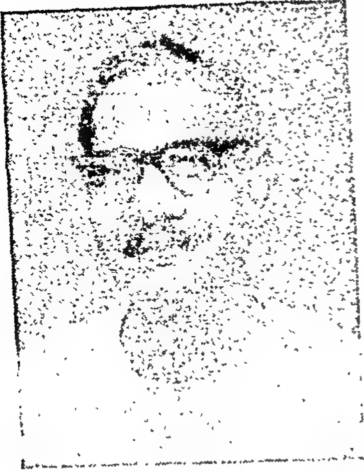
आरोहण की दृष्टि से विचार करें तो 'मुक्त' जीव के दो रूप मिलते हैं — जीवन्मुक्त तथा परममुक्त। जीवन्मुक्त वह है जिसकी अविद्या विद्या द्वारा नष्ट की जा चुकी है। ये जीव परमव्योम अथवा वैकुण्ठ के अतिरिक्त अन्यान्य लोकों में निवास करते हैं, जबकि परममुक्त जीव पुरुषोत्तम की

विशिष्ट कृपा से परमव्योम में प्रवेश करते हैं। इन्हें परामुक्ति तथा विशुद्ध ब्रह्मभाव की प्राप्ति होती है। विभिन्नरूपता यों हुई :



यह तो ऊपर कहा ही जा चुका है कि वल्लभ-मत में जीवात्मा अणु-परिमाण, ब्रह्मांश तथा ब्रह्माभिन्न है। वह ज्ञाता है, ज्ञान भी है। वह चेतन, नित्य, तिरोहितानन्द, निराकार तथा ज्ञानगम्य है। अक्षरब्रह्म से निर्गत होने के कारण उसका स्वाभाविक विशुद्ध सत्त्व भी खण्ड-खण्ड होकर अणु-परिमाण में जीव के साथ जुट जाता है। यों तो वह अणु ही है, पर भगवदाविष्ट दशा में ज्ञावर्द्धय का प्राकट्य हो जाता है। यह जीव किसी दृष्टि से साकार भी है और किसी दृष्टि से निराकार। इन्द्रियग्राह्य न होने से निराकार है और आराग्रमात्र होने से सूक्ष्म परिच्छेदी, फलतः साकार।

वल्लभमत में चिदंश तथा आनन्दांश – दोनों का तिरोभाव कर ब्रह्म ही जगत्‌रूप में परिणत होता है। इस परिणाम में किसी प्रकार की विकृति मूल तत्त्व में नहीं आती। कनक कुण्डल में जिस तरह अविकृत रहकर आकारविशेष में परिणत होता है, ठीक वैसे ही परतत्त्व अपनी अचिन्त्यशक्ति 'माया' के प्रभाव से जगत् या प्रपंच-रूप में भासित होने लगता है। यद्यपि यह ज़गत् तिरोहित चिदानन्द ब्रह्म की परिणति है, तथापि चिदानन्दमयता इसमें अनुस्यूत है। किंवा यह परिणाम आनन्द का ही परिणाम है, तभी इसमें साकारता है। यह जगत् या प्रपंच नित्य है, शांकर मायाकृत जगत् की भाँति अनित्य नहीं है। हाँ, इस जगत् का आविर्भाव-तिरोभाव अवश्य होता है, पर निवृत्ति नहीं होती। माया की शक्ति ही अविद्या है, जिसके कारण जीव 'संसार' की रचना करता है। प्रपंच और संसार भिन्न हैं। 'मैं' और 'मेरा' (अहन्ता तथा ममता), इस अविद्याकृत गलतफहमी का ही नाम संसार है। अज्ञान, भ्रम आदि नाम संसार के वाचक हैं, जगत् या प्रपंच के नहीं। प्रपंच के अन्तर्गत सब कुछ जब भगवान् का ही रूप है, तब उसे 'मैं' और 'मेरे' के रंग में देखना भ्रान्ति ही तो है। तत्त्वज्ञान होने पर इस भ्रमात्मक संसार की निवृत्ति हो जाती है, पर जगत् या प्रपंच की निवृत्ति नहीं होती।



सूर की आत्मवादी सौन्दर्य-दृष्टि

डॉक्टर वीरेन्द्र श्रीवास्तव

विधाता की अपूर्व सुषमापूर्ण रचना देखकर वैदिक ऋषि विस्मय और उल्लास से भरकर पुकार उठा—"पश्य देवस्य काव्यं न ममार न जीर्यति"—देखो देव का काव्य, वह अमर है, अजर है। विधाता को "मनीषी, परिभू (सर्वव्यापी), स्वयंभू कवि" बताया गया है जिसने "शाश्वत काल से पदार्थों का विधान किया है।" १ विधाता कवि है और उसकी सृष्टि काव्य है। उस परम कवि और उसके अमर, अजर काव्य की आभा से उल्लसित मानव-कवि—चाहे वह वैदिक ऋषि हो या भक्त कवि—"अपार काव्य-संसार में प्रजापति बन बैठता है और अपनी रुचि के अनुसार विधाता की सृष्टि में भी परिवर्त्तन कर लेता है।" २ इस प्रकार दोनों कवियों का पारस्परिक सम्बन्ध है। वैदिक साहित्य के 'क्रान्तदर्शी कवियों' ३ ने इस विश्व में विधाता की, प्रजापति ब्रह्म की, व्याप्त महिमामयी आभा के दर्शन किये हैं और उसके गीत गाये हैं। हिमाच्छादित पर्वत, जलपूरित नदियाँ, तरङ्गायित समुद्र उसी प्रजापति की महिमा के निदर्शन हैं। ४ उषा और सन्ध्या, दिन और रात, सूर्य और चन्द्रमा, सब उसीकी शोभा हैं। मुण्डकोपनिषद् के मन्त्र में इसीको विशद किया गया है—

न तत्र सूर्यो भाति न चन्द्रतारकं
नेमा विद्युतो भान्ति कुतोऽयमग्निः।
तमेव भान्तमनुभाति सर्वं
तस्य भासा सर्वमिदं विभाति॥

"वहाँ न तो सूर्य प्रकाशित होता है, न चन्द्रमा और न तारागण ही ; वहाँ ये बिजलियाँ भी नहीं कौंधतीं, फिर इस अग्नि का तो कहना ही क्या। उसीके प्रकाशित होने पर सब प्रकाशित होते हैं, उसकी आभा से ही यह सम्पूर्ण जगत् आभामय है।"

इस प्रकार विश्व की सम्पूर्ण आभा, शोभा और सौन्दर्य उस विराट् ब्रह्म की ही प्रतिच्छाया है। इसे ही

१—कविर्मनीषी परिभूः स्वयंभूर्याथातथ्यतोऽर्थान्व्यदधाच्छाश्वतीभ्यः समाभ्यः।
—यजुर्वेद ४० वाँ अध्याय।

२—अपारे काव्यसंसारे कविरेकः प्रजापतिः। यथास्मै रोचते विश्वं तथैव परिवर्त्तते॥

३—कवयः क्रान्तदर्शिनः।

४—कस्मै देवाय हविषा विधेम। —प्रजापतिसूक्त।

सौन्दर्य का आत्मवादी दर्शन कहा जाता है। ऋग्वेद के पुरुषसूक्त ने विराट् पुरुष की कल्पना की और साङ्गरूपक की भाषा में सूर्य, चन्द्र, वायु, अग्नि आदि की विभिन्न अङ्गों में स्थापना की। ५

यह विराट् कल्पना भगवद्गीता के ग्यारहवें अध्याय में पल्लवित हुई। गीता के दसवें अध्याय के उपसंहार में स्पष्ट रूप में कहा गया —

यद्यद्विभूतिमत्सत्त्वं श्रीमदूर्जितमेव वा।
तत्तदेवावगच्छ त्वं मम तेजोंऽशसंभवम्॥ ६

इस संसार की सारी विभूति, श्रीसम्पन्नता (शोभामयता) और ऊर्जस्विता उसी विराट् के तेज के अंश से सम्भूत है।

भागवत पुराण 'निगम कल्पतरु' का रसमय फल है। उसने इसी आत्मवादी कल्पना को स्वीकार किया और भगवान् के सौन्दर्य को त्रैलोक्य का सौभाग्य माना —

त्रैलोक्यसौभगमिदं च निरीक्ष्य रूपं।
यद् गोद्विजद्रुममृगाः पुलकान्यबिभ्रन्॥ ७

भागवत ने उस तत्त्वदर्शन का परिणाम बताया —

अतो वै कवयो नित्यं भक्तिं परमया मुदा।
वासुदेवे भगवति कुर्वन्त्यात्मप्रसादनीम्॥ ८

अर्थात्, इसीसे कविजन नित्य ही परम आनन्द से वासुदेव भगवान् में आत्मप्रसादिनी भक्ति करते हैं।

हिन्दी साहित्य के भक्तिकाल ने इसी प्रकार के कवियों को जन्म दिया और सूरदास उनमें अग्रगण्य हैं। उन्होंने भगवान् के विराट् रूप का चित्रण किया है —

नैननि निरखि स्याम - स्वरूप।
रह्यौ घट-घट व्यापि सोई, जोतिरूप अनूप॥
चरन सप्त पताल जाके, सीस है आकास।
सूर-चन्द-नछत्र-पावक, सर्ब तासु प्रकास॥ ९

इस पद में 'तस्य भासा सर्वमिदं विभाति' का रमणीय पुनराख्यान है। इसी प्रकार

कह्यौ, हरि कैं भय रवि-ससि फिरै। वायुवेग अतिसै नहिं करै॥
अगिनि दहै जाकैं भय नाहिं। सो हरि माया जा बस माहिं॥ १०

इस पद में कठोपनिषद् का यह मन्त्र बोल रहा है —

भयादस्याग्निस्तपति भयात्तपति सूर्यः।
भयादिन्द्रश्च वायुश्च मृत्युर्धावति पंचमः॥

प्रस्थानत्रयी (उपनिषद्, गीता और ब्रह्मसूत्र) में दार्शनिक दृष्टि से सर्वात्मवाद की प्रतिष्ठा हुई है।

---

५ — चन्द्रमा मनसो जातश्चक्षोः सूर्यो अजायत।
श्रोत्राद्वायुश्च प्राणश्च मुखादग्निरजायत॥ — पुरुषसूक्त।

६ — १०/४१। ७ — १०/२६/४० / उत्तरार्ध।

८ — १/२/२२। ९ — सूरसागर ३७०। १० — वही ३९४।

'सर्वं खल्विदं ब्रह्म', 'एकमेवाद्वितीयं ब्रह्म', 'तत्त्वमसि', 'अहं ब्रह्मास्मि', 'अयमात्मा ब्रह्म' इत्यादि उपनिषद्-वाक्यों और वेदान्त की महाव्याहृतियों में अद्वैतवाद प्रतिष्ठित हुआ है। यह संसार और जीवात्मा सब ब्रह्मस्वरूप हैं। माया के प्रसार और अविद्या के कारण एकत्व में नानात्व के प्रपंच की भ्रान्ति है। ब्रह्मसूत्र अर्थात् वेदान्त दर्शन में इस तत्त्व का उपनिषदों में समन्वयात्मक दृष्टिबिन्दु रखकर विशद विवेचन हुआ है। हिन्दी साहित्य के भक्तिकाल को प्रभावित करनेवाले सभी आचार्यों ने प्रस्थानत्रयी की व्याख्या की और अद्वैतवाद को अपने-अपने दृष्टिबिन्दु से स्थापित किया। श्रीवल्लभाचार्य ने भी अपनी व्याख्या लिखकर अपने शुद्धाद्वैत को पुष्ट किया। सूर ने अपने गुरु के मन्तव्यों का अनुसरण करके हरि के वश में माया को स्थापित किया। उन्होंने प्रह्लाद से कथन कराया –

सत्य स्वरूप देव नारायन, देखौ हृदय विचारि।
सूरदास प्रभु सब मैं व्यापक, ज्यों धरती में बारि॥ ११

इसी तरह –

मातु पिता इनके नहिं कोइ।
आपुहिं करता, आपुहिं हरता, *त्रिगुनरहित* हैं सोइ।
जल-थल, कीट-ब्रह्म के व्यापक, और न इन सरि होइ॥ १२

सूर ने इस प्रकार अनेक पदों में सिद्धान्ततः सर्वव्यापक निर्गुण ब्रह्म की दार्शनिक धारणा को मान्यता दी है, परन्तु इस निराकार सर्वव्यापक निर्गुण में उनका मन रमा नहीं।

सूरदास ने स्पष्ट ही प्रारम्भ में अपना अभिमत सगुण अवतारवादी सौन्दर्य के पक्ष में दिया और उसका पूरी तन्मयता और सरसता से निर्वाह किया –

अविगत-गति कछु कहत न आवै।
ज्यौं गूँगैं मीठे फल कै रस अन्तरगत ही भावै।
परम स्वाद सबही सु निरन्तर, अमित तोष उपजावै।
मन बानी को अगम-अगोचर, सो जानै जो पावै।
रूप-रेख-गुन-जाति जुगति बिनु निरालम्ब कित धावै।
सब बिधि अगम बिचारहिं तातैं सूर सगुन-पद गावै॥ १३

वस्तुतः जिसकी रूप-रेखा का ज्ञान नहीं, जिसके गुणों का परिचय नहीं, जिसकी जाति का बोध नहीं, जिसमें किसी युक्ति का प्रवेश नहीं, वह सब प्रकार से विचार से अगम्य है ही। वहाँ मन को किसी प्रकार का आलंबन नहीं मिलता जिसका सहारा लेकर वह वाणी में प्रस्फुटित हो। वाणी या भाषा रूप-रेखा, गुण, जाति आदि के आश्रय से ही तो मुखरित होती है। अतः सूर के लिए निर्गुण का कोई विशेष महत्त्व नहीं।

बुद्धि और हृदय अर्थात् विवेकवृत्ति और रागात्मिकावृत्ति में परम तत्त्व को लेकर निरन्तर द्वन्द्व रहा है। बुद्धि चिन्तन करती हुई परम तत्त्व को, ब्रह्म को, सूक्ष्म से सूक्ष्मतर करती हुई, निर्विशिष्ट बनाती हुई, नेति-नेति कहती हुई ऐसी शून्य स्थिति में ले जाती है कि उसे अनिर्वचनीय, निरुपाख्य और अव्याकृत कहने की अपेक्षा और कुछ नहीं कहा जा सकता। ऐसा ब्रह्म दार्शनिक बुद्धि को भले ही तृप्त कर दे, परन्तु उसका कोई व्यावहारिक उपयोग नहीं। वह हमारे दैनन्दिन कार्यों में न सहारा बन सकता है, न कल्याण कर सकता है।

११ – वही ४२२। १२ – वही १५९०। १३ – वही २।

वह हमारी रागात्मिका वृत्ति का, प्रेम का, अवलम्बन या आलम्बन बनने की क्षमता नहीं रखता। न वह हमारा या संसार का उद्धार कर सकता है और न कुछ बिगाड़ ही सकता है। वह ब्रह्म हमारे किस काम का। हम तो एक ऐसे परमतत्त्व को चाहते हैं जो हमारे सुख-दुख में हाथ बँटा सके, हमारे प्रेम का भाजन बन सके। परिणाम होता है कि हृदय-पक्ष प्रबल हो उठता है और बुद्धि-पक्ष द्वारा स्थापित शून्य के छोर से दोलायित ब्रह्म दूसरे छोर पर अर्थात् सर्वथा साकारवादी सगुण रूप पर पहुँच जाता है। इस घोर सूक्ष्म और घोर स्थूल के अतिवादों से बचने के लिए ही सर्वात्मवाद के साथ ही सगुणवाद या अवतारवाद की कल्पना हुई। भगवद्गीता ने ही सर्वप्रथम "यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत। अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम् ॥" १४ के द्वारा विराट् ब्रह्म की कल्पना के साथ धर्मरक्षा और अधर्म-विनाश के लिए आत्म-सर्जन या अवतार की धारणा बनायी। पीछे चलकर यह अवतारवाद इतना प्रबल और आकर्षक सिद्धान्त हो गया कि उसने पुराणों के माध्यम से पूरी तरह जनमानस में प्रवेश पा लिया। भागवत ने भी इसको स्वीकृत किया और चौबीस अवतारों (मुख्य दस अवतार और गौण चौदह अवतार) की अवतारणा करते हुए वसुदेव-पुत्र श्रीकृष्ण की विस्तृत लीला का दशम स्कंध में चित्रण किया। निर्गुण की भित्ति पर यह सगुण का अवतरण था। सूर स्वयं कहते हैं—

ये दस हरि-अवतार, कहे पुनि और चतुरदस।
भक्तबछल भगवान, धरे तन भक्तनि कैं बस।
अज, अविनासी, अमर प्रभु, जनमै मरै न सोइ।
नटवत करत कला सकल, बूझे बिरला कोइ॥ १५

अज अविनाशी निर्गुण ब्रह्म ही नट की कला दिखाने भक्तों के वश में होकर शरीरधारण करते हैं। इसी तरह—

कह्यौ सुक सुनौ परीच्छित राव।
ब्रह्म अगोचर मन बानी तैं अगम अनन्त प्रभाव।
भक्तनि हित अवतार धारि जो करी लीला संसार।
कहौं ताहि जो सुनै चित्त दै, सूर तरै सो पार॥ १६

अगोचर ब्रह्म भक्तों के हित अवतार-धारण कर संसार में लीला कर रहे हैं।

जहँ जहँ भीर परै भक्तनि कौं, तहाँ तहाँ उठि धाऊँ।
भक्तन के हौं संग फिरत हौं भक्तनि हाथ बिकाऊँ।
भक्त बछल है बिरद हमारौ, बेद सुमृति हूँ गावैं।
सूरदास प्रभु यह निज महिमा, भक्तनि काज बढ़ावैं॥ १७

प्रभु भक्तवत्सल विरुद का निर्वाह करने के लिए और भक्तों पर पड़ी आपत्ति को दूर करने के लिए दौड़ पड़ते हैं। "भक्त बछल प्रभु नाम तिहारौ" १८ तथा "सूरदास प्रभु भाव भक्ति के, अति हित जसुमति हाथ बिकाने" १९ जैसे अनेक पद इस बात का प्रतिपादन करते हैं कि भगवान को भक्त अपने प्रेम के कारण इस धराधाम पर खींच लाते हैं। सर्वात्मवादी सौन्दर्य में आलम्बन बनने की क्षमता इस अवतारवाद ने उद्भूत कर दी। वैदिक साहित्य का सर्वात्मवाद ज्ञान-काण्ड और अधिक से अधिक उपासना-काण्ड (योग-समाधि द्वारा साक्षात् दर्शन) का विषय बन सका, भक्ति का नहीं। सर्वात्मवाद का अवतारवादी संस्करण ही भक्ति और प्रेम का पूरा आलम्बन

१४—४/७। १५—सूरसागर ३७९। १६—वही ३७७। १७—वही २४४। १८—वही १७२।
१९—वही ९९८।

बनकर इन्द्रियगोचर वस्तुनिष्ठ सौन्दर्य के रमणीय चित्र उतारने में सूर को पूरा प्रश्रय दे सका। 'भ्रमर - गीत' प्रसंग निर्गुण पर सगुण की, निराकार पर साकार की, विजय - दुन्दुभि है। उद्धव ध्यानगम्य सर्वव्यापी निर्गुण परब्रह्म का उपदेश देते चले जाते हैं –

सुनौ गोपी हरि कौ सन्देस।
करि समाधि अन्तर गति ध्यावहु, यह उनको उपदेस॥
वै अविगत अविनासी पूरन, सब घट रहे समाइ।
तत्त्व ज्ञान बिनु मुक्ति नहीं है, वेद पुराननि गाइ॥
सगुन रूप तजि निरगुन ध्यावहु, इक चित इक मन लाइ।
वह उपाइ करि बिरह तरौ तुम, मिलै ब्रह्म तब आइ॥ २०

विरहिणी गोपियाँ रस - विदग्ध व्यंग्योक्तियाँ करती जाती हैं और निर्गुण को सर्वथा इन्द्रियातीत और अगम्य बताती हैं –

निरगुन कौन देस को बासी?
मधुकर कह समुझाइ सौंह दै, बूझति साँच न हाँसी॥
को है जनक, कौन है जननी, कौन नारि को दासी।
कैसे बरन, भेष है कैसो, किहि रस में अभिलाषी॥ २१

इस तरह की मर्मोक्तियों को सुनकर निर्गुण मार्गी तो

सुनत मौन ह्वै रह्यौ बावरौ, सूर सबै मति नासी।
और **अब अति चकितवन्त मन मेरो।**
आयौ हो निरगुन उपदेसन, भयौ सगुन को चेरौ॥ २२

की दशा में पहुँच जाता है। भ्रमर - गीत के इस लम्बे प्रसंग में सूर आत्मवादी सौन्दर्य के अवतारवादी सगुण स्वरूप की भली भाँति स्थापना कर देते हैं।

'कृष्णस्तु भगवान् स्वयम्', इस धारणा के अनुसार भगवान् का पूर्ण स्वरूप कृष्ण में समाहित है। 'समग्र ऐश्वर्य, धर्म, यश, श्री (शोभा), ज्ञान और वैराग्य', २३ इन छः की 'भग' संज्ञा है, इससे भगयुक्त होने के कारण 'भगवान्' नाम पड़ता है। सूर ने सामान्यतया छहों गुणों की स्थिति श्रीकृष्ण में वर्णित की है, परन्तु भगवान् के 'श्री' अर्थात् शोभा या सौन्दर्य गुण को ही प्रमुखता दी है। शक्ति, शील और सौन्दर्य में सौन्दर्य ही प्रधानतया वर्णन का विषय रहा है।

भगवान् के रामावतार में मुख्यतया शक्ति और शील का निष्पादन है। रावण जैसे धर्मविघातक राक्षसों का विनाश है। धर्म - रक्षार्थ अवतार की प्रारम्भिक कल्पना का पूरा पालन है। कृष्णावतार में तो सौन्दर्य के आकर्षण से भक्त की रागात्मिका वृत्ति की, प्रेम और भक्ति की तृप्ति ही लक्ष्य है। सूरदास श्याम को 'सुन्दर भक्त हेत अवतार' कहते हैं। सूर को 'सुन्दर' शब्द का प्रयोग बहुत रुचिकर लगता है। वे कहते हैं –

---

२० – वही ४१२०। २१ – वही ४२४६। २२ – वही ४६९७।
२३ – ऐश्वर्यमस्य समग्रस्य धर्मस्य यशसः श्रियः। ज्ञानवैराग्ययोश्चैव षण्णां भग इतीरणा॥

सुन्दर स्याम, सखा सब सुन्दर, सुन्दर वेष धरे गोपाल।
सुन्दर पथ, सुन्दर-गति आनन, सुन्दर मुरली-सब्द रसाल।
सुन्दर लोग, सकल ब्रज सुन्दर, सुन्दर हलधर सुन्दर चाल।
सुन्दर बचन, बिलोकनि सुन्दर, सुन्दर गुन सुन्दर बनमाल।
सुन्दर गोप, गाइ अति सुन्दर, सुन्दरि-गन सब करहिं बिचार।
सूर स्याम सँग सब सुख सुन्दर, सुन्दर भक्त हेत अवतार॥ २४

इस एक पद में १८ बार 'सुन्दर' आया है। सुन्दरियों का यह विचार कि भक्त-कारण सुन्दर अवतार हुआ है और उस सुन्दर श्याम के साहचर्य से सब कुछ आनन्ददायी और सुन्दर हो जाता है, सौन्दर्य-तत्त्व को प्रतिष्ठापित करता है। सूर की सम्मति में त्रैलोक्य की सुन्दरता ब्रज में श्रीकृष्ण के रूप में पहुँच गई थी — 'सुन्दरता तिहुँलोक की जसुमति ब्रज आनी।' २५

उपर्युक्त विवेचन से निष्कर्ष स्पष्ट निकलता है कि सूरदास ने आत्मवादी सौन्दर्य को अवतारवादी इन्द्रियगोचर सौन्दर्य में परिणत करके यथार्थवादी वस्तुनिष्ठ सौन्दर्य की भूमिका उपस्थित कर दी है। इसके आधार पर श्रीकृष्ण के सौन्दर्य का सूरसागर में साङ्गोपाङ्ग विस्तृत वर्णन है।

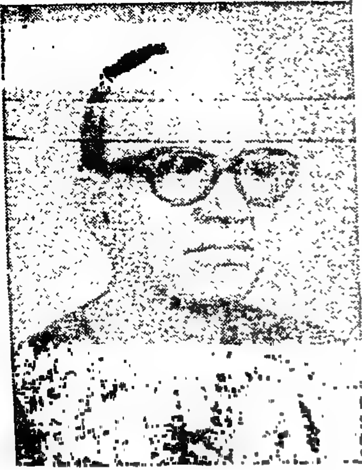
ऐसे हम देखे नँदनंदन।
स्याम सुभग तनु पीत वसन, जनु नीलजलद पर तड़ित सुछन्दन॥
मन्द-मन्द मुरली-रव-गरजनि, सुधा-दृष्टि बरषति आनन्दन।
विविध-सुमन-वनमाला उर, मनु सुरपति-धनुष नये ही छन्दन॥
मुक्तावली मनहुँ बगपंगति, सुभग अंग चरचित छवि चन्दन।
सूरदास प्रभु नीप-तरोवर-तर ठाढ़े सुर-नर-मुनि वन्दन॥

सूरसागर २३९८

क्यौं हू नहीं सुरझैं, उरझैं पुनि, रूप के जारन में परी आँखैं।
ध्यान मैं मूँदी रहैं कवहूँ, कवहूँ रहैं आँसुन सौं भरी आँखैं॥
कौन सी दीठिन देखियै कान्ह कौ, देखत ही बनैं बावरी आँखैं।
चाहन कौ धन स्याम की माधुरी चाहिए सूर की आँधरी आँखैं॥

जगदीश गुप्त

२४ — सूरसागर १०९२। २५ — वही १०९३।



सूरदास का काव्य - सौष्ठव और रस - दृष्टि

डॉक्टर विजयेन्द्र स्नातक

सूरदास के विषय में आलोचकों का यह कथन उचित ही है कि सूरदास में जितनी सहृदयता है, उतना ही वाग्वैदग्ध्य। सहृदयता का सम्बन्ध कवि के भाव-पक्ष से होता है और वाग्वैदग्ध्य का सम्बन्ध उसकी कला से। काव्य की सार्थकता तभी है जब वर्णनीय वस्तु और वर्णन की पद्धति, दोनों एक-से-एक बढ़कर रमणीय हों। सूरदास ने मानव के सूक्ष्म-से-सूक्ष्म भावों को बड़ी ही सरलता से प्रकट किया है। उनकी भाषा में बाँकपन भी कम नहीं है। इसे ही लाक्षणिकता कहते हैं जहाँ शब्द अपने सामान्य अर्थ से कुछ अधिक तात्पर्य प्रकट करने में समर्थ हो जाते हैं।

कवि ने अपने आराध्य श्रीकृष्ण की भक्ति-भावना में डूबकर ही उनकी लीलाओं का गान किया है। यह भावना उनमें इतनी अधिक थी कि सीधी-सादी भाषा उसे व्यक्त ही नहीं कर सकती थी; फलतः वह विचित्रतापूर्ण हो गयी। भाव की समाधि में डूबकर कवि ने जो कुछ कहा है, वह केवल हिन्दी या भारतीय साहित्य में ही नहीं, बल्कि विश्व के साहित्य में अतुलनीय है।

सूरदास का भाव-क्षेत्र

सूरदास जी वल्लभ-सम्प्रदाय के अनुयायी थे। इसलिए उन्होंने अपने आराध्य श्रीकृष्ण की बाल-क्रीड़ाओं और किशोर-लीलाओं का ही वर्णन किया है। इस प्रकार कवि के वर्णन का क्षेत्र सीमित था। किन्तु यह निश्चयपूर्वक कहा जा सकता है कि भावुक हृदय को जितना वह रिझा पाया, उतना कोई दूसरा हिन्दी का कवि नहीं रिझा सका। वस्तुतः कवि ने भक्ति में लीन होकर अपने हृदय में अंकित होनेवाली श्रीकृष्ण की छवियों, लीलाओं और क्रीड़ाओं का प्रकाशन निर्बाध रूप से किया है। उनके भाव स्वयं शब्दों में ढलते गये, शब्द-शब्द मिलकर पद-बंध बनते गये और वे पद-बंध भाव के कंपन के अनुसार अनेक छोटे-बड़े छंदों और राग-रागिनियों में स्पंदित हो उठे। इससे सिद्ध होता है कि सूरदास केवल रस-सिद्ध ही नहीं, बल्कि स्वर-सिद्ध कवीश्वर भी थे। उन्हें संगीत का इतना अच्छा ज्ञान था कि कोई भी वर्ग या ध्वनि स्वर में बाधक नहीं हो सकी।

प्रतिदिन समय-समय पर उन्हें लीला-गान करना होता था, इसलिए भावों की नवीनता तो संभव नहीं थी, किन्तु सीमित भावों को ही जितने प्रकार से संभव हो सकता था, कवि ने व्यक्त किया है। इसी वचन-चातुरी के कारण आचार्यों ने उनके वाग्वैदग्ध्य की प्रशंसा की है। उन्होंने लीला-गान का आधार श्रीमद्भागवत को बनाया, लेकिन भागवत की गम्भीरता को जैसी सरसता और सरलता से सूरदास ने व्यक्त किया, वैसा कोई दूसरा नहीं कर सका। सामान्य लगनेवाली श्रीकृष्ण-

लीला में अनेकानेक प्रसंगों की कल्पना करके उन्होंने अपनी गहरी अनुभूति और रचना-प्रतिभा का परिचय दिया है। लीला-संबंधी सभी पदों को देखने से स्पष्ट हो जाता है कि सूरदास की चित्त-वृत्ति अपेक्षाकृत उतनी अन्यत्र नहीं रमी है जितनी बाल-क्रीड़ा-संबंधी स्वच्छन्द पदों में। .... सूरदास ने बाल-क्रीड़ा में जितने प्रकार के नये-नये प्रसंगों की कल्पना की है, उनसे उनकी उद्भावना-शक्ति का पता तो चलता ही है, साथ ही कुछ ऐसे संकेत भी मिलते हैं जिनका मनोविज्ञान से विशेष संबंध है। इस प्रकार सूर ने पुराणों में वर्णित श्रीकृष्ण की लीलाओं के साथ ही बाल-सुलभ उन क्रीड़ाओं का भी वर्णन किया है जो बाल-मनोविज्ञान की दृष्टि से अद्वितीय हैं।

सूरदास ने कृष्ण और राधा की इन लीलाओं और क्रीड़ाओं के बहाने मानव-जीवन की उमंग का अत्यन्त हृदयहारी वर्णन किया है। यही नहीं, यशोदा के रूप में उन्होंने शाश्वत मातृत्व को भी साकार करने का सफल प्रयास किया है।

जैसा कि कहा जा चुका है, सूरदास जी मूलतः भक्त हैं, अतः उनकी कविता एक भावुक भक्त की निश्छल आत्माभिव्यक्ति है। वात्सल्य और शृंगार के पदों में भी सूर की भक्ति-भावित आत्मा झलकती है। विनय के पद तो दैन्यभाव से पूर्ण आत्मनिवेदन हैं ही।

आचार्य शुक्ल ने ठीक ही कहा है कि "वात्सल्य और शृंगार के क्षेत्रों का जितना अधिक उद्घाटन सूर ने अपनी बन्द आँखों से किया, उतना किसी अन्य कवि ने नहीं। इन क्षेत्रों का कोना-कोना वे झाँक आये। उक्त दोनों के प्रवर्तक रति-भाव के भीतर की जितनी मानसिक वृत्तियों और दशाओं का अनुभव और प्रत्यक्षीकरण सूर कर सके, उतनी का और कोई नहीं। हिन्दी-साहित्य में शृंगार का रस-राजत्व यदि किसी ने पूर्णरूप से दिखाया है, तो सूर ने।" सूरदास ने सौंदर्य के मधुर-कोमल रूप की ही प्रतिष्ठा की है। इस कार्य में बुद्धि की अपेक्षा कवि का मानस ही अधिक सक्रिय रहा है। उनका 'सूरदास' भक्तिरस-सागर है; उसमें दास्य, सख्य, वात्सल्य और माधुर्य की तरंगें उठ-उठकर विलीन होती रहती हैं।

सूरदास का रसनिरूपण

सूरदास के काव्य में मुख्यरूप से तीन रस मिलते हैं – वात्सल्य, शृंगार और भक्ति। वास्तव में रतिभाव जब समान के प्रति होता है तो उसे स्नेह, जब छोटे के प्रति होता है तो वात्सल्य और जब बड़े के प्रति होता है तो भक्ति के रूप में परिपुष्ट होता है। इससे एक बात स्पष्ट होती है कि ये तीनों रूप सूरदास की मानसिकता को प्रकट करते हैं, उनके भावुक हृदय के सहज परिणाम हैं। आलोचकों ने कवि का परिचय देते हुए वस्तुतः कवि के मनोजगत् का ही परिचय दिया है – "उनका हृदय गोप-बालकों की भाँति सरल और निष्पाप, ब्रज-गोपियों की भाँति सरल विश्वासी, स्नेह-कातर और आत्म-बलिदान की भावना से अनुप्राणित था। साथ ही उनमें कृष्ण-जैसी गंभीरता और विदग्धता तथा राधा-जैसी वचन-चातुरी और आत्मोत्सर्गपूर्ण प्रेम-विवशता भी थी। काव्य में प्रयुक्त पात्रों के विविध भावों से पूर्ण चरित्रों का निर्माण करते हुए वस्तुतः उन्होंने अपने महान् व्यक्तित्व की अभिव्यक्ति की है।"

वात्सल्य रस

अबोध शिशु और ममतामयी माँ के पारस्परिक भाव-सम्बन्धों का आधार वात्सल्य रस है। कवि के अन्य पदों में दूसरे कवियों के पदों का घालमेल हो सकता है, किन्तु वात्सल्य रस से पूर्ण जो पद सूरदास ने बनाये हैं, वे निर्विवाद रूप से कवि के मौलिक व्यक्तित्व के परिचायक हैं। सूरदास श्रीकृष्ण की

लीलाओं के वर्णन-क्रम में सर्वप्रथम उनके शिशुरूप का ही वर्णन करते हैं। श्री कृष्ण के जन्मोत्सव के उल्लासमय वातावरण का चित्र प्रस्तुत करने के बाद कवि ने मानव के शैशव पर अपने भावसुमन अर्पित किये हैं – "जसोदा हरि पालने झुलावै।"

यहाँ मोदमग्न माँ कुछ गुनगुना रही है। वह विश्राम-दायिनी नींद को बुला रही है। 'निंदरिया' शिशु से रूठी हुई है। माँ कहती है कि तुझे कान्ह बुला रहे हैं। अब नींद आ गयी है। कृष्ण पलक मूँद लेते हैं और उनके ओठ फड़कने लगते हैं, तब माँ मौन होकर इशारे करती है। जब शिशु चौंक उठता है, तो माँ फिर मधुर स्वर में लोरी गाने लगती है। सूरदास सारे दृश्य को अपनी कल्पना की दृष्टि से देखते हैं। उनका मन आश्चर्य से विस्फारित हो जाता है कि जो सुख देवमुनि को दुर्लभ है, वह यशोदा माँ को इस रूप में कैसे सुलभ हो गया! वे एक के बाद एक चित्र अंकित करते जाते हैं। शिशु की एक-एक चेष्टा साकार होती जाती है, साथ ही माँ के भी अभिलाषपूर्ण हृदय को वे अछूता नहीं छोड़ते। माँ की सहज आकांक्षा का यह रूप कितना मनोज्ञ है –

जसुमति मन अभिलाष करै।
कब मेरौ लाल घुटुरुवनि रेंगै, कब धरनी पग द्वैक धरै।
कब द्वै दाँत दूध के देखौं, कब तोतरैं मुख बचन भरै।
कब नन्दहिं बाबा कहि बोलै, कब जननी कहि मोहि ररै। १

और जब सचमुच कृष्ण कुछ बड़े हो जाते हैं, तो उनकी चंचलता और नटखटपन की कोई सीमा नहीं रहती। बालकों की रोज-रोज की साधारण चेष्टाओं को, छोटे-से-छोटे भाव-विकारों को सूरदास ने बड़ी बारीकी से व्यक्त किया है। कभी

किलकत कान्ह घुटुरुवनि आवत।
मनिमय कनक नन्द कैं आँगन, बिंब पकरिबै धावत।
कबहुँ निरखि हरि आपु छाँह कौं, कर सौं पकरन चाहत।
किलकि हँसत राजत द्वै दँतियाँ, पुनि-पुनि तिहिं अवगाहत। २

तो कभी

सोभित कर नवनीत लिए।
घुटुरुनि चलत रेनु-तन-मण्डित, मुख दधि लेप किए। ३

बालक में जिस प्रकार भावों का उदय होता है, उसका भी बड़े स्वाभाविक रूप में सूरदास ने चित्रण किया है। कहीं उनके अभिलाष को इस रूप में प्रकट किया गया है –

मैया कबहिं बढ़ैगी चोटी?
किती बार मोहिं दूध पियत भई, यह अजहूँ है छोटी। ४

तो कहीं स्पर्द्धा का भाव जगाया गया है। उनमें आत्मगौरव ऐसा है कि वे किसी की बात बरदाश्त नहीं करते। माँ से शिकायत करते हैं –

मैया मोहिं दाऊ बहुत खिझायौ।
मोसौं कहत मोल कौ लीन्हौ, तू जसुमति कब जायौ? ५

---

१ – सूरसागर ६९४। २ – वही ७२८। ३ – वही ७१७। ४ – वही ७९३। ५ – वही ८३३।

कहने का अर्थ यह कि इस प्रज्ञाचक्षु कवि के समक्ष कोई भी सूक्ष्म व्यापार अप्रकट नहीं रह पाया है; जैसे वह स्वयं स्थूल हाड़-मांस का मानव न रहकर सूक्ष्म भाव बन गया है और अपने को अनेक पात्रों में ढाल-ढालकर उसने उनके भाव-व्यापारों का वर्णन किया है।

वात्सल्य के भी शृंगार की तरह दो पक्ष माने गये हैं—संयोग और वियोग। संयोग में जिस प्रकार माता शिशु के प्रत्यक्ष रूप-सौन्दर्य और स्वाभाविक क्रीड़ाओं को देखकर हर्षित होती है, उसी प्रकार उसके वियोग में अनिष्ट की आशंका से विचलित दुखित होती है। यशोदा सन्देश भेजती है—"सँदेसौ देवकी सौं कहियौ।" ६ उसे वे व्यवहार काँटे की तरह चुभते हैं जिनसे कृष्ण को किसी भी प्रकार कष्ट पहुँचा था। वह यही कामना करती है कि यदि श्रीकृष्ण वापस आ जायें तो वह उन्हें कभी अपनी आँखों से दूर नहीं करेगी और उनकी सभी इच्छाएँ पूरी करेगी। पुत्र-दर्शन की लालसा, अपने कठोर व्यवहार के पश्चात्ताप और पुत्र की मंगलकामना से युक्त यशोदा अपनी दीनता की तुलना उस मधुमक्खी से करती है जिसका सारा मधु निकाल लिया गया है—"सूरदास वा भाइ फिरति हौं, ज्यौं मधु तोरै माखी।" ७ पुत्र को देखने की लालसा से वह वसुदेव की दासी बनकर रहना स्वीकार कर सकती है। मातृ-हृदय की कोमल भावनाएँ यशोदा के इस आशीर्वाद से स्पष्ट लक्षित होती हैं—"सूर असीस जाइ दैहौ जनि न्हातहु बार खसै।" उनका स्नेह केवल श्री कृष्ण पर ही नहीं, राधा पर भी समान रूप से है।

सख्य भाव

वात्सल्य की भाँति सख्य-भाव उनके पदों में स्पष्ट रूप से वर्णित नहीं है, किन्तु श्री कृष्ण के सखा ग्वालबालों की क्रीड़ाओं में उसका पोषण प्राप्त होता है। डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी ने तो इसी सख्य रस को 'सूरसागर' की 'सेन्ट्रल थीम' माना है। अर्जुन, भोज, श्रीदामा, सुबल और मधुमंगल के साथ गाय चराते हुए कृष्ण के सखाओं का पारस्परिक विनोद सूर की विनोदी वृत्ति का प्रमाण है। यह विनोद का भाव सख्य रस का मूल है जिसके कारण गोपियाँ कृष्ण के सखा उद्धव पर व्यंग्य करती हैं। डॉ० सत्येन्द्र ने सूर की विनोद-वृत्ति का परिचय देते हुए लिखा है, "विनोद का भाव सूर में आदि से अन्त तक विद्यमान है, किसी न किसी रूप में। कहीं ध्वनि-गर्भित, कहीं उक्ति-गर्भित, कहीं स्थिति-गर्भित।" श्री कृष्ण के साथ विनोद में उन्होंने उन्हें चुनौती तक दे दी है—

आजु हौं एक-एक करि टरिहौं।
कै तुमहीं कै हमहीं माधौ, अपने भरोसैं लरिहौं। ८

गोपियों में मधुर रस के रूप में विकसित होनेवाला साहचर्यजन्य प्रेम ग्वाल-बालों में सख्य रस के रूप में विकसित होता है। इसका सुन्दर उदाहरण "खेलत मैं को काकौ गुसैयाँ" ९ पद में मिलता है। तभी तो खेलते-खेलते गेंद जब कृष्ण के हाथ से कालियदह में जा गिरती है, तब श्रीदामा दौड़कर श्री कृष्ण की फेंट पकड़ लेते हैं और उनसे गेंद लाकर देने को कहते हैं।

मधुर रस

सूरदास ने गोपियों के माध्यम से मधुर रस का अत्यन्त व्यापक चित्रण किया है। उसकी प्रशंसा सभी समीक्षक मुक्त कण्ठ से करते हैं। सूरसागर में वात्सल्य, सख्य और मधुर रस की स्थितियों का स्वाभाविक विकास दृष्टिगत होता है। व्रज की धूलि में घुटनों के बल रेंगनेवाले बालकृष्ण धीरे-धीरे बड़े होकर

६—३७९३। ७—वही ३७८७। ८—वही १३४। ९—वही ८६३।

ग्वालबालों के साथ गाय चराने लगे। जिस प्रकार ग्वालों के प्रति उनके मन में स्नेह है, उसी प्रकार गोप-बालाओं के प्रति भी। इन्हीं के साथ वंशी बजाते, खेलते कैशोर वय में प्रवेश करनेवाले श्री कृष्ण की कैशोर लीलाओं का क्रम शुरू होता है। जिन कृष्ण की बाल-चेष्टाओं ने माँ यशोदा और नन्द के हृदय में पुत्र-स्नेह भर दिया, उन्हीं की किशोर लीलाओं ने दान-लीला, चीरहरण-लीला और रास-लीलाओं में विकसित होकर ब्रजबालाओं का मन मोह लिया। मधुवन मधुर रस से परिपूर्ण हो गया।

भक्ति की दृष्टि से जिसे हम मधुर रस कहते हैं, उसीको काव्यशास्त्रीय दृष्टि से श्रृंगार रस कहा जाता है। मधुर-रस के संयोग पक्ष में सूरदास ने दर्शन, स्पर्श और संलाप का भी वर्णन करके संयोग सुख को पूर्णता प्रदान की है। दर्शन के ही अन्तर्गत आलंबन का रूप-वर्णन आता है। कवि ने एक-एक अंग का स्फुट रूप में तो वर्णन किया ही है, नखशिख का भी वर्णन किया है। पुरुष-सौन्दर्य और नारी-सौन्दर्य को जिस सूक्ष्मता और विविधता से सूर ने अङ्कित किया है, उसे देखते हुए इनके जन्मांध होने पर कोई विश्वास नहीं कर सकता। रूप का वर्णन वस्तुगत और विषयीगत भी किया गया है। रूप-ठगौरी ने राधा और कृष्ण दोनों को जिस प्रकार ठगा है, उसके अनेक प्रमाण पदों में प्राप्त होते हैं। कहीं-कहीं एक ही पद में राधा और कृष्ण दोनों के रूप-सौन्दर्य का वर्णन मिलता है; जैसे —

खेलत हरि निकसे ब्रजखोरी।

....

गए स्याम रवितनया कैं तट, अंग लसति चन्दन की खोरी॥
औचक ही देखी तहँ राधा, नन बिसाल भाल दिए रोरी। १०

दर्शन नेत्रों का विषय है, इसलिए सूरदास ने नेत्रों का — प्रभावित करनेवाले और प्रभावित होनेवाले, दोनों रूपों में — वर्णन किया है। रूप के जितने उत्कृष्ट गुण हैं, उन सबका वर्णन सूरदास ने राधा-कृष्ण के रूप में कर दिया है। तभी तो बाद के साहित्य में श्रृंगार के आलंबन के रूप में राधा-कृष्ण ही स्वीकार किये गये।

स्पर्श-संवेदना का भी सूरदार ने बड़ी विविधता से वर्णन किया है। इसके अन्तर्गत उनकी तमाम क्रीड़ाएँ आ जाती हैं। सूरदास ने आँख-मिचौली से लेकर आलिंगन, दंतक्षत, नखक्षत और सुरति तक का वर्णन किया है।

संयोग की पुष्टता बिना संलाप के अधूरी रहती है। सूर जैसे विनोदी वृत्ति के कवि के लिए अनेक संवादों की कल्पना करना सहज स्वाभाविक है। एक उदाहरण देखिए —

बूझत स्याम कौन तू गोरी।
कहाँ रहति, काकी है बेटी, देखी नहीं कहूँ ब्रज-खोरी॥
काहे कौं हम ब्रजतन आवति, खेलति रहति आपनी पौरी।
सुनति रहति स्त्रवननि नँद-ढोटा करत रहत माखन-दधि चोरी॥
तुम्हरौ कहा चोरि हम लैहैं, खेलन चलौ संग मिलि जोरी।
सूरदास प्रभु रसिक सिरोमनि, बातनि भुरइ राधिका भोरी॥ ११

यहाँ सूरदास ने राधा-कृष्ण की वचन-चातुरी का सुन्दर उदाहरण प्रस्तुत किया है।

संयोग पक्ष की विविध क्रीड़ाओं के अंकन के लिए सूरदास ने अनेक मौलिक प्रसंगों की कल्पना

---

१० — वही १२९०। ११ — वही १२९१।

की है, जैसे पनघट-प्रसंग, यमुना-विहार, भरे घर में संकेतों द्वारा वार्तालाप, हिंडोला, होली आदि। इन्हीं वर्णनों को देखकर आचार्य शुक्ल ने गोपी-कृष्ण के प्रेम का महत्त्व दिखलाया है – "इस प्रेम को हम जीवनोत्सव के रूप में पाते हैं, सहसा उठ खड़े हुए तूफान या मानसिक विप्लव के रूप में नहीं, जिसमें अनेक प्रकार के प्रतिबंधों और विघ्न-बाधाओं को पार करने की लंबी-चौड़ी कथा खड़ी होती है।" १२

वियोग पक्ष

सूरदास का संयोग पक्ष जितना उल्लासपूर्ण है, वियोग पक्ष भी उतना ही सरस है। सूरदास ने विरह-ताप और अंगों की दुर्बलता का भी ऊहात्मक वर्णन किया है, किन्तु परवर्ती रीति-कवियों की तरह वह उपहासास्पद नहीं है। उन्होंने जिस गम्भीर प्रेम का अंकुरन संयोग में दरशाया है, उसी का परिपाक वियोग में हुआ है। अतः उनका वियोग-वर्णन संयोग से भी अधिक उज्ज्वल और मर्मस्पर्शी है। उन्होंने संयोग में तो वस्तु-व्यंजना का कहीं-कहीं सहारा लिया भी है, किन्तु वियोग-वर्णन में भाव-व्यंजना ही अधिक है। काव्यशास्त्रियों ने वियोग की जिन दश दशाओं – अभिलाषा, स्मृति, चिन्ता, गुणकथन, उद्वेग, उन्माद, प्रलाप, व्याधि, जड़ता और मरण – का वर्णन किया है, वे सब दशाएँ यहाँ गोपी-प्रेम की व्यंजना में वर्णित की गयी हैं। जो नेत्र संयोग में प्रिय की रूप-सुधा का पान करते नहीं थकते थे, उन्हीं की अब ऐसी दीन दशा है –

हरि दरसन कौं तरसति अँखियाँ।
झाँकति झखति झरोखा बैठी, कर मीड़ति ज्यौं मखियाँ॥
बिछुरीं वदन-सुधानिधि-रस तैं, लगति नहीं पल पँखियाँ।
इकटक चितवति उड़ि न सकति जनु, थकित भईं लखि सखियाँ॥ १३

यहाँ आँखों के बहाने से गोपी के मन की दीनता, व्यर्थता का बोध, विवशता और जड़ता के भाव व्यंजित किये गये हैं। विरह में सुखात्मक वस्तुओं का दुखद हो जाना वर्णित होता है, लेकिन जब सूरदास की गोपिका मधुवन के हरे रहने पर व्यंग्य करती है, तो वे गूढ़ भाव से पूर्ण होकर गोपिका की व्यथा को साकार कर देते हैं। इसी प्रकार यमुना के जल कर काले होने की सम्भावना भी वस्तु की अपेक्षा भाव का ही उद्घाटन करती है। विरह-विकल हृदय के उद्गार प्रकृति के कितने ही तत्त्वों को अपने वर्णन का माध्यम बना लेते हैं। यहाँ प्रकृति का चित्रण रूढ़ि-निर्वाह के लिए नहीं, बल्कि एक अनिवार्य साधन के रूप में किया गया है। गोपियों का जिस प्रकार कृष्ण से साहचर्यजन्य प्रेम है, उसी प्रकार प्रकृति के एक-एक उपादान—चन्द्र, चाँदनी, चातक, मोर, चकोर, यमुना, ब्रज के लता-गुल्म और कदंब—उनके भावजगत् के अभिन्न अंग हैं।

वियोग शृंगार के पूर्वराग, मान और प्रवास के जो प्रसिद्ध भेद हैं, सूरदास ने उनका भी वर्णन किया है। सूरदास ने प्रथम दर्शन से उत्पन्न गोपियों की मिलन-कामना का कई पदों में वर्णन किया है। इनमें हर्ष, स्तम्भ, रोमांच आदि संचारी भावों के द्वारा एक तरफ श्री कृष्ण के रूप-सौन्दर्य के प्रभाव को प्रकाशित किया गया है, तो दूसरी तरफ गोपियों के रागपूर्ण हृदय का भी परिचय दिया गया है। वे कृष्ण को वर-रूप में प्राप्त करने के लिए जो पूजा-व्रत करती हैं, वह भी पूर्वराग का ही परिणाम है। मान के लघु, मध्य और गुरु भेदों को भी सूरसागर में प्राप्त किया जा सकता है। श्री कृष्ण के

---

१२ – सूरदास, चतुर्थ सं०, पृ० १६१। १३ – सूरसागर ३८५८।

मथुरा चले जाने पर गोपियों का प्रवासजन्य वियोग वर्णित किया गया है – 'भ्रमरगीत' इसी वियोग-व्यथा का गान है। भ्रमरगीत के माध्यम से गोपियों की प्रेम-निष्ठा प्रकट की गई है।

इस प्रकार सूरदास का मधुर रस-वर्णन जहाँ भक्ति-भाव की सबसे ऊँची भाव-भूमि की प्रतिष्ठा करता है, वहाँ लौकिक श्रृंगार के उन्नयन द्वारा मनोविकारों का परिशोधन भी करता है। श्रृंगार के स्थूल-से-स्थूल चित्र देकर भी कवि ने भक्ति के पालिश द्वारा उसे चमका दिया है।

सूरदास का मुख्य क्षेत्र वात्सल्य, माधुर्य और सख्य ही रहा है, किन्तु अन्य रसों की भी उन्होंने उपेक्षा नहीं की है।

हास्य रस

जैसा कि पहले बतलाया गया है, सूरदास विनोदी स्वभाव के व्यक्ति थे। सूरदास के पात्र सुख में तो हँसते ही हैं, दुख में भी हँसते हैं। किन्तु इनका हास्य-रस प्रेम-माधुर्य का अंग ही बनकर आया है। बालकृष्ण की चतुरतापूर्ण चेष्टाएँ हास्य की सृष्टि करती हैं; जैसे, किसी गोपी के घर में दही चुराते हुए पकड़े जानेपर वे जिस प्रकार बात बनाते हैं, वह हास्य का ही स्वाभाविक रूप है –

मैं जान्यौ यह मेरौ घर है, ता धोखैं मैं आयौ।
देखत हौं गोरस मैं चींटी काढ़न कौं कर नायौ॥ १४

कृष्ण की यह झूठी उक्ति ही हास्य का आलंबन है जिसे सुनते ही श्रोता के ओठों पर मुस्कान आ जाती है। "मैया, मैं नहिं माखन खायौ" कहकर श्री कृष्ण ऐसी बातें बनाते हैं कि माँ यशोदा का क्रोध देखते-देखते हास्य में परिवर्तित हो जाता है और हँसते हुए बालक कृष्ण को वे गले लगा लेती हैं।

करुण रस

इष्ट या प्रिय वस्तु के नाश से उत्पन्न होनेवाला शोक ही विभाव, अनुभाव और संचारियों से परिपुष्ट होकर करुण रस में परिवर्तित हो जाता है। दावानल से जलते हुए वृक्षों और पशु-पक्षियों को देखकर गोपाल को रक्षा के लिए पुकारना अनुभाव है –

अब कैं राखि लेहु गोपाल।
दसहूँ दिसा दुसह दवागिनि, उपजी है इहिं काल॥ १५

इसमें दावाग्नि आलंबन, जलते हुए पशु-पक्षी उद्दीपन, ग्वाल-बाल आश्रय, स्मरण संचारी आदि का वर्णन किया गया है।

रौद्र रस

गोवर्द्धन पूजा के प्रसंग में रौद्र रस का वर्णन प्राप्त होता है, जब इन्द्र कुपित होकर ब्रज में प्रलय मचा देने का संकल्प करते हैं –

प्रथमहि देउँ गिरिहिं बहाइ।
बज्र-घातनि करौं चुरकुट, देउँ धरनि मिलाइ॥
रिस सहित सुरराज लीन्हे, प्रलय मेघ बुलाइ।
सूर सुरपति कहत पुनि-पुनि, परौ ब्रज पर धाइ॥ १६

---

१४ – वही ८९७। १५ – वही १२३३। १६ – वही १४७०।

यहाँ स्थायी भाव क्रोध के आश्रय इन्द्र, ब्रजवासी आलंबन, पूजा का नष्ट होना उद्दीपन, मेघों को बुला कर आदेश देना अनुभाव एवं गर्व, स्मृति, उग्रता आदि संचारी भाव हैं।

वीर रस

श्री कृष्ण द्वारा असुरों के संहार के अवसर पर वीर रस का अच्छा परिपाक हुआ है। लेकिन भीष्म-प्रतिज्ञा में वह सबसे ज्यादा स्पष्ट है –

आजु जौ हरिहिं न सस्त्र गहाऊँ।
तौ लाजौं गंगा जननी कौं, सांतनु सुत न कहाऊँ॥ १७

इस पद में भीष्म आश्रय, श्री कृष्ण आलंबन, श्री कृष्ण की प्रतिज्ञा उद्दीपन, खून की नदी बहाने की प्रतिज्ञा अनुभाव है और स्मृति, गर्व, उग्रता आदि संचारी भाव हैं। यह धर्मवीर का उदाहरण माना जायेगा। राधा-कृष्ण के 'रति रण' में युद्धवीर की व्यंजना है।

भयानक रस

सूरदास ने कालियनाग और असुरों के प्रसंग में ब्रजवासियों के मन में भय का संचार दिखाया है, किन्तु दावानल का भयंकर रूप सबसे अधिक आतंक पैदा करनेवाला है –

भहरात झहरात दवा (नल) आयौ।
घेरि चहुँ ओर, करि सोर अंदोर बन, धरनि आकास चहुँ पास छायौ॥

....

भए बेहाल सब ग्वाल ब्रजबाल तब, सरन गोपाल कहिकै पुकार्‌यौ।
तृना केसी सकट, बकी बक अघासुर, बामकरि राखि गिरि ज्यौं उबार्‌यौ॥ १८

यहाँ दावानल आलंबन, वृक्षों का गिरना, लपटों का उठना उद्दीपन, ग्वाल-बाल आश्रय, उनका बेहाल होना, श्री कृष्ण को पुकारना अनुभाव, श्री कृष्ण के रक्षकरूप का स्मरण करना स्मृति है। त्रास आदि भी संचारी हैं। इनसे पुष्ट स्थायी भाव भय का भयानक रस में परिपुष्ट होना दर्शाया गया है।

बीभत्स रस

सूरदास जीवन के हर्षोल्लास के गायक थें, अतः उन्होंने बीभत्स रस का वर्णन प्रायः नहीं किया है। बीभत्स में जुगुप्सा भाव के रहने से सूर इसे बचाते ही रहे।

अद्भुत रस

श्री कृष्ण का अलौकिक रूप-सौंदर्य और बाल-क्रीड़ा करते हुए असंभव पराक्रम का प्रदर्शन कर अनेक असुरों का संहार अद्भुत रस का संचार करनेवाला है। माँ यशोदा मिट्टी खाते हुए श्री कृष्ण को मुंह खोलकर दिखलाने को कहती हैं, तब उस मुख में पूरे ब्रह्माण्ड को देखकर चकित हो जाती हैं। वे नन्द से कहती हैं –

---

१७ – वही २७०। १८ – वही १२१४।

नंदहिं कहति जसोदा रानी।
माटी कैं मिस मुख दिखरायौ, तिहूँ लोक रजधानी॥
....
चितै रहे तब नन्द जुवति-मुख मन-मन करत बिनानी।
सूरदास तब कहति जसोदा गर्ग कही यह बानी॥ १९

यहाँ श्री कृष्ण आलंबन, नन्द-यशोदा आश्रय, श्री कृष्ण के मुख में स्वर्ग, पाताल, पृथ्वी आदि का होना उद्दीपन, यशोदा का चकित होना और नन्द से कहानी कहना अनुभाव, भय, वितर्क, औत्सुक्य आदि संचारियों से पुष्ट होकर यशोदा के हृदय में स्थित विस्मय स्थायी भाव का अद्भुत रस में परिणत होना वर्णित है।

शान्त रस

सूरदास के विनय सम्बन्धी पदों में शान्त रस की सरस्वती ही प्रवाहित होती है। शान्त रस का स्थायी भाव निर्वेद ही सूर का मूल भाव लक्षित होता है। माया और संसार का क्षणभंगुर ऐश्वर्य आलम्बन, सांसारिक कष्ट उद्दीपन, उनसे उत्पन्न ग्लानि, मति, दैन्य आदि संचारी भाव, श्री कृष्ण से प्रार्थना करना और अपने पापों का वर्णन करना अनुभाव है जिनसे सूरदास के हृदय में स्थित निर्वेद शान्त रस में पूर्णता को प्राप्त करता है। एक उदाहरण प्रस्तुत है –

अब मैं नाच्यौ बहुत गुपाल।
काम क्रोध कौ पहिरि चोलना, कण्ठ विषय की माल॥
महामोह के नूपुर बाजत, निन्दा-सब्द रसाल।
भ्रम-भोयौ मन भयौ पखावज, चलत असंगत चाल॥
तृष्णा नाद करति घट भीतर, नाना बिधि दै ताल।
माया को कटि फेंटा बाँध्यौ, लोभ-तिलक दियौ भाल॥
कोटिक कला काछि दिखराई, जल-थल सुधि नहिं काल।
सूरदास की सबै अविद्या दूरि करौ नँदलाल॥ २०

सूरदास मुख्यतः भक्तिभाव के गायक हैं, किन्तु उन्होंने अपने भावों को श्री कृष्ण-लीला के बहाने व्यक्त किया है, अतः वात्सल्य और मधुर रस की ही उसमें अधिकता है, शेष रस उसी के अंग और उपकारक हैं।

सूरदास का काव्य-सौष्ठव

सूरदास का 'सूरसागर' सौन्दर्य-सागर है; फिर उसमें भाव की प्रत्येक तरंग एक स्वाभाविक बाँकपन से युक्त है। कवि की प्रतिभा जितनी सजग होती है, उसकी कल्पना उतनी ही व्यापक होती है। अपनी कल्पना को दूसरे की कल्पना का विषय बनाने के लिए कवि अनेक अप्रस्तुतों की योजना करता है। यही कारण है कि सूर ने उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षा, रूपकातिशयोक्ति आदि अलंकारों का अधिक प्रयोग किया है। शब्दालंकारों में यमक, अनुप्रास, श्लेष और वीप्सा द्वारा भाव के अनुरूप नाद-सौन्दर्य प्रकाशित किया गया है।

---

१९ – वही ८७४। २० – वही १५३।

सांगरूपक का प्रयोग विनय के पदों में सबसे ज्यादा किया गया है; जैसे –

माधौ, नैंकु हटकौ गाइ।
भ्रमत निसि-बासर अपथ-पथ, अगहगहि नहिं जाइ॥
छुधित अति न अघाति कबहूँ, निगम-द्रुम दलि खाइ।
अष्ट-दस-घट नीर अँचवति, तृषा तउ न बुझाइ॥
छहौं रस जौ धरौं आगै, तउ न गन्ध सुहाइ।
नारदादि सुकादि मुनिजन थके करत उपाइ।
ताहि कहु कैसैं कृपानिधि सकत सूर चराइ॥ २१

इसी प्रकार अपने आराध्य श्री कृष्ण के सौंदर्य-वर्णन में भी कवि ने सांगरूपक का सुन्दर निर्वाह किया है –

देखौ माई सुन्दरता कौ सागर।
बुधि-बिबेक-बल पार न पावत, मगन होत मन-नागर॥
तनु अति स्याम अगाध अंबुनिधि, कटि पट पीत तरंग।
चितवत चलत अधिक रुचि उपजति, भँवर परति सब अंग॥
मीन नैन, मकराकृत कुण्डल, भुज सरि सुभग भुजंग।
मुक्ता माल मिलीं मानौ, द्वै सुरसरि एकै संग॥ २२

रूपकातिशयोक्ति के उदाहरण में सूर का वह प्रसिद्ध पद प्रस्तुत किया जा सकता है जिसमें रूप-सौंदर्य का प्रकाशन उपमेय (अंगों) के उल्लेख के विना केवल प्रसिद्ध उपमानों के द्वारा ही किया गया है –

अद्भुत एक अनूपम बाग।
जुगल कमल पर गज वर क्रीड़त, तापर सिंह करत अनुराग॥
हरि पर सरवर, सर पर गिरिवर, गिरि पर फूले कंज-पराग।
रुचिर कपोत बसत ता ऊपर, ता ऊपर अमृत-फल लाग॥
फल पर पुहुप, पुहुप पर पल्लव, ता पर सुक, पिक, मृगमद काग। २३

भेदकातिशयोक्ति के द्वारा सूरदास ने सौंदर्य की क्षण-क्षण नवीनता की वृद्धि का वर्णन किया है –

सखी री सुन्दरता कौ रंग।
छिन-छिन माँहि परति छवि औरै, कमल-नैन कैं अंग॥
परमिति करि राख्यौ चाहति हैं, लागी डोलति संग। २४

---

२१ – वही ५६। २२ – वही १२४६। २३ – वही २७२८। २४ – वही १२५८।

भगवान के गुण-वर्णन में कवि ने अतिशयोक्ति और विरोधाभास का सुन्दर प्रयोग किया है। संदेह, असंगति, असंभव और विषम आदि अलंकारों का वर्णन प्रेम को छिपानेवाली गोपियों की उक्तियों में देखा जा सकता है। सौंदर्य-चित्रण में, चाहे वह मानवीय हो या प्राकृतिक, कवि ने उपमाओं और उत्प्रेक्षाओं की झड़ी लगा दी है। 'भ्रमरगीत' में भ्रमर के व्याज से सुन्दर अन्योक्तियों का प्रयोग दर्शनीय है।

सूरदास का उक्ति-वैचित्र्य

कविता का उत्कर्ष उक्ति की विचित्रता पर निर्भर करता है। ये उक्तियाँ चमत्कारपूर्ण होकर ही काव्यत्व की गरिमा प्राप्त करती हैं। काव्य में तीन प्रकार की उक्तियाँ पाई जाती हैं – स्वभावोक्ति, रसोक्ति और वक्रोक्ति। सूरदास ने शिशु-कृष्ण की जिन चेष्टाओं का सूक्ष्म वर्णन किया है, वे स्वभावोक्ति की उदाहरण हैं, जैसे –

हरि अपनैं आँगन कछु गावत।
तनक-तनक चरननि सौं नाचत, मनहीं मनहिं रिझावत॥
बाँह उठाइ काजरी-धौरी, गैयनि टेरि बुलावत।
कबहुँक बाबा नन्द पुकारत, कबहुँक घर मैं आवत॥
माखन तनक आपने कर लै, तनक बदन मैं नावत।
कबहुँ चितै प्रतिबिम्ब खंभ में, लौनी लिए खवावत॥
दुरि देखति जसुमति यह लीला, हरष अनन्द बढ़ावत।
सूर स्याम के बाल-चरित, नित नित ही देखत भावत॥ २५

सूरदास के वात्सल्य और श्रृंगारपूर्ण छंदों में रसोक्तियों की कमी नहीं है, किंतु वास्तव में देखा जाये तो विनोदी वृत्ति के सूर को जो कमाल वक्रोक्ति में हासिल है, वह दूसरे को नहीं। सूरसागर में एक-से-एक अनूठी उक्तियाँ भरी पड़ी हैं। रूप-वर्णन और विलासपूर्ण चेष्टाओं के अंकन में कवि ने अनेक अप्रस्तुतों की सृष्टि की है जिससे पाठक के मन में अनेक भावपूर्ण बिम्ब अंकित हो जाते हैं। इन बिंबों की रचना के लिए कवि ने भाषा की अभिधा शक्ति के अतिरिक्त लक्षणा और व्यंजना शक्तियों का भी प्रयोग किया है। इनकी लक्षणाएँ क्रिया-पदों, विशेष्य और विशेषणों में विशेष रूप से देखी जा सकती है। भ्रमरगीत में वियोगिनी गोपियों के नेत्रों के जितने विशेषण हैं, वे लक्ष्यार्थ से युक्त हैं; जैसे – "अँखियाँ हरि दरसन की भूखीं।" २६ और

अँखियाँ हरि दरसन की प्यासी।
देख्यौ चाहति कमलनैन कौं निसिदिन रहति उदासी॥ २७

इस प्रकार कुब्जा के जो विशेषण हैं, वे भी विपरीत लक्षणा से युक्त हैं।

कवि ने प्रसंग के अनुकूल ही विशेष्यों का भी प्रयोग किया है। जहाँ दूध-दही का प्रसंग है, वहाँ ग्वाल, ग्वारि, गोपाल, जैसे 'गो' से संबंधित शब्द हैं, अन्यत्र लीला-विहार के प्रसंग में ब्रज-नारि, व्रजयुवती, कान्हा, कृष्ण आदि विशेष्यों का प्रयोग है। उद्धव के लिए जितने पर्याय प्रयुक्त हुए हैं, सबमें वक्रता है, जैसे – मधुकर, छपदसुत, मधुप, पाँड़े आदि।

---

२५ – वही ७९५। २६ – वही ४१७५। २७ – वही ४१७६।

श्री कृष्ण की क्रीड़ाओं के वर्णन में भी व्यंजना का सुन्दर प्रयोग पाया जाता है। माखनचोरी के प्रसंग में प्रत्यक्ष रूप (अभिधा) में तो गोपियाँ यशोदा से शिकायत करती हैं, किंतु उसके द्वारा श्री कृष्ण के प्रति उनका स्नेह ही व्यंजित होता है। इसी प्रकार मुरली के संबंध में जो कल्पनाएँ और उक्तियाँ प्रस्तुत की गयी हैं, उनके द्वारा गोपी-हृदय की प्रेम-कातरता व्यंजित होती है।

जैसा कि पहले संकेत किया जा चुका है, सौंदर्य-बोध के साधन नेत्र हैं। अतः साध्य के साथ ही साधन का भी महत्त्व वर्णित है। संयोग में जिन नेत्रों ने सबसे अधिक हर्षोत्सव मनाया था, वे वियोग में सबसे अधिक दीन और कातर हो गये हैं—

हरि दरसन कौ तरसति अँखियाँ।
झाँकति झखति झरोखा बैठी, कर मीड़ति ज्यौं मखियाँ॥
बिछुरीं बदन-सुधानिधि-रस तैं, लगति नहीं पल पँखियाँ।
इकटक चितवतिं उड़ि न सकतिं जनु, थकित भई लखि सखियाँ॥ २८

नेत्रों को मक्खी के रूप में उपमित करने की परम्परा तो प्राप्त होती है, किंतु उसके सांगरूपक द्वारा बिम्बग्राही वर्णन कम ही कवि कर सके हैं। अनुप्रास की झंकार के साथ 'कर मीड़ति' में सूक्ष्म निरीक्षण का अद्वितीय प्रयोग किया गया है।

भाषा पर सूरदास का अपूर्व अधिकार सिद्ध होता है, क्योंकि उन्होंने जिस प्रकार प्रयोजनवती रूढ़ा लक्षणाओं (मुहावरों) का प्रयोग किया है, अन्यत्र दुर्लभ है। नारी- सुलभ ईर्ष्या को भूलकर गोपियाँ जिस प्रकार कुब्जा को बधाई देती हैं, वह उनकी सूक्ष्म मानसिक दशा का व्यंजक है—

बरु उन कुबिजा भलौ कियौ।
सुनि-सुनि समाचार ये मधुकर अधिक जुड़ात हियौ॥
जिनके तन-मन-प्रान रूप गुन हर्‌यौ सु फिरि न दियौ।
तिन अपनें मन हरत न जान्यौ हँसि-हँसि लोग जियौ॥
सूर तनक चन्दन चढ़ाइ उर श्रीपति बस जु कियौ।
और सकल नागरि नारिनि कौं दासी दाउँ लियौ॥ २९

उक्त एक ही छंद में कवि ने जिस प्रतिभा का प्रदर्शन किया है, उसे विदग्ध जन ही समझ और सराह सकते हैं।

सूरदास में जितनी भाव की समृद्धि है, उनकी भाषा में उतनी ही संप्रेषण की क्षमता भी है।

●

२८—वही ३८५८। २९—वही ४२५६।



सूरदास की कीर्तन-पद्धति

डॉक्टर प्रभुदयाल मीतल

सूरदास के महत्त्व का आकलन एक महान् भक्त कवि के रूप में किया जाता है। वे निश्चय ही हिन्दी के सर्वोत्कृष्ट भक्त कवि थे, किन्तु इसके साथ ही वे भक्त गायक भी थे। बल्कि यह कहना अधिक सार्थक होगा कि वे पहले भक्त गायक थे और पीछे भक्त कवि। उनके महान् भक्त गायक होने का प्रमाण यह है कि उनका समस्त जीवन श्रीनाथजी के मन्दिर में कीर्तन-गान करते हुए बीता था। उनका सम्पूर्ण जीवन संगीत के लिए समर्पित था, और उसीकी साधना में उनका समस्त भक्ति-काव्य रचा गया था। उस संगीत-साधनारूपी उनकी कीर्तन-पद्धति का यहाँ संक्षिप्त विवेचन किया जाता है।

महाप्रभु वल्लभाचार्यजी ने विक्रम की १६वीं शती में श्रीकृष्णोपासना के एक भक्ति-संप्रदाय की स्थापना की थी। उन्होंने इसका नाम 'पुष्टिमार्ग' रखा था, किन्तु लोक में यह अपने प्रवर्त्तक के नाम पर 'वल्लभ संप्रदाय' कहलाता है। महात्मा सूरदासजी इसी संप्रदाय में दीक्षित थे और वे श्री वल्लभाचार्यजी के प्रमुख शिष्यों में से थे।

पुष्टिमार्ग की मान्यता है कि जबतक जीव की सांसारिक दुःखों से निवृत्ति नहीं होती और उसे ब्रह्म का बोध नहीं होता, तबतक वह श्रीकृष्ण के दिव्य प्रेम को प्राप्त करने का अधिकारी नहीं हो सकता। इसके लिए श्री वल्लभाचार्यजी ने श्रीकृष्ण की सेवा करने का उपदेश दिया। उन्होंने इस सेवा-विधि के दो क्रम निर्धारित किये—प्रथम प्रातःकाल से शयन-पर्यन्त के उत्सवों की 'नित्य-सेवा' का और द्वितीय वर्षभर के उत्सवों की 'नैमित्तिक सेवा' का। इन दोनों प्रकार के उत्सवों की सेवा-विधि को व्यवस्थित रूप में प्रचारित करने का श्रेय श्री वल्लभाचार्यजी के यशस्वी पुत्र गोसाईं विट्ठलनाथजी को है। सूरदासजी ने उसमें पूरा सहयोग दिया था।

पुष्टिमार्गीय नित्य एवं नैमित्तिक सेवा-विधि के तीन प्रमुख अंग माने गये हैं। वे हैं— शृंगार, भोग और राग। इनकी मान्यता के पीछे यह मनोवैज्ञानिक तथ्य है कि प्रत्येक व्यक्ति जीवन-पर्यन्त इन्हीं तीन विषयों में संलग्न रहता है। वह साज-शृंगार, खान-पान और राग-रंग में फँसकर इस मायारूपी संसार के बंधनों में दिन-प्रतिदिन उलझता जाता है। इस प्रकार वह अपने जीवन को व्यर्थ गँवा देता है। किन्तु ये तीनों विषय इतने प्रबल हैं कि इनसे बचना भी बड़ा कठिन है। उसके लिए श्री वल्लभाचार्यजी का उपदेश है कि यदि उक्त विषयों को भगवत्-सेवा में लगा दिया जाये, तो वे

भगवद्-रूप हो जाते हैं। तब वे जीव का अनिष्ट करने की बजाय उसके कल्याण के साधन बनते हैं। फलतः प्रत्येक व्यक्ति गृहस्थाश्रम में रहते हुए भी जीवन्मुक्त हो सकता है।

नित्य एवं नैमित्तिक, दोनों प्रकार की सेवाओं में शृंगार, भोग और राग का आवश्यक विधान किया गया है। इनमें राग-सेवा ही कीर्तन-सेवा है। इसका अभिप्राय है स्वर, लय और ताल-सहित विभिन्न राग-रागिनियों में भगवान् श्रीकृष्ण के नाम, रूप, गुण और लीलाओं का गायन। नित्य की सेवा-विधि के अंतर्गत श्रीकृष्ण की आठ समय की सेवाएँ हैं, जिनके नाम हैं – (१) मंगला (२) शृंगार, (३) ग्वाल, (४) राजभोग, (५) उत्थापन, (६) संध्या-भोग, (७) संध्या-आरती और (८) शयन। इन सबमें राग अर्थात् कीर्तन का होना अनिवार्य है। इसी प्रकार वर्षोत्सवों में भी कीर्तन की आवश्यकता प्रमुख रूप से होती है।

राग अर्थात् कीर्तन-सेवा के इस महत्त्व को देखकर श्री वल्लभाचार्यजी के सुयोग्य पुत्र गोसाईं विट्ठलनाथजी ने अपने संप्रदाय के आठ वरिष्ठ कीर्तनकारों की एक मंडली का गठन किया था, जो 'अष्छाप' अथवा 'अष्टसखा' के नाम से प्रसिद्ध हुई। उस मंडली के मुखिया महात्मा सूरदासजी थे।

अष्टछाप के आठों कीर्तनकार सामान्यतया आठों समय के उत्सवों में और मुख्यतया एक-एक उत्सव में कीर्तन किया करते थे। सूरदासजी को मुख्य रूप से 'उत्थापन' की कीर्तन-सेवा सौंपी गई थी, किन्तु वे प्रायः आठों समय की झाँकियों में कीर्तन करते थे। उसके लिए उन्होंने नित्य नये पदों की रचना कर उनका गायन किया था। उनके दीर्घ जीवन-काल में जो सहस्रों पद गाये गये थे, उनका संकलन ही 'सूरसागर' के नाम से प्रसिद्ध है।

कीर्तन के पदों की यह विशेषता है कि वे प्रातःकाल से सायंकाल पर्यन्त के समय और ऋतु के अनुकूल राग-रागिनियों में रचे गये हैं। अतएव समस्त सूर-काव्य भी इसी प्रकार का है। इसमें समय, ऋतु, रस और राग का एक सुनिश्चित क्रम दिखलाई देता है। सूरदास ने जिस भाव के पद की रचना की, उसे तदनुकूल राग-रागिनी में ही गाया। फलतः उनके पदों में स्वर और शब्द सम्बन्धी राग-रस तथा काव्य-रस का मनोरम सामंजस्य हुआ है। इस तथ्य को नित्योत्सव और वर्षोत्सव के आठों समय की सेवाओं में गाये जानेवाले पदों के कतिपय उदाहरणों से भली भाँति समझा जा सकता है। पहले नित्योत्सव के आठों समय को लीजिये।

मंगला – यह नित्योत्सव की प्रथम सेवा है। इसका समय प्रातःकाल साढ़े पाँच से साढ़े छः बजे तक है। इसमें श्रीकृष्ण के स्वरूप को पहले जगाया जाता है। फिर मंगल-भोग धरा कर मंगला-आरती की जाती है। उस अवसर पर कीर्तन के जो पद गाये जाते हैं, वे जागरण-दधिमंथन के अतिरिक्त खंडिता-विषयक संभोग शृंगार के होते हैं। फलतः उन्हें समय और विषयानुकूल भैरव, विभास, विलावल आदि प्रातःकालीन रागों में गाया जाता है। सूरदास के मंगला-विषयक पद भी इन्हीं रागों के मिलते हैं। उनमें से एक जागरण का पद भैरव राग में गाया हुआ इस प्रकार है –

नींद के मतवारे स्याम खोलो क्यों न पलकें।
'सूर' के सलोने स्याम देखो नयन भरिकें॥

दूसरा खंडिता-विषयक संभोग-शृंगार का पद विभास राग में गाया हुआ इस प्रकार है –

राधिका स्याम तन देखि मुसकानी।
हार विनु गुन लेख, अधर अंजन देख, नैन तंवोल तुतरात वानी।
पाग लटपट वनी, उरहिं छूटी तनी, अंक की गति देखि, जिय में लजानी॥....

शृङ्गार – इस द्वितीय सेवा का समय प्रातः सात बजे से आठ बजे तक है। इसमें श्रीकृष्ण के स्वरूप को स्नान कराने और तेल-फुलेल लगाने के अनन्तर उन्हें वस्त्र-आभूषण धारण कराये जाते हैं। इस अवसर पर कीर्तन के जो पद गाये जाते हैं, वे समयानुसार पूर्वोल्लिखित प्रातःकालीन राग-रागिनियों के होते हैं, किन्तु इनमें बिलावल राग के पदों की प्रमुखता होती है। उक्त पद वस्त्राभूषण के उपकरण, जैसे धोती, उपरना, सूँथन, काछनी, पाग, फेंटा, कुल्हा, टिपारा, मुकुट, चन्द्रिका, क्रीट आदि के होते हैं। सूरदासकृत शृंगार का एक पद बिलावल राग में गाया हुआ इस प्रकार है –

मोर मुकुट कटि काछनी जननी पहिरावै।
स्याम अंग भूषन सजे, बिंदुका जो बनावै ॥
नूपुर कंकन किंकनी कर वेनु गहावै।
भोग अरप बीरा दियौ सुख 'सूर' बढ़ावै ॥

दूसरा पद भी बिलावल राग में गाया हुआ है। उपमानों से श्रीकृष्ण की मनोहर छवि का कथन करते हुए इसमें कहा गया है –

देखि सखी एक अद्भुत रूप।
एक अम्बुज मध्य देखियत बीस दधि-सुत यूप ॥....

ग्वाल – इस तृतीय सेवा का समय प्रातः साढ़े आठ से पूर्वाह्न साढ़े नौ बजे तक है। इसमें ग्वालबालों के साथ श्रीकृष्ण के खेलने जाने के पद गाये जाते हैं। ये पद पूर्वोल्लिखित राग-रागिनियों के अतिरिक्त देवगंधार, आसावरी आदि के होते हैं। सूरदास का तद्विषयक एक पद बिलावल राग में गाया हुआ इस प्रकार है –

दै मैया भँवरा चकडोरी।
जाइ लेहु आरे पर राख्यौ, काल्हि मोल लै राखी कोरी ॥
बोलि लिए सब सखा संग कै, खेलत कान्ह आपुनी पौरी।
'सूरदास' प्रभु हँसि-हँसि खेलत, ब्रज-वनिता डारहिं तन तोरी ॥

राजभोग – इस चौथी सेवा का समय पूर्वाह्न दस बजे से मध्याह्न बारह बजे तक है। इसमें श्रीकृष्ण के स्वरूप को भोग धराया जाता है। इसकी प्रमुख भावना 'छाक' के भोजन की है। यशोदा माता द्वारा श्रीकृष्ण के लिए वन में भेजी जानेवाली भोजन-सामग्री को 'छाक' कहते हैं। इस अवसर पर जो कीर्तन के पद गाये जाते हैं, वे आसावरी, धनाश्री, सारंग आदि उष्ण प्रकृति की राग-रागिनियों के होते हैं। इनमें सारंग राग की प्रमुखता होती है। यहाँ पर सूरदास के तद्विषयक कुछ पद दिये जाते हैं। प्रथम पद सारंग राग का है –

आई छाक बुलाए स्याम।
यह सुनि सखा सबै जुरि आए, सुबल, सुदामा अरु श्रीदाम। ....

दूसरा पद है –

सखनि संग जेंवत हरि छाक।
प्रेम सहित मैया दै पठई, सबै बनाई है इक ताक। ....

तीसरा पद धनाश्री रागिनी का इस प्रकार है –

जेंवत कान्ह नन्द जू की कनियाँ ।
कछुक खात कछु धरनि गिरावत छबि निरखत नँदरनियाँ ।।
जो सुख महरि जसोदा बिलसत, सो नहिं तिहूँ भुवनियाँ ।
भोजन करि अचवन जब कीनों, माँगत 'सूर' जुठनियाँ ।।

उत्थापन – इस पाँचवीं सेवा का समय मध्याह्नोत्तर साढ़े तीन से चार बजे के लगभग है। इसमें श्रीकृष्ण के स्वरूप को पुनः जगाया जाता है। इसके पद धनाश्री, भीमपलासी, पूर्वी आदि रागों के होते हैं। सूरदास का तद्विषयक एक कूट पद पूर्वी राग का इस प्रकार है –

राधे, दधि-सुत क्यों न दुरावै ।
जल-सुत दुखी, दुखी वे मधुकर, द्वय पंछी दुख पावै ।।
सारंग-रिपु की नैंकु ओट कर, जो सारंग सचु पावै ।
'सूरदास' सारंग के धोखें, सारंग-कुलहिं लजावै ।।

संध्याभोग – इस छठी सेवा का समय सायंकाल साढ़े चार बजे से पाँच बजे तक का है। इसमें ठाकुरजी को फल-फूलादि का भोग धराया जाता है। इससे सम्बन्धित पद गौरी, पूरिया आदि के होते हैं। इस अवसर पर गाया जानेवाला एक पद इस प्रकार है –

'राधे तेरे नैन, किधौं बटमारे ।
अँखियन डोरे चटक रहे हैं, घूमत ज्यों मतवारे ।।
अंजन दै पिय कों मन रंजत, खंजन-मीन-मृग हारे ।
'सूरदास' प्रभु के मिलिबे कों, नाचत ज्यों नट बारे ।।

संध्या-आरती – इस सातवीं सेवा का समय सायंकाल साढ़े पाँच बजे से साढ़े छः बजे तक है। इसमें गायों को लेकर वन से श्रीकृष्ण के घर आने की भावना है। इसके पद संध्याकालीन राग-रागिनियों में गाये जाते हैं, जिनमें गौरी, जैतश्री रागिनियों की प्रधानता होती है। सूरदासकृत गौरी-रागिनी का एक पद इस प्रकार है –

कमल मुख सोभित सुन्दर बेनु ।
मोहन ताल बजावत गावत, आवत चारे धेनु ।।
कुंचित केस सुदेस वदन पर, जनु साज्यौ अलिसैन ।
सहि न सकत, मुरली मधु पीवत, चाहत अपुने ऐन ।।
भृकुटी चारु चाप कर लीनें, भयौ सहायक मैन ।
'सूरदास' प्रभु अधर सुधा लग, उपज्यौ कठिन कुचैन ।।

शयन – इस आठवीं और अन्तिम सेवा का समय रात्रि में सात बजे से आठ बजे के लगभग है। इसमें पहले व्यारू-भोग आता है, फिर आरती होती है। तत्पश्चात् श्रीकृष्ण के स्वरूप को शयन कराया जाता है। इस अवसर पर जिन पदों से कीर्तन किया जाता है, वे यमन, कामोद, केदार, विहाग, कान्हरा आदि रात्रिकालीन रागों के होते हैं। इनके विषय व्यारू, मान, शयन से सम्बन्धित होते हैं। सब के अन्त में दीनता-आश्रय के पदों का गायन किया जाता है। सूरदासजी के तद्विषयक अनेक पद हैं। इनमें राग कान्हरा में गाया हुआ व्यारू का एक पद इस प्रकार है –

वल-मोहन दोउ करत बियारू, जसुमति निरखि जाय बलिहारी।
प्रेम सहित दोउ सुतन जिमावति रोहिनि अरु जसुमति महतारी॥
आलस करि कर कौर उठावत, तन-मन-धन कीनौं बलिहारी।
बारंबार जँभात 'सूर' प्रभु, यह छवि को कवि सकै विचारी॥

इस प्रकार नित्योत्सव सम्बन्धी आठ समय की सेवा में कीर्तन का यह स्वरूप है। इस सेवा-विधि में माता यशोदा की श्रीकृष्ण के प्रति वात्सल्य-भावना की प्रधानता होती है। इसके साथ ही वर्षोत्सव की सेवा भी चलती रहती है। इस सेवा-विधि के अन्तर्गत वैदिक पर्व, लोक-त्यौहार, षट् ऋतुओं के अतिरिक्त अवतारों की जयन्तियाँ और उनकी विविध लीलाओं के उत्सव होते हैं। इनमें ब्रह्म-भावना, लोक-भावना, आसक्तिरूप स्वकीय-भावना और व्यसनरूप परकीय-भावना की भक्ति से सम्बन्धित पदों का गायन किया जाता है। ये पद अवसर और प्रसंग के अनुकूल राग-रागिनियों के होते हैं। इनमें ऋतुओं के अनुसार रागों का परिवर्तन भी होता रहता है। सूरदास के वर्षोत्सवसम्बन्धी पद भी बहुत बड़ी संख्या में उपलब्ध हैं, जो तदनुकूल राग-रागिनियों में निबद्ध हैं। उनकी कीर्तन-पद्धति का यह स्वरूप व्रज की उपासना-भक्ति के साथ ही साथ यहाँ के संगीत की समृद्ध परम्परा का भी परिचायक है।

जसुदा, नार न छेदन दैहौं।
मनिमय जटित हार ग्रीवा कौ, वहै आजु हौं लैहौं।
औरनि के हैं गोप-खरिक बहु, मोहिं गृह एक तुम्हारौ।
मिटि जु गयौ संताप जनम कौ, देख्यौ नंद-दुलारौ।
बहुत दिननि की आसा लागी, झगरिनि झगरौ कीनौ।
मन मैं बिहँसि तबै नँदरानी, हार हिये कौ दीनौ।
जाकैं नार आदि ब्रह्मादिक, सकल-बिस्व-आधार।
सूरदास प्रभु गोकुल प्रगटे, मेटन कौं भू-भार।

सूरसागर ६३३

वल्लभ दर्शन के परिप्रेक्ष्य में सूर-काव्य का मूल्यांकन

डॉक्टर वासुदेव सिंह

आन्ध्र प्रदेश के काकरवाड नामक स्थान के निवासी तैलंग ब्राह्मण महाप्रभु वल्लभाचार्य का जन्म सम्वत् १५३५ वैशाख कृष्ण पक्ष एकादशी को हुआ था। इनका बाल्यकाल काशी में बीता; १३ वर्ष की आयु में इन्होंने वेद, वेदांग तथा अन्य शास्त्रों का अध्ययन कर लिया, फिर तीर्थाटन एवं देश-भ्रमण किया तथा सं० १५४९ में व्रज में जा बसे। वहीं उन्होंने श्रीनाथजी के मंदिर का निर्माण कराया; अपने दर्शन 'शुद्धाद्वैत' तथा भक्ति 'पुष्टिमार्ग' का प्रतिपादन किया। कहा जाता है कि उन्होंने ८४ ग्रन्थों की रचना की, जिनमें तत्त्वदीप निबन्ध, अणुभाष्य और भागवत की सुबोधिनी टीका प्रमुख हैं। उनकी दार्शनिक मान्यताएँ तत्त्वदीप निबंध और अणुभाष्य में लिपिबद्ध हैं।

रामानुज आदि आचार्य अपने मत के प्रतिपादन के लिए प्रस्थानत्रयी को प्रमाण मानते थे, किन्तु आचार्य वल्लभ ने प्रस्थानचतुष्टय को—उपनिषद्, ब्रह्मसूत्र, गीता और भागवत को—आधार बनाया। १ महाप्रभु श्रीमद्भागवत को ज्ञान और भक्ति का सर्वोत्कृष्ट ग्रंथ मानते थे।

शुद्धाद्वैतवाद

आचार्य वल्लभ के दर्शन को शुद्धाद्वैतवाद, ब्रह्मवाद तथा अविकृत परिणामवाद कहा जाता है और भक्ति की दृष्टि से उसे 'पुष्टि-मार्ग' कहते हैं। शुद्धाद्वैत का तात्पर्य है—माया के सम्बन्ध से रहित—'शुद्धं च तदद्वैतम्'। माया के सम्बन्ध से रहित ब्रह्म ही जगत् का कारण और कार्य है। श्री गिरिधर ने 'शुद्धाद्वैत मार्तण्ड' में इसे स्पष्ट करते हुए लिखा है—

मायासम्बन्धरहितं शुद्धमित्युच्यते बुधैः।
कार्यकारण रूपं हि शुद्धं ब्रह्म न मायिकम्॥ २

ब्रह्म कारण और कार्य दोनों रूपों में शुद्ध है। शंकराचार्य ब्रह्म को मायाशबलित मानते थे, जगत् को मिथ्या अथवा भ्रम बताते थे। इसीलिए उनका सिद्धान्त 'मायावाद' कहलाया। शंकर ने जहाँ-जहाँ माया का अस्तित्व बताया था, वल्लभाचार्य ने वहाँ-वहाँ ब्रह्म का प्रतिपादन किया। इसीलिए इनका सिद्धान्त 'ब्रह्मवाद' कहलाया। ब्रह्मवाद का तात्पर्य है कि ब्रह्म ही सब कुछ है। जीव और जगत् ब्रह्मरूप हैं, अतएव सत्य हैं। उन्होंने तत्त्वदीप निबंध में लिखा है—

आत्मैव तदिदं सर्वं ब्रह्मैव तदिदं तथा।
इति श्रुत्यर्थमादाय साध्यं सर्वैर्यथामति॥
अयमेव ब्रह्मवादः शिष्टं मोहाय कल्पितम्॥ ३

१—वेदाः श्रीकृष्णवाक्यानि व्याससूत्राणि चैव हि। समाधिभाषा व्यासस्य प्रमाणं तच्चतुष्टयम्॥ —तत्त्वदीप निबंध, कारिका ७। २—शुद्धाद्वैत मार्तण्ड, श्लोक २८। ३—तत्त्व० नि०, का० १८४।

उनका ब्रह्म मायिक नहीं है, वह कार्य-कारण दोनों रूपों में शुद्ध है। जीव और जगत् उसके विकाररहित परिणाम हैं। शंकराचार्य यह मानते थे कि जीव या जगत् को ब्रह्म का परिणाम मानने से उसमें (ब्रह्म में) विकार आ जाने का भय है। किन्तु वल्लभाचार्य ने कहा कि ब्रह्म दूध के समान नहीं है, जिसका दही बन जाने पर अर्थात् विकार आने पर पुनः दूध नहीं बन सकता, बल्कि वह स्वर्ण-सदृश है, जिसके अनेक आभूषण बनने पर भी स्वर्ण-तत्त्व पूर्ववत् विद्यमान रहता है। कार्य बदल जाने से कारण में विकार नहीं आता। इसीलिए उनके सिद्धान्त को 'अविकृत परिणामवाद' भी कहते हैं।

ब्रह्म

श्री वल्लभ ने तत्त्वदीप निबंध के शास्त्रार्थप्रकरणम् में ब्रह्म के स्वरूप का प्रतिपादन किया है, जिसके अनुसार वह सत्, चित् और आनन्द स्वरूप है, सर्वव्यापी और सर्वशक्तिमान है। ४ ब्रह्म एक है। सविशेषत्व (सगुणत्व) और निर्विशेषत्व (निर्गुणत्व) उसके दो प्ररूप हैं। वह स्वगत, सजातीय तथा विजातीय भेदों से रहित है। ५ यहाँ सजातीय का तात्पर्य है जीव, विजातीय का जड़तत्त्व और स्वगत का अन्तर्यामी। ब्रह्म इन तीनों में अनुस्यूत है। इस प्रकार जीव और जगत् उससे भिन्न नहीं हैं, अपितु उसीके रूप हैं। वल्लभ के मत से ब्रह्म के तीन रूप या प्ररूप हैं – आधिदैविक (परब्रह्म), आध्यात्मिक (अक्षर ब्रह्म) और आधिभौतिक (जगत्)। ये तीनों अभिन्न हैं। ब्रह्म अनेक रूपों में विभक्त होते हुए भी अविभक्त है। जड़ जगत् और चेतन जीव उसी के विभाव हैं। ब्रह्म सत्, चित्, आनन्द स्वरूप है। उसके अन्तर्यामीरूप में तीनों का आविर्भाव रहता है; जीव में सत् और चित् का आविर्भाव रहता है, आनन्द का तिरोभाव रहता है तथा जगत् में केवल सत् का आविर्भाव रहता है, शेष दो का तिरोभाव रहता है। अनुभव का विषय होना ही आविर्भाव है और न होना तिरोभाव है। इस प्रकार ब्रह्म तीन भावों से सर्वत्र व्याप्त है। उसकी आकृति में परिवर्तन होता रहता है, किन्तु उसमें विकृति नहीं आती।

श्रुतियों में जिस परमतत्त्व को परब्रह्म कहा गया है, श्रीवल्लभ ने उसीको पुरुषोत्तम कहा है। 'पुरुषोत्तम सहस्रनाम' में उसे अनेक विशेषणों से सम्बोधित किया गया है, यथा जगत्कर्ता, आदिकर्ता, सर्वाकार, सदानन्द आदि। श्रीकृष्ण ही पुरुषोत्तम परब्रह्म हैं – "परब्रह्म तु कृष्णो हि सच्चिदानन्दकं बृहत्।" ६ वे आनन्दस्वरूप हैं। उन्हीं की शरण में जाने से परमानन्द की प्राप्ति होती है।

जीव

तैतरीय उपनिषद् के सूत्र 'एकोऽहं बहुस्याम्' (२।६) के आधार पर वल्लभाचार्य ने तत्त्वदीप निबंध में कहा है कि ईश्वर रमण करने की इच्छा से आनन्द को तिरोहित कर जीवरूप ग्रहण करता है तथा चित् और आनन्द दोनों को तिरोहित कर जगत्रूप ग्रहण करता है। जगत् उसका क्रीड़ास्थल है और जीव क्रीड़ा का माध्यम। दोनों सत्य हैं। अणुभाष्य के अनुसार भगवान् में छः गुण हैं – ऐश्वर्य, वीर्य, यश, श्री, ज्ञान और वैराग्य। जीव में ऐश्वर्य के तिरोभाव से दैन्य, वीर्य के तिरोभाव से दुःख, यश के तिरोभाव से दीनता, श्री के तिरोभाव से जन्म-मरण, ज्ञान के तिरोभाव से अहंबुद्धि और वैराग्य के तिरोभाव से विषयासक्ति आती है। जिसमें उपर्युक्त गुणों का समावेश हो जाता है, वह मुक्ति का अधिकारी हो जाता है। यहाँ वल्लभाचार्य ने एक महत्त्वपूर्ण बात यह कही है कि आनन्द के तिरोभाव से ही जीव-भाव का उदय होता है और जीव काममय हो जाता है। आनन्द अकामरूप है – "अतएव काममयः अकामरूपत्वात् आनन्दस्य।" ७

---

४ – सच्चिदानन्दरूपं तु ब्रह्म व्यापकमव्ययम्। ५ – सजातीय-विजातीय-स्वगतद्वैतवर्जितम्। – तत्त्व० नि०, का० ६६। ६ – सिद्धान्त मुक्तावली, श्लोक ३। ७ – अणुभाष्य, ३/२/५।

ब्रह्म से जीव का उदय अग्नि से स्फुलिंग निकलने के समान होता है। अग्नि से चिनगारी पैदा नहीं होती, छिटक कर निकलती है। यही स्थिति जीव की है। अतः वह भी नित्य है। वह ब्रह्म का अंश है, प्रतिविम्ब नहीं। शंकराचार्य मानते थे कि जीव की अनेकता तथा सत्ता भ्रम से प्रतीत होती है। वस्तुतः न जीव है, न जगत्। किन्तु वल्लभाचार्य ने कहा कि जीव ब्रह्म का अंश होने के कारण सत्य है। उन्होंने जीवों की तीन कोटियाँ भी निर्धारित की हैं—पुष्टि-जीव, मर्यादा-जीव और प्रवाह-जीव। पुष्टि-जीवों को भगवद्-अनुग्रह प्राप्त रहता है और वे प्रभु की लीला में भाग लेते हैं, मर्यादा-जीव ज्ञान के द्वारा मोक्ष लाभ करते हैं तथा प्रवाह-जीव संसार की क्रियाओं में प्रवृत्त रहते हैं। श्रीवल्लभ द्वारा इनके और भी कई भेदोपभेद किए गए हैं।

जगत्

ब्रह्म जगत् का निमित्तोपादान कारण है। ८ ब्रह्म कारण है, जगत् कार्य। वह भगवद्रूप ही है, उसके सत् रूप की अभिव्यक्ति है। अतः वह विवर्तरूप नहीं है, मिथ्या नहीं है। शंकराचार्य जगत् को मिथ्या मानते थे। उनके मत से यदि जगत् को ब्रह्म का परिणाम माना जाये तो ब्रह्म में विकार आ जाएगा। इसीसे बचने के लिए उन्होंने जगत् को मिथ्या घोषित कर दिया। किन्तु परिणाम दो प्रकार का होता है—विकृत और अविकृत। दूध से दही बनता है, यह विकृत परिणाम है। किन्तु कनक से कुण्डलादि आभूषण बनते हैं, यह अविकृत परिणाम है। यह जगत् भी ब्रह्म का अविकृत परिणाम है, नानारूप उसीकी अभिव्यक्ति हैं। और अन्ततः उसीमें लय हो जाते हैं। अतः जगत् ब्रह्मरूप ही है। मकड़ी के जाले के सदृश जगत् की सृष्टि होती है। ब्रह्म से उसका आविर्भाव-तिरोभाव होता है, विनाश नहीं होता।

यहाँ एक बात और ध्यान रखने की है। वल्लभाचार्य ने जगत् और संसार को पर्यायवाची नहीं माना है। दोनों एक नहीं हैं। जगत् सत्य है, वह ब्रह्म का सत् रूप है, किन्तु संसार जीव के अहंतात्मक मन की उपज। अविचारजन्य संसार मिथ्या है। ज्ञान के उदय होने पर संसार का विनाश हो जाता है।

माया

वल्लभाचार्य ने माया को कोई भिन्न पदार्थ नहीं माना है। उसे भगवान की 'सर्वभवनसामर्थ्यरूपा शक्ति' कहा है—"माया हि भगवतः शक्तिः सर्वभवनसामर्थ्यरूपा तत्रैव स्थिता।" शंकराचार्य ने ब्रह्म को मायोपहितचैतन्य कहा है। उनके अनुसार ब्रह्म माया से उपहित (कन्डिशन्ड) हो जाता है। श्रीवल्लभ के अनुसार माया उनकी शक्ति है, सर्जन-कला है। ब्रह्म माया से उपहित नहीं होता। माया उन्हीं में स्थित है, उनसे भिन्न नहीं। इस माया के दो रूप हैं—विद्या माया और अविद्या माया। ९ अविद्या माया से जीव मोह में पड़ता है। वह सत्य का आच्छादन करती है और असत्य का भान कराती है। अविद्या माया से जीव में अहंभाव पैदा होता है। इसी से वह शोक, मोह, भ्रम, राग-द्वेष आदि में पड़ता है। विद्या माया जीव को बंधन से मुक्त करती है, उसमें ज्ञान का उदय करती है। ज्ञान के उदय होने पर जीव अपने स्वरूप को जान लेता है। आत्मस्वरूप की जानकारी से ही उसकी मुक्ति सम्भव है। इस ज्ञान-प्राप्ति का सर्वोत्कृष्ट उपाय है—भगवद्भक्ति।

८—जगतः समवायि स्यात् तदेव च निमित्तकम्। —तत्त्व० नि०। ९—विद्याविद्ये हरेः शक्ती माययैव विनिर्मिते। ते जीवस्यैव नान्यस्य दुःखित्वं चाप्यनीशता॥ —तत्त्व० नि०, का० ३४।

जैसा कि पहले कहा गया है, भगवान के आनन्दरूप के तिरोभाव से जीव-भाव का उदय हुआ है। अतः जीवन का चरम लक्ष्य है – आनन्द की प्राप्ति। भगवान रसरूप हैं, आनन्दरूप हैं। उनसे तादात्म्य ही जीवन की सार्थकता है। सामान्यतः जीव अविद्या से ग्रस्त रहता है। अविद्या विद्या से नष्ट होती है और तब भक्ति का उदय होता है। भक्ति भी दो प्रकार की है – मर्यादा-भक्ति और पुष्टि-भक्ति। वैदिक कर्मों के अनुष्ठान, पालन आदि को मर्यादा-भक्ति कहते हैं। इससे सायुज्य मुक्ति प्राप्त होती है। वल्लभाचार्य ने पुष्टि-भक्ति को श्रेष्ठ माना है। पुष्टि का अर्थ है – भगवान का अनुग्रह – "पोषणं तदनुग्रहः।" १० भगवान के प्रति माहात्म्य-ज्ञान रखते हुए, सुदृढ़ प्रेम से यह भक्ति आती है। पुष्टि-भक्ति ही सभी कार्यों की नियामक है – "अनुग्रहः पुष्टिमार्गनियामक इति स्थितिः।" ११ भक्ति में एक ऐसी अवस्था आती है, जब भगवान स्वयं आकृष्ट होकर अनुग्रह करता है। इसी को आगम में 'शक्तिपात्' कहते हैं। आत्मसमर्पण या शरणागति पुष्टि-भक्ति का मुख्य लक्षण है। यह स्वयं साध्य है, साधन नहीं। इसका लक्ष्य है – रसरूप भगवान के आनन्द की अनुभूति। मर्यादा-भक्ति में फल की आकांक्षा रहती है, पुष्टि-भक्ति में फल की इच्छा नहीं रहती। इसमें अभेद-बोध का आह्लाद रहता है।

वस्तुतः पुष्टि-भक्ति का आधार गीता का वह श्लोक है, जिसमें कहा गया है कि सब धर्मों को छोड़कर केवल मेरी शरण में आ। मैं तेरे सभी पापों को दूर कर दूँगा। तू शोक मत कर। १२ यहाँ 'धर्म' शब्द विशेष रूप से विचारणीय है। धर्म 'धृ' धातु से निष्पन्न है, जिसका अर्थ है – धारण करना। जीव ने जो कुछ धारण कर रखा है (whatever hold on to), जितने प्रकार के बंधन हैं, सभी का त्याग करके उसे भगवत् शरण में जाना चाहिए। ऐसी स्थिति आने पर ही भगवदनुग्रह होता है। यही भक्ति का लक्षण है – "भक्तिनिष्ठा तदा ज्ञेया यदा कृष्णः प्रसीदति।" १३

आचार्य वल्लभ ने पुष्टि-भक्ति के भी तीन भेद किए हैं – पुष्टि-पुष्टि भक्ति, मर्यादा-पुष्टि भक्ति तथा प्रवाह-पुष्टि भक्ति। इनके भी ऊपर शुद्ध पुष्ट भक्त होते हैं। वे संसारातीत होते हैं। यह जीव की सिद्धावस्था है। इस अवस्था में लौकिक-वैदिक बंधन नहीं रह जाते। इस भक्ति के सेव्य कृष्ण हैं। वे पूर्ण पुरुषोत्तम हैं। उनके प्रति अनन्य प्रेम पुष्टि-भक्ति का आधार है। यह प्रेम या सेवा तीन प्रकार से होती है – तन से, धन से और मन से। इनमें भी मानसी सेवा सर्वोत्कृष्ट है – "कृष्णसेवा सदा कार्या मानसी सा परा मता।" १४ मानसी सेवा अथवा प्रेमाभक्ति के तीन सोपान हैं – स्नेह, आसक्ति और व्यसन। कृष्ण के प्रति स्नेह से लौकिक राग का विनाश होता है, आसक्ति से संसार के प्रति विरक्ति होती है और जब यह आसक्ति चरम अवस्था को पहुँचती है, तब उसे व्यसन कहते हैं। इस अवस्था में भगवद्-मिलन के लिए तीव्र विकलता पैदा होती है। जीव विरह से व्याकुल हो उठता है। उसे रात-दिन चैन नहीं पड़ता – ऊठत वैठत कबहुँ न बिसरत, ऐसी तारी लागी। और तब प्रभु के अनुग्रह से वह उनसे तादात्म्य स्थापित कर लेता है। उसका जीवन सार्थक हो जाता है।

---

१० – भागवत २/१०/४। ११ – सिद्धान्त-मुक्तावली।
१२ – सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।
अहं त्वां सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः॥ – गीता १८/६६।
१३ – तत्त्व० नि०, का० १७। १४ – सिद्धान्त मुक्तावली।

सूर पर वल्लभ का प्रभाव

वल्लभाचार्य और उनके पुत्र श्री विट्ठलनाथ ने अष्टछाप की स्थापना की। इसमें आठ भक्त कवियों को दीक्षित किया, जो कृष्ण की लीला का गान करते थे। इनमें सूरदास का स्थान सर्वोपरि था। कहा जाता है कि सूरदास पहले निर्गुनिया भजन गाते थे। संगीतज्ञ के रूप में भी उनकी ख्याति फैल चुकी थी। वे यमुना के किनारे गऊघाट पर रहते थे। सं० १५६६ के लगभग महाप्रभु वल्लभाचार्य वहाँ पधारे और तीन दिन रहे। इसी समय सूरदास महाप्रभु की शरण में गए। महाप्रभु ने उन्हें भगवान कृष्ण की लीला का मर्म बताया और विधिवत् दीक्षा दी। उन्हीं के साथ सूरदास वृन्दावन चले गए और आजीवन कृष्णलीला का गान करते रहे। कहा जाता है कि वे प्रतिदिन एक नया पद बनाते थे और उसे अपने प्रभु के समक्ष प्रसादरूप में गाते थे।

महाप्रभु के समान सूरदास दार्शनिक नहीं थे। उन्होंने अपने काव्य में किसी सिद्धान्त का विधिवत् प्रतिपादन भी नहीं किया है। किन्तु उनके ग्रंथों में वल्लभाचार्य के दर्शन की झलक स्थान-स्थान पर मिलती है। उन्होंने ब्रह्म (कृष्ण), जीव, जगत्, माया आदि का जो निरूपण किया है, वह बहुत कुछ महाप्रभु के सिद्धान्तों के अनुरूप है।

सूरदास के कृष्ण परब्रह्म परमेश्वर ही हैं। वे अपनी शक्ति के साथ अवतरित होकर लीला करते हैं। वे अखण्ड रसरूप हैं। सारा जगत् उन्हीं का रूप है। सूर के विनय के पदों तथा सूर-सारावली में कृष्ण के इसी दिव्य रूप की झाँकी प्रस्तुत की गयी है। उन्हीं के शब्दों में –

सोभा अमित अपार अखंडित, आप आतमाराम।
पूरन ब्रह्म प्रगट पुरुषोत्तम, सब बिधि पूरन-काम॥
आदि, सनातन, एक, अनूपम, अबिगत-अलप-अहार।
आदि वेद, ओंकार, असुर-हन, निरगुन, सगुन अपार॥ १५

सूर के कृष्ण अनादि तत्त्व हैं, रसरूप हैं, सौन्दर्य के आगार हैं –

सदा एक रस एक अखण्डित आदि अनादि अनूप।
कोटि कल्प बीतत नहिं जानत बिहरत युगल-स्वरूप॥

कृष्ण ऐसे सनातन तत्त्व हैं, जो घट-घट में परिव्याप्त है। ब्रह्मा, विष्णु, महेश और वेद-शास्त्र भी उनके मर्म को समझ नहीं पाते –

आदि सनातन हरि अविनासी। सदा निरन्तर घट-घट वासी॥
पूरन ब्रह्म पुरान बखानैं। चतुरानन सिव अन्त न जानैं॥
गुन-गन अगम निगम नहिं पावै। ताहि जसोदा गोद खिलावै॥ १६

"हरि जू की आरती बनी" १७ शीर्षक पद में कृष्ण के विराट् रूप का वर्णन है। सभी जीव उन्हीं के अंश हैं। वे एक होकर भी अनेक हैं – "सहस रूप बहुरूप पुनि एक रूप पुनि दोय।" इस प्रकार

---

१५ – सूरग्रंथा० (वि० प०) - सूरसारावली ९९२,९९३।
१६ – सूरसागर (ना० प्र० सभा) १०/३। १७ – वही २/२८।

सूरदास ने वल्लभ के समान ब्रह्म और जीव की अद्वैतता का प्रतिपादन किया है। वे प्रत्येक घट में उसी प्रकार विद्यमान हैं, जिस प्रकार प्रत्येक घट में सूर्य की प्रभा। घट बनते-मिटते रहते हैं, किन्तु रविप्रभा शाश्वत है –

चेतन घट-घट है या भाइ, ज्यौं घट-घट रवि-प्रभा लखाइ।

घट उपजै बहुरौ नसि जाइ, रवि नित रहै एकहीं भाइ॥ १८

वल्लभाचार्य के समान सूरदास ने जीव के तीन भेदों को भी स्वीकार किया है। गोपियाँ शुद्ध जीव की कोटि में आती हैं, जो उनकी लीला सहचरी हैं। सामान्यतः जीव प्रभु का अंश हैं, किन्तु माया के प्रभाव से वह आत्मस्वरूप को भूल जाता है और संसार में भटकने लगता है। तब वह आनन्द से वंचित हो जाता है। इस तथ्य को उन्होंने एक पद में इस प्रकार स्पष्ट किया है –

अपुनपौ आपुन ही विसर्‌यौ।

जैसैं स्वान काँच मन्दिर मैं, भ्रमि-भ्रमि भूकि पर्‌यौ।

ज्यौं सौरभ मृग-नाभि बसत है, द्रुम-तृन सूँघि फिर्‌यौ।

ज्यौं सपनै मैं रंक भूप भयौ, तसकर अरि पकर्‌यौ। १९

कुछ विद्वानों ने इस पद में शंकराचार्य के मायावाद का प्रभाव बताया है। वस्तुतः सूरदास ने मायावाद का कहीं भी समर्थन नहीं किया है। हम यह पहले ही कह चुके हैं कि वल्लभाचार्य जगत् और संसार में भेद मानते थे। जगत् ब्रह्म का अंश है और संसार जीव की कल्पना। अपने ही कल्पित संसार में जीव भटकने लगता है, उसे कोई दूसरा बाँध नहीं देता। स्वान, मृग आदि दृष्टान्तों से यही अभिप्रेत है। शंकर के मायावाद का सूर ने एक पद में स्पष्ट रूप से खण्डन किया है –

मन बच क्रम मन गोविंद सुधि करि।

सुचि रुचि सहज समाधि साधि सठ दीनबंधु करुनामय उर धरि।

मिथ्या बाद-विवाद छाँड़ि दै, काम क्रोध मद लोभहिं परिहरि। २०

वल्लभाचार्य के ही समान सूरदास यह मानते थे कि जगत् का आविर्भाव कृष्ण से ही हुआ है। वे ही इसके सर्जक, पालक और संहारक हैं। जल-बुद्बुद जल से उत्पन्न होता है, पुनः उसी में समा जाता है। वैसी ही गति जगत् की है –

प्रभु तुव मर्म समुझि नहिं परै।

जग सिरजत, पालत, संहारत, पुनि क्यौं बहुरि करै॥

ज्यौं पानी मैं होत बुदबुदा, पुनि ता माहिं समाइ।

त्यौं ही सब जग प्रगटत तुम तैं, पुनि तुम माहिं बिलाइ॥ २१

भ्रमर-गीत के उद्धव-गोपी संवाद में भी उन्होंने मायावाद और विवर्तवाद का खण्डन किया है। उनमें सृष्टि के विकास की प्रक्रिया, २८ तत्त्वों आदि का वर्णन भी वल्लभ के अनुसार मिलता है। २२ इस सृष्टि के मूल में विद्या माया हेतु का काम करती है, जो ईश्वर की ही शक्ति है। वह लीला के

---

१८ – वही ३/१३।

१९ – वही २/२६। २० – वही १/३१२। २१ – वही १०/४३०२। २२ – वही द्वि० स्कन्ध।

लिए ही अपने को जगत् और जीव के रूप में विभक्त करता है। किन्तु अविद्या माया जीव को भ्रम में डाल देती है। यदि माया न हो तो जीव और ब्रह्म में कोई अन्तर नहीं। इसलिए सूरदास कहते हैं –

मिथ्या यह संसार है और मिथ्या यह माया।
मिथ्या है यह देह कहो क्यों हरि बिसराया॥

सूरदास ने रास, मुरली, वृन्दावन आदि का जो वर्णन किया है, वह भी प्रतीकात्मक है। उसका आध्यात्मिक पक्ष वल्लभाचार्य के सिद्धान्तों के अनुरूप है। रास की व्युत्पत्ति कई प्रकार से की गई है। वस्तुतः रसों का समूह ही रास है – रसानां समूहो रासः। भगवान को रसरूप कहा गया है – रसो वै सः। रसस्वरूप परमात्मा का अपने आप को आस्वाद्य-आस्वादक भाव से विविध रूपों में प्रकट करना रास कहलाता है। भागवतकार के शब्दों में, जिस दिव्य क्रीड़ा में एक ही रस अनेक रसों के रूप में होकर अनन्त रस का समास्वादन करे, एक रस ही रस-समूह के रूप में प्रकट होकर स्वयं ही आस्वाद्य-आस्वादक लीला, धाम और विभिन्न आलम्वन एवं उद्दीपन रूपों में क्रीड़ा करे, उसका नाम रास है। श्रीकृष्ण को रास का नायक माना गया है। श्रीकृष्ण रस के विग्रह, राधा रासेश्वरी तथा गोपिकाएँ, वृन्दावन धाम आदि रसरूप हैं। जिस प्रकार एक बालक दर्पण अथवा जल में पड़े अपने प्रतिबिम्ब से खेलता है, उसी प्रकार भगवान कृष्ण ने अपने को अनेक रूपों में प्रकट करके गोपियों के साथ रासलीला की – "रेमे रमेशो ब्रजसुन्दरीभिर्यथार्भकः स्वप्रतिबिम्बविभ्रमः।" इस प्रकार परम रस-स्वरूप तथा लीला-रसमय भगवान श्रीकृष्ण की अपनी ह्लादिनी शक्तिरूपा चिन्मय रस-प्रतिभाविता अपनी ही प्रतिमूर्ति अथवा प्रतिबिम्ब-स्वरूपा गोपियों के साथ दिव्य क्रीड़ा को रास कहा गया। श्रीकृष्ण उस रस के प्रतीक हैं जो सारे जगत् में परिव्याप्त है। इस विश्व-रंगमंच पर उनकी नित्यलीला होती रहती है। बैकुण्ठ का तात्पर्य है – विगता कुण्ठा अस्मात्, अर्थात् जीवन की वह अवस्था जिसमें सभी कुण्ठाएँ समाप्त हो गई हैं। वृन्दावन ही वह बैकुण्ठ है, जो प्रभु का नित्य लीलाधाम है। सूर के शब्दों में –

नित्य धाम वृन्दाबन स्याम। नित्य रूप राधा ब्रजधाम॥
नित्य रास, जल नित्य बिहार। नित्य मान खंडिताऽभिसार॥
ब्रह्मरूप येई करतार। करन हरन त्रिभुवन येइ सार॥
नित्य कुंज - सुख नित्य हिंडोर। नित्यहिं त्रिविध समीर भकोर॥ २३

यह रास सामान्य नहीं है। सभी जीव इसमें भाग लेने के अधिकारी भी नहीं हैं। इस रस की अधिकारिणी तो केवल गोपिकाएँ हैं। इसका मर्म वही समझ पाता है, जिस पर प्रभु का अनुग्रह हो। और तत्त्व-ज्ञान होने पर जीव जब इसमें भाग लेता है, तो उसे ब्रह्मानन्द से भी श्रेष्ठ आनन्द की अनुभूति होती है। सूर के शब्दों में "यह अपार रस रास उपायो सुन्यौ न देख्यो नैन।" उन्होंने अन्यत्र रास की महिमा का उल्लेख इन शब्दों में किया है –

रास - रस - रीति नहिं बरनि आवै।
कहाँ वैसी बुद्धि, कहाँ वह मन लहौं, कहाँ यह चित्त जिय भ्रम भुलावै॥
जौ कहौं, कौन मानै, जो निगम अगम कृपा बिनु नहीं या रसहिं पावै।
भाव सौं भजै, बिनु भाव मैं ये नहीं, भाव ही माहिं ध्यानहिं बसावै॥ २४

---

२३ – वही १०/३४६१। २४ – वही १०/१००६।

इस रास के समक्ष शिव की समाधि भी भंग हो जाती है, देवता और ऋषि-मुनि भी मोहित हो जाते हैं – "सुर नर मुनि मोहित सब कीन्हे, शिवहिं समाधि भुलायौ।"

मुक्ति चार प्रकार की बतायी गयी है – सायुज्य, सारूप्य, सालोक्य और सामीप्य। वेदान्ती इनमें से सायुज्य या सारूप्य मुक्ति चाहता है। वह ईश्वर से तदाकार होना चाहता है। किन्तु वैष्णव भक्त प्रभु में अपनी सत्ता का विलीनीकरण नहीं चाहता। उसका आदर्श होता है – भगवान की लीला में सहभागी बनना। इसीलिए वह सालोक्य या सामीप्य चाहता है। इससे भुक्ति-मुक्ति दोनों प्राप्त होती हैं। वेदान्त के अनुसार ब्रह्म सत्, चित् और आनन्दमय है। वैष्णव भक्तों ने आनन्द को ही प्रेम या रस माना है। नित्य लीला में भाग लेने के अधिकारी बन जायें, यही उनके जीवन का लक्ष्य होता है। इसीलिए विद्यारण्य स्वामी ने प्रेम और रस को एक माना है।

कृष्ण, गोप, राधा, मुरली आदि का प्रतीकात्मक महत्त्व भी है। कृष्ण वह है जो जीवों को अपनी ओर आकृष्ट करता है – कर्षति इति कृष्णः। गो का अर्थ है – इन्द्रिय ; प का अर्थ है – पालन करना। इस प्रकार गोप या गोपी का अर्थ हुआ –जीव। यह जीव (गोपी या गोप) ब्रह्म की ओर आकृष्ट होता है। राधा वह विशिष्ट जीव है, जो प्रभु की विशेष रूप से आराधना करता है – राधते या राधा। चीरहरण का तात्पर्य है – अन्नमय, प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय कोष रूपी चीर को अलग करके जीव का ब्रह्म से मिलन। अहंता (चीर) के हरण से ही मिलन संभव है। यही रास का रहस्य है।

श्रीमद्भागवत में दो प्रकार के रास का वर्णन है – राधाकृष्ण-रास और गोपीकृष्ण सामूहिक रास। यह रास दो ऋतुओं में – शरद और वसंत में–होता था। इस आधार पर रास के दो भेद हो गए – शारदीय रास और वासंती रास। शारदीय रास का वर्णन करते हुए कहा गया है कि भगवान श्रीकृष्ण की प्रेयसी गोपियाँ एक दूसरे की बाँह में बाँह डाले खड़ी थीं। उन स्त्री-रत्नों के साथ यमुना के पुलिन पर भगवान ने रास-क्रीड़ा प्रारम्भ की। वे दो-दो गोपियों के बीच में प्रकट हो गए और उनके गले में अपना हाथ डाल दिया। इस प्रकार प्रत्येक गोपी के साथ एक कृष्ण ने प्रकट होकर रास आरम्भ किया –

तत्रारमत गोविन्दो रासक्रीडामनुव्रतैः।
स्त्रीरत्नैरन्वितः प्रीतैरन्योन्याबद्धबाहुभिः॥
रासोत्सवः सम्प्रवृत्तो गोपीमण्डलमण्डितः।
योगेश्वरेण कृष्णेन तासां मध्ये द्वयोर्द्वयोः।
प्रविष्टेन गृहीतानां कण्ठे स्वनिकटं स्त्रियः॥ २५

इस प्रकार गोपिकाएँ कृष्ण के साथ तन्मय होकर ऐसे विहार करती हैं मानो जीव सभी बन्धनों का परित्याग कर आनन्दविभोर होकर आत्मस्वरूप में रमण करता है। यहाँ कृष्ण और गोपिकाएँ दो नहीं, एक हो गए हैं। यह क्रीड़ा ईश्वर ही कर सकता है, साधारण मानव नहीं। सूरदास ने राधा के इसी दिव्य रूप का चित्रण किया है। श्रीकृष्ण रसेश्वर हैं, राधिका रासेश्वरी। दोनों ही नित्य आनन्दमय हैं। ये ही राधा पुष्टिमार्ग की स्वामिनी हैं, आधार-शक्ति हैं। वस्तुतः सोलह हजार गोपिकाओं का राशिभूत नाम है राधा – "सोरह सहस वीर तन एकै, राधा कहिए सोय।" इस महारस में निमग्न राधा-कृष्ण अभिन्न हो जाते हैं–"नहिं छूटति रति रुचिर भामिनी वा रस में दोउ पागे।"

---

२५ – भागवत १०/३३/२, ३।

सूरदास ने मुरली पर अनेक पदों की रचना की है। श्रीमद्भागवत में 'वेणुगीत' नाम से इसका वर्णन है। 'वेणुगीत' से भगवान के नामात्मक स्वरूप का बोध होता है। कृष्ण के द्वारा मुखरित मुरली की ध्वनि चराचर को मोहित करती है। जीव उसमें तन्मय हो जाता है। उसकी सांसारिक आसक्ति नष्ट हो जाती है। महाप्रभु वल्लभाचार्य ने वेणु की व्याख्या करते हुए कहा है कि 'व' का तात्पर्य है ब्रह्मसुख, 'इ' का अर्थ है सांसारिक सुख और 'अणु' का अर्थ है नगण्य। इस प्रकार वेणु वह साधन है, जिसकी ध्वनि को सुनने से जीव को सांसारिक सुख तुच्छ प्रतीत होने लगता है और वह ब्रह्मानन्द में लीन हो जाता है। इस मुरली-ध्वनि को सुनकर बैकुण्ठस्थित नारायण भी चकित हो जाते हैं और लक्ष्मी से कहते हैं कि वह वृन्दावन-धाम धन्य है, जहाँ कृष्ण विलास करते हैं; वैसा आनन्द तीनों लोकों में नहीं है—

> **मुरली धुनि बैकुंठ गई।**
> **नारायन-कमला सुनि दम्पति, अति रुचि हृदय भई॥**
> **सुनौ प्रिया यह बानी अद्भुत, वृन्दाबन हरि देखौ।**
> **धन्य धन्य श्रीपति मुख कहि कहि, जीवन व्रज कौ लेखौ॥**
> **रास-बिलास करत नँदनंदन, सो हमतैं अति दूरि।**
> **धनि बन धाम, धन्य व्रज धरनी, उड़ि लागै जौ धूरि॥**
> **यह सुख तिहूँ भुवन मैं नाहीं, जो हरि सँग पल एक।**
> **सूर निरखि नारायन इकटक, भूले नैन निमेष॥** २६

इस प्रकार सूरदास ने महाप्रभु वल्लभाचार्य के सिद्धान्तों को अत्यंत सरस-सहज ढंग से काव्य का रूप दिया है। उसमें भावों की मार्मिकता के साथ विचारों की जो उदात्तता और आध्यात्मिकता की जो गहनता है, वह निश्चय ही श्लाघनीय है।

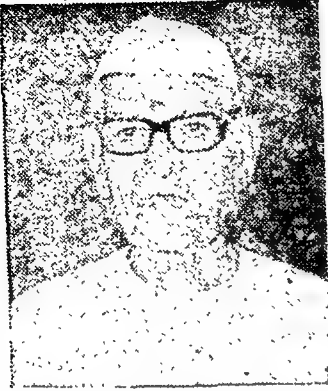
●

> मैं कैसें रस रासहिं गाऊँ।
> श्री राधिका स्याम की प्यारी, कृपा बास ब्रज पाऊँ॥
> आन देव सपनैहुँ न जानी, दंपति कौं सिर नाऊँ।
> भजन-प्रताप, चरन-महिमा तैं गुरु की कृपा दिखाऊँ॥
> नव निकुंज बन-धाम-निकट इक आनँद-कुटी रचाऊँ।
> सूर कहा विनती करि बिनवै जनम-जनम यह ध्याऊँ॥
>
> सूरसागर १७९२

●

---

२६ – सू० सा० १०/१०६४।



हिन्दी साहित्य के प्रथम स्वच्छंदमार्गी कवि सूरदास

आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र

भारत में साधना के जितने मार्ग माने गए और वाङ्मय के जितने प्रकार स्वीकृत हुए, सबका लक्ष्य एक ही कहा गया। वाङ्मय की विशिष्ट शाखा काव्य या नाट्य का भी लक्ष्य वही है जो किसी साधना का है। चतुर्वर्ग की फलप्राप्ति इसका भी उद्देश्य है। यह भी मोक्ष देनेवाला है। जागतिक बंधनों से यह भी मुक्त कर देता है। इसका मोक्ष भी रस के माध्यम से प्राप्त होता है। रस आनंद है। इसलिए भक्ति और काव्य में सजातीयता है। काव्य भी रस देता है और भक्ति भी रसमय बनाए रहती है। अंतर इतना ही है कि काव्य में रस आस्वाद-काल में ही रहता है। कोई सदा काव्य का आस्वाद नहीं लेता रहता। हाँ, काव्य का आस्वाद लेते-लेते, काव्यानुशीलन से रसमयता होते-होते, निर्मलता आ जाती है। अन्तःकरण मलीमस से रहित हो जाता है। उसमें जागतिक मल नहीं रह जाता। पर कोई काव्यमय निरन्तर नहीं बना रहता। यदि किसी का जीवन काव्यमय हो जाए, तो वह रस की निरन्तरता प्राप्त करके वैसा ही रसमय सदा बना रह सकता है जैसे भक्त। इसलिए इस अनुबन्ध के क्वाचित्क होने से यही कहना पड़ता है कि भक्ति में रस स्थायी हो जाता है और काव्यास्वाद से वह जीवन में समय-समय पर संचरण करता रहता है। वह संचारी होता है। यही दोनों में भेद प्रतीत होता है। वाङ्मय के क्षेत्र में काव्य रस के कारण अन्यों से भिन्न है। भरत मुनि ने इसीसे नाट्य को पंचम वेद माना है और राजशेखर ने साहित्य को पंचमी विद्या कहा है। भक्ति जिस प्रकार पंचम पुरुषार्थ है, उसी प्रकार काव्य पंचम वेद है। एक साधना की दृष्टि से आगे है और दूसरा बोध की दृष्टि से अग्रगामी है। साधनाओं में भक्ति काष्ठापन्न हो जाती है और विद्या में काव्य।

यदि भक्ति को काव्य का सहारा मिल जाए, तो उसमें चार चाँद लग जाते हैं। केवल भक्ति व्यक्तिगत साधना होती है, भले ही उसकी साधना समाजसेवा, विश्वसेवा या चराचरसेवा ही क्यों न हो। भारतीय परम्परा में काव्य व्यक्तिगत साधना नहीं है। वह समष्टिगत साधना है। भारतीय कवि व्यक्ति नहीं रह जाता। व्यक्तित्व किसी का असाधारण धर्म होता है। काव्य उसे साधारणीकृत कर देता है। अतः वह सामाजिक हो जाता है, समाज हो जाता है। जो भक्त कवि न होगा, वह समाज को फूंकने का भी उपदेश दे सकता है। किन्तु जो भक्त कवि होगा, वह उसकी संरक्षा में लगेगा। सूरदास और तुलसीदास के काव्य की महिमा इसी सामाजिकता के कारण है। भक्त की समाज-सेवा का अंग बन जाने से काव्य भक्ति को उद्दीप्त करता रहता है। भक्त के लिए भी वह उद्दीपक होता है और

पाठक-श्रोता के लिए भी। फिर भी तुलसीदास का जैसा समाज में प्रसार है वैसा संप्रति सूरदास का नहीं है। क्यों? एक तो सूरदास में भक्ति का पलड़ा झुका हुआ है, व्यक्तिसाधना का स्वर मुखर है, दूसरे उनमें लोकजीवन का सहज उच्छलन होने के कारण सांप्रतिक नागरिक जीवन से उसका मेल नहीं बैठता। उनके गीत भक्ति के कीर्तन के लिए निर्मित हुए हैं। उसमें भक्ति की एकांत भावना उभरी हुई है। इसका यह तात्पर्य नहीं कि उसमें सांप्रतिक जीवन के लिए वांछित प्रदेय है ही नहीं। सबसे प्रमुख उसका महत्त्व है जीवन के सहज धरातल का अवलंबन, जो किसी प्रकार का बंधन नहीं मानता। हिंदी साहित्य में सबसे पहले स्वच्छंदता का प्रवर्तन करनेवाले सूरदास ही हैं। लोकजीवन स्वच्छंदताप्रिय होता है। विद्यापति ने भी लोकजीवन की इसी स्वच्छंदता के लिए गीतों की शैली पकड़ी थी। सूरदास ने उनका अनुगमन नहीं किया है। उस समय जीवन में विशेष प्रकार के प्रवाह की अपेक्षा थी। जीवन स्वच्छंदता के लिए छटपटा रहा था। लोकमानस का इसीसे ऐसा स्वच्छंद स्रोत फूटा जो भक्ति का मार्ग पकड़कर सारे भारत में फैल गया। भारतीय मानस इसीकी प्रतीक्षा कर रहा था। यह प्रादेशिक या आंचलिक आकांक्षा नहीं थी, यह राष्ट्रीय या भारतीय आकांक्षा थी। किसी बंधन को तोड़ डालने के लिए यह परम प्रेम के बंधन में बँधने का मानसिक प्रयास था। यह राष्ट्रीय स्वच्छंदता का आंदोलन था। यह वह धर्मरथ था जिसके पहिये शौर्य और धैर्य के होते हैं। धर्म या कर्तव्य का हृदय ही भक्ति के उद्गार कर रहा था, पर संघर्ष के लिए न होकर यह संमिलन के लिए था।

सूरदास के सूरसागर में लोकजीवन के प्रवाह के वेग ने साहित्य में छायी हुई शास्त्रीयता का बंधन भी तोड़ दिया। इसका एक कारण तो सूरदास का लोक-धरातल ही था जो शास्त्रीयता के मोह में नहीं पड़ता। दूसरे श्रीवल्लभाचार्य की पुष्टिमार्गीय साधना भी थी, जो अपने को मर्यादा या शास्त्रीयता से ऊपर मानती है। भगवान का अनुग्रह ही वहाँ सर्वस्व है। वहाँ सेवा का महत्त्व है, निर्बंध सेवा का—तनुजा और वित्तजा से भी आगे जाकर मानसी सेवा का भी महत्त्व है, जहाँ सात्त्विकता के संवर्धन की अपेक्षा है, जिसके कारण सारे बंधन छूट जाते हैं और जिसे लोकापवाद की भी चिंता नहीं रहती। उद्धव से गोपियों ने कहा ही है—

> **पीत धुजा उनके पीतांबर लाल धुजा कुबिजा व्यभिचारी।**
> **सत की धुजा स्वेत व्रज ऊपर अजस-हेतु ऊधो, पै प्यारी॥**

'सत्त्व' परमसत्ता से जुड़ा रहता है, इसलिए उसे जागतिक सत्ता की चिंता नहीं रहती। परमसत्ता की कुक्षि में ही जागतिक सत्ता भी तो रहती है।

भारतीय परंपरा में भक्ति का आंदोलन गृहस्थों के लिए है। गार्हस्थ्य जीवन में जिस प्रकार के भावों की—दांपत्य, वात्सल्य, सख्य, दास्य आदि की—अनुभूति कोई गृहस्थ करता है, उन्हीं भावों की यह रागमार्गी साधना है। विरागमार्गी साधना तो घर फूँक तमाशा देखने या दिखानेवाली होती है। काव्य भी जीवन के ऐसे ही सहज भावों को अपना अवलंब बनाकर चलता है।

भारतीय गार्हस्थ्य जीवन में गृहस्थ की अपेक्षा गृह की दृष्टि से गृहिणी का ही विशेष महत्त्व है—गृहिणी गृहमुच्यते। पुरुष घर के बाहर कमाई करने के लिए अधिकतर रहता है। सूरदास की रचना में एकांत साधना की संगति तब समझ में आ जाती है जब सूरसागर में अधिकतर नारियों की ही अनुभूतियों को केंद्र में रखकर सारा निर्माण किया गया दिखता है। पुरुष ज्ञान होता है, परुष होता है। नारी अनुभूति होती है, कोमल होती है। नारी वात्सल्य की स्रोतस्विनी होती है। नारीहृदय की समग्र संवेदना को अभिव्यक्ति देने के लिए सूरदास ने वात्सल्य को भी शृंगार के साथ रखकर काव्य के

क्षेत्र में महत्त्वपूर्ण कार्य किया है। भक्ति के क्षेत्र में तो मानो उसी का राज्य है। ज्ञान पुरुष है तो भक्ति नारी है। सखीभाव की उपासना में पुरुष भी नारी-वेश चाहे सांप्रदायिक साधना की ही दृष्टि से धारण करते हों, पर ज्ञान की परुषता को विगलित करने के लिए नारी की सहज सुकुमारता अभीप्सित है, इस सत्य को अस्वीकृत नहीं किया जा सकता। सेवा-भाव भी, जिसकी श्रीवल्लभाचार्य के सम्प्रदाय में विशेष महिमा है, प्रकृत्या नारी में सर्वाधिक होता है। वात्सल्यभाव यों तो गृहस्थमात्र में होता है, किन्तु उसकी काष्ठापन्न स्थिति नारी में होती है। परिवार को और परिवार की केन्द्र नारी को दृष्टिपथ में रखकर वालमुकुन्द की उपासना और सेवा का चलन क्यों किया गया, इसका भी उत्तर मिल जाता है। वालक के प्रति माता की सारी वत्सलता निष्काम होती है। इसी निष्काम साधना के लिए श्रीकृष्ण की वाललीला परिवार में प्रसरित की गई। वालकों को नाना प्रकार के व्यंजन प्रिय होते हैं, इसलिए राग-भोग का विशेष आयोजन आचार्य वल्लभ के गोपाल-मन्दिरों में किया गया। उसका सामाजिक पक्ष भी है। किसी उत्सव के समय भोजक-समूह एक स्थान पर एकत्र होता है। इस छप्पन प्रकार के भोग से उसकी समस्या का समाधान सरलता से उस युग में हो जाता था, क्योंकि भोग प्रचुर परिमाण में प्रस्तुत होता था और गोपाल-मन्दिरों में वह कर्मचारियों को वेतन के वदले दिया जाता था, जिसे वे भक्तों-उपासकों को अल्प मूल्य में दे दिया करते थे। थोड़े द्रव्य में उत्तम से उत्तम और विशुद्ध भोजन उन्हें अनायास मिल जाया करता था।

श्रीकृष्ण की वाललीला के प्रसंग में यशोदा और गोपिकाओं को सूरदास ने वारम्वार सामने किया है। जीवन की कोमल वृत्तियों को उभारने, उन्हें परिष्कृत करने का जैसा आयोजन सूरसागर में दिखाई देता है और जितनी विविधता एवं समग्रता में दिखता है, उसके समक्ष परवर्ती कवियों की कोमलभावपरक उक्तियाँ सूर की जूठन ही प्रतीत होती हैं, जिसका आख्यान उस समय की सूक्तियों में वारम्वार किया गया है। काव्य-वैभव का जैसा संभार इन कोमल वृत्तियों को लेकर कवि करते हैं, उन सवका पारावार है सूरसागर। उसको पार करके पश्चात्कालीन कवि पारंगत नहीं हो सके, उसके अध्ययन-मनन से अपने को समृद्ध अवश्य कर लिया। वात्सल्य को तो परकालीन रीति-साहित्य ने परित्यक्त ही कर दिया। क्यों कर दिया, इस विमर्श में लगने की अपेक्षा यहाँ नहीं है, पर इतना अवश्य कहा जा सकता है कि वात्सल्य के क्षेत्र में वैसी नवीनता वे ला ही नहीं सकते थे। यह भी एक हेतु हो सकता है। शृंगार के क्षेत्र में और वह भी संयोग-पक्ष में अपने तारे अवश्य टिमटिमा सकते थे। वियोग-पक्ष में जो सूरसागर में कह दिया गया, उसकी समकक्षता नूतनतापूर्वक उनके वाँटे नहीं पड़ सकती थी, इसलिए वियोग शृंगार के विस्तार में भी वे नहीं गए। सूरदास में स्वच्छंद अभिव्यक्ति शृंगार के संयोग-पक्ष में दिखाई देती है, शास्त्रीय बंधन से सर्वथा मुक्त। रीति-कवि शास्त्र के वन्धनपूर्वक उसे कहने लगे। इस शास्त्रसंमत कथन द्वारा वे नवीन मार्ग निकाल सके। कारीगरी दिखाने में दत्तचित्त हो गए। उन्होंने सूरसागर के लोकजीवनवद्ध प्रवाह से हटकर संस्कृत के पहले से चले आते शास्त्रीय प्रवाह से अपने को संवद्ध कर लिया।

अनुभूतिमयता, अन्तर्लीनता, सहजता, स्वच्छंदता सूरदास की ऐसी विशेषताएँ हैं, जो एक साथ किसी कवि में न पहले वैसी मिलती हैं और न आगे ही। उनके वियोग शृंगार की इसलिए आलोचना की गई है कि वह वर्णन करने के लिए वर्णन है, जीवन की विषमता से उद्भूत नहीं है। पर जैसा कहा जा चुका है, नारी-जीवन की मार्मिक अनुभूतियों का प्रकाशन सूरदास का उद्देश्य है। नारी-पक्ष से इस पर विचार ही नहीं किया गया है। यदि गोपिकाएँ कुछ ही कोस की दूरी पर वसे श्रीकृष्ण से मिलने चली जातीं, तो सामाजिक दृष्टि से उनकी प्रीति की सात्त्विकता खंडित हो जाती। वह व्यापार रजोगुणी-

कामनामय अथवा तमोगुणी-लोभमय माना जाता। उसमें मलिनता आ जाती। दिव्यता न रह जाती। कोरी सामाजिक दृष्टि से इन भक्त कवियों का विचार नहीं हो सकता। विद्यापति, सूरदास और रीति-कवियों की भी संयोग श्रृंगार की रचनाओं में सामाजिक विशुद्धतावादी दृष्टि उनकी काव्य-गरिमा को आच्छादित करनेवाली ही होगी। काव्य की दो ही दृष्टियाँ भारतीय परम्परा में रही हैं — सौन्दर्यमूलक और अनुभूतिमूलक। सूरदास और विद्यापति में ये दोनों संपृक्त रूप में मिलती हैं। रीतिकाल सौन्दर्य-प्रधान है। इसमें श्रेयमार्गियों के लिए अपनी सन्तुष्टि के लिए अवलम्ब भले ही न मिले, पर साहित्य की मंजुलता प्रेयमार्गियों के लिए सर्वस्व है। वह कामवृत्ति के परिपोष के लिए न होकर परिष्कार के लिए है।

सूरदास की रचना की विशेषता हिंदी की परंपरा में तन्मयता मानी जाती है। काव्य की परंपरा भी तन्मयीभवन-योग्यता को ही महनीय मानती है। उनके सागर की प्रत्येक बूंद में तन्मयता है। विगलित वेद्यांतरता लाने में वह पराकाष्ठा पर है, यही सूर की सूरता है —

किधौं सूर को सर लग्यो किधौं सूर की पीर।
किधौं सूर को पद लग्यो तन्मन धुनत सरीर॥

शूर का बाण लगने पर जिस अंग में लगता है, वह अंग तो बिद्ध होता ही है, सारा शरीर झनझना उठता है। जहाँ बाण लगता है, बिद्ध प्राणी उसी में तन्मनस्क रहता है। यहाँ स्थिति तन से मन की ओर रहती है, आहत अंग से होकर मन तक वेदना का संचरण होता है। शूल की उदर में पीड़ा होने पर पीड़ा ऊपर न होकर भीतर होती है और भीतर से, उदर से, मन की ओर पहुँचती है। इसकी गति भी तन से मन की ओर ही होती है। हाँ, पहली वेदना बहिरंग होती है, यह अंतरंग। पर सूरदास के पद में उलटी स्थिति रहती है। वहाँ वेदना पहले मन में होती है, फिर तन में आती है। पहली दो स्थितियों में तन से मन, फिर मन से तन की ओर संचरण होता है। यहाँ मन से तन की ओर संचार रहता है। सूरदास के पास मन ही मन है, तन तो शरीर-धारण के कारण है। इसीलिए जिसके द्वारा उनके पद पढ़े या सुने जाते हैं, उसका शरीर इसलिए पीड़ित रहता है कि सूरदास की-सी तन्मनस्कता क्यों नहीं मिल पा रही है। इस भाव-समुद्र में थाह ही नहीं मिल रही है। यह महाभाव है। ऐसी तन्मनस्कता का कारण यह है कि वे सूर थे, उनके सामने बाह्य दृश्यप्रसार था ही नहीं, वे भीतर से ही बाहर की सृष्टि करते थे।

●

आँखि विना जितनौ कछू, लख्यौ सूर कवि सूर।
आँखि अछत नहिं लखत हैं, कलि-कुल के कवि कूर॥

●

भ्रमरगीत में सूर की रस-साधना का मूल रहस्य

डॉक्टर गोवर्धन नाथ शुक्ल

सूरसागर का मूल स्रोत महर्षि व्यास की समाधि-भाषा श्रीमद्भागवत ग्रंथ रहा है। काव्यवस्तु के लिए सूर जहाँ श्रीमद्भागवत महापुराण के ऋणी हैं, वहाँ अपनी कल्पना की उर्वरता के लिए महाप्रभु वल्लभाचार्य के भी। अन्यथा भ्रमरगीत जैसे स्वल्प प्रसंग को सूर ने अपने 'सागर' में जो सबसे अधिक बढ़ा-चढ़ाकर लिखा है, उसका क्या रहस्य हो सकता है। यह गम्भीरता से विचारने की बात है। गोपी-उद्धव-संवाद भागवत के दशम स्कन्ध के पूर्वार्द्ध में ४७ वें अध्याय में है। ४६ वें अध्याय में उद्धव कृष्ण के द्वारा प्रेषित किये जाने पर व्रज में आते हैं और नंद यशोदा को सान्त्वना देते हैं। यह अध्याय केवल ४९ श्लोकों का है। ४७ वें अध्याय में उद्धव गोपियों से मिलते हैं। इस अध्याय में कुल ६९ श्लोक हैं, जिनमें १२ से २१ तक, दस श्लोकों में गोपियों की विरहदशा, २३ से २८ तक, छह श्लोकों में उद्धव की सान्त्वना, २९ से ३७ तक, नौ श्लोकों में भगवान् श्रीकृष्ण का संदेश और ३९ से ५२ तक, चौदह श्लोकों में गोपियों की कृष्णलीला-स्मरण-जन्य मानसिक दशा का वर्णन है। शेष श्लोक शुकोक्तिवाले हैं। तात्पर्य यह है कि सूर ने जिस रसमय करुण विप्रलंभ को लेकर शतशत पदों की रचना की है, वह मूल में भागवत के अनुसार १४ श्लोकों का है जिसको लेकर सूर की उर्वर कल्पना ने रसराज श्रृंगार के विप्रलम्भ-पक्ष को परिपुष्ट बनाकर उसे संयोग से अधिक महत्त्व और स्थायित्व प्रदान किया है।

इस समस्या के समाधान के दो पहलू हैं – (१) साहित्यिक एवं (२) साम्प्रदायिक। साहित्यिक दृष्टिकोणवाले श्रृंगार को रसराज मानकर विप्रलम्भ के महत्त्व को प्रतिपादित करते हुए उसको सहृदयों के लिए अधिक ग्राह्य, अधिक वान्छनीय मानते हैं, और इसलिए सूर के विप्रलम्भ-प्रसंग को अधिक महत्त्व देना उचित और समीचीन समझते हैं। इसके साथ-साथ वे सूर में शांकर-अद्वैतवाद, हठयोग तथा अन्य मतवादों एवं धर्म-साधनाओं का खण्डन एवं सामयिक प्रभाव मानते हैं। साहित्यिकों के मत में इस खण्डनात्मक प्रवृत्ति के कारण ही सूर का भ्रमरगीत-प्रसंग अधिक विशाल और विस्तृत हो गया है। परन्तु वस्तुतः ये समाधान अपूर्ण और एकांगी हैं। सूर जैसे महाप्रभु वल्लभ के मूर्द्धन्य शिष्य और परम सेवक केवल रसराज श्रृंगार के विप्रलम्भ-पक्ष की पुष्टि में इतना आयास न करते और न ही इतना विस्तार करते। न उन्हें अन्य मत-मतान्तरों के खण्डन-मण्डन से प्रयोजन था। वस्तुतः सूर के भ्रमरगीत के विस्तार में उनकी साम्प्रदायिक दृष्टि ही प्रमुख कारण है। पुष्टिमार्ग मूलतः विप्रयोगात्मक है। पुष्टिमार्ग के प्रवर्तक आचार्य वल्लभ को मूर्तिमान भगवद्-विरहानलावतार माना गया है। उन्हें वैश्वानरावतार अथवा साक्षात् वैश्वानर कहकर उनकी भूतल-स्थिति का प्रयोजन शुद्ध विरहानुभूति के

लिए ही बताया गया है।१ विरहानुभूति स्वयं अग्निरूप है, अतः आचार्य का वैश्वानरावतार कहा जाना उचित ही है। मूर्तिमान भगवद्-विरहानलावतार आचार्य का पुष्टिमार्गीय ब्रह्म-सम्बन्ध का दीक्षामंत्र भी यही भाव रखता है कि "सहस्रों परिवत्सर बीत गए हैं, यह जीव अपने भगवान् से पृथक् होकर भटक रहा है। उसका भगवद्-विप्रयोगजन्य आनंद तिरोहित हो गया है। वह देहेन्द्रियादि का भाव भगवच्चरणों में विनियोग करता हुआ, उन्हीं का दास है।" पुष्टिमार्ग का यह प्राणभूत दीक्षामंत्र है। इस विप्रयोगात्मक मंत्र की दीक्षा स्वयं महाप्रभु वल्लभ को गोकुल में ठकुरानी घाट पर पुष्टिमार्ग के अनन्य आराध्य श्रीनाथजी से मिली थी। और मंत्र की दीक्षा बाद में उन्होंने अपने शिष्य दामोदरदास हरसानी को दी और फिर तो उन्होंने अगणित जीवों को पुष्टिपथ में दीक्षित करके इस विप्रयोगात्मक अद्भुत भक्ति-मार्ग का पथिक बनाया,२ क्योंकि आचार्य स्वयं भगवद्-विरहानलावतार हैं।३

यहाँ उक्त घटना के उल्लेख का प्रयोजन केवल यही है कि महाप्रभु और सूरदास के जीवन में बहुत-सा अन्तरंग साम्य है। इसको समझ लेने पर उनके कविकर्म का रहस्य स्वयमेव सुस्पष्ट हो जाता है।

शाश्वत सुख की प्राप्ति और क्लेश-निवारण निखिल धर्मसम्प्रदायों का लक्ष्य है। साथ ही सभी वाद एवं सिद्धान्त मानव-मन के निरोध पर बल देते हैं। आचार्य ने सुखानुभूति ४ और मन के निरोध का उपाय विरहानुभव में ही बताया है। अपने निरोध-लक्षण-ग्रंथ में वे कहते हैं—"उद्धव के ब्रज आगमन पर वृन्दावन, गोकुल में जो सुमहान् उत्सव हुआ था, क्या वैसा आनन्द मेरे मन में कभी होगा!" ५

सूर के भ्रमरगीत-प्रसंग के विस्तार के मूल में आचार्य वल्लभ की यही भावना है। इसी का भाष्य सूर का भ्रमरगीत है। शृंगार के विप्रलम्भ पक्ष की मार्मिक अनुभूति का साक्षात्कार जैसा सूर ने किया है, वैसा विश्व-साहित्य का कोई अन्य कवि शायद ही कर सका हो।

विरहानुभूति अत्यन्त कष्टप्रद है और भगवान् जब कृपालु होते हैं, तभी इस कष्ट को देते हैं, अन्यथा नहीं। विरह की पीड़ा के दान के लिए पुष्टिमार्ग में तीन स्रोत हैं—(१) स्वयं भगवान्, (२) यमुना एवं (३) आचार्य वल्लभ। अतः इस दृष्टि से तीनों ही सजातीय हैं। सम्प्रदाय के एक आचार्य श्रीद्वारकेश जी कहते हैं—

> **भगवान् विरहं दत्वा भाववृद्धिं करोति वै।**
> **तथैव यमुनास्वामिस्मारणात् स्वीयदर्शनात्॥**
> **अस्मदाचार्यवर्यास्तु ब्रह्मसम्बन्ध कारणात्।**
> **तापक्लेश प्रदानेन निजानां भाववर्द्धकाः॥ ६**

भाव-पुष्टि विरह से होती है। अतः इस भाव-वृद्धि को भगवान् विरह के द्वारा श्रीयमुनास्वामी (कृष्ण)

---

१ — वैश्वानरोवल्लभाख्यः सद्रूपोहितसत्कृताम्। — सर्वोत्तम स्तोत्र, श्लोक १२।

२ — विरहानुभवैकार्थं सर्वत्यागोपदेशकः। — सर्वो० स्तोत्र, श्लोक १८।

३ — देखो महाप्रभुजी की प्राकट्यवार्ता।

४ — गोकुले गोपिकानाञ्च सर्वेषां ब्रजवासिनाम्।
यत् सुखं समभूत्तन्मे भगवान् किं विधास्यति॥ — नि० ल०, श्लोक २।

५ — उद्धवागमने जात उत्सवः सुमहान्यथा।
वृन्दावने गोकुले वा तथा मे मनसि क्वचित्॥ — नि० ल०, श्लोक ३।

६ — श्रीद्वारकेशजी की 'भाव भावना', पृ० २९।

का स्मरण कराकर और अपना दर्शन देकर, तथा आचार्य ब्रह्म - सम्बन्ध कराकर हृदयस्थ भाव की वृद्धि करते हैं। इसी विरह-पीड़ा की याचना आचार्य ने अपने निरोधलक्षण ग्रन्थ में की है –

यच्च दुःखं यशोदायाः नन्दादीनां च गोकुले।
गोपिकानां तु यद्दुःखं तद्दुःखं स्यान्मम क्वचित्॥ ७

सूर ने विप्रलम्भ-तत्त्व को सम्प्रदाय की इसी भावना के अनुसार अपनाया है। उद्धव के ब्रज में आने पर नन्द यशोदा की हृदय-स्थिति, गोपिकाओं के दुःख और उनकी भाव-वृद्धि को सूर ने अपनी अन्धी आँखों से खूब देखा और उनकी उर्वर कल्पना-शक्ति उन्हें मुक्त आकाश में ले उड़ी। सूर के प्रसिद्ध पद "देखियत कालिन्दी अति कारी" में 'स्वीयदर्शनात्' और 'स्वामिस्मारणात्' की भावना कूट-कूट कर भरी है। सम्प्रदाय की इस भावना को समझ लेने पर 'देखियत कालिन्दी' वाले पद की महत्ता स्वयमेव स्पष्ट हो जाती है। गोपियों के विरह-हठ और योग के तिरस्कार के मूल में आचार्य के ब्रह्म-सम्बन्ध के सिद्धान्त का स्वीकार और अनन्यता तथा समर्पण का पोषण निहित है। इन साम्प्रदायिक सिद्धान्तों से अभिभूत सूर का भावप्रवाह इतना उद्दाम और वेगवान हो गया कि शतशत पद अनायास ही भावसिन्धु से प्रवहमान हो चले। अब देखना यह है कि उनकी इस विप्रलम्भ की रस-साधना में जो अन्यवाद खण्डनात्मक प्रवृत्ति है, उसका भी कहीं साम्प्रदायिक समाधान है या नहीं। सर्वोत्तम स्तोत्र इसका सम्पूर्ण समाधान देता है। सूर के भ्रमरगीत में सगुण-साकार-भक्ति-भावना तथा अन्य मतवादों का निराकरण, ये ही दो तत्त्व हैं। ये दोनों तत्त्व भी सूर ने आचार्य वल्लभ के व्यक्तित्व से पाये। सर्वोत्तम स्तोत्र में आचार्य वल्लभ का स्वरूप और सिद्धान्त स्पष्ट है। उसे समझ लेने पर पुष्टिमार्ग का स्वरूप और सिद्धान्त सुस्पष्ट हो जाता है। सूर पर वल्लभ के व्यक्तित्व की गहरी छाप है। अतः वल्लभ के व्यक्तित्व को समझ लेने पर सूर का स्वरूप और सिद्धान्त तथा पुष्टिमार्ग का स्वरूप और सिद्धान्त बुद्धिगम्य हो जाता है। अतः यहाँ सर्वोत्तम स्तोत्र के अनुसार आचार्य वल्लभ के स्वरूप और सिद्धान्त का यत्किञ्चित संकेत किया जाता है।

सर्वोत्तम स्तोत्र में आचार्य वल्लभ को साकार ब्रह्मवाद का स्थापक, वेदभाष्यकर्ता, मायावाद (शांकर मत) का निराकर्ता, सर्ववाद का निरासकर्ता कहा गया है।८ सूर के भ्रमरगीत में साकार ब्रह्मवाद की सुदृढ़ स्थापना तथा मायावाद का खण्डन स्पष्ट है। इसी प्रकार आचार्य श्रीमद्भागवत-रूप-पीयूष-समुद्र के समर्थ मन्थनकर्ता हैं; सूर ने भी श्रीमद्भागवत के इस स्वरूप-प्रसंग का मन्थन कर नवनीतरूप सगुण भक्ति का अकाट्य प्रतिपादन किया है।९ भागवत-सागर का सार भक्तिभाव है, उसका भी सारभूत स्त्रीभाव, कांताभाव अथवा माधुर्यभाव है। सूर का प्रतिपाद्य विषय भी मधुरा-भक्ति अथवा चरम कांताभक्ति है। सूर ने भ्रमरगीत में लोकलाज को तिलाञ्जलि देकर केवल कृष्ण-प्रेम को ही एकमात्र लक्ष्य बतलाया है। सर्वोत्तम स्तोत्र में आचार्य को 'एकमात्र विरहानुभवार्थ' तथा 'सर्वत्याग का उपदेशक' कहा है। सूर के भ्रमरगीत में विरहानुभव, सर्वस्वत्याग का प्रतिपादन, भक्ति के लिए कर्ममार्ग का स्वीकार है। तात्पर्य इतना ही है कि आचार्य का जो स्वरूप सर्वोत्तम स्तोत्र में प्रतिपादित है, वही सूर के भ्रमरगीत में भी प्रतिपादित है। सूर की रस-साधना के मूल में आचार्य के स्वरूप पर जमी हुई दृष्टि है। पुष्टिसम्प्रदाय की विरहभावना ही उनके विस्तृत विप्रलम्भ की मूल कहानी है। ●

---

७ – नि० ल०, श्लोक १।
८ – सर्वोत्तम स्तोत्र, श्लोक ८, ९।
९ – सर्वो० स्तोत्र, श्लो० १६।

सूरदास का प्रकृति-बोध

डॉक्टर प्रभुदयाल मीतल

ब्रजभाषा कवियों ने प्रकृति का वर्णन प्रायः स्वतंत्र विषय के रूप में नहीं किया है। उन्होंने श्रृंगार रस के उद्दीपन विभाव के अंतर्गत इसका कथन करते हुए इसके उद्दीपक प्रभाव को ही दिखलाया है। प्रकृति की प्रत्येक वस्तु नायक-नायिका के रति-भाव को उद्दीप्त करती हुई बतलाई गई है। इसके लिए बहुत से कवियों ने षट् ऋतुओं और बारह मासों का कथन किया है। ये कथन प्रायः वियोग श्रृंगार के वर्णन में हुए हैं। ब्रजभाषा साहित्य में 'षट् ऋतु' और 'बारह मासा' के कथन की दीर्घकालीन परंपरा मिलती है।

महाकवि सूरदास ने भी प्रकृति का वर्णन विशद रूप में किया है, किंतु वह स्वतंत्र रूप में न होकर उद्दीपन विभाव के अन्तर्गत ही किया गया है। सूर-काव्य का क्षेत्र ब्रज है जो प्रकृति का क्रीड़ा-स्थल है। इसमें प्राकृतिक वैभव का चरमोत्कर्ष दिखलाई देता है। सूर-काव्य का विकास ब्रज के जिस विस्तृत धरातल पर हुआ है, वहाँ प्रकृति के उपादान रूप में कल-कल निनादिनी यमुना है, हरा-भरा गोवर्धन है, सघन कंदराएँ हैं, रमणीक वन-उपवन हैं, मनोहर कुंज-कुटीर हैं, करील के पादप हैं, कदंब के सुरभित फूल हैं, गाय-मोर-कोकिल-भृंग जैसे विविध भाँति के पशु-पक्षी और कीटादि हैं। सूर के रूपकों तथा उपमाओं और उत्प्रेक्षाओं में ब्रज का प्राकृतिक वैभव छलका पड़ता है।

सूरदास ने 'षट् ऋतु' और 'बारह मासा' का क्रमबद्ध कथन नहीं किया है। उनके काव्य में इनका बिखरा हुआ वर्णन ही मिलता है। श्रीकृष्ण की विविध लीलाओं के कथन में उन्होंने प्रकृति-वर्णन बड़े विस्तार से किया है, जो नित्योत्सव संबंधी कीर्तन के पदों में मिलता है।

नित्योत्सव के कीर्तनों में प्रातःकाल से रात्रि पर्यन्त अष्ट प्रहरों का वर्णन किया गया है। प्रमुख अवसरों का वर्णन इस प्रकार है—

प्रभात-वर्णन — जब बालकृष्ण के जागरण का कथन किया जाता है, तब सूरदासजी प्रभात की मनोरम वेला का हृदयस्पर्शी चित्र खींच देते हैं।

संध्या-वर्णन — जब कृष्ण अपने ग्वाल-बालों के साथ गोचारण कर वन से वापिस लौटते हैं, तब सूरदासजी संध्या-कालीन सुषमा का कथन करते हैं।

रात्रि-वर्णन — श्रीकृष्ण के शयन के वर्णन में रात्रि की मनोहर छटा का कथन किया जाता है।

श्रीकृष्ण और राधा-गोपियों का संयोग श्रृंगार ब्रज के रमणीक लता-कुंजों और उनके निकट बहनेवाली यमुना नदी के पुलिनों में विकसित होता है। इसी प्रकार उनके वियोग श्रृंगार के विकासस्थल भी ब्रज के प्राकृतिक उपादान हैं। ब्रज के मनोरम वन-उपवनों की प्राकृतिक सुषमा, कुंज-कुटीरों का सौन्दर्य,

गाय - मोर आदि का सामीप्य जो संयोग - सुख में अनुपम अभिवृद्धि करते हैं, वे ही वियोगव्यथा को सौगुना बढ़ा देते हैं। इनके बहुसंख्यक उदाहरण सूर - काव्य में भरे पड़े हैं।

इसी प्रकार षट् ऋतुएँ संयोग - सुख की साधक होने के साथ ही साथ वियोगव्यथा की वृद्धि करनेवाली भी हैं। यहाँ इन ऋतुओं के कुछ उदाहरण दिये जाते हैं –

बसंत - ऋतु में प्रकृति अपना नूतन शृंगार करती है। सूरदास ने इस ऋतु के विविध दृश्य बसंत-खेल, होली - फाग, फूल - डोल आदि का कथन करते हुए प्रस्तुत किये हैं। कोयल की कूक बसंत की वनश्री पर मानो अमृत की वर्षा करती है। गोपियाँ उसका आनन्द प्राप्त करने के लिए कहती हैं – "कोकिल, हरि के बोल सुनाउ।"

बसंत का उद्दीपक प्रभाव विरहव्यथा को बढ़ानेवाला सिद्ध होता है। गोपियाँ मधुवन की हरीतिमा को देखकर ईर्ष्यापूर्वक पूछती हैं – "मधुबन। तुम कत रहत हरे ?" इसी प्रकार वे दुखित मन से पुष्प - लताओं से भी कहती हैं – "वे जो देखे राते - राते, फूलन फूले डार। हरि बिनु फूलझरी सी लागति, झरि - झरि परत अँगार।"

वर्षा - ऋतु का सूरदास ने बड़ा विस्तृत वर्णन किया है – संयोग शृंगार में भी और वियोग शृंगार में भी। राधा - कृष्ण का मधुर मिलन वर्षा-ऋतु में ही होता है। नंदजी बालक कृष्ण को लेकर वन में जाते हैं, तभी बड़े वेग से बादल उमड़ने लगते हैं। वे वर्षा का आगमन जानकर राधा के साथ कृष्ण को घर भेज देते हैं। उस समय दोनों का प्रथम संयोग होता है। फिर इन्द्र के मान - भंग और भ्रमर - गीत के प्रसंग में वर्षा का विशद वर्णन किया गया है। इसी ऋतु में रास - रंग का आयोजन एक निराली ही छटा उपस्थित करता है। आकाश में बादलों के साथ बिजली की चमचमाहट और भूमि पर श्रीकृष्ण के साथ गोपियों का नृत्य, दोनों में समानता बतलाते हुए सूरदासजी कहते हैं –

मानो माई, घन - घन अंतर दामिनी।
घन दामिनि, दामिनि घन अंतर, सोभित हरि ब्रज - भामिनी॥
जमुना पुलिन मध्य काम कलित, सरद सुहाई जामिनी।
सुंदर ससि गुण - रूप रासि - निधि, आनँद मन बिश्रामिनी॥
रच्यौ रास मिलि रसिक राय सौं, मुदित भई ब्रज - भामिनी।
रूपनिधान स्याम घन सुंदर, अंग अंग अभिरामिनी॥
खंजन - मीन - मयूर - हंस - पिक, भई भेद गजगामिनी।
को गति गनै 'सूर' नागर सँग, काम चिमोह्यौ कामिनी॥

वियोगव्यथा की अभिवृद्धि में भी वर्षा - ऋतु के योग को सूरदास ने बड़े विस्तार से बतलाया है। इस ऋतु में सभी परदेशी अपने - अपने घरों में वापिस आ जाते हैं, किन्तु जब श्रीकृष्ण नहीं आये, तब गोपियाँ दुखित मन से कहती हैं – "हरि परदेस बहुत दिन लाए।" इतने दिन हो जानेपर भी वे परदेस से वापिस नहीं आये। उसी समय बादलों को घुमड़ते देखकर कहती हैं – "बरु ये बदरा बरसन आये।" उनके श्याम रंग को देखकर उन्हें श्रीकृष्ण का भ्रम होता है। वे कहती हैं – "आजु घनस्याम की अनुहारि।" उसी समय पपीहा की 'पीउ पीउ' बोली से वे अपने प्रियतम का आगमन जानकर हर्षित होती हैं। उसके लिए वे पपीहा के दीर्घ जीवन की कामना करती हुई कहती हैं – "जुग - जुग जिओ पपीहा प्यारे।" किन्तु वह तो उनका भ्रम था। कृष्ण नहीं आये, गोपियों की विरहव्यथा बढ़ने लगी। उधर बादलों को देखकर मयूरगण उच्च स्वर से कूकने

लगे। उनकी वह चोरंकार गोपियों के कानों में मानो विष उड़ेलती है। वे कहती हैं – "हमारे माई, मोरउ वैर परे।" ये वैरी मोर तो हमें बड़ा दुख दे रहे हैं।

अन्य गोपियों से भी अधिक राधा की शोचनीय स्थिति वर्षा - ऋतु में बतलायी गयी है। राधाजी की चतुर सखियां इस मादक ऋतु के आगमन को उनसे छिपा रही हैं। वे घन की गरज को सिंह की दहाड़, बिजली की चमक को जंगली आग की लपट, दादुर - मोर - पपीहा आदि की बोलियों को ग्वाल - मंडली द्वारा पक्षियों के साथ खेल की ध्वनियां बतला कर राधाजी को बहकाने की चेष्टा कर रही हैं, ताकि वर्षा - ऋतु के इन उत्तेजक उपादानों से उनकी विरहव्यथा और न बढ़ जावे। सूरदासजी कहते हैं –

> बूझत बातन यों बहरावति।
> सूरस्याम वे सखी सयानी, पावस रितु राधाहिं न बतावति॥
> घन - गरजत तौ कहत कुसलमति, गूँजत गुहा सिंह समुझावति।
> नहिं दामिनि, द्रुम - दवा सैल चढ़ि, फिरि बयारि उलटी झर लावति॥
> नाहिंन मोर रटत पिक - दादुर, ग्वालमंडली खगन खेलावति।

शरद-ऋतु के वर्णन में अधिकतर संयोग शृंगार का कथन किया गया है। इस ऋतु की निर्मल चांदनी रात में यमुना के तट पर रास - रंग का आयोजन संयोग - सुख को चरम सीमा पर पहुँचा देता है। सूरदासजी कहते हैं –

> जैसिइ सरद - चाँदनी निर्मल, तैसोई रास - रंग उपजायौ।
> तैसिइ कनक - बरन सब सुन्दरि, ता सोभा पर मन ललचायौ॥
> तैसिइ हंस - सुता पवित्र तट, तैसोई कलपवृक्ष सुखदायौ।

शिशिर-ऋतु के अंत में व्रज में होली की धूम - धाम होती है। उस समय प्रकृति का कण - कण होली के रंग में रँग जाता है। सूरदासजी ने होली के उल्लासपूर्ण प्राकृतिक वैभव का भी मनोरम कथन किया है। ●

●

> राधे! बन्यौ आजु बसंत।
> मनहु मदन - विनोद बिहरत, नागरी नव कंत॥
> मिलत सनमुख पटल पाटल, भरति मानहि जूहि।
> वेलि प्रथम - समाज - कारन, मोदिनी कच गूहि॥
> केतकी कुच - कलस - कंचन, गरे कंचुकि वास।
> मालती मद चलित लोचन, निरखि मुख मृदु हास॥
> विरह - व्याकुल मोदिनी - कुल, भई बदन बिकास।
> पवन परिमल सहचरी, पिक-गान हृदय हुलास॥
> उत सखा चंपक चतुर अति, कुंद मनु तन - माल।
> मधुप मनि - माला मनोहर, सूर, श्रीगोपाल॥
>
> सूरग्रंथावली (अ. भा. वि. प.) २६१५



वल्लभ सम्प्रदाय में दैन्य-तत्त्व : सूरदास के सन्दर्भ में

श्री विष्णुकान्त शास्त्री

सूरदास के काव्य का चरमोत्कर्ष कुछ लोगों के अनुसार वात्सल्य के पदों में और कुछ लोगों के अनुसार माधुर्य के पदों में हुआ है। यह सच है कि इन दोनों क्षेत्रों में उनकी देन इतनी विशिष्ट रही है कि उनकी प्रभा से विमुग्ध नेत्रों द्वारा उनकी कविता के अन्य क्षेत्रों का सौन्दर्य प्रायः अनदेखा ही रह गया है। अपेक्षाकृत रूप से उपेक्षित उनकी कविता के ऐसे क्षेत्रों में उनके विनय के पद भी हैं, जिनकी महिमा इसलिए भी ढक गयी है कि कुछ विद्वानों की धारणा के अनुसार ये पद उन्होंने वल्लभ सम्प्रदाय में दीक्षित होने के पहले लिखे थे। मेरे मतानुसार यह धारणा पुनः परीक्षायोग्य है।

गोस्वामी गोकुलनाथ कथित "चौरासी वैष्णवन की वार्ता" के अन्तर्गत सूरदास की वार्ता में कहा गया है कि प्रथम साक्षात्कार के समय सूरदास ने वल्लभाचार्य के समक्ष दीनता के दो पद गाये थे—"हरि हौं सब पतितन कौ नायक" तथा "प्रभु हौं सब पतितन कौ टीकौ"—जिन्हें सुनकर "श्री आचार्य जी आपु सूरदास सों कहे—जो सूर ह्वै कै ऐसौ विघियात काहे कों है? सो तासों कछु भगवत् लीला बरनन करि"।[1] इसी प्रसंग के आधार पर सूरदास के अधिकतर अनुशीलनकर्ताओं ने यह मत व्यक्त किया है कि सूर के विनय के पद, विशेषतः दैन्य के पद, वल्लभ सम्प्रदाय में दीक्षित होने के पूर्व लिखे गये थे। उद्धृत हैं कुछ महत्त्वपूर्ण विद्वानों के मत।

आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी की धारणा है कि "आरम्भ में सूरदास, जान पड़ता है, सख्य या वात्सल्य की अपेक्षा दास्य की ओर अधिक झुके थे।......(उपर्युक्त प्रसंग का हवाला)......इसलिए यह मान लिया जा सकता है कि महाप्रभु के संसर्ग में आने के बाद सूरदास ने अपना पुराना रास्ता छोड़ दिया और अपने गाने का मुख्य विषय भगवत् लीला को ही बना लिया।"[2]

डॉ० मुंशीराम शर्मा 'सोम' का मत है—"सूरसागर के प्रथम स्कन्ध में आत्मनिवेदन सम्बन्धी पदों की अधिकता है। हमारी सम्मति में ये पद आचार्य वल्लभ द्वारा दीक्षित होने के पूर्व ही कवि द्वारा निर्मित हो चुके थे। इन पदों में सूर के हृदय का दैन्य, कातर क्रन्दन तथा पश्चात्ताप भरा पड़ा है।"[3] उपर्युक्त प्रसंग की विवेचना के अनन्तर उनका निष्कर्ष है, "इससे यह मंतव्य गृहीत किया जा सकता है कि भक्त को प्रभु के सामने अपना दैन्य प्रदर्शित नहीं करना चाहिये।......पुष्टिभक्ति में भगवान् का माहात्म्य तो स्वीकृत है, पर भक्त का दैन्य भाग गृहीत नहीं हुआ है।"[4]

१– सूरदास की वार्ता (प्र० सं०), सं० डॉ० प्रभुदयाल मीतल, पृ० ११।
२– सूरसाहित्य, सं० २०१२, पृ० १४४ तथा १४६।
३– सूरदास का काव्य वैभव (प्र० सं०), पृ० १९। ४– वही पृ० ८९।

डॉ० ब्रजेश्वर वर्मा के अनुसार "अधिकांश विद्वान् तो उन्हें (विनय के पदों को) सूर की आरम्भिक कृति मानते हैं, न केवल इसलिए कि वे प्रायः ग्रन्थारम्भ में मिलते हैं, वरन् इसलिए भी कि इनमें सूर का वह 'घिघियाना' वर्णित है जिसे श्रीकृष्ण के लीलागान में दीक्षित करके महाप्रभु वल्लभाचार्य ने छुड़ा दिया था। इसमें सन्देह नहीं कि इन पदों में कवि की विरक्तभाव-संभूत शांत और दैन्यपूर्ण दास्य भक्ति का ही प्रकाशन हुआ है जो आगे कृष्ण के रूप-सौन्दर्य और लीला-माधुर्य में दव गई।"[५] यह ठीक है कि डॉ० वर्मा ने कुछ लोगों के इस मत का भी उल्लेख किया है कि हो सकता है कि ये पद सूरदास की वृद्धावस्था की रचना हों। यदि ऐसा हुआ हो तो डॉ० वर्मा के अनुसार उसका कारण यही रहा होगा कि सूरदास की प्रारम्भिक दैन्य भावना सर्वथा लुप्त नहीं हो सकी होगी, कभी-कभी उसका प्रकाशन होता होगा, जीवन-संध्या में वह कदाचित् पुनः कवि के चेतन स्तर पर मुखर हो गयी होगी। इनके कथन का आशय यही प्रतीत होता है कि वल्लभ के निषेध के कारण सूर की दैन्य-भावना दब गई थी जो दुर्बल क्षणों में बाद में उभर आया करती होगी।

डॉ० विजयेन्द्र स्नातक ने तो उक्त प्रसंग के उद्धरण के अनन्तर टिप्पणी जड़ी है, "इस फटकार को सुनते ही सूर ने विनय के पद गाना समाप्त कर कृष्ण की वैष्णव-सम्प्रदाय-सम्मत लीला का गान प्रारम्भ किया।"[६]

इस मान्यता का सारांश ऊपर दिये गये मतों में आ गया है, अतः इसके पोषक अन्य विद्वानों के कथनों की उद्धृति अनावश्यक है। यदि यह मान्यता सही है तो इससे तीन निष्कर्ष निकलते हैं :

(१) दैन्य-निवेदन एवं लीला-गान में विरोध है।

(२) वल्लभ सम्प्रदाय में भक्त का दैन्य भाव गृहीत नहीं हुआ है।

(३) अतएव सूरदास ने वल्लभ सम्प्रदाय में दीक्षित होने के अनन्तर विनय के पद नहीं लिखे, या यदि लिखे भी तो अपनी पूर्व भावना के मुखर हो जाने पर वल्लभ मत के प्रतिकूल जाकर लिखे।

मेरी विनम्र सम्मति में ये निष्कर्ष तथ्य-विरुद्ध होने के कारण असंगत एवं त्याज्य हैं। वल्लभाचार्य द्वारा प्रवर्त्तित पुष्टिमार्ग के साथ जिनका गहरा परिचय है, वे इन निष्कर्षों को स्वीकार नहीं कर सकते। हर्ष का विषय है कि डॉ० दीनदयालु गुप्त[७], डॉ० प्रभुदयाल मीतल[८], सदृश विद्वानों ने यह प्रतिपादित किया है कि पुष्टिमार्ग के अन्तर्गत दैन्य की भावना का विधान भी है, अतः सूर ने वल्लभ सम्प्रदाय में आने के बाद भी दैन्यपरक पदों की रचना की होगी। किन्तु इन विद्वानों ने इस विषय का इतना संक्षिप्त विवेचन किया है कि इससे सम्बद्ध विविध पहलुओं की कुछ विस्तारपूर्वक विवेचना आवश्यक है।

विनय के पदों की रचना में और लीला-गान में किसी भी प्रकार के विरोध की स्थिति कल्पित नहीं की जा सकती। 'विनय-पत्रिका' के रचयिता तुलसीदास "नाम ललित, लीला ललित, ललित रूप रघुनाथ"[९] के विश्वासी भी थे। रामचरितमानस, गीतावली, कवितावली आदि में प्रभु की लीला का जैसा अंकन उन्होंने किया है, वैसा सूर के अतिरिक्त दूसरे कवि अपनी कृतियों में कहाँ कर पाये हैं! यदि कहा जाये कि तुलसी दास्यभाव के भक्त थे, तो विद्यापति, परमानन्ददास, मीरा, गोस्वामी हित हरिवंश, स्वामी हरिदास आदि की रचनाओं में भी विनय के पद मिलते हैं। वैष्णव भक्ति-साहित्य में नाम, रूप, लीला, धाम की महिमा के गान के साथ-साथ आत्म-निवेदनपरक पदों की रचना अत्यन्त प्रशस्त मानी गयी है।

५— सूरदास (द्वि० सं०) पृ० ५६।

६— सूरदास, सं० डॉ० हरवंश लाल शर्मा, पृ० ६८।

७— अष्टछाप और वल्लभ सम्प्रदाय, भाग-२, पृ० ६०२-३। ८— सूर-निर्णय, पृ० २६३।

९— दोहावली १२०।

इन पदों में प्रायः दैन्य की अभिव्यंजना होती ही है। अतः विनय के पद लीला-गान के परिपूरक हैं, परिपंथी नहीं। सच तो यह है कि विनय की भावना वह नींव है, जिस पर भगवान् का माहात्म्यज्ञान अवलम्बित है, जिसके बिना भक्ति का भवन खड़ा ही नहीं हो सकता। भक्त की दृष्टि में प्रभु की महत्ता जितनी उभरती है उसके हृदय में उतनी ही चुभती है अपनी लघुता। अपनी सीमाओं का सबसे प्रखर अनुभव दास्य भाव में होता है, यह ठीक है, किन्तु सख्य, वात्सल्य, माधुर्य आदि अन्य भावों में प्रेम के प्रकर्ष में भी अभिमान न आ जाये, इसका ध्यान बराबर बनाये रखना पड़ता है। नारदीय भक्ति-सूत्र में भक्ति की श्रेष्ठता के हेतु बताते हुए कहा गया है, "ईश्वरस्याभिमानद्वेषित्वाद्दैन्यप्रियत्वाच्च।"[10] अर्थात् ईश्वर के भी अभिमान से द्वेष करने तथा दीनताप्रिय होने के कारण भक्ति श्रेष्ठ है, क्योंकि भक्तों में अभिमान नहीं है, दैन्य है। व्रज की गोपिकाओं को भक्तों का आदर्श बताने के साथ ही साथ देवर्षि ने यह भी स्पष्ट कर कर दिया है कि "न तत्रापि माहात्म्यज्ञानविस्मृत्यपवादः। तद्विहीनं जाराणामिव।"[11] अर्थात् गोपियों (माधुर्यभाव के भक्तों) के प्रेम में भी माहात्म्यज्ञान की विस्मृति का कलंक नहीं हो सकता, क्योंकि तब तो वह प्रेम कामी के समान हो जायगा।

इसीलिए श्रीमद्भागवत में रासलीला के प्रसंग में संयोगावस्था में गोपियों के मन में किंचित् अभिमान का उदय एवं प्रभु के माहात्म्यज्ञान का विस्मरण-सा होते ही श्रीकृष्ण अन्तर्धान हो गये थे। और तब, 'गोपीगीत' में गोपियों के अन्तःकरण की विकलता प्रभु के माहात्म्य एवं लीला-कीर्तन के साथ-साथ अपने दैन्य के निवेदन में मुखरित हो उठी थी। इसी तरह श्रीमद्भागवत के दशम स्कन्ध के साठवें अध्याय में श्रीकृष्ण ने जब परिहास में ही अपने को निष्किंचन बताते हुए रुक्मिणीजी को किसी अन्य का वरण करने के लिए कहा, तो वे अत्यन्त दीन हो उठी थीं। तब स्वयं प्रभु को उन्हें आश्वस्त करना पड़ा था। तदनन्तर रुक्मिणीजी ने दीर्घ उत्तर देते हुए प्रभु की महिमा एवं अपनी हीनता का मार्मिक निरूपण कर अपनी अनन्यता प्रमाणित की थी। अतः सख्य, वात्सल्य भाव के भक्तों की बात तो जाने ही दीजिए, माधुर्य भाव के भक्त भी प्रभु की लीला के गान एवं अपने दैन्य-निवेदन में कोई विरोध नहीं मानते। इस प्रकार उपर्युक्त मान्यता का पहला निष्कर्ष असंगत ठहरता है।

वल्लभ सम्प्रदाय में भक्त का दैन्य-भाव गृहीत नहीं हुआ है, यह कहना वल्लभ सम्प्रदाय से अपना नितान्त अपरिचय प्रकट करना है। वल्लभ की साधना-पद्धति पुष्टिमार्ग कहलाती है। पुष्टि का अर्थ है पोषण....प्रभु का अनुग्रह। प्रभु की प्राप्ति प्रभु के अनुग्रह से ही सम्भव है। जीव की शक्ति सीमित है, अतः उसके सारे साधन भी सीमित ही हैं। सीमित साधनों का फल भी सीमित ही होता है। कर्म-सिद्धान्त के अनुसार प्रभु उन सीमित साधनों के फल कर्मानुरूप ही देते हैं। यह दिवालोक की तरह स्पष्ट है कि जीव के सीमित साधन असीम प्रभु को प्राप्त कराने का फलदान करने में नितान्त अपर्याप्त हैं। फिर जीव जो थोड़े-बहुत अच्छे साधन अन्य कालों में कर भी सकता था, इस घोर कलिकाल में उन्हें भी नहीं कर पाता। अतः स्वभावतः दुष्ट, अहंकार-विमूढ़, पापानुवर्ती कलि के जीवों के लिए वल्लभ का विधान है पूर्णतः निस्साधन होकर दीन भाव से प्रभु की शरण में जाना। स्वयं अपने लिए उनका द्विधाहीन वचन है—

विवेकधैर्यभक्त्यादिरहितस्य विशेषतः। पापासक्तस्य दीनस्य कृष्ण एव गतिर्मम ॥[12]

अर्थात्, विवेक, धैर्य, भक्ति आदि से रहित मुझ पापासक्त दीन के लिए तो एकमात्र गति श्रीकृष्ण ही हैं। यदि यह बात स्वयं वल्लभाचार्य पर लागू होती है तो क्या उनके अनुयायियों पर लागू नहीं होगी? इसे

१०— नारदीय भक्ति-सूत्र २७। ११— वही २२, २३।

१२— पुष्टिमार्गीय स्तोत्ररत्नाकर (द्वि० सं०), वल्लभकृत कृष्णाश्रयस्तोत्र, नवम श्लोक, पृ० ४५।

भावातिरेक की विच्छिन्न उक्ति कहकर वल्लभ की मुख्य साधना का अंश न मानना भी सम्भव नहीं है। वल्लभाचार्य और उनके वंशज गोस्वामीगण वार-वार दैन्य की साधना पर असन्दिग्ध शब्दों में वल देते रहे हैं।

श्रीमद्भागवत की अपनी सुप्रसिद्ध टीका 'सुवोधिनीजी' की एक कारिका में दैन्य को भक्तों का चरम साधन बताते हुए वल्लभ ने कहा है—

नहि साधनसम्पत्त्या हरिस्तुष्यति कस्यचित्।
भक्तानां दैन्यमेवैकं हरितोषणसाधनम् ॥[१३]

अर्थात्, साधनों की सम्पत्ति—भरमार भी हो तो भी—(उन्हीं के कारण) हरि किसी पर प्रसन्न नहीं होते। भगवान् को तुष्ट करने का एकमात्र साधन भक्तों का दैन्य, दीनता ही है। इसी तरह रुक्मिणी पर प्रभु की कृपा के हेतु का निर्देश करते हुए वल्लभाचार्य ने 'सुवोधिनीजी' में लिखा है—

अनन्यत्वं परिज्ञाय, दीनत्वस्य हीनभावत्वस्य च प्रकाशितत्वात् गर्वाभावमपिज्ञात्वा सन्तुष्टो भगवान्-तस्या वाक्यमभिनन्दति।[१४]

अर्थात्, रुक्मिणी अनन्य भाव रखती है और दीनत्व तथा हीनत्व के प्रकाशन से उसे गर्व भी नहीं, इससे प्रसन्न होकर भगवान् उसके वाक्य का अभिनन्दन करते हैं। पुष्टिमार्ग में वल्लभ की इस उक्ति का आज भी परम समादर है कि "दैन्यं त्वत्तोषसाधनम्।[१५] अर्थात्, प्रभु के तोष का साधन दैन्य ही है।

महाप्रभु वल्लभाचार्य के अनन्तर गोस्वामी विट्ठलनाथजी ने दैन्य की साधना को अक्षुण्ण रखा था। उनका अत्यन्त मार्मिक श्लोक है—

यद्दैन्यं त्वत्कृपाहेतुर्न तदस्ति ममाण्वपि। तां कृपां कुरु राधेश यया ते दैन्यमाप्नुयाम् ॥[१६]

अर्थात्, हे राधेश, हे कृष्ण, जो दैन्य आपकी कृपा हेतु है, वह मुझमें अणुमात्र नहीं है। प्रभु, आप ऐसी कृपा करें जिससे मुझे दैन्य की प्राप्ति हो। दैन्य से प्रभु की कृपा, और प्रभु की कृपा से दैन्य की प्राप्ति रूपी वीजांकुर-न्याय में जो सरसता निहित है, उसे सहृदय ही जान सकते हैं।

गोस्वामी हरिराय जी ने वल्लभ संप्रदाय की आधिकारिक दृष्टि को सुस्पष्ट करने के लिए अनेकानेक ग्रन्थों की रचना की है। अपने छोटे भाई गोपेश्वर जी का शोक-मोह दूर करने के लिए उन्होंने जिस 'शिक्षापत्र' की रचना की है, उसका पुष्टिमार्गियों में अत्यन्त सम्मान है। उस ग्रन्थ में उन्होंने स्थान-स्थान पर दैन्य की साधना को अनिवार्य बताया है। उनका निश्चित विश्वास है—

दत्त्वा दैन्येन सन्तुष्टो नित्यं देहमलौकिकम्। स्वयं प्रविश्य भावात्माऽनुभवं कारयेत्स्वकम् ॥[१७]

अर्थात्, सेवक की दीनता से प्रसन्न होकर उसे अलौकिक सेवोपयोगी नित्य देह प्रदान कर भावात्मक प्रभु उसमें प्रवेश कर उसे अपना अनुभव करा देते हैं। इसी तरह "यदाप्रभुः कृपापूर्णः कृपयिष्यति दैन्यतः"[१८] (कृपापूर्ण प्रभु वैष्णव में जब दीनता देखेंगे तब अवश्य कृपा करेंगे) "दैन्येन दयया दीनवंधुः प्रादुर्भवत्यसौ"[१९] (दैन्य से

१३— श्री सुवोधिनी ग्रन्थमाला, पंचम पुष्प (प्र० सं०), दशम स्कन्ध, तामस फल अवान्तर प्रकरण, चतुर्थ अध्याय, द्वितीय कारिका, पृ० २११।

१४— श्री सुवोधिनी ग्रन्थमाला, नवम पुष्प, १०।५७।४९ का आभास, पृ० २०४।

१५— वृहत्स्तोत्रसरित्सागर, गो० विट्ठलनाथकृत प्रथमा विज्ञप्ति, श्लो० २१, पृ० २००-२०१।

१६— वृहत्स्तोत्रसरित्सागर, गो० विट्ठलनाथ कृत तृतीया विज्ञप्ति, श्लो० १, पृ० २०४।

१७— प्रथम शिक्षापत्र, श्लोक ११, (वड़े शिक्षापत्र-प्रथम भाग) पृ० १०।

१८— चतुर्थ शिक्षापत्र, श्लोक २९, वही पृ० ६८।

१९— पंचम शिक्षापत्र, श्लोक ३, वही पृ० ७२।

हो दीनबन्धु प्रभु दया कर प्रकट होते हैं) अथवा, "दैन्यभावेन स्मर्तव्यं सततं हरिः"[२०] (दीन भाव से निरन्तर हरिस्मरण करना चाहिये) सदृश उनके वचन उद्धृत किये जा सकते हैं ।

प्रभु की लीलाओं के गान एवं दैन्य के निर्वाह करने का निर्देश देते हुए उन्होंने कहा है—

श्रीकृष्णः सर्वदा स्मर्यः सर्वलीलासमन्वितः ।
भक्तैकहृदयस्थायी सकलः पुरुषोत्तमः ।।
गुणगानं तथा दुःखभावनं दैन्यमेव च ।
तथा त्यागः सिद्धदृशः कृत्यमेतच्चतुष्टयम् ।।[२१]

अर्थात्, सकल लीलाओं से युक्त श्रीकृष्ण ही सर्वदा स्मरणीय हैं, अंश, कला आदि से युक्त वे पुरुषोत्तम भक्तों के हृदय में ही विराजते हैं । उनकी लीलाओं का गुणगान, विरह-दुःख की भावना, दीनता एवं लौकिक-वैदिक आसक्तियों का त्याग, सिद्ध दृष्टि वालों के ये चार कर्त्तव्य हैं । अब भी कोई विद्वान् वल्लभ सम्प्रदाय की दुहाई देकर लीलागान एवं दैन्य निवेदन में विरोध की कल्पना करे तो क्या किया जा सकता है ?

श्री हरिदास के स्तोत्रों का वल्लभ सम्प्रदाय में बहुत सम्मान है । उनके "श्रीकृष्ण शरणाष्टकम्" का पहला ही श्लोक है :

सर्वसाधनहीनस्य पराधीनस्य सर्वतः ।
पापपीनस्य दीनस्य श्रीकृष्णः शरणं मम ।।[२२]

अपने को सर्वसाधनहीन, सर्वथा पराधीन, घनघोर पापी और दीन मानकर ही कोई कह सकता है कि श्रीकृष्ण ही मेरी एकमात्र शरण हैं । हरिदासजी ने तो पुष्टिमार्ग के लक्षणों का निरूपण करते हुए कहा है कि प्रभु-सेवा से सम्बन्धित अपनी कृति में (त्रुटियों, कम कमियों के कारण ज्यादा) दैन्य के उद्भव के लिए सतत पश्चात्ताप किया जाता है वह पुष्टिमार्ग है । पुनः वही है पुष्टिमार्ग जिसमें प्रभु के अनुग्रह के आविर्भाव के लिए दैन्यरूपी साधन ही अपेक्षित है, जिस साधन रूपी दैन्य का फल है प्रभु के वियोग की प्रखर अनुभूति से उत्पन्न दैन्य ! उनके शब्द हैं :

पश्चात्तापः सदा यत्र तत्सम्बन्धि कृतावपि ।
दैन्योद्भावाय सततं पुष्टिमार्गः स कथ्यते ।।
आविर्भावाय सापेक्षं दैन्यं यत्र हि साधनम् ।
फलं वियोगजं दैन्यं पुष्टिमार्गः स कथ्यते ।।[२३]

अपने को सर्वथा निस्साधन मानकर प्रभु की शरण में जानेवाले को ही प्रभुविरह की अनुभूति से उत्पन्न तीव्र तापभावजन्य दैन्य का दिव्य अनुभव होता है, जैसा भगवती राधा को हुआ करता था । वल्लभ सम्प्रदाय में पारम्परिक रूप से दैन्य के इतने महत्त्व के बावजूद कुछ विद्वानों की यह स्थापना कि "वल्लभ सम्प्रदाय में दैन्य-भाव गृहीत नहीं हुआ है" सचमुच दुस्साहसमात्र है ।

यहाँ यह प्रश्न स्वाभाविक रूप से उठता है कि यदि वल्लभ सम्प्रदाय में दैन्य की इतनी मान्यता है तो वल्लभाचार्य ने सूर के दैन्य के पदों को सुनकर 'घिघियाना' छोड़कर लीलागान करने का आदेश उन्हें क्यों

२०— पंचम शिक्षापत्र, श्लोक ६, (बड़े शिक्षा-पत्र—प्रथम भाग) पृ० ७५ ।
२१— एकादश शिक्षापत्र, श्लोक ३–४ वही पृ० १३० ।
२२— पुष्टिमार्गीय स्तोत्र रत्नाकर, पृ० ८७ ।
२३— पुष्टिमार्गीय स्तोत्र रत्नाकर, पुष्टिमार्ग लक्षणानि, श्लोक १७-१८, पृ० ९० ।

दिया। इसकी सुसंगत मीमांसा करने के लिए यह स्मरण रखना चाहिये कि साधना-पथ में दो बाधाएँ हैं—अहंकार और नैराश्य। अहंकार के निरसन के लिए दैन्य की एवं नैराश्य के उन्मूलन के लिए आश्वासन की आवश्यकता है। शिष्य की मानसिकता का पर्यवेक्षण कर उसके लिए अवस्था विशेष में जिसकी जरूरत होती है, गुरु उसी का विधान करता है। सूरदास-वल्लभ के प्रथम मिलन का यदि सूक्ष्म विश्लेषण किया जाय तो यह स्पष्ट हो जायेगा कि सूर के हृदय में दैन्य के परिपाक का आभास पाकर वल्लभाचार्य ने उन्हें आश्वस्त करने के लिए लीलागान की प्रेरणा दी थी। इस पूरे प्रसंग का पुनरीक्षण लाभदायक होगा।

वार्ता के अनुसार सूर का परिचय प्राप्त कर "तब श्री आचार्य जी श्रीमुख सों कहे—जो सूर! कछु भगवत जस बरनन करो।"[२४] किंतु सूरदास तो गये थे गुरुवरण कर उनका अभय आश्रय प्राप्त करने की भावना से। अतः उनके निश्छल हृदय ने बिना किसी दुराव-छिपाव के अपनी वस्तुस्थिति प्रकट कर दी। वल्लभ के अनुरोध के उत्तर में "सूरदास ने श्री आचार्य जी को दण्डवत करि कह्यो, जो महाराज! जो आज्ञा" और पद गाये—"हरि हौं सब पतितन कौ नायक" तथा "प्रभु हौं सब पतितन कौ टीकौ"। ध्यान देने की बात यह है कि वल्लभाचार्य ने कहा था "भगवत जस बरनन" करने के लिए, किंतु सूरदास "जो आज्ञा" कहकर भी "भगवत जस बरनन" के स्थान पर अपनी दीनता का ही निवेदन कर पाये थे। यह अतिशय दीनता अपनी ओर दृष्टि निबद्ध किये रखने का परिणाम थी। संसार के अन्य जीवों को क्षमासुन्दर नेत्रों से तथा अपने को सत्यानुसन्धानी दृष्टि से देखने का फल यह होता है कि एक तरफ अन्यों में हीनता बुद्धि नहीं होती, दूसरी तरफ अपने हृदय के किसी निगूढ़ कोने में भी छिपे काम, क्रोध, लोभ, मोह आदि को प्रत्यक्ष कर अपने प्रति अभिमान नहीं जागता।

इसी मनःस्थिति में भक्त अपने को सब पतितों का नायक या शिरोमणि घोषित करता है। यह दैन्य नैराश्य में, निरानन्द में न बदल जाये, इसके लिए आवश्यक है कि दृष्टि प्रभु के यश की ओर, प्रभु की लीला की ओर जाये। जैसे ही दृष्टि प्रभु के पतितपावन यश और रसमयी लीला की ओर जायेगी, वैसे ही साधन-राहित्य सम्बन्धी दैन्य भगवदनुग्रह से दिव्य भगवत्प्रेम में रूपांतरित हो जायेगा और भगवत्साक्षात्कार भगवत्सान्निध्य की लालसा उत्तरोत्तर बढ़ती जायेगी। इस रूपांतरण की परिपूर्ण पात्रता सूरदास में है, इसे उपलब्ध कर ही वल्लभाचार्य ने कहा था, "जो सूर ह्वै कै ऐसी घिघियात काहे को है।"

यहाँ सूर शब्द में श्लेष है। एक ओर यह सूरदास के नाम का व्यंजक है, दूसरी ओर है भगवत्प्रेम-पथ पर अग्रसर होने में समर्थ "शूर" साधक का द्योतक। सूरदास को 'शूर' घोषित कर आचार्य उन्हें न केवल आश्वस्त कर रहे हैं बल्कि दैन्य की नींव पर अधिरचित लीलानुभूति की भूमिका पर अधिरोहण करने का निर्देश भी दे रहे हैं। यह भूमिका 'घिघियाने' से अर्थात् अपनी ओर दृष्टि निबद्ध कर अपने दोषों के दीनतायुक्त वर्णन से सिद्ध नहीं हो सकती। इसके लिए दृष्टि को अपने से हटाकर प्रभु की ओर लगाकर उनकी लीला का वर्णन करना चाहिये। गो० हरिरायजी की भावना-टीका के अनुसार 'घिघियाने' के स्थान पर लीला-वर्णन करने के आदेश का आशय है—"जो जीव श्री भगवान सों बिछुर्यौं सो तब तो पतित भयौ। सो ताकों बहुत कहा कहनों, तासों भगवत लीला गावौ, जासों सुद्ध होइ।"[२५] इसका मतलब हुआ कि वल्लभ ने दैन्य का निषेध नहीं किया था, बल्कि उसके अतिशय कथन के स्थान पर जीवों को शुद्ध करनेवाले भगवल्लीला-गान पर बल दिया था।

यह भी स्मरण रखना चाहिये कि भगवल्लीला-यश वर्णन करने का सामर्थ्य भी किसी में अनायास नहीं आ जाता। गुरु-कृपाप्राप्त शिष्य पूर्ण आत्मसमर्पण कर तदीय होकर ही, प्रभु के लीला-राज्य में प्रवेश कर पाता है, लीला-सहचर हो पाता है। ऐसे महाभागों में विरला ही प्रभु की लीला का मार्मिक वर्णन

२४—सूरदास की वार्ता, पृ० १०। २५—वही पृ० ११।

कर सकता है। सूरदास में इस सामर्थ्य का उदय कैसे हुआ, इसका संकेत देते हुए वार्ताकार ने कहा है कि आचार्य वल्लभ ने सूरदास को यमुनास्नान करवा कर नाम सुनाया, समर्पण करवाया, दशम स्कंध की अनुक्रमणिका सुनायी, सुबोधिनी जी का ज्ञान उनके हृदय में स्थापित किया। सूरदास में "तब भगवत लीला जस बरनन करिवो कौ सामर्थ भयौ। तब अनुक्रमनिका तें सगरी लीला हृदय में स्फुरी।"[२६] अनुग्रह-पुष्ट, आश्वस्त सूरदास तब दैन्य-निवेदन के स्थान पर (उसे न अस्वीकार कर, न दमित कर) भगवान् की रसमयी, आनन्दमयी, लीला का गान करने लगे। सूरदास द्वारा वर्णित नन्द महोत्सव का कीर्त्तन सुनकर "तब श्री आचार्य जी आप प्रसन्न होय के कहे—जो मानों सूर नन्दालय की लीला में निकट ही ठाढ़े हैं, सो ऐसौ कीर्त्तन गायौ। ता पाछै श्री आचार्य जी ने सूरदास कूँ पुरुषोत्तम सहस्रनाम सुनायौ। तब सगरे श्री भागवत की लीला सूरदास के हृदय में स्फुरी। सो सूरदास ने प्रथम स्कन्ध श्री भागवत सों द्वादस स्कन्ध पर्यन्त कीर्त्तन बरनन किये।"[२७]

क्या सूरदास ने इस लीला-स्फुरण एवं गान के अनन्तर दैन्य के पद गाये ही नहीं ? स्वयं वार्ता में उल्लेख आता है कि इसके बाद भी, महाप्रभु वल्लभ के समक्ष भी, सूरदास ने दैन्य का पद गाया था। गोवर्धननाथ जी के दर्शन के बाद कीर्त्तन की आज्ञा मिलने पर "ता पाछे सूरदासजी ने प्रथम विज्ञप्ति कौ पद दैन्यता सहित गायौ। सो पद 'अब मैं नाच्यौ बहुत गुपाल'।" महाप्रभु ने सूर को पुनः आश्वस्त करते हुए कहा—तुम्हारी अविद्या श्रीनाथजी ने दूर कर दी है। "अब तुम भगवत लीला गावौ जा में महात्म्यपूर्वक स्नेह होय।"[२८] जब दीक्षा के बाद भी सूरदास ने वल्लभ के सामने ही लीलागान के साथ-साथ दैन्य-निवेदन का पद भी गाया था तब यह कैसे कहा जा सकता है कि वल्लभ द्वारा दीक्षित होने के बाद उन्होंने विनय के पद और नहीं लिखे होंगे ? यह ठीक है कि दूसरी बार भी आचार्य जी ने लीला गान पर ही बल दिया था। पर अविद्या के दूर होने तक दैन्य भाव को स्वीकृति भी दी थी।

इसी जगह एक बड़ी तात्पर्यपूर्ण बात का उल्लेख करना भी उचित होगा। वल्लभाचार्य के वंशज गोस्वामी हरिरायजी ने इस प्रसंग में सीधे-सीधे सूरदास का पक्ष लेते हुए लिखा है, "परन्तु भगवदीय जितने हैं सो तितनेंन की यही बोली है, जो अपने को हीन कहत हैं। सो यह भगवदीयन कौ लक्षन है। और जो कोई अपने को आछौ कहै और आपुनी बड़ाई करै, सो भगवान तें सदा बहिर्मुख है।"[२९]

क्या गोस्वामी हरिराय जी की यह टिप्पणी इस तथ्य को उजागर नहीं करती कि वल्लभाचार्य के सम्प्रदाय में लीलागान पर बल देने का अर्थ दैन्य निवेदन का विरोध करना नहीं है ? दैन्य उस सम्प्रदाय का भूषण है, दूषण नहीं। केवल इतनी सावधानी बरतनी चाहिए कि दैन्य नैराश्य में न बदल जाये और दैन्य के अतिशय कथन के कारण अन्तःशुद्धि की अमोघ औषधि, भगवल्लीला का गान, छूट न जाये। इस सीमा के भीतर रहकर वल्लभ सम्प्रदाय में दीक्षित होने के अनन्तर भी सूरदास विनय के पद लिखते रहे होंगे—वल्लभ सिद्धान्त के अनुकूल रहकर ही, उसके प्रतिकूल जाकर नहीं, दमित भावना के दुर्बल क्षणों में उभर आने के कारण नहीं।

अतः पूर्वोक्त तीसरी स्थापना भी अस्वीकार्य ठहरती है। इस अस्वीकृति का समर्थन सूर की रचना स्वयं भी करती है। काव्य की उत्कृष्टता चेतन और अचेतन मन के पूर्ण सहयोग पर ही निर्भर है। जहाँ किसी रचयिता के चेतन-अचेतन मन में द्वन्द्व चलता है—बुद्धि जिसे सही मानती है, हृदय उसका समर्थन नहीं करता, या बुद्धि हृदय की मान्यता का निषेध करती है—तो उसकी रचना में भी दरारें पड़ जाती हैं। सूरदास के विनय के दैन्ययुक्त पदों में भी जो अन्विति है, जो मर्मस्पर्शी प्रभविष्णुता है, वह उनकी मन, कर्म और वाणी की एकता के कारण ही है। सच तो यह है कि सूर के विनय के पदों के भावगत, भंगिमागत चारुत्व का सम्यक् उद्घाटन अभी होना बाकी ही है। ■

२६– सूरदास की वार्ता, पृ० १३। २७– वही, पृ० १७। २८– वही, पृ० २०। २९– वही, पृ० २१।

सूर का वात्सल्य-वर्णन

आचार्य विनयमोहन शर्मा

काव्य तभी 'हृदय-संवादी' बनता है जब उसमें विशिष्ट भाव परिपुष्ट होकर 'रस' की अवस्था को प्राप्त होता है। मानव-मस्तिष्क में अनेक भावों का परिस्थिति विशेषवश-उदय और अस्त होता रहता है, पर उनमें से नौ भावों को प्रधानता दी गई और उन्हें 'स्थायी' की संज्ञा देकर उनकी परिपक्वावस्था को 'रस' नाम से अभिहित किया गया। इस प्रकार जिन रसों की संख्या निर्धारित की गयी वे हैं—शृंगार, करुण, बीभत्स, रौद्र, वीर, हास्य, भयानक, अद्भुत और शान्त। वात्सल्य रस की स्वतन्त्र सत्ता नहीं मानी गयी, उसे शृंगार का ही एक अंग माना गया, क्योंकि शृंगार का स्थायी भाव 'रति' दोनों में समान है; केवल आलम्बन-भेद है। परन्तु बाद के आचार्यों ने इसे पृथक् रस के रूप में स्वीकार किया है। इनमें भोज, हरिपाल देव, विश्वनाथ आदि के नाम प्रमुख हैं। भामह, दण्डी आदि आचार्यों ने इसे वात्सल्य न कहकर 'प्रेयस्' कहा है। विश्वनाथ ने अपने 'साहित्य-दर्पण' में इसकी इस प्रकार व्याख्या की है—

स्फुटं चमत्कारितया वत्सलं च रसं विदुः।
स्थायी वत्सलता स्नेहः पुत्राद्यालम्बनं मतम्॥
उद्दीपनानि तच्चेष्टा विद्याशौर्यदयादयः।
आलिंगनांगसंस्पर्शशिरश्चुम्बनमीक्षणम्॥
पुलकानन्दवाष्पाद्या अनुभावाः प्रकीर्तिताः।
संचारिणोऽनिष्टशंकाहर्षगर्वादियो मताः॥[1]

(प्रकट चमत्कार होने के कारण कोई-कोई वात्सल्य भी मानते हैं। इसमें वात्सल्य स्नेह स्थायी होता है। पुत्रादि इसका आलम्बन और उसकी चेष्टा तथा विद्या, शूरता, दया आदि उद्दीपन विभाव होते हैं। आलिंगन, अंग-स्पर्श, सिर-चूमना, देखना, रोमांच, आनन्दाश्रु आदि इसके अनुभाव होते हैं। अनिष्ट की आशंका, हर्ष, गर्व आदि संचारी होते हैं।)

इसके साथ करुण, हास्य, वीर, आशा-निराशा आदि भी लहरा उठते हैं और इसे अधिक मधुर तथा आस्वाद्य बना देते हैं।

वात्सल्य का आलम्बन पुत्र ही नहीं, पुत्री भी हो सकती है, यद्यपि पुत्र के प्रति ही वत्सल भाव की साहित्य में अधिक अभिव्यक्ति हुई है। पुत्र-पुत्री आश्रय के हों या किसी के भी हों, ज्योंही वे आश्रय के हृदय के साथ वत्सल भाव में एकाकार हो जाते हैं, आलम्बन बन जाते हैं।

१— साहित्य दर्पण, शालिग्राम शास्त्री, संस्करण १९५६, तृ० परि० २५१-२५३, पृष्ठ १२३।

वात्सल्य रस के सम्बन्ध में एक बात और सूझ रही है। शास्त्रीय व्याख्या के अनुसार उसका आलम्बन पुत्र या पुत्री होता है। परन्तु जब पुत्र या पुत्री अपनी माँ या अपने पिता (आलम्बन) के प्रति प्रेम-रस से आपूर हो जाते हैं, तब उस रस को क्या संज्ञा देनी चाहिए ? उसे श्रृंगार के अन्तर्गत तो निश्चय ही नहीं रखा जा सकता। वात्सल्य रस यदि वत्सल भाव तक ही सीमित है, तो उसके अन्तर्गत भी इसे रखने में कठिनाई हो सकती है, क्योंकि वात्सल्य रस में आलम्बन पुत्र या पुत्री ही हो सकता है। हम दैनिक जीवन में बालकों का अपनी माता के प्रति, पिता या अन्य वयस्कों के प्रति प्रीति-भाव प्रायः देखते ही रहते हैं जिसकी अभिव्यक्ति रस की सीमा पर पहुंच जाती है। काव्य में इस भाव-परिणति का विशेष चित्रण नहीं दिखायी देता। फिर भी यह शास्त्रीय प्रश्न तो है ही। यदि हम वात्सल्य रस की व्याख्या को विस्तार दे दें और उसके अन्तर्गत पुत्र-पुत्री के वे भाव भी जिनमें बालक्रीड़ा और प्रीति का सहज अतिरेक समाविष्ट हो, ग्रहण कर लें, तो प्रश्न सहज ही हल हो सकता है। 'सूरसागर' में 'हलधर कहत प्रीति जसुमति की' शीर्षक पद में सूर ने इसी प्रकार के भाव इंगित किए हैं। हलधर जसुमति और नन्द के प्रति प्रेम-विभोर होकर बाल-क्रीड़ा का वर्णन कर रहे हैं। यह विभोरता आश्रय के वयस्क होने के कारण पितृ या मातृ-भक्ति का परिणाम कही जा सकती है। परन्तु जहाँ आश्रय में वयस्कता का भान न हो, वहाँ इस प्रकार की अभिव्यक्ति की क्या संज्ञा होगी ? इस निबन्ध में इस विषय की चर्चा प्रस्तुत नहीं है। प्रसंगवश ही उसका उल्लेख कर दिया गया है।

श्रृंगार के समान ही वात्सल्य के भी दो मुख्य भेद—संयोग वात्सल्य और वियोग वात्सल्य—किये जा सकते हैं। वियोग की ग्यारह अवस्थाओं का उल्लेख किया गया है। वे हैं—अभिलाषा, चिन्ता, स्मरण, गुण-कथन, उद्वेग, प्रलाप, उन्माद, व्याधि, जड़ता, मूर्च्छा और मरण।

सूर वात्सल्य रस के अप्रतिम कवि कहे जाते हैं और उचित ही कहे जाते हैं। इस क्षेत्र में उनसे प्रतिस्पर्द्धा लेने वाला कवि हिन्दी में तो है ही नहीं, अन्य भाषाओं के साहित्य में भी शायद ही हो। बाल-मनोवृत्ति का जितना सूक्ष्म अध्ययन उन्होंने किया है, वह अन्यत्र सचमुच दुर्लभ है। जब हम उनके वात्सल्य रस के मिलन और विरह-पक्ष के वर्णनों की गहराई देखते हैं, तब उन्हें जन्मान्ध कहने का साहस नहीं होता। कृष्ण के रूप का लावण्य उन्होंने किन आँखों से देखा था जब वे कह उठे थे—

सखी री, सुन्दरता को रंग।
छिन-छिन माँहि परति छवि औरे, कमल-नैन कैं अंग ॥

मतिराम ने भी सौन्दर्य की ऐसी ही कल्पना की है—

ज्यों-ज्यों निहारिये नेरे ह्वै नैननि,
त्यों-त्यों खरी निकरै सी निकाई।

सौन्दर्य वही है ज्यों-ज्यों निकट से देखा जाता है, उसकी निकाई (सुन्दरता) निखरती ही जाती है। कीट्स ने सौन्दर्य को शाश्वत आनन्द की वस्तु कहा है (A thing of beauty is joy for ever)। सौन्दर्य की कान्ति कभी क्षीण होती ही नहीं, वह दीप-शिखा की भाँति जगमगाती ही रहती है। यशोदा बाल-सौन्दर्य का वर्णन करते अघाती ही नहीं—

कहाँ लौं बरनौं सुन्दरताई।
खेलत कुँवर कनक आंगन में नैन निरखि छवि पाई ॥
कुलहि लसति सिर स्याम सुभग अति बहुविधि सुरँग बनाई।
मानौ नव घन ऊपर राजत मघवा धनुष चढ़ाई ॥

....

दूध दन्त दुति कहि न जाति अति अद्भुत एक उपमाई।
किलकत हँसत दुरत प्रगटत मनौ घन मैं विज्जु छटाई ॥
खण्डित वचन देत पूरन सुख अलप अलप जलपाई।
घुटुरुनि चलत रेनु तन मंडित सूरदास वलि जाई ॥

वालक के सौन्दर्य को देखकर भी हृदय का प्रेयस भाव जाग्रत होता है और उसकी वालक्रीड़ा में तन्मय होकर मन 'सुध' भूल जाता है। कृष्ण की वाल-क्रीड़ा का यह दृश्य कितना मनोरम है—

किलकत कान्ह घुटुरुवनि आवत।
मनिमय कनक नंद कैं आँगन विम्व पकरिवैं धावत ॥
कवहुँ निरखि हरि आपु छाहँ कौं कर सौं पकरन चाहत।
किलकि हँसत राजति द्वै दतियाँ पुनि पुनि तिहिं अवगाहत ॥
कनक भूमि पर कर पग छाया यह उपमा इक राजति।
करि करि प्रतिपद प्रतिमनि वसुधा कमल वैठकी साजति ॥
वालदसा सुख निरखि जसोदा पुनि पुनि नंद वुलावति।
अँचरा तर लै ढांकि सूर के प्रभु कौं दूध पियावति ॥

कृष्ण की वालक्रीड़ा देखकर यशोदा का वात्सल्य इतना उद्वुद्ध हो उठा कि उनके स्तन में सहज ही दुग्ध स्रवित होने लगा और उन्होंने चट वालक को अँचरा के नीचे ढाँपकर दूध पिलाना प्रारम्भ कर दिया। कितना स्वाभाविक चित्रण है! वात्सल्य में कभी आशंका का भाव भी संचरित हो उठता है। "अतिस्नेहः खलु पापशंकी" के अनुसार यशोदा कभी-कभी अपने कन्हैया के भविष्य के प्रति सशंकित हो उठती है। इसलिए—

कवहुँक वल कौ टेरि वुलावति इहिं आँगन खेलौ दोउ भैया।
कवहुँक कुलदेवता मनावति चिरजीवौ मेरो वाल-कन्हैया ॥

कृष्ण की यह नैसर्गिक वालक्रीड़ा देखकर माता यशोदा मन ही मन हर्ष मनाती हैं—

हरि अपनैं आँगन कछु गावत।
तनक तनक चरननि सों नाचत मनहीं मनहिं रिझावत ॥
वाँह उठाइ काजरी धौरी गैयनि टेरि वुलावत।
कवहुँक वावा नन्द पुकारत कवहुँक घर मैं आवत ॥
माखन तनक आपने कर लै तनक वदन मैं नावत।
कवहुँ चितै प्रतिविम्व खम्भ मैं लौनी लिए खवावत ॥
दुरि देखति जसुमति यह लीला हरष अनन्द वढ़ावत।
सूर स्याम के वाल चरित नित नित ही देखत भावत ॥

खेल में जव कृष्ण को देरी हो जाती है, तव यशोदा घवरा जाती हैं और उन्हें वुलाकर पूछती हैं—
"वहुत अवार कतहुँ खेलत कह कहाँ रहे मेरे सारँगपानी।"

वात्सल्य में क्रोध तथा अद्भुत की झाँकी भी दर्शनीय है। मोहन मुख में 'माटी' खा लेते हैं। यशोदा उसे उगलने को कह रही हैं पर कृष्ण कहाँ मानते हैं—

वार वार अनरुचि उपजावत महरि हाथ लिए साँटी।
महतारी कौ कह्यो न मानत कपट चतुरई ठाटी।

वदन पसारि दिखाइ आपने नाटक की परिपाटी ।
बड़ी वार भई लोचन उघरे भ्रम जामिनि नहिं फाटी ।
सूरदास नँदरानि भ्रमित भई कहत न मीठी खाटी ।

सूर ने पुत्र के प्रति ही नहीं, पुत्री के प्रति भी वत्सल भाव व्यक्त किया है । राधा श्याम के साथ जब नन्दरानी के घर जाती है तो यशोदा उसके रूप पर हर्षित हो उठती हैं—

नैन विशाल वदन अति सुन्दर देखत नीकी छोटी ।
सूर महरि सविता सों विनवति भली श्याम की जोटी ।।

एक दिन राधा जब पुनः नन्द के घर पहुंच जाती है, तब नन्दरानी के हृदय का वात्सल्य छलक उठता है—

जसुमति राधा कुँवरि सँवारति ।
बड़े वार सीमंत सीस के, प्रेम सहित निरवारति ।।
माँग पारि वेनी जु सँवारति गूँथी सुन्दर भाँति ।
गोरैं भाल विंदु वंदन मन इन्दु प्रात रवि काँति ।।
सारी चीर नई फरिया लैं अपने हाथ वनाइ ।
अंचल सौं मुख पोंछि अंग सब आपुहि लै पहिराइ ।।
तिल चाँवरी बतासे मेवा दियौ कुँवरि की गोद ।
सूर स्याम राधा तनु चितवत जसुमति मन मन मोद ।।

ये तो सूर के संयोग वात्सल्य की विभिन्न दशाओं के चित्र हैं । अब हम वियोग वात्सल्य की करुण दशाओं का रूपांकन करते हैं । जब अक्रूर श्रीकृष्ण को लेने गोकुल आते हैं, उस समय वियोग की आशंका से माँ यशोदा का हृदय धड़कने लगता है । वह चीत्कार उठता है—

कहा काज मेरे छगन मगन कौ नृप मधुपुरी बुलायौ ।
सुफलक सुत मेरे प्रान हरन कौ काल-रूप ह्वै आयौ ।।
वरु यह गोधन हरौ कंस सब मोहि बन्दी लै मेलौ ।
इतनोई सुख कमल नयन मेरी अँखियन आगैं खेलौ ।।
वासर वदन विलोकत जीवों निसि निज अंक लगाऊँ ।
तिहि विछुरत जौं जिऊँ कर्म वस तो हँसि काहि बुलाऊँ ।।
कमल नयन गुन टेरत-टेरत अधर वदन कुम्हलानी ।
सूर कहाँ लगि प्रगट जनाऊँ, दुखित नंद जू की रानी ।।

नन्द कृष्ण को लेकर अक्रूर के साथ ही मथुरा जाते हैं और वहाँ कृष्ण को छोड़कर जब अकेले लौटते हैं, तब यशोदा के हृदय की करुण दशा कितनी मार्मिक हो उठती है ? वे अकथनीय कथन भी अपने पति के प्रति कर उठती हैं—

जसुदा कान्ह कान्ह कै बूझै ।
फूटि न गईं तुम्हारी चारौं कैसैं मारग सूझै ।।
इक तौ जरी जात विनु देखैं अब तुम दीन्हौ फूँक ।
यह छतिया मेरे कान्ह कुंवर विनु फटि न भई द्वै टूक ।।
धिक तुम धिक ये चरन अहौ पति अध बोलत उठि धाए ।
सूर स्याम विछुरनि की हम पै दैन बधाई आए ।।

इसमें वात्सल्य के साथ अमर्ष का कितना सुन्दर रूप प्रकट हुआ है ! जब कृष्ण अक्रूर के साथ जाने लगे थे, तभी यशोदा का हृदय धक-धक करने लगा था । वे भावी आशंका से विह्वल हो चीख उठी थीं—

जसोदा बार-बार यों भाखै ।
है कोऊ ब्रज मैं हितू हमारौ चलत गुपालहिं राखै ॥

यद्यपि श्रीकृष्ण मथुरा में अपनी माता देवकी के पास पहुँच गये हैं, फिर भी श्रीकृष्ण के प्रेम में अधीर यशोदा उद्धव से देवकी के नाम यह संदेश भिजवाने में नहीं हिचकतीं—

संदेसौ देवकी सौं कहियौ ।
हौं तौ धाय तिहारे सुत की मया करत ही रहियौ ॥
उबटन तेल और तातो जल देखत ही भजि जाते ।
जोइ जोइ मांगत सोइ सोइ देती करम-करम करि न्हाते ॥
तुम तौ टेव जानितिहि ह्वैहौ तऊ मोहि कहि आवै ।
प्रात उठत मेरे लाड़ लड़ैतेहिं माखन रोटी भावै ॥
अब यह सूर मोहि निसि वासर बड़ो रहत जिय सोच ।
अब मेरे अलक लड़ैते लालन ह्वै हैं करत सँकोच ॥

इसमें आशंका, चिन्ता आदि भावों का मिश्रण वत्सल भाव को कितना माधुर्य प्रदान कर रहा है !

जो पथिक मथुरा जाता है उससे भी वे अपनी चिन्ता व्यक्त किये बिना नहीं रहतीं—

प्रात समय उठि माखन रोटी को बिन मांगै दैहै ।
को मेरे बालक कुंवर कान्ह को छन-छन आगै लैहै ।
कहिए जाय पथिक घर आवै राम-श्याम दोउ भैया ।
सूर कहाँ कल लेत दुखारी जिनके मो सी मैया ।

'सूरसागर' वात्सल्य की अनेक दशाओं के वर्णन से आपूर है । जो 'काम' (स्त्री-पुरुष-रति) भाव में तीव्रता की कल्पना कर शृंगार की महत्ता प्रतिपादित करते हैं, उन्हें सूर के वत्सल की तीव्रता के उदाहरण पढ़कर अपने मत को बदलना पड़ेगा । उन्होंने जिस प्रकार 'काम'-भाव की प्रत्येक अवस्था का रसार्द्र चित्रण किया है, उसी प्रकार 'प्रेयस्' की विभिन्न दशाओं का भी सात्त्विक चित्रण किया है ।

मोहन इतौ मोह चित धरियै ।
जननि दुखित जानि कै कबहूँ, मथुरा गवन न करियै ॥
यह अक्रूर क्रूर कृति रचिकै, तुमहि लेन है आयौ ।
तिरछे भए करम कृत पहिले, विधि यह ठाट बनायौ ॥
बार-बार जननी कहि मोसौं, माखन माँगत जौन ।
सूरऽ तिनहिं लैवे कौं आए करिहैं सूनो भौन ॥

सूरसागर ३५९३

सूरदास का वात्सल्य-निरूपण

डॉक्टर जितेन्द्रनाथ पाठक

मध्यकालीन हिन्दी साहित्य में सूरदास का स्थान सर्वोच्च माना गया है। यदि गृहीत भाव-क्षेत्र में अतलस्पर्शिता कविता की वास्तविक सिद्धि और उसकी श्रेष्ठता का परिचायक हो, तो सूरदास की सर्वोच्चता स्वयं प्रमाणित है। मध्यकालीन वैष्णव कविता के मापक पृष्ठाधार पर जयदेव, चण्डीदास, विद्यापति आदि अनेक दीप्तिमान नक्षत्र हैं लेकिन सूर इन सबसे विशिष्ट और इन सबसे प्रोज्ज्वल हैं। उनकी प्रतिभा की उच्चता इस बात में नहीं है कि वे एक सम्प्रदाय विशेष के पक्ष-पोषक कवि थे, बल्कि इस तथ्य में है कि उन्होंने उस साम्प्रदायिक घेरे में रहकर भी शृङ्गार और वात्सल्य तथा काव्य और भक्ति की जिस सार्वभौमिकता और एकता का साक्षात्कार किया, वह उस युग में विरल थी। भक्ति के जिस ललित पक्ष को कवि ने अपना उपजीव्य बनाया, वह लोक-भाषा की सहज माधुरी और सङ्गीत की स्वर-माधुरी से संयुक्त होकर सबके लिए मुग्धकर हो उठी। प्रस्तुत निबन्ध में सूर के वात्सल्य वर्णन का विवेचन उद्दिष्ट है जिसने अपने सामर्थ्य के बल पर 'वात्सल्य-रस की अवतारणा करा ली और शिशु तथा बाल-जीवन की मोहक नगण्यताओं को अमर काव्याभिव्यक्तियों का स्वरूप दे दिया।

सूर की प्रतिभा को ठीक ठीक समझने के लिए उनकी परम्परा का विचार भी उचित होगा। परंपरा किसे कहते हैं और सूर के सन्दर्भ में परम्परा से हमारा क्या अभिप्राय है? परम्परा का अर्थ सामान्यतः अतीत और कभी-कभी रूढ़ि से लगाया जाता है, लेकिन परम्परा का वास्तविक अर्थ है अविच्छिन्न शृङ्खला और आनुपूर्व्य।[1] इलियट ने परम्परा को समीचीन अभिप्राय प्रदान किया है। वह परम्परा को एक ऐसे विकासमान अर्थ में लेता है जिसमें जीर्ण प्राचीन ध्वस्त होता रहता है और प्राणवान नवीन प्रस्फुटित होता रहता है।[2] वह मानता है कि शक्तिशाली और अनावश्यक से वास्तविक और मनोवेगात्मक को भ्रांत ढंग से मिलाना अथवा परम्परा को अचल करके मानना तथा उसे तमाम परिवर्तनों का शत्रु बताना परम्परा को ठीक समझने के मार्ग में बाधक है।[3] सूर के संदर्भ में परम्परा का अर्थ उनके पूर्व से चली

१– वामन शिवराम आप्टे, संस्कृत हिन्दी कोश, पृ० ५७७।

२– T. S. Eliot : Tradition—Selected Prose, P. 21

३– We are always in danger, in changing to an old tradition, or attempting to re-establish one of confusing the vital and un-essential, the real and the sentimental. Our second danger is to associate tradition with the immovable; to think of it as something hostile to all change............

—T. S. Eliot : Tradition–Selected Prose, P. 21.

आती हुई उनके द्वारा गृहीत कविता के रूप और शिल्प की वह परम्परा है जिसके सर्वोत्तम को उन्होंने अङ्गीकार किया है और अपनी प्रतिभा से पुराने अभिप्रायों को अभिनव अर्थ एवं नई उद्भावनाएँ प्रदान की हैं। इसे ही प्रतिभा कहते हैं। प्रतिभा के विषय में प्राचीन शास्त्रकार प्रायः एकमत हैं। पंडितराज जगन्नाथ प्रतिभा को ही मुख्य काव्य-हेतु मानते हैं।[४] हेमचन्द्र ने व्युत्पत्ति और अभ्यास को उसका संस्कार करनेवाला माना है।[५] प्रतिभा के विषय में अभिनवगुप्त ने लिखा कि वह एक ऐसी प्रज्ञा है जो अपूर्व वस्तु के निर्माण में सक्षम है "प्रतिभा अपूर्वनिर्माणक्षमा प्रज्ञा।" अभिनवगुप्त के गुरुवर भट्टतौत द्वारा की गयी प्रतिभा की व्याख्या सबसे अधिक प्रचलित है–"प्रतिभा उस प्रज्ञा को कहते हैं जो नई स्फुरणाओं के सर्जन में सक्षम हो।" नवनवोन्मेषशालिनी प्रतिभा को अनादि प्राक्तन संस्कारों से भी जोड़ा गया है— "अनादिप्राक्तनसंस्कारप्रतिभानमयः।" निश्चित रूप से सूरदास ने किन्हीं प्राक्तन संस्कारों से ही मंडित होकर अपूर्व निर्माण क्षमा प्रज्ञा से भागवत महापुराण द्वारा वर्णित कथा भाग को अपने सम्प्रदाय गत विश्वासों के परिवेश में न केवल पुनः उद्भावित किया, वल्कि शत-शत नवीन स्थितियों की अवतारणा और उनकी मर्मस्पर्शी व्यंजना के द्वारा हिन्दी कविता में एक अस्पृष्ट काव्य-शिखर की स्थापना की।

सूर परम्परा के जीवंत तत्त्वों से सशक्त रूप में सम्बद्ध थे। न केवल भागवत की विषय वस्तु का दाय उन्होंने स्वीकार किया बल्कि ब्रजभाषा, साहित्यिक सौष्ठव और गीतिकाव्य परम्परा से भी वे उपकृत हुए और इन परम्पराओं को भली प्रकार विकसित करके उन्होंने उस ऋण को उतार दिया। परम्परा की प्रक्रिया ही कुछ ऐसी है कि अतीत का ऋण-शोधन अतीत के अनुसार अन्धानुग्रहण से न होकर अतीत के क्षयिष्णु तत्त्वों के प्रति विद्रोह करके भविष्य के लिए पुनर्गठित अतीत अथवा समृद्धतर परम्परा के योगदान द्वारा होता है।

सूर का वक्तव्य-परिप्रेक्ष्य

सूर की प्रतिभा का प्रवाह देखने का प्रकृत क्षेत्र उनका भावपक्ष है जिसमें सूर की मौलिकता और गृहीत भाव के गहन स्तरों तक पहुँचने की अद्वितीय क्षमता का परिचय मिलता है। भक्ति की वृहत्तर भूमिका, मृण्मुख को चिन्मुख करने की प्रक्रिया में रागतत्त्व की सम्पूर्ण सुरक्षा सूरकाव्य में तीन स्तरों पर प्रतिफलित हुई है। आचार्य शुक्ल के शब्दों में 'रतिभाव के तीनों प्रबल रूप भगवद्विषयक रति, वात्सल्य और दाम्पत्य रति—सूर ने लिए हैं। इस दृष्टि से विभाग करने से विनय के जितने पद हैं, वे भगवद्विषयक रति के अन्तर्गत आएँगे, वाल-लीला के पद वात्सल्य के अन्तर्गत और गोपियों के प्रेम-सम्बन्धी पद दाम्पत्य रति के अन्तर्गत होंगे।' अन्यत्र आचार्य शुक्ल कहते हैं 'श्रद्धा या महत्त्व वुद्धि को पुष्ट करने के लिए कृष्ण की शक्ति या लौकिक महत्त्व की प्रतिष्ठा में आग्रह न दिखाने के कारण ही सूर की उपासना सख्य भाव की कही जाती है।' दोनों कथनों में थोड़ा-सा अन्तर्विरोध यह देखा जा सकता है कि आचार्य शुक्ल ने रतिभाव के जिन तीनों प्रबल रूपों की स्थिति सूर के काव्य में मानी है, उनमें सख्य भाव या सख्य रति की चर्चा नहीं की है जबकि उन्होंने ही उनकी उपासना को सख्य भाव की उपासना कहा है।

वात्सल्य रस का विपुल-पुष्कल वर्णन महाकवि सूर ने सूरसागर में किया है। वात्सल्य वर्णन की काव्योपलब्धियों और श्रेष्ठता विधायक उपादानों का विवेचन आगे किया गया है।

४– प्रतिभैव केवला कविगता काव्यहेतुः। – पण्डितराज जगन्नाथ : रसगंगाधर, पृ० ८।
५– व्युत्पत्यभ्यासाभ्यां संस्कार्या। – हेमचन्द्राचार्य, काव्यानुशासन।

वात्सल्य-चित्रण

वात्सल्य को रस के रूप में व्यावहारिक दृष्टि से प्रतिष्ठित करने का कार्य महाकवि सूरदास के ही द्वारा सम्भव हुआ। इनसे पूर्व के भारतीय साहित्य में वात्सल्य भाव का चित्रण उतनी पूर्णता के साथ कहीं नहीं मिलता। वाद के साहित्य में भी यह इस पूर्णता के साथ कहीं प्राप्त होता है, इस बात में वहुश्रुत पण्डितों को संदेह है। आचार्य शुक्ल ने इसी वात को निर्मुक्त भाव से स्वीकार करते हुए कहा है—"वाल-चेष्टा के स्वाभाविक मनोहर चित्रों का इतना बड़ा भंडार और कहीं नहीं है, जितना वड़ा सूरसागर में है।" सूर के वात्सल्य-चित्रण की कुछ विशेषताएँ निम्नांकित हैं।

१—कृष्ण का शैशव उनके वास्तविक विकास के धरातल पर चित्रित हुआ है। परिणामतः शिशु-जीवन के सूक्ष्मातिसूक्ष्म पक्षों पर सूर की दृष्टि गई है और ये सभी पक्ष अत्यन्त जीवन्त, सहज और स्वाभाविक वनकर आये हैं। इसे आलम्वन पक्ष का चित्रण भी कह सकते हैं।

कृष्ण के शैशव का यह विकास दो स्तरों पर होता है—

क—वाह्य शारीरिक विकास (रूपांकन)।

ख—आन्तरिक अर्थात् स्वभावगत विकास (मनोवैज्ञानिक निरूपण)।

वस्तुतः इन दोनों को ही पृथक्-पृथक् नहीं देखा जा सकता, क्योंकि वय-विकास वह मूलभित्ति है जिस पर शारीरिक और स्वभावगत विकास की आधारशिला रखी जाती है।

२—शास्त्रीय दृष्टि से कृष्ण वात्सल्य रस के आलम्बन हैं और नन्द तथा यशोदा आश्रय हैं। सूर के वात्सल्य-वर्णन की विशिष्टता यह है कि वे आलम्वन-मात्र के चित्रण को पर्याप्त नहीं मानते। उनकी लीलाओं या उनमें घटित होने वाले वय-विकासजन्य परिवर्तनों की, अपनी समस्त उल्लिखित अन्तरङ्गता के साथ, यशोदाजी प्रायः साक्षी हैं। साक्षी कहना शायद समीचीन न हो, इसलिए उन्हें भागी कहना चाहिए। उनका यह भागीत्व इसलिए और भी वढ़ जाता है कि वे इन शुभ परिवर्तनों के और भी द्रुतगतिक होने तथा कृष्ण के शीघ्र ही वड़े और समर्थ होने की कल्पना करती चलती हैं। जव यह सुख उनके अन्तःकरण में समाता नहीं, तो वे नंद राजा को भी वुलाना नहीं भूलतीं। अथाह है वह सुखानुभव और असीम है वह वात्सल्य। यह आश्रय पक्ष का चित्रण कहा जायेगा।

३—इस विकास-सूचना के उपकरण केवल श्रीकृष्ण के परिवर्तन-संकेत मात्र नहीं हैं। श्रीकृष्ण के चतुर्दिक् का परिवेश भी इसमें पूरी तरह योगदान करता है। शास्त्रीय दृष्टि से यह उद्दीपन का एक अंश है और उसे उद्दीपन विभाव—पक्ष का चित्रण कह सकते हैं।

४—वात्सल्य में भी संयोग और वियोग की द्विधात्मक स्थितियों का आनयन करके सूरदास एक ही अनुभूति के सुखात्मक और दुखात्मक दोनों पक्षों का एकांत मार्मिक चित्रण करते हैं।

५—यदि अध्ययन किया जाये तो सूर के वात्सल्य वर्णन का एक पृथक्, मनोवैज्ञानिक धरातल भी मिल सकता है। प्रायः नगण्य सी समझी जाने वाली आयु दशा का इतना विपुल, सूक्ष्म, अन्तर्वाह्य स्थितियों से पूर्ण मर्मस्पर्शी चित्रण करना उनकी प्रतिभा, अन्तर्दृष्टि, सूक्ष्मान्वीक्षण, गहरी सहृदयता और उद्भावनाशीलता का प्रतीक है।

आलम्वन पक्ष का चित्रण : शिशु कृष्ण का अन्तर्वाह्य विकास

सूरसागर में कृष्ण जन्म की आनन्द वधाई के वाद वाल-लीला का क्रम शुरू होता है। सामान्यतः हम जिस वचपन को घटनाशून्य मानते हैं, अपने गम्भीरतर जीवनचर्या और श्रेष्ठतर ज्ञानानुधावन के सामने शिशु की जिस क्रीड़ा को घड़ी भर के विनोद और परिवर्तन का साधन मान कर उसे छोड़ देते हैं, उस वाल-जीवन की क्रम-प्राप्त स्थितियों का इतना विस्तृत पद-कोष सूर की अद्वितीय उपलब्धि कही जा

सकती है। शिशु श्रीकृष्ण की 'कबहुँ पलक हरि मूँदि लेत हैं, कबहुँ अधर फरकावैं' तथा स्वप्नगति के 'उभय पलक पर' आने, हाथ और पाँव का अँगूठा मुँह में लेने तथा 'स्वास उदर उससित यों मानो छीर सिंधु छवि पावै' की स्थितियों से लेकर. पालना झूलने, स्तनपान करने, यशोदा की गोद में खेलने, नामकरण, अन्नप्राशन, दँतुलियों के आने, पीठ के वल उलटने, पालने की लकड़ी की ओट को पकड़ कर उठने का प्रयत्न करने, बैठने, घुटनों के बल चलने, खड़े होने, डगमगा कर चलने, देहरी तक पहुँच कर लौट-लौट आने, मथानी की आवाज के साथ नाचने का प्रयत्न करने, दूध न पीने का हठ करने और चोटी बढ़ने के प्रलोभन पर दूध पीने, चोटी न बढ़ने पर इसके लिए तथा अपने बड़े होने की बात पूछने, बालोचित मनस्विता में अपने-आप गाने और अपने ही प्रतिबिम्ब को नवनीत खिलाने का प्रयत्न करने, स्नान न करने के लिए रोने और हठ करने, माता के द्वारा चंद्रमा दिखाए जाने पर चंद्रमा माँगने का आत्यंतिक हठ करने, खेलने के लिए पड़ोस तक निकल जाने, ब्यालू के लिए माता के बुलाए जाने, खाते-खाते जम्हाई लेने लगने, जगाए जाने पर उठने, आँख-मुदौवल का खेल खेलने, मिट्टी खाने, माखन चोरी के लिए तरह-तरह की बालोचित युक्तियाँ निकालने, ब्रज की गोप-वधुओं की शिकायत पर बँधने और पिटने, मना करने पर भी न मानने, गोदोहन की कला सिखाने के लिए प्रार्थना करने आदि-आदि सहज, आनुक्रमिक, विकास-सूचक लीलाओं की शताधिक पदों में वर्णित मनोरम चित्र-मंजूषा सूरसागर में सुरक्षित है। सूर नवम सर्ग तक कतिपय पौराणिक विवरणों में उलझे हुए हैं जिनमें स्पष्ट ही उनकी वृत्ति रमती हुई नहीं दिखलाई पड़ती, लेकिन दशम सर्ग में आकर उनकी प्रतिभा जैसे अपना मनचाहा क्षेत्र पा गई हो और वे विमुक्त होकर बाल-लीला का गान आरम्भ कर देते हैं। ऊपर जिन-जिन स्थितियों का उल्लेख किया गया है, उनके विषय में यह नहीं सोचना चाहिए कि वे एक-एक पद में ही वर्णित हुई हैं। कहीं-कहीं तो ऐसे प्रसंग कई-कई पदों तक चले हैं। उदाहरण के लिए पालना पौढ़ने, चन्द्र खिलौना के लिए हठ करने, माखन-चोरी करने आदि के प्रसंग में कवि ने बाल-स्वभाव के अंकन में जैसी सजगता मार्मिकता दिखाई है, वैसी अन्यत्र दुर्लभ है। आवृत्ति काव्य में दोष के रूप में मानी गई है, लेकिन यहाँ एक ही बात तत्काल दूसरे पद में पढ़कर भी पाठक ऊबता नहीं। इसका कारण यह है कि लेखक जिन स्थितियों को जिस तन्मयता के स्तर पर पकड़ता है वह प्रत्येक पद में कुछ ऐसी अभिनव रमणीयता भर देती है कि प्रत्येक पद किसी और भी वैसे ही पद की आकांक्षा छोड़ देता है। जैसा कि हम पीछे कह आए हैं कि इंगित करने के लिए तो शिशु श्रीकृष्ण का बाह्य विकास और अन्तर विकास हो सकता है, पर जहाँ तक चित्रण का प्रश्न है इनके पृथक् होने का प्रश्न ही नहीं उठता। कृष्ण का बाल-जीवन अत्यन्त सजीव, स्वाभाविक, सूक्ष्म, विवरणपूर्ण, अद्वितीय रूप में चित्रित हुआ है। आचार्य शुक्ल जैसे पारदर्शी आलोचक के अनुसार "शैशव से लेकर कौमार्य अवस्था तक के क्रम से लगे हुए न जाने कितने चित्र मौजूद हैं। उनमें केवल बाहरी रूपों और चेष्टाओं का ही विस्तृत और सूक्ष्म वर्णन नहीं है, कवि ने बालकों की अन्तःप्रकृति में भी पूरा प्रवेश किया है और अनेक बाल्य-भावों की सुन्दर स्वाभाविक व्यंजना की है।"[६] कतिपय उदाहरण हैं—

जसोदा हरि पालने झुलावै।
हलरावै दुलराइ मल्हावै जोइ सोइ कछु गावै।
× × × ×
कर पग गहि अँगुठा मुख मेलत।
× × × ×
हरि किलकत जसुदा की कनिया।
× × × ×

६— आचार्य रामचन्द्र शुक्ल : सूरदास, पृ० ११७।

सुतमुख देखि जसोदा फूली।
हरषित देखि दूध की दँतियाँ प्रेम मगन तनु की सुधि भूली।

× × ×　　　× × ×

सोभित कर नवनीत लिए।
घुटुरुन चलत रेनु तन मंडित मुख दधि लेप किए।

× × ×　　　× × ×

किलकत कान्ह घुटुरुवन आवत।
मनिमय कनक नन्द कै आँगन निज प्रतिविम्व पकरिबे धावत।

× × ×　　　× × ×

सिखवत चलन जसोदा मैया।
अरवराइ कर पानि गहावत, डगमगाइ धरनी धरै पैया।

× × ×　　　× × ×

मथत मथानी टेकि खर्‌यो।

× × ×　　　× × ×

कजरी को पय पियहु लला तेरी चोटी बाढ़ै।

× × ×　　　× × ×

मैया कवहिं वढ़ैगी चोटी।

आश्रय-पक्ष का चित्रण : यशोदादि के भावों का अकन

आलम्बन और आश्रय के सम्बंध का निरूपण करते हुए एक स्थान पर आचार्य शुक्ल ने कहा है—"जिस प्रकार ज्ञान की चरम सीमा ज्ञाता और ज्ञेय की एकता है, उसी प्रकार प्रेमभाव की चरम सीमा आश्रय और आलम्बन की एकता है।" पहले ही कहा जा चुका है कि वात्सल्य का चित्रण वात्सल्य रति के अन्तर्गत आता है। वात्सल्य रति की विशेषता वस्तुतः सूर द्वारा ही प्रतिपादित हुई और वात्सल्य अपनी परिशुद्ध, निर्मल प्रेमपरकता के ही कारण एक प्रकार की रति भावना या प्रेमभावना से सम्बद्ध होते हुए भी पृथक् रस के रूप में प्रतिष्ठित हुआ। सूर द्वारा वर्णित वात्सल्य रस के आलम्बन तो कृष्ण हैं, पर आश्रय यशोदा, नँद और अन्य गोपिकादि हैं। सामान्य पारिवारिक जीवन में भी शिशु की समूची आनंद-क्रीड़ा का मूल्य तभी है जब वह माता के क्रोड़, उसके वक्ष और उसके अंचल के स्नेह से सत्कृत होकर सामने आए। श्रीकृष्ण का शिशु भी यशोदा की हजार-हजार स्नेहोच्छल लालसापूर्ण मंगलेच्छाओं और आशीर्वचनों के बीच बढ़ता, फलता-फूलता है। सूर की चित्रण-प्रक्रिया पर जब हम दृष्टि डालते हैं तो प्रतीत होता है कि श्रीकृष्ण की प्रत्येक नई लीला, नया परिवर्तन, यशोदा और नंद की किन्हीं प्रतीक्षापूर्ण मंगल कामनाओं के उत्तर जैसा है। और जब ये घटित होते हैं तो यशोदा का स्वगतभाव, आनन्दोल्लास देखते ही बनता है। आनंद एक सामाजिक भाव भी है। उपलब्धियों को उपलब्धिवान और भी अधिक सार्वजनिक रूप देना चाहता है। यशोदा अपने प्रायः हर आनंद में नन्द को भी सम्मिलित करना चाहती हैं। यशोदा की प्रतीक्षापूर्ण मंगल-कामनाओं की अनेक प्रवाहपूर्ण अभिव्यक्तियों में से एक है—

मेरो नान्हरिया गोपाल हो, वेगि वड़ो किन होहि।
इहि मुख मधुर वचन हो, कव जननि कहोगे मोहि॥
यह लालसा अधिक दिन-दिन प्रति कवहूँ ईस करै।
मो देखत कवहूँ हँसि माधौ पगु द्वै धरनि धरै॥

हलधर सहित फिरैं जब आँगन चरन सवद सुनि पाऊँ।
छिन छिन छुधित जानि पय कारन हौं हठि निकट बुलाऊँ॥

यहाँ पर यशोदा उन लाखों माताओं में से एक हैं जो अपने शिशु के विकास की वात सोचती हुई थकती नहीं। गोपाल के पीछे 'नान्हरिया' विशेषण तथा 'मो देखत' वाक्य-खंड भावुक चित्त को विमुग्ध करने की असाधारण क्षमता रखते हैं।

पुनः श्रीकृष्ण में घटित एक परिवर्तन के प्रति यशोदा का स्वगतभाव और आनन्दोल्लास देखिये—

महरि मुदित दुलराइ कै मुख चूँवन लागी।
चिरुजीवौ मेरो लाडिलो मैं भई सभागी॥

इस उल्लास को अपने तक ही कैसे समेट कर रखा जाए, यशोदा जी नंद को बुलाती हैं। एक की उपलब्धि दूसरे की भी वन जाती है। देखिए—

सुत मुख देखि जसोदा फूली।
हरषित देखि दूध की दँतियाँ प्रेम मगन तनु की सुधि भूली॥
वाहिर तै तव नंद बुलाए देखौ धौं सुन्दर सुखदाई।

नंद में ही वात्सल्य कम क्यों हो! वे भी अपनी उपलब्धि को अपने तक ही क्यों रखें। देखिए—

हरषे नंद टेरत महरि।
आई सुत मुख देखि आतुर डारि दै दधि टहरि॥

संक्षेपतः यह जानना चाहिए कि श्रीकृष्ण की अधिकांश बाल-क्रीड़ाओं के चित्रण में कृष्ण की लीला के साथ-साथ यशोदा का अंतःकरण अवश्य ही लिपटा हुआ होता है। नंद भी अनेक बार उद्रिक्त हुए दिखलायी पड़ते हैं। यशोदा के अधिक सामने आने का कारण यह है कि वे माता हैं और माताएँ पिता की अपेक्षा शिशु के जीवन के अविकल विकास की साक्षी होती हैं। इसका कारण यह भी है कि माताओं के अन्तःकरण के वात्सल्य का यह एक पक्ष है। श्रीकृष्ण के वियोग में इसका दूसरा पटोद्घाटन होता है।

उद्दीपन-पक्ष का चित्रण : परिवेश और प्रतिक्रियाएँ

उद्दीपन के अन्तर्गत आलम्बन की चेष्टाएँ आती हैं। आलम्बन की चेष्टाओं के अन्तर्गत आलम्बन की अपने परिवेश के प्रति प्रतिक्रियाएँ आती हैं। शिशु श्रीकृष्ण की ऐसी कुछ प्रतिक्रियाएँ उदाहरण के लिए प्रस्तुत की जा सकती हैं। यशोदा रोते हुए श्रीकृष्ण को चुप कराने के लिए चन्द्रमा को दिखाती हैं। तत्काल इसकी प्रतिक्रिया श्रीकृष्ण में होती है और वालोचित ढंग से सम्भवता और असम्भवता का विचार छोड़ कर वे उसे माँग ही तो बैठते हैं—"लागी भूख चन्द्र मैं खैहौं देहु-देहु रिस करि विरुझावत।" और यह क्रम अनेक पदों में चलता रहता है। यशोदा जल के पात्र में चन्द्रमा के प्रतिविम्ब को दिखाकर श्रीकृष्ण को संतुष्ट करना चाहती हैं। लेकिन श्रीकृष्ण उसमें भी चन्द्रमा को हाथ डालकर खोजने लगते हैं। इस प्रकार अपने परिवेश के प्रति वालोचित स्वभाव के अनुसार श्रीकृष्ण की प्रतिक्रियाएँ वात्सल्य-रस के पुष्टि-परिपाक में अत्यन्त सहायक हैं।

वात्सल्य की द्विधा-स्थितियों का चित्रण

इन द्विधा स्थितियों के अन्तर्गत संयोग-वात्सल्य और वियोग-वात्सल्य दोनों आते हैं। संयोग-वात्सल्य के अन्तर्गत यशोदा-नंद की भावनाओं की एक झलक पीछे दी जा चुकी है। यहाँ वियोग-वात्सल्य की चर्चा की जाएगी। जिस पुत्र के रहते मातृ-हृदय एक अक्षय स्नेह की स्रोतस्विनी वनकर उमड़ता रहता

है, जिस पुत्र के सुख-दुःख को लेकर ही माता का सुख-दुख जाना-पहचाना जाता है, जिस पुत्र के व्यक्तित्व से माता-पिता का व्यक्तित्व और गुण-धर्म परिभाषित किया जाता है, उस पुत्र के अभाव में कितनी तीव्र वेदना होती होगी, उसकी थोड़ी सी झलक भर यहाँ दिखाई जा सकती है—

> जसुदा कान्ह कान्ह कै बूझै ।
> फूटि न गईं तुम्हारी चारौं, कैसे मारग सूझै ।।
> इत तौ जरो जात बिनु देखैं अब तुम दीन्हीं फूकि ।
> यह छतिया मेरे कान्ह कुँवर बिनु, फटि न भई द्वै टूकि ।।

नंद भी यशोदा के प्रति अपना क्षोभ व्यक्त करते हैं—

> तब तू मारिबोई करति ।
> रिसनि आगे कहै जो आवत, अब लै भाँड़े भरति ।।
> रोस कै कर दाँवरी लै फिरति घर-घर धरति ।
> कठिन हिय करि तब जो बाँध्यौ, अब वृथा करि मरति ।।

आचार्य शुक्ल ने इसमें 'वियोग जन्य झुँझलाहट' देखी है । इसी सन्दर्भ में यशोदा कहती हैं—

> नन्द ! ब्रज लीजै ठोंकि बजाय ।
> देहु बिदा मिलि जाहिं मधुपुरी जहँ गोकुल के राय ।।

शुक्लजी इस मनोदशा-चित्रण पर अत्यन्त मुग्ध थे और इसमें अवसरोचित 'खिझलाहट' की अभिव्यक्ति मानते थे । अन्यत्र लोगों के समझाने के बावजूद यशोदा की अन्तर्दशा यह है—

> यद्यपि मन समुझावत लोग ।
> सूल होत नवनीत देखि मेरे मोहन को मुख जोग ।।
> प्रात काल उठि माखन रोटी को बिनु माँगे दैहै ।
> को मेरे वा कान्ह कुँवर को छिनु-छिनु अंक में लैहै ।।

देवकी को कहलाया गया संदेश तो दीनता की चरम परिणति है—

> संदेसो देवकी सौं कहियौ ।
> हौं तो धाय तिहारे सुत की, मया करति ही रहियौ ।
> ....
> तुम तो टेव जानतीहि ह्वैहौ, तऊ मोहिं कहि आवै ।।

संचारियों का चित्रण : बालमनोविश्लेषण

यह सूर के काव्योत्कर्ष का विशिष्ट क्षेत्र है । आचार्य शुक्ल पहले व्यक्ति हैं जिन्होंने सूर में परम्परागत रूप से निरूपित संचारियों के अतिरिक्त कई संचारियों को अथवा भावना-सरणियों को सूर में ढूँढ़ने की कोशिश की है और घोषित किया है कि "वात्सल्य और शृङ्गार के क्षेत्रों का जितना अधिक उद्घाटन सूर ने अपनी बन्द आँखों से किया, उतना किसी और कवि ने नहीं । इस क्षेत्र का कोना-कोना वे झाँक आये । उक्त दोनों रसों के प्रवर्तक रति भाव के भीतर की जितनी मानसिक वृत्तियों और दशाओं का अनुभव और प्रत्यक्षीकरण सूर कर सके उतना कोई और नहीं ।"[७]

वास्तविकता यही है कि सूर के जीवन, ग्रन्थादि, भागवतादि के प्रभाव, सम्प्रदाय-परिचयादि पर जितना विचार हुआ उतना यदि वात्सल्य के क्षेत्र में वर्णित अश्रुतपूर्व भावखंडों को एक क्रम में विश्लिष्ट

७— आचार्य रामचन्द्र शुक्ल : सूरदास, पृ० १६७-१६८ ।

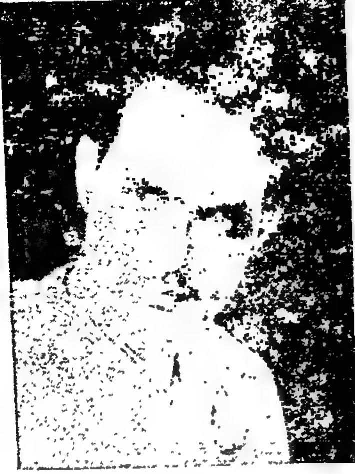
करके विवेचन को वैज्ञानिक रूप देने का प्रयास हुआ होता तो अधिक अच्छा होता। यह विश्वास साधार है कि सूर ने ऐसी-ऐसी भावस्थितियों की आयोजना की है जिन्हें साहित्य-शास्त्रियों ने अभी नाम तक नहीं दिया है। इस स्वीकृति में भी यही बात स्पष्ट हुई है। सूर के वात्सल्य-चित्रण में शास्त्र-स्थिति-सम्पादन-मात्र नहीं हुआ है। कवि ने अनेक सहकारी भावों की व्यंजना से पुष्ट करके इस भाव को अत्यन्त विशद पटभूमि प्रदान की है। यदि कृष्ण थोड़ी देर के लिए भी आँखों से दूर हो जाते हैं, तो उनके दर्शन की तीव्र आकांक्षा और तीव्र उत्सुकता सूर के अनेक पदों की मूल प्रेरणा वन जाती है। इतने गुणवंत बालक की उपलब्धि पर माँ अनेक वार अपने सौभाग्य को सराहती हैं। इस वृत्ति को गर्व कह सकते हैं। श्रीकृष्ण के द्रुतगति से वढ़ने, फलने-फूलने की मंगलेच्छा स्वाभाविक रूप से अभिलाषा के अन्तर्गत आती है। श्री कृष्ण को स्नान कराने, व्यालू कराने, सुलाने आदि नाना दैनिक परिचर्याओं में यशोदा और रोहिणी का उत्साह एकांत रम्य है। चोटी वढ़ने के पीछे बलराम की वेणी के वढ़ने तथा ऐसे ही अनेक सखाओं की शिकायत के पीछे प्रायः स्पर्द्धा का भाव दिखाई पड़ता है। चन्द्रमा को पाने के लिए उनका हठ भी उनकी बालोचित मनस्विता का उत्तम उदाहरण है। आगे चलकर कृष्ण माखन चोरी की योजना बनाते हैं और कई वार पकड़े जाते हैं। कई वार गोपिकाएँ शिकायत लेकर आती हैं। कभी-कभी तो बात बनाकर छल और कौतुक से मुक्त हो जाते हैं। लेकिन सप्रमाण पकड़े जाने पर वे अमर्ष से युक्त हो जाते हैं। उन्हें श्रीकृष्ण को दण्ड देने के लिए वाध्य होना पड़ता है। गोप-वधुएँ फिर श्रीकृष्ण को मुक्त कराने आती हैं। उस समय यशोदा में भाव सांकर्य का अद्भुत रूप उपस्थित होता है—

> जाहु चलो अपने-अपने घर।
> तुमहीं सब मिलि ढीठ करायौ अब आई बंधन छोरन वर॥
> मोहिं आपने वावा की सौं कान्है अब न पत्याऊँ।
> भवन जाहु अपने-अपने सब लागति हौं मैं पाऊँ॥
> मोकौ जिनि बरजै जुवती कोउ देखौ हरि के ख्याल।
> सूर स्याम सों कहति जसोदा बड़े नन्द के लाल॥

वस्तुतः कभी-कभी घटना-परिस्थितियाँ ऐसा मोड़ लेती हैं कि हम अविश्लेष्य मनोवैज्ञानिक वृत्तियों का द्वंद्व-सौन्दर्य हृदयंगम करते हैं। इस पद में क्रोध का वड़ा ही जटिल रूप दिखलाई पड़ता है। यशोदा में कृष्ण के प्रति तो क्रोध है ही, शिकायत करने वाली गोपिकाओं के प्रति भी कम क्रोध नहीं है। क्रोध की कटुता और प्यार की तीव्रता की यह दोहरी अनुभूति इस पद की शक्ति का स्रोत है। ग्लानि और भर्त्सना के रूप भी इस पद में देखे जा सकते हैं। ऐसे ही पदों के कारण सूरदास को महाकवि के रूप में स्वीकृति मिली है। ■

■

> जनम सूर कवि सूर, अग-जग लख्यौ समाखि लौं।
> भए सवै कवि कूर, लखि-रवि-कवि-मति अति अकथ॥



सूरदास और बाल-मनोविज्ञान

डॉक्टर वचनदेव कुमार

महाकवि सूरदास ने वाल-मनोविज्ञान का अध्ययन न तो विश्वविद्यालयीय जीवन में ऐच्छिक विषय के रूप में किया था और न उन्होंने फ्रायड, युंग, एडलर आदि मनोविज्ञान-शास्त्रियों की तरह सिद्धान्तग्रन्थों का प्रणयन ही किया। वे मानव-जीवन के सच्चे पारखी थे, इसलिए कागजी तोता बने बिना भी उन्होंने वाल-लीलाओं को काव्यायित किया, उससे कोई मनोविज्ञान-वेत्ता चाहे तो उत्तम एवं सरस मनोविज्ञान-पुस्तक की रचना कर सकता है। जन्म के पश्चात् वाल-मनोविज्ञान के ये अध्याय हो सकते हैं—

१. नवजात शिशु की प्रतिक्रियाएँ	(Responses of the neonate)
२. शारीरिक-विकास	(Physical development)
३. क्रियात्मक-विकास	(Motor development)
४. परिपक्वता	(Maturation)
५. सौन्दर्य-विकास	(Aesthetic development)
६. बुद्धि-विकास	(Intelligence development)
७. भाषा-विकास	(Language development)
८. संवेगात्मक-विकास	(Emotional development)
९. क्रीड़ा-विकास	(Play-development)
१०. सामाजिक-विकास	(Social development)
११. व्यक्तित्व-विकास	(Personality development)

सूर का वाल-वर्णन यदि ध्यानस्थ होकर पढ़ें, तो देखेंगे कि इन सबका बड़ा ही सूक्ष्म विश्लेषण महाकवि ने किया है।

चिर प्रतीक्षा के वाद यशोदा को पुत्र-प्राप्ति हुई है, अतः सम्पूर्ण नगरी में आनन्द का पारावार उमड़ चला है। प्रातःकाल से ही द्वार पर तिल रखने की जगह नहीं। चारों ओर नगाड़े वज रहे हैं। मंगल-ध्वनि हो रही है। याचक एक लाख माँगता है, दो लाख पाकर विदा लेता है। वच्चा भी महज सात दिनों का है, इसलिए माता कोमल शिशु को वहुत सँभालकर पालने में लिटाती हैं। जरा इधर-उधर हो जाये तो गर्दन में मोच पड़ जायेगी, शिशु को अपार कष्ट होगा। सूर का कथन है—

जननी उवटि न्हवाइ कै सिसु क्रम सौं लीन्हें गोद।
पौढ़ाए पट पालनैं (हँसि) निरखि जननि मन मोद॥

अति कोमल दिन सात के (हो) अधर चरन कर लाल ।
सूर स्याम छवि अरुनता (हो) निरखि हरप ब्रज-बाल ॥

शिशु शनैः शनैः वर्धमान है । माता पालने में झुलाती हैं; हलराती हैं, दुलराती हैं । कभी कन्हैया आँखें मूँदता है, कभी होंठ फड़काता है, कभी लगता है कि वह सो गया है, इसलिए इशारे-इशारे से यशोदा गोपियों को चुप रहने को कहती हैं । फिर मधुर स्वर में लोरियाँ गाती हैं ताकि ललन की कच्ची नींद उचट न जाये ।

जशोदा हरि पालनै झुलावै ।
हलरावै, दुलराइ मल्हावै, जोइ-सोइ कछु गावै ।
....
कवहुँ पलक हरि मूँदि लेत हैं, कवहुँ अधर फरकावैं ।
सोवत जानि मौन ह्वै कै रहि, करि करि सैन वतावैं ।
इहि अन्तर अकुलाइ उठें हरि, जसुमति मधुरैं गावै ।
जो सुख सूर अमर-मुनि दुरलभ, सो नँद-भामिनि पावै ।

इस पद में कई मनोवैज्ञानिक स्थितियों का वर्णन एक साथ किया गया है । नवजात शिशु का पलकें झपकाना तथा अधर फरफराना उसकी स्वयंचालित क्रियायें (Automatic actions) है । प्रायः सभी मनोवैज्ञानिक ऐसा मानते हैं कि शिशुओं में प्रारम्भकाल से ही भय-संचार (Fear emotion) तथा सौंदर्य-विकास होते हैं । अकुला उठना भय-संचार के कारण ही है । वाल्यकाल से ही वच्चों में दृष्टि, ध्वनि, स्पर्श, घ्राण एवं रस-कल्पना का जागरण होता है । संगीत की स्वर-लहरियों से वच्चों का शांत रहना या सुषुप्त हो जाना उसकी ध्वनि-चेतना (Sound-sensitiveness) द्योतित करता है । वच्चे जग न जायें, इसलिए माँ का होठों पर उँगली रख चुप-चुप करना कितना स्वाभाविक एवं मनोवैज्ञानिक है, कोई अनुभवी ही वतला सकता है ।

मनोविज्ञान वहुत अधिक निरीक्षणों (Observations) के वाद वालकों की विभिन्न क्रियाओं के विकास का लेखा इस प्रकार प्रस्तुत करता है—

एक मास—ठुड्डी उठाना, दो मास—धड़ उठाना, तीन मास—सहारा देने पर वैठना, सात मास—स्वयं वैठना, आठ मास—सहारा देने पर खड़ा होना, नौ मास—चीजों को पकड़कर खड़ा होना, दस मास—रेंगना, ग्यारह मास—सहारा देने पर चलना, वारह मास—चीजों को पकड़कर चलना, तेरह मास—सीढ़ी पर चलना, चौदह मास—स्वयं खड़ा होना, पंद्रह मास—स्वयं चलना, दो वर्ष—तेजी से चलना, ढाई वर्ष—कूदना-फाँदना, चार वर्ष—दौड़ना ।

तीन-चार महीनों में वच्चा अपना अँगूठा चूसने लगता है जिससे उसकी भूख की सहज वृत्ति (Hunger instinct) मालूम पड़ती है । इसी समय वह उलटने भी लगता है—

कर पग गहि अँगुठा मुख मेलत ।
× × × × × ×
एक पाख त्रय मास को मेरो भयौ कन्हाई,
पटकि रान उलटौ पर्‍यौ, मैं करौं वधाई ।
× × × × × ×

वालक छह महीने में किलकने लगता है। उसका वर्णन भी कवि ने किया है। अव कन्हाई प्रायः एक साल का होनेवाला है, अतः माता-पिता उसे चलना सिखलाते हैं—

सिखवति चलन जसोदा मैया।
अरवराइ कर पानि गहावत, डगमगाइ धरनी धरे पैया।
× × ×   × × ×
गहे अँगुरिया ललन की, नँद चलन सिखावत।
अरवराइ गिरि परत हैं, कर टेकि उठावत।
वार-वार वकि स्याम सौं, कछु वोल डुलावत।
....
कवहुँ कान्ह-कर छाँडि नंद, पग द्वैक रिंगावत।
कवहुँ धरनि पर वैठि के, मन मैं कछु गावत।
कवहुँ उलटि चलैं धाम कौं, घुटुरुनि करि धावत।

इस तरह यशोदा और नन्द कन्हैया को चलना सिखलाते हैं। कभी-कभी छोड़ भी देते हैं कि वच्चे में आत्मविश्वास (Self-Confidence) दृढ़ होता जाये। भाषण विकास के लिए यह आवश्यक है कि अभिभावक वीच-वीच में वोलते रहें। इसी समय वच्चों के दाँत भी उग आते हैं, जिससे उनकी सुन्दरता में चार चाँद लग जाते हैं। अव तो मोहन और वड़ा हो गया है; माँ दही मथती हैं और वह उसकी आवाज पर नाचता है, अटपटी वाणी में वातें करता है। शारीरिक विकास की सूक्ष्मताओं का ऐसा मनोयोगपूर्ण वर्णन अत्यन्त दुर्लभ है।

वालक में औत्सुक्य-प्रवृत्ति (Inquisitiveness) रहती है। वह चाहता है कि शीघ्र उसकी चोटी वढ़ जाये। गोपाल कहता है—

मैया, कवहिं वढ़ैगी चोटी ?
किती वार मोहिं दूध पियत भई, यह अजहूँ है छोटी।
तू जो कहति वल की वेनी ज्यौं, ह्वै है लाँवी-मोटी।
काढ़त-गुहत-न्हवावत जैहै नागिनि-सी भुइँ लोटी।
काँचौ दूध पियावति पचि-पचि, देति न माखन रोटी।
सूरज चिरजीवौ दोउ भैया, हरि-हलधर की जोटी॥

तू जो यह कहती है कि तुम्हारी चोटी भी भैया की चोटी की तरह लम्वी और मोटी हो जायेगी और कंघी करते, गूँथते तथा स्नान कराते कराते सर्पिणी के समान धरती पर वल खाने लगेगी—यह वात सच्ची नहीं लगती। हठ करके कच्चा दूध पिलाती हैं, मक्खन-रोटी देती नहीं। भला कच्चा दूध हर-वक्त पिलाने से कहीं चोटी वढ़ती है ? इस तर्क के सामने तो हतप्रभ होकर भी माँ के लिए मोद ही मोद है।

वालकों की दूसरी प्रवृत्ति है अभियोग की। वे अपने अभिभावकों के समक्ष अपने से छोटे-वड़े के प्रति नालिश करने से वाज नहीं आते। श्यामसुन्दर कहते हैं—मैया, मुझे दाऊ ने वहुत चिढ़ाया है। क्या करूँ, इसी रिस के मारे मैं खेलने नहीं जाता। वे कहते हैं तेरी माता कौन हैं ? तेरे पिता कौन हैं ? यशोदा मैया तो दपदप गोरी हैं, नन्दवावा भी विलकुल गोरे हैं। तू कैसे साँवला हो गया ? चुटकी देकर ग्वाल-वाल नचाते हैं, मुझपर हँसते हैं। और एक तू है जो मुझी को मारने में उस्ताद हो गई है, भैया को कुछ कहती ही नहीं। सूरदास ने इस वालवृत्ति का वड़ा ही मनोहर चित्रण किया है—

मैया मोहिं दाऊ वहुत खिझायौ।
मोसौं कहत मोल कौ लीन्हौ, तू जसुमति कव जायौ ?

कहा करौं इहि रिस के मारैं, खेलन हौं नहिं जात,
पुनि पुनि कहत कौन है माता, को है तेरो तात।
गोरे नन्द, जसोदा गोरी, तू कत श्यामल गात।
चुटकी दै दै ग्वाल नचावत, हँसत सबै मुसुकात।
तू मोही कौं मारन सीखी, दाउहिं कबहुँ न खीझ।
मोहन-मुख रिस की ये बातैं, जसुमति सुनि सुनि रीझैं।

बालकों के लिए क्रीड़ा का बहुत महत्त्व है। क्रीड़ा से केवल शारीरिक शक्ति का ही नहीं, वरन् मानसिक शक्ति का भी विकास होता है। क्रीड़ा के इतर लाभों में मनोरंजन, चरित्र-निर्माण, सामाजिक अभियोजन एवं प्रतिद्वन्द्विता-भाव भी हैं। यह माना कि क्रीड़ा निरुद्देश्य क्रिया है, किन्तु इन लाभों के कारण सोद्देश्यता भी सिद्ध है।

श्रीकृष्ण खेल में हारना नहीं चाहते। महत्त्वाकांक्षी अपनी पराजय की कल्पना से ही सिहर जाता है। श्रीकृष्ण जब देखते हैं वे ऐसे नहीं जीत पा रहे हैं, तो मनमानी करते हैं। प्रतिद्वन्द्वी भाव (Competitve instinct) तथा स्वसत्त्व-स्थापन (Assertive instinct) से पूर्ण एक पद देखें—

खेलत बनैं घोष निकास।
सुनहु स्याम, चतुर सिरोमनि, इहाँ है घर पास।
कान्ह हलधर वीर दोऊ, भुजा बल अति जोर।
सुबल, श्रीदामा, सुदामा, वै भए इक ओर।
और सखा बँटाइ लीन्हे, गोप-बालक-वृन्द।
चले व्रज की खोरि खेलत, अति उमँगि नँद-नंद।
बटा धरनी डारि दीनौ, लै चले ढरकाइ।
आपु अपनी घात निरखत, खेल जम्यौ बनाइ।
सखा जीतत स्याम जाने, तब करी कछु पेल।
सूरदास कहत सुदामा, कौन ऐसो खेल॥

खेल व्यक्तित्व-विकास में भी बड़ा सहायक है यदि बालक बार-बार पराजित हो जाये तो उसके मन में निराशा का भाव (Frustration) उत्पन्न होगा। निराशा के साथ कुंठा (Suppression) का पनपना भी स्वाभाविक है। अतः कुण्ठाहीन व्यक्तित्व के लिए बालक की तीसरी वृत्ति है अनुकरण की (Imitative instinct)। यदि वह किसी को लँगड़ाते देखता है, तो स्वयं भी उसी तरह पाँव घसीट कर चलता है। कन्हैया में यह प्रवृत्ति दर्शनीय है। जब उसकी माँ गाती हैं, तो वह भी गाने लगता है। जब माँ तालियाँ बजाती हैं, तो वह भी तालियाँ बजाने लगता है—

जसुमति गान सुनै स्रवन, तब आपुन गावै।
तारी बजावत देखई, पुनि आपु बजावै॥

चौथी प्रवृत्ति है खिलौना लेने की। वह खिलौने के लिए बहुत ललकता है। स्त्रियों को जिस तरह आभूषण प्रिय हैं, विद्वानों को पुस्तक, उसी तरह बच्चों को खिलौना। खिलौने के नाम पर वह कुछ भी भूल जा सकता है। वह दूर रखे या टँगे हुए खिलौने से संतोष नहीं करता। हाथ में लेकर, उसे दबोचकर बलात् मुँह में डालकर मनमाने ढंग से वह क्रीड़ा करना चाहता है। श्याम भी खिलौना लेगा। पानी के भीतर का चन्द्रमा उसे नहीं चाहिए, वह तो बाहरवाले चाँद को ही उछलकर पकड़ेगा। पानीवाला चन्द्रमा

तो झलमल-झलमल करता है। भला उसे वह कैसे पकड़ सकेगा ? किन्तु आकाश का चन्द्रमा तो वहुत पास दीखता है, बरजने पर भी वह तो उसे पकड़ेगा हो। देख लिया उसने अपनी माँ का प्रेम, एक चाँद भी पकड़कर नहीं दे सकतीं!

मैया री मैं चन्द लहौंगौ।
कहा करौं जलपुट भीतर कौ, वाहर ब्यौंकि गहौंगौ।।
यह तौ झलमलात झकझोरत, कैसैं कै जु लहौंगौ।
वह तौ निपट निकटहीं देखत, वरज्यौ हौं न रहौंगौ।।
तुम्हरौ प्रेम प्रकट मैं जान्यौ, बौराएँ न वहौंगौ।
सूर स्याम कहै कर गहि ल्याऊँ, ससि-तन-दाप दहौंगौ।।

ऐसे प्रसंग तुलसीदास और रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने भी उठाये हैं। वैसे तो तुलसी का वाल-वर्णन रूपवर्णन-प्रधान है, फिर भी 'कवहूँ ससि माँगत आरि करैं, कवहूँ प्रतिविम्व निहारि डरैं' में केवल पुरुष की प्रतिक्रिया है, वालक की निजी चेष्टा का आकलन नहीं। चन्द्र-याचना को रविवावू ने भी सविस्तार प्रस्तुत किया है—

आमी सुधू वोसेछिलाम कदम गाछेरे डाले।
पूर्णिमा चाँद आट्का पड़े जखन संध्या काले।
तखन कि केउ तारे धरे आनते पारे ?
सुने दादा हेंसे केनो वोलले आमाय खोका
"तोर मतो आर देखी नाइ तो वोका"।
चाँद जे थाके अनेक दूरे केमन करे छुइ।
आमी वोली दादा तुमि जानो न किछुइ।
मा आमादेर हासे जखन ओइ जानलार फाँके।
तखन तुमि वोलवे कि मा अनेक दूरे थाके ?
तवू दादा वले आमाय खोका
"तोर मतो आर देखी नाइ तो वोका"।
दादा वले पावी कोथाय अत व्रड़ फाँद ?
आमी वोली, "केन दादा ओइ तो छोटो चाँद।
दुटी मुठोय ओरे आनते पारी धरे।"
सुंने दादा हेंसे केनो वोलले आमाय खोका
"तोर मतो आर देखी नाइ तो वोका।"
चाँद जदि एइ काछे आसतो देखते कतो वड़ो।
आमी वोली कि तुमी छाई इस्कुले जे पड़ो।
मा आमादेर चूमो खेते माथा करे नीचू।
तखन कि मार मुखटी देखाय मस्त वड़ो किछू ?
तबू दादा वले आमाय खोका
"तोर मतो आर देखी नाइ तो वोका।"

इस दीर्घ कविता में जो तार्किक की तरह तर्क दिये गये हैं या वकील की तरह वहस की गई है, वह शिशु-सुलभ कम दीखती है। प्रौढ़ कवि की तर्कना शिशु के मस्तिष्क पर प्रक्षिप्त सी लगती है।

मैकडूगल ने प्राणियों में मूल प्रवृत्तियाँ मानी हैं—भोजन खोजना (Food Seeking) संग्रह, अरुचि, पलायन, स्नेहाकांक्षा, रचना, उत्सुकता, आत्मप्रकाशन, विनम्रता, याचना, कामभावना तथा हँसना। सूर के वालक में ये सारी प्रवृत्तियाँ देखी जा सकती हैं। भोजन का वर्णन अनेक पदों में किया गया है। शिशु कुछ महीनों तक माँ का दूध पीता है, फिर उसे गाय का दूध दिया जाता है। प्राकृतिक चिकित्सक स्वास्थ्य के लिए सर्वाधिक हितावह धारोष्ण दुग्ध मानते हैं। यशोदा अपने दुलारे को धारोष्ण दूध ही वर्षों तक पिलाती रहती हैं। फिर धीरे-धीरे मुलायम रोटी, दूध-भात आदि पदार्थ दिये जाते हैं; कुछ और वड़ा होने पर मक्खन जैसा गरिष्ठ पदार्थ। मक्खन घी से अधिक लाभदायक है, इसमें उसका विटामिन नहीं जल पाता है। कन्हैया की मांसपेशियाँ तो दूध, दही, मक्खन से परिपुष्ट और वलिष्ठ होती हैं। सात्विक चरित्र-निर्माण के लिए सात्विक भोजन भी आवश्यक है। गीता कहती है—

आयुः सत्ववलारोग्य-सुखप्रीतिविवर्धनाः।
रस्याः स्निग्धाः स्थिरा हृद्या आहाराः सात्विकप्रियाः॥

जव तक अम्ल, तिक्त, काषाय रसों के लिए हमारी जिह्वा अभ्यस्त नहीं होती, तवतक उनके प्रयोग से जिह्वा को कष्ट होता है। बच्चा लाल-लाल मिर्च देखता है। लाल रंग के प्रति उसका जन्मजात आकर्षण रहता है। वह झट से मुँह में रख लेता है। दाँत पड़ते ही इस तरह फेंकता है जैसे अंगार पड़ गया हो। कवि की सूक्ष्मेक्षिणी दृष्टि देखें—

जेंवत कान्ह नंद इकठौरे।
कछुक खात लपटात दोउ कर, वालकेलि अति भोरे।
वरा कौर मेलत मुख भीतर, मिरिच दसन टकटौरे।
तीछन लगी नैन भरि आए, रोवत वाहर दौरे।
फूँकति वदन रोहिनी ठाढ़ी, लिए लगाइ अँकोरे।
सूर स्याम कौं मधुर कौर दै, कीन्हें तात निहोरे॥

शिशु के पूर्ण विकास के लिए योग्य माता-पिता सभी पक्षों पर ध्यान देते हैं। यशोदा का वेटा किसी से उन्नीस नहीं, वल्कि वह तो सवका सरदार है, वह वरावर उन्हें प्रोत्साहित (Cheer-up) करती रहती हैं, ऐसा नहीं हो कि उनका वालक हीनता-ग्रन्थि (Inferiority Complex) से ग्रस्त विकलांग व्यक्ति वन जाये।

सूर के श्यामसुन्दर नगर वातावरण में पलने वाले नहीं, वरन् ग्रामीण वातावरण में पलने वाले वालक हैं। अपनी सभ्यता और वृत्ति के अनुसार ही पिता अपने पुत्र को शिक्षित करना चाहता है। नन्द पशुपालन-सभ्यता (Pastoral Civilisation) के अंग हैं, अतः अपने वालक को गोचारण एवं दुग्ध दोहन की शिक्षा देना अपना धर्म समझते हैं और वालक भी रात-दिन यह सव देखने का अभ्यासी होने के कारण उसमें अधिक रुचि लेता है। श्रीकृष्णचन्द्र कहते हैं—

वावा मोकौं दुहन सिखायौ।
तेरैं मन परतीत न आवै, दुहत अँगुरियनि भाव वतायौ।
आठ वरप के कुँवर कन्हैया, इतनी वुद्धि कहाँ तैं पायी।

आठ वर्ष के कन्हैया में पूर्णतः वुद्धि का विकास हो गया है। शिक्षक समान रूप से शिक्षा का वितरण करता है किन्तु, जो प्रतिभासम्पन्न होते हैं, वे उसे शीघ्र ग्रहण करते हैं। भवभूति ने 'उत्तरराम-चरितम्' में इसी को इस प्रकार व्यक्त किया है—

वितरति गुरु प्राज्ञे विद्यां यथैव तथा जड़े
न च खलु तयोर्ज्ञाने शक्तिं करोत्यपहन्ति वा ।
भवति च तयोर्भूयान् भेदः फलं प्रति तद्यथा
प्रभवति शुचिविम्बग्राहे मणिर्न मृदांचयः ।।

मनोवैज्ञानिकों ने वुद्धिपरीक्षा के आधार पर वुद्धि-उपलब्धि (Intelligence Quotient) का सिद्धान्त प्रतिपादित किया है। १४० या इससे अधिक वुद्धि-उपलब्धि वाले को प्रतिभाशाली (Genius) माना जाता है। उसके नीचे वालों को प्रखर वुद्धि (Very Superior), तीव्र-वुद्धि (Bright), सामान्य-वुद्धि (Normal), मन्द-वुद्धि (Dull), निर्वल-वुद्धि (Borderline), मूढ़ (Moron), मूर्ख (Imbecile) तथा जड़ (Idiot) कहा गया है। वुद्धि-विकास के सारे सहायक तत्त्व—वंशानुक्रम (Heredity), स्वास्थ्य, भोजन तथा वातावरण—कृष्णचन्द्र को प्राप्त हुए हैं। वे सचमुच इतनी कुशाग्र वुद्धि के हैं कि उनकी उपलब्धि १४० तो क्या, उससे अनेक गुना अधिक प्रमाणित होती यदि उसकी जाँच की जाती। सूर के वर्णन से उसका अनुमान किया जा सकता है।

मोहन के व्यक्तित्व का गठन भी वड़ा चकितकर है। दो प्रकार के व्यक्ति होते हैं—एक वहिर्निष्ठ (Extrovert), दूसरे अन्तर्निष्ठ (Introvert)। वहिर्निष्ठ व्यक्ति समाज का अजीज, नेता होता है। वह वुद्धि, विद्या, त्याग, शक्ति में सवके समानान्तर होते हुए भी सवके साथ विनयपूर्वक सम्वन्ध-निर्वाह करता है। सूर कहते हैं—

आजु वने वन तैं व्रज आवत।
नाना रंग सुमन की माला, नन्दनँदन उर पर छवि पावत।
संग गोप गोधन-गन लीन्हें, नाना गति कौतुक उपजावत।
कोउ गावत, कोउ नृत्य करत, कोउ उघटत, कोउ करताल वजावत।

इस तरह नन्द वावा के यहाँ वालक श्रीकृष्ण का सर्वांगीण विकास हुआ। उनमें शक्ति, साहस, सद्‌वुद्धि, शिक्षा का ही समन्वय नहीं, वल्कि उनमें वे भाव भी कूट-कूट कर भर गये जिनके कारण कोई व्यक्ति राष्ट्र-प्रेमी और राष्ट्र-कर्णधार वन कर विश्व भर की श्रद्धा और प्रेम का भाजन वन जाता है। वह व्यक्ति किस काम का जो शक्तिहीन, क्लीव, कापुरुष है? किन्तु वह शक्ति भी किस काम की जो संकटापन्न के सेवार्थ नियोजित न हो?

जव व्रज की दसों दिशाओं में दुःसह दावाग्नि उपजी, तो वाँस पटापट फटने लगे, जलते काश-कुश चटाचट करने लगे, ताल-तमाल जलने लगे, अंगारे उचटने लगे, कराल लपटें फैलने लगीं, धुएँ का अन्धकार अवनि से अंवर तक छा गया, हरिन, वाराह, मोर, चातक जल-जलकर वेहाल होने लगे, तो ग्वाल-वालों ने आर्त पुकार की—"अव कैं राखि लेहु गोपाल"। जव इन्द्र सगर्व प्रलय-मेघ वरसाने लगा, तो आठ दिनों तक एक क्षण के लिए भी वृष्टि थमने का नाम नहीं लेती थी। सारा व्रजमंडल जल-प्लावन में डूवने-उतराने लगा। जान वचने की जव तनिक भी आशा न रही, तो ग्वालों ने गुहार मचायी "राखि लेहु अव नन्द-किशोर" और सवल समर्थ नन्दकिशोर ने पलभर में दावानल और इन्द्र का मान-विमर्दन कर दिया।

जन्म से व्यक्तित्व गठन का ऐसा सांगोपांग मनोवैज्ञानिक वर्णन महाकवि सूर ने किया है कि विस्मय-विमुग्ध होना पड़ता है। विश्व-साहित्य तो सचमुच वड़ा ही अगाध है, किन्तु विश्व के कुछ महान् कवियों के वाल-वर्णन को पढ़ने का अवसर मुझे प्राप्त हुआ है, और वेहिचक कहना पड़ता है कि महाकवि सूरदास इस क्षेत्र के अकेले सूर हैं। ■



सखा मध्य मोहन छबि पावत

सूर का सख्य चित्रण

श्री जगन्नाथ सेठ

सूरदास के अनुसार श्रीकृष्ण लीला का एक महत्त्वपूर्ण और मनोहर अंश है सखाओं के साथ उनकी क्रीड़ा। साधना एवं साहित्य, दोनों दृष्टियों से सख्य रस का अत्यन्त मार्मिक चित्रण सूरदास ने किया है। सख्य-संबंधी उनके पदों का विवेचन करने के पूर्व साधना की उस आधारभूमि को समझ लेना उपयोगी होगा जिस पर सूरदास ने साहित्य की अधिरचना की है।

भक्तिशास्त्र के अनुसार सख्य पाँच प्रकार के भक्तिरसों में एक रस है ; रतिरूप में यह स्थायी भाव भी है। श्री रूप गोस्वामी ने सख्यरस को प्रेयान् (प्रेयोभक्ति) रस कहा है। जो कृष्ण के बराबर के हैं, वे उनके सखा माने जाते हैं[1]; उनकी संभ्रममुक्त (भयरहित) विश्रम्भात्मक (प्रगाढ़ विश्वासरूप) रति ही सख्य नामक स्थायी भाव है[2] जो अपने अनुरूप विभावादि के द्वारा सहृदयों के चित्त में पुष्ट होकर प्रेयान् (प्रेयोभक्ति) रस कहलाता है।[3]

सख्य भक्ति भी भक्ति का ही एक भेद है। अतः इसमें भी, जैसा श्री मधुसूदन सरस्वती ने बताया है, भगवान् के प्रति प्रगाढ़ प्रेम के फलस्वरूप चित्त द्रवित हो जाता है और मन की सब वृत्तियाँ धाराप्रवाह-रूप से ईश्वरोन्मुख हो उठती हैं[4], वैसे ही जैसे गंगा की धारा का अखण्ड प्रवाह सागर की ओर बहता है।[5]

१– ये स्युस्तुल्या मुकुन्दस्य ते सखायः सतां मताः ॥ — भक्तिरसामृतसिन्धु, द० वि०, ५।२

२– विमुक्तसंभ्रमा या स्याद् विश्रम्भात्मा रतिर्द्वयोः ॥
प्रायः समानयोरत्र सा सख्यं स्थायिशब्दभाक् । वही, प० वि०, ३।५४-५५

३– स्थायी भावो विभावाद्यैः सख्यमात्मो चितैरिह ।
नीतश्चित्ते सतां पुष्टिं रसः प्रेयानुदीर्य्यते ॥ वही, प० वि०, ३।१

४– द्रुतस्य भगवद्धर्माद्धारावाहिकतां गता ।
सर्वेशे मनसो वृत्तिर्भक्तिरित्यभिधीयते ॥ — श्रीभगवद्भक्तिरसायन १।३

५– मद्गुणश्रुतिमात्रेण मयि सर्वगुहाशये ।
मनोगतिरविच्छिन्ना यथा गङ्गाम्भसोऽम्बुधौ ॥
लक्षणं भक्तियोगस्य निर्गुणस्य ह्युदाहृतम् । — श्रीमद्भागवत ३।२९।११-१२

चित्त का द्रवण सांसारिक विषयासक्ति से भी होता है, किन्तु वह क्षणिक है। भगवद्विपयक चित्त-द्रुति वासनारूप में परिणत हो जाती है।[६] विभु (सर्वदेश व्यापक), नित्य (सर्वकाल व्यापक), पूर्ण (अद्वितीय), ज्ञान एवं सुखस्वरूप भगवान् को जो द्रवीभूत चित्त ग्रहण कर लेता है, वह कृतकृत्य हो जाता है। उसके लिए ग्रहण करने को और कुछ भी शेष नहीं रहता।[७] द्रवित लाक्षा में मिले रंग की तरह द्रुत चित्त में चढ़ा भगवदाकारता का रंग द्रवीभाव न रहने पर भी उतरता नहीं।[८]

भगवद्रति मनोवृत्ति में आविर्भूत होकर भगवदाकार धारण कर लेती है—द्रवित चित्त में सख्य-रति की प्रतीति सखा कृष्ण के रूप में ही होती है। रूप गोस्वामी ने इनमें प्रकाश्य-प्रकाश-सम्बन्ध माना है। जिस प्रकार दीपक का प्रकाश किसी प्रकोष्ठ में पड़ता है तो उस प्रकोष्ठ के रूप में ही प्रतीत होता है, उसी प्रकार प्रकाशरूपा भक्ति जब भगवान् को आलोकित करती है, तो भगवान् के स्वरूप में ही उसकी प्रतीति होती है।[९] भक्ति की इस भगवदाकारता का उपादान मधुसूदन सरस्वती ने विम्ब-प्रतिविम्ब भाव से किया है।[१०] सखा कृष्ण (विम्ब) ही द्रवीभूत मन (उपाधि) में प्रतिविम्बित स्थायी भाव सख्यरति के रूप में रसता प्राप्त करते हैं। यही बात स्वामी अखण्डानन्द सरस्वती ने जरा दूसरे ढंग से स्पष्ट की है—"भगवान् जब अपने ही स्वरूपभूत आनन्द का रसास्वादन करना चाहते हैं, तब भक्त के हृदय में स्वयं उस आनन्द को स्थापित करते हैं और फिर उस आनन्द के वश में हो जाते हैं। भगवान् अपने ही स्वरूप-भूत आनन्द का आस्वादन करते हैं।"[११]

भक्ति के विविध भेद होनेपर भी उनमें तारतम्य होता है; उनका क्रम (शान्त, दास्य, सख्य, वात्सल्य, माधुर्य) प्रेम के उत्कर्ष का सूचक है। किसी एक प्रकार की भक्ति में पूर्ववर्ती भक्ति के भावों का तिरोभाव नहीं हो जाता; सख्य में शान्त का स्वरूप-वोध और दास्य का सेवाभाव किसी न किसी रूप में बना रहता है। इस आशय की सुन्दर व्यंजना श्री कृष्णदास-कविराज ने 'चैतन्य चरितामृत' में की है—

शान्तेर गुण दास्येर सेवन सख्ये दुइ हय।
दास्ये संभ्रम गौरव सख्ये विश्वासमय॥
काँधे चड़े काँधे चड़ाय करे क्रीड़ारण।
कृष्ण सेवे कृष्ण के कराय आपन सेवन॥

६– अतस्सा वासनेत्युच्यते। — श्रीभ० र०, १।८ (विवृति)

७– भगवन्तं विभुं नित्यं पूर्णं बोधसुखात्मकम्।
यद् गृह्णाति द्रुतं चित्तं किमन्यदवशिष्यते॥ वही, १।३०

८– द्रवतायां प्रविष्टं सद्यत् काठिन्य दशाङ्गतम्।
चेतः पुनर्द्रुतौ सत्यामपि तन्नैव मुञ्चति॥ वही, १।८

९– आविर्भूय मनोवृत्तौ व्रजन्ती तत्स्वरूपताम्।
स्वयंप्रकाशरूपाऽपि भासमाना प्रकाश्यवत्॥ — भ० सि०, पू० वि०, ३।२

१०– भगवान् परमानन्दस्वरूपः स्वयमेव हि।
मनोगतस्तदाकारो रसतामेति पुष्कलम्॥ — श्री भ० र०, १।१०
परमानन्दश्च भगवान् मनसि प्रतिविम्बितस्थायिभावतामासाद्य रसतामासादयतीति''''।
— वही, (विवृति)

११– नारदभक्ति-दर्शन, सूत्र ३ 'अमृतस्वरूपा च' की व्याख्या।

विश्रम्भप्रधान सख्य संभ्रम गौरव हीन।
अतएव सख्य रसे तिन गुण चिह्न॥
ममता अधिक कृष्णे आत्मसम ज्ञान।
अतएव सख्यरसेर वश भगवान्॥[१२]

सूरदास की व्यक्तिगत उपासना किस भाव की थी, इस सम्बन्ध में विद्वानों में मतभेद है। पुष्टि-मार्ग की एक परम्परा अष्टछाप के कवियों को श्रीकृष्ण के अष्टसखाओं के रूप में स्वीकारती है। कुछ विद्वानों का भी मत है कि सूर का मुख्य भाव सख्य था। परन्तु अधिकांश विद्वान् वात्सल्य या कान्त को उनका मुख्य उपासना-भाव मानते हैं। इस विवाद में न पड़ हमने यह निरूपित करने की चेष्टा की है कि सूर ने सख्य-चित्रण कितनी तन्मयता और मार्मिकता से किया है, क्योंकि वात्सल्य या कान्त को मुख्य उपासना-भाव मान लेने पर भी उसमें सख्य का समावेश हो जाता है।

सूरदास में सख्य की अभिव्यक्ति कृष्ण और उनके सखाओं के सम्बन्ध-वर्णन में हुई है। विनय के कुछ पदों में 'पतितपावन' के प्रति 'सूर पतित' के परिहास, उपालम्भ, वचनवक्रता, हठ और चुनौती को देख वहाँ भी सख्य का भ्रम हो सकता है, किन्तु 'साम्य' या वरावरी का भाव न होने के कारण वहाँ सख्य नहीं, गौरव-प्रीति ही माननी चाहिए। सख्य का उत्कृष्ट रूप, उसका खुलापन, उसकी अवाध स्वच्छन्दता तो उन गोप-सखाओं में मिलती है जो कृष्ण के साथ नित नये क्रीड़ोल्लास में पौगण्ड[१३] जीवन का रसोत्सव मनाते हैं। ये सखा तीन प्रकार के हैं। एक तो वे जो आयु में कृष्ण से कुछ वड़े हैं और जिनके सख्य में वात्सल्य मिला है; दूसरे वे जो कुछ छोटे हैं और सेवाभाव रखते हैं। इनको रूप गोस्वामी ने क्रमशः 'सुहृद' और 'सखा' कहा है। वलदेव कृष्ण के भाई भी हैं और सुहृद् भी। संभवतः रैता, पैता, मना, मनसुखा भी सुहृद हैं, क्योंकि गाय चराने जाने की जिद करते हुए कृष्ण माँ को भरोसा देने और उनकी अनुमति पाने के लिए हलधर के साथ इनका नाम भी लेते हैं—"रैता पैता मना मनसुखा हलधर संगहि रैहौं।"[१४] 'सखा' वे हैं जिन्हें दानलीला में कृष्ण 'कुमार'[१५] कह कर वापस भेज देते हैं। गो-चारण-काल में वन से लौट यशोदा को कृष्ण के लिए छाक भेजने का सन्देश देकर स्वयं घर में भोजन करनेवाले गोप भी सम्भवतः 'सखा' ही हैं। इनमें किसी का नाम सूर ने नहीं गिनाया। 'सुहृद' और 'सखा' कृष्ण की मधुर लीलाओं में भाग नहीं लेते। तीसरे प्रकार के सखा समवय ('इक ताक')[१६] और समशील ('प्रकृति के',[१७] 'प्रकृति सुभाई'[१८]) हैं। रूप गोस्वामी ने इनके दो भेद किये हैं—'प्रियसखा' (खेल के साथी) और 'प्रियनर्मसखा' (मधुर लीलाओं के संगी), किन्तु सूर के समवय-समशील सखाओं में इन दोनों का समाहार है। अर्जुन, भोज, सुवल, सुदामा, श्रीदामा, मधुमंगल,[१९] तोक[१९/१] और सम्भवतः वृन्द[२०] तथा महर प्रसेन के पुत्र श्यामकुँवर[२१] प्रियसखा और प्रियनर्मसखा, दोनों भूमिकाएँ निभाते हैं। नाम इतने ही मिलते हैं, क्योंकि नाम गिनाने की सूरदास की प्रवृत्ति नहीं, किन्तु इनकी संख्या का संकेत अवश्य मिलता है—"प्रकृति प्रकृति अपनैं ढिग राखे, संगी पाँच हजार'।[२२] यह संख्या निश्चयवाचक भी हो सकती है, किन्तु इसे केवल वाहुल्य-सूचक मानना ही अधिक संगत प्रतीत होता है।

१२– श्री श्रीचैतन्य-चरितामृत, प्रकाशक श्रीनगेन्द्र कुमार राय, मध्यलीला, पद ९९।

१३– ५-१६ वर्ष की अवस्था।

१४– सूरसागर (काशी ना० प्र० सभा०), दशम स्कंध ४१२।

१५– वही १४९४। १६– वही ४६४। १७– वही १४९२। १८– वही १५५८।

१९– वही ४६४। १९/१– सूरग्रन्थावली (अ० भा० वि० प०) —सूरसारावली १०३५, १०६५।

२०– सूरसागर, दशम स्कंध २८५६। २१– वही ४३७। २२– वही १४९४।

सूरदास के सख्य-चित्रण का आधार मानवीय है। स्नेह-तरल सख्य क्रीड़ा के आकर्षण और रार-तकरार के बीच कितनी ही अन्तर्वृत्तियों को प्रकाशित करता हुआ सहज रूप में विकसित होता है। सखा होड़ लगाकर दौड़-पकड़ का खेल खेल रहे हैं। कृष्ण भी शामिल होना चाहते हैं, पर हलधर बरजते हैं—"स्याम, तुम जनि, चोट लागै गोड़।" लेकिन श्याम स्वयं को किसी से कम कैसे मान लें! प्रतिवाद करते हैं—"मैं दौरि जानत, बहुत बल मो गात", और श्रीदामा के हाथ पर हाथ मार दौड़ पड़ते हैं। श्रीदामा झट पकड़ लेते हैं। अब? अपनी हार कैसे स्वीकारें? ऊपर से तो कहते हैं, "जानिकै मैं रह्यो ठाढ़ौ, छुवत कहा जु मोहिं",[२३] पर मन ही मन रुष्ट हैं। इस अक्रीड़ोचित आचरण के लिए हलधर उन्हें डाँटकर घर भेज देते हैं, तो वे रोते-रोते माँ से शिकायत करते हैं—"मैया, मोंहि दाऊ बहुत खिझायौ।"[२४] वे धमकी भरी घोषणा करते हैं—"खेलन अब मेरी जात बलैया।"[२५] लेकिन सबेरा होते ही सब ग्वाल सखा जुट आते हैं और खेल फिर शुरू होता है। इस बार आँखमिचौनी का खेल है। माँ यशोदा ने कृष्ण की आँखें मूँदी हैं। सब सखा छिप गये हैं। माँ धीरे से कृष्ण के कान में कहती हैं—"बलदेव उस कमरे में छिपा है।" लेकिन कृष्ण को बदला तो श्रीदामा से लेना है, श्रीदामा ने ही उन्हें हराया था। सीधे उन्हें पकड़ना चाहें, तो शायद न पकड़ सकें—वे तेज भागते हैं। अतः दिखाने के लिए तो वे सुबल की ओर दौड़ते हैं, पर घूमकर पकड़ लेते हैं श्रीदामा को—

> सोर पारि हरि सुबलहिं धाए, गह्यौ श्रीदामा जाइ।
> दै-दै सौंहैं नंद बबा की, जननी पै लै आइ।
> हँसि-हँसि तारी देत सखा सब, भए श्रीदामा चोर।[२६]

श्रीदामा ही कृष्ण के असली प्रतिद्वन्द्वी हैं। कृष्ण उनसे जीतते कम हैं, प्रायः हारते ही हैं और रूठ जाते हैं। चौगान-बटा (गेंद-बल्ला) के खेल में भी यही होता है। कृष्ण हारकर रूठते हैं, तो सखा क्षुब्ध हो जाते हैं—यह कैसा ढंग! कृष्ण इतना ताव किस बात पर दिखाते हैं? क्या इसीलिए कि उनके पास हमसे कुछ अधिक गायें हैं? हों। हम उनकी छाया में तो पलते नहीं। हमारी जाति भी उनसे नीची नहीं। हम भी अहीर, वे भी अहीर। फिर धौंस क्यों सहें। वे अपने आपको बड़ा समझते हैं तो समझें। खेल में भला कौन बड़ा, कौन छोटा!

> खेलन मैं को काकौ गुसैयाँ
> ....
> रुहठि करै तासौं को खेलै, रहे बैठि जहँ तहँ सब ग्वैयाँ।[२७]

श्रीदामा से रूठकर कृष्ण एक ओर बैठे हैं, कृष्ण से रूठ कर सब सखा दूसरी ओर बैठे हैं। अजीब-सा तनाव है, पर तोड़े कौन! कृष्ण समझ रहे हैं, गलती उन्हीं की है। लेकिन हार कैसे मानें, हेठी जो होती है। आखिर यह स्थिति उनसे सही नहीं जाती। नंद बाबा की दुहाई दे वे सखाओं से मेल कर लेते हैं— सूरदास प्रभु खेल्योइ चाहत, दाउँ दियौ करि नंद दुहैया॥"

अब तक तो खेल की प्रतिक्रिया संयत है, लेकिन गेंद-तड़ी के खेल में जब कृष्ण श्रीदामा पर गेंद चलाते हैं और गेंद कालो-दह में जा गिरता है, तो श्रीदामा आगबबूला हो जाते हैं। गेंद उनका है, खास तौर से खेल के लिए अपने घर जाकर वे गेंद लाये थे, और कृष्ण की यह मजाल कि वे उसे काली-दह में फेंक दें। ललकारते हुए वे दौड़कर कृष्ण का फेंटा पकड़ लेते हैं—

२३– सूरसागर, द० स्क० २१३। २४– वही २१५। २५– वही २१७। २६– वही २४०। २७– वही २४५।

धाइ गही तब फेंट स्याम की, देहु न मेरी गेंद मँगाई।
और सखा जनि मोकौं जानौ, मोसौं तुम जनि करौ ढिठाई।
जानि बूझि तुम गेंद गिराई, अब दीन्हें ही बनै कन्हाई।[२८]

यह अपमान भला कृष्ण कैसे सहें ! उनका भी अहं है। गेंद गया, तो श्रीदामा मेरा गेंद ले लें, लेकिन वचन और आचरण की यह धृष्टता क्यों ! वे डांटते हैं—श्रीदामा, फेंटा छोड़ो। तुम्हें बड़े-छोटे का भी ख्याल नहीं, मेरी बराबरी करने चले हो !

बात से बात बढ़ती है। मल्लयुद्ध तो नहीं होता, पर वाग्युद्ध छिड़ जाता है। श्रीदामा व्यंग्य कसते हैं—हां, तुम तो 'बड़े नन्द के पूत' हो, हम भला तुम्हारी क्या बराबरी करेंगे ! इस पर कृष्ण बिगड़ जाते हैं—

मुहँ सम्हारि तू बोलत नाहीं, कहत बराबरि बात।
···· रिसनि कँपावत गात।[२९]

पर श्रीदामा क्यों दबें। वे भी फटकारते हैं—कृष्ण, तुम्हारे जैसे तो कितने आये और चले गये—
सुनहु स्याम, तुमहूँ सरि नाहीं, ऐसे गए बिलाइ।
हमसौं सतर होत सूरज प्रभु, कमल देहु अब जाइ॥[30]

इस पर कृष्ण अपने अप्राकृतिक कृत्यों और पराक्रमों का बखान करते हैं, पर श्रीदामा के लिए तो यह अपने मुँह मियां मिट्ठू बनने की बात हुई। कैसे मान लें। तब कृष्ण ताव में आ फेंटा छुड़ा कदम्ब की डाल पर चढ़ जाते हैं। अब तक तमाशबीन बने जो सखा वाग्युद्ध देख हँस रहे थे, वे अब कृष्ण को मैदान छोड़ते देख ताली बजाने लगते हैं—

"तारी दै दै हँसत सबै मिलि, स्याम गए तुम भाजि डराइ।[३१]

श्रीदामा रोते-रोते घर की ओर बढ़ते हैं—मां यशोदा से कृष्ण की शिकायत करेंगे वे। कृष्ण पुकारते हैं—श्रीदामा, अपनी गेंद तो ले जाओ। और वे दह में कूद पड़ते हैं। सखाओं में हाहाकार मच जाता है—

हाय हाय करि सखनि पुकारयौ।
गेंद काज यह करी श्रीदामा, नंद को ढोटा मारयौ।[३२]

यहाँ तक पारस्पर्य का केन्द्र क्रीड़ा है। गोचारण के समय केन्द्र बन जाती हैं गायें और उन्हीं के इर्द-गिर्द सखाओं की दिनचर्या चलती रहती है। ग्वालबालों को रोज गायें चराने जाते देख कृष्ण से रहा नहीं जाता। वे जिद करते हैं—"मैया, हौं गाइ चरावन जैहौं"। पर पांच वर्ष के बच्चे को माँ जंगल में कैसे भेज दें। और कृष्ण भी यों मन मारकर घर में कैसे बैठे रहें—"और ग्वाल सब गाइ चरैहैं, मैं घर बैठो रैहौं ?"[33] वे टेरी देने की आवाज सुनते ही मन की ललक से दौड़ पड़ते हैं ग्वालबालों की ओर, पीछे-पीछे माँ यशोदा। आखिर बलदेव के समझाने पर उन्हें किसी तरह माँ जाने देती है। ग्वाल मंडली के बीच वे उल्लसित होकर प्रकृति के नये-नये रूपों को निहारते चलते हैं, और वृन्दावन पहुँच कर तो अभिभूत हो जाते हैं। भाँति-भाँति सौन्दर्य, पुलकभरी करुणामयी अनुभूति जिसमें चिरपरिचित सखाओं और गायों के प्रति सहोदर जैसी संवेदना जागती है, सबको तो नया अर्थ मिलता है। कृष्ण के लिए यह उपलब्धि है। लेकिन कल ? नन्द जी भी जाने नहीं देंगे। अतः बलदेव से वे कातर अनुरोध करते हैं—

२८— सूरसागर, द० स्क० ५२१। २९— वही ५३७। ३०— वही ५३७।
३१— वही ५३९। ३२— वही ५४०। ३३— वही ४२०।

वलदाऊ मोकौं जनि छाँड़ौ, संग तुम्हारैं ऐहौं।
कैसेहुँ आजु जसोदा छाँड़्यौ, काल्हि न आवन पैहौं।
सोवत मोकौं टेरि लेहुगे, वावा नंद दुहाई।[34]

और दूसरे दिन माँ भेज देती हैं तो कृष्ण फूले नहीं समाते। सब सखाओं को पुकार-पुकार कर यह खुशखबरी सुनाते हैं—"टेरत ग्वाल वाल सब आवहु मैया मोहि पठाए।" सब सखा भी खिल जाते हैं—"चलहु कान्ह वन देखहि। वनमाला तुमकौं पहिरावहि, धातु-चित्र तनु रेखहि।"[35]

वन पहुँच कर सखा कृष्ण को सचेत करते हैं—"छाँड़ि जिनि कहुँ जाहु। सघन वृंदावन अगम अति, जाइ कहुँ न भुलाहुँ।"[36] और गोचारण करते हुए कृष्ण को उसकी शिक्षा भी देते चलते हैं—

कोउ टेरत कोउ हाँकि सुरभि-गन, जोरि चलावत।
कोऊ हेरी देत, परस्पर स्याम सिखावत।[37]

कृष्ण के लिए यह मनोरंजक खेल है। वे सब कुछ ध्यान से देखते हैं, सुनते हैं और फिर प्रयोग करते हैं—

जिहि जिहि भाँति ग्वाल सब वोलत, सुनि स्रवननि मन राखत।
आपुन टेर लेत ताही सुर, हरषत पुनि पुनि भाषत।[38]

कृष्ण जल्दी-जल्दी सव कुछ सीखकर सखाओं के वरावर वन जाना चाहते हैं। सखाओं को गाय दुहते देखते हैं, तो पास वैठ जाते हैं, आग्रह करते हैं—

मैं दुहिहौं मोहि दुहन सिखावहु।
कैसैं गहत दोहनी घुटुवनि, कैसैं वछरा थन लै लावहु।[39]

लेकिन सखा सिखायें तो कैसे? सब गायें तो दुही गयीं।

क्यों दुही गयीं? कल से मेरी गायें मत दुहना। मैं अव वड़ा हो गया हूँ, खुद दुहूँगा।

और सीखकर जव वे गायें दुहते हैं, तो सखा परिहास करते हैं—तुम तो हमसे भी आगे वढ़ गये! कृष्ण स्पर्द्धाभरे स्वर में कहते हैं—अरे, अभी देखा क्या है—

दुहन देहु कछु दिन अरु मोकौं, तव करिहौ मो समसरि आई।
जव लौं एक दुहौगे, तव लौं चारि दुहौंगो, नंद दुहाई।[40]

सखा हँस पड़ते हैं—क्या सवेरे-सवेरे नन्द की झूठी दुहाई देते हो। इतना घमण्ड है, तो देख लेंगे किसी दिन।

किसी दिन क्यों? कल ही। कल हम होड़ लगाकर दुहेंगे। देखें कौन जीतता है?

ऐसी होड़ आये दिन लगती रहती है और सखाओं को इसमें आनन्द आता है। आनन्दमयी दैनन्दिन क्रीड़ा में ये सुहृद पालक सखा हैं और कृष्ण वालक सखा। (विपत्ति पड़ते ही ये भूमिकाएँ उलट जाती हैं।) कृष्ण के विना इन्हें कल नहीं पड़ता। रोज सवेरे ही ये सब मिलकर आ जाते हैं कृष्ण को वुलाने—

(द्वारैं) टेरत हैं सव ग्वाल कन्हैया, आवहु वेर भई।
आवहु वेगि, विलम जनि लावहु, गैया दूरि गई।[41]

और किसी दिन यदि वे पुकारते नहीं, या कृष्ण-वलदेव की प्रतीक्षा किये विना ही चल देते हैं, दोनों भाई उन पर विगड़ जाते हैं, धमकी देते हैं—

३४– सूरसागर द० स्क० ४१५। ३५– वही ४२६। ३६– वही ६१०। ३७– वही ४३१।
३८– वही ४९३। ३९– वही ४०१। ४०– वही ६६८। ४१– वही ४४३।

जेंवत परखि लियौ नहिं हमकौं, तुम अति करी चँड़ाइ।
अव हम जैहैं दूरि चरावन, तुम सँग रहैं वलाइ।[४२]

माँ से की गयी कृष्ण की शिकायतों से लगता है कि वीच-वीच में सव सखा मिलकर कृष्ण को परेशान करते हैं। उनसे गायें घिराते हैं और दौड़ा-दौड़ा कर उन्हें थका मारते हैं। वलदेव तमाशा दिखाने के वहाने उन्हें घने वन में ले जाते हैं और 'काटि खाइ रे हाऊ' कहकर, उन्हें वहीं छोड़ भाग जाते हैं।[४३] यह सव सच भी हो सकता है, और यह भी हो सकता है कि अपने प्रति माँ के अतिशय स्नेह को और भी उद्दीप्त करने के लिए कृष्ण मन से इस तरह की शिकायतें गढ़ लेते हों। उनके लिए क्या असंभव है!

गोचारण गोपसखाओं का नित्य कार्य है और नित्य उन्हें इसमें नया रस मिलता है। कभी यमुना-तट, कभी वेणुवन, तालवन या वृन्दावन—सारी प्रकृति उनकी अपनी है। लेकिन सुहृद सखाओं की पालक दृष्टि सतर्क रहती है। सखा कुमुदवन की ओर गायों को हाँकते हैं, तो वलभैया वरज देते हैं—"वावा नंद वुरौ मानैंगे, और जसोदामैया।"[४४] ठीक है, कुमुदवन न सही, वृन्दावन ही सही। चलो, मोड़ो गायों को। और सव इस तरह उत्साहभरे गायों को पुकारते-हाँकते हैं, जैसे धेनुगीत गा रहे हों—

आपुस मैं सव करत कुलाहल, धौरी, धूमरि धेनु वुलाए।
सुरभी हाँकि देत सव जहँ-तहँ, टेरि-टेरि हेरी सुर गाए।[४५]

इनके लिए गाय चराना और प्रकृति-काव्य में तन्मय होना एक ही वात है। गोचारण इनके जीवन का सांस्कृतिक पर्व है जो मन में थिरकन जगाता है। सख्य के तार झनकते हैं और सव नृत्य-संगीत में डूव जाते हैं—

कोउ गावत, कोउ मुरलि वजावत, कोउ विषान, कोउ वेनु।
कोउ निरतत कोउ उघटि तार दै, जुरी व्रज-वालक-सेनु।[४६]

इधर सखा अपने में मग्न हैं,उधर गायें घास चरती हुई सघन कुंजों में दूर निकल जाती हैं। सखाओं को सुधि आती है, तो देखते हैं गायें नहीं। चारों ओर दौड़ते हैं, उन्हें घेरघार कर लाते हैं, तव तक कृष्ण विछुड़ जाते हैं। पेड़ पर चढ़कर दूर-दूर तक नजर दौड़ाते हैं, और कृष्ण दिखाई देते हैं तो पुकारते हैं—"आवहु आवहु इतै कान्हजू, पाई हैं सव धैनु।" कृष्ण दौड़ने लगते हैं, तो वरजते हैं—"जनि धावहु वलि चरन मनोहर, कठिन कंट मग ऐनु।"[४७]

कभी भटकी गायों को कृष्ण घेर लाते हैं और उनकी खोज में गये सखाओं को पुकार कर कहते हैं—

पाई-पाई है रे भैया, कुंज-पुंज मैं टाली।
अवकैं अपनी हटकि चरावहु जैहैं भटकी घाली॥[४८]

जरा ठीक से अपनी गायों को चराओ, नहीं तो फिर भटक जायेंगी। लेकिन गायें तो गायें ही हैं, भटकेंगी ही, चाहे कोई कितना ही सँभाले। इस वार नन्द की ही गायें दूर निकल जाती हैं, किसी के घेरे नहीं घिरतीं, गोवर्द्धन पर चढ़ जाती हैं। सखा कृष्ण से कहते हैं—

द्रुम चढ़ि काहे न टेरौ कान्हा, गैयाँ दूरि गईं।
धाई जाति सवनि के आगैं, जे वृषभानु दईं॥[४९]

४२– सूरसागर, द० स्क० ४४४। ४३– वही ४८१। ४४– वही ४४५। ४५– वही ४४७। ४६– वही ४४८। ४७– वही ५०२। ४८– वही ५०३। ४९– वही ६१२।

और कृष्ण मुरली पर एक-एक को पुकारते हैं—

कहि कहि टेरत धौरो कारी।

....

वेनु स्रवन सुनि, गोवर्धन तैं, तृन दंतनि धरि चालीं।[५०]

यह गोपसखाओं का जीवनोत्सव है। ऊपर खुला आकाश, इधर-उधर पर्वत-मैदान-वन, सघन कुंज। कभी चिलचिलाती धूप, कभो वर्षा। सब प्रकृति की लीलाओं के संगी, उसके हर रंग में मस्त। न बड़ों की डाँट-डपट, न विधि-निषेध—प्रकृति की तरह ही सब मुक्त, स्वच्छन्द। सबमें नित्य आंतरिक उल्लास, किसी मधुर रागिनी की शाश्वत अनुगूँज, जिसमें इतर सब संवेदनाएँ घुलमिल जाती हैं।

छाक का प्रसंग सखा-जीवन का मधुपर्व है। "भोजन की बिरियाँ"—कृष्ण कदम्बतले विश्राम कर रहे हैं—

"बाम भुजाहिं सखा अँस दीन्हे, दच्छिन कर द्रुम-डरियाँ।"[५१]

अन्य सखा अभी गायें घेर रहे हैं। गाँव से छाक आती है। कृष्ण पुलक उठते हैं। पर्वत पर चढ़ सखाओं को बुलाते हैं—

अहो सुबल श्रीदामा भैया, ल्यावहु गाइ खरिक कैं नेरे।
आई छाक अबार भई है, नैंसुक घैया पिएउ सबेरे।[५२]

गायों को घेरकर सब जल्दी आओ। बड़ी भूख लगी है। सखा दौड़े-दौड़े आते हैं। वंशीवट की छाया, मीठी-मीठी ठंडी हवा। श्याम अपने हाथों से सबके आगे कमल के पत्ते और पलाश के दोने रखते हैं, स्वादिष्ट पकवान परोसते हैं; लेकिन सबको इतनी देर तक रुकने का धीरज कहाँ! झपट पड़ते हैं—

"एक दूध, फल, एक झगरि चबेना लेत।"[५३]

लेकिन अब सब परस गया है, मण्डली के बीच कृष्ण ने आसन जमा लिया है, सब स्वाद से खा रहे हैं, पर कृष्ण को अपने पत्ते का भोजन अच्छा ही नहीं लगता। वे सखाओं से माँग-माँग कर, उनके हाथ का कौर छीन-छीनकर खाते हैं—

ग्वालनि कर तैं कौर छुड़ावत।
जूठौ लेत सबनि के मुख कौ, अपनैं मुख लै नावत।
षटरस के पकवान धरे सब, तिनमैं रुचि नहिं लावत।
हा-हा करि करि माँगि लेत हैं, कहत मोहिं अति भावत।[५४]

जूठन के स्वाद की सराहना भी वे करते जाते हैं; उसमें सख्यरस का आस्वाद जो है!

अपने पत्ते का भोजन कृष्ण मुख में कभी रखते भी हैं, तो सीधे नहीं। कौर उठाते हैं, किसी सखा को खिलाने का लोभ दे पास बुलाते हैं, और जब वह खाने के लिए मुँह खोलता है तो झट कौर अपने मुँह में डाल लेते हैं—"औरनि लेत बुलाइ ढिग, डहकि आपु मुख नाइ।"[५५] घर में भी भोजन के समय वे यही करते हैं—"हरषि मुख तन देत मोहन आपु लेत छँड़ाइ।"[५६]

सखाओं के हँसते-खेलते जीवन में मुरली की माधुरी मर्ममधुर संवेदना जगाती है। कभी उसके स्वरों में अपना-अपना नाम सुन सखा तालियाँ बजा-बजाकर हँसते हैं, रीझते हैं, और कभी उसकी रसवर्षा

५०— सूरसागर, द० स्कं० ६१३। ५१— वही ४७०। ५२— वही ४६३। ५३— वही ४६७। ५४— वही ४६८। ५५— ४३७। ५६— वही १२१४।

उनके वासनालोक को आलोड़ित कर देती है। इतना माधुर्य, इतना सुख ! मनमें समाता नहीं। अनुभूति स्तब्ध हो जाती है। और रागिनी के रुकते ही मन आकुल हो उठता है। कृष्ण प्रत्यक्ष हैं, पर रागिनी तिरोहित है। उसके अश्रवण से वियोग की-सी विकलता होती है। कसक भरे उन क्षणों में उन्हें अपनी सीमा का, सख्य में दूरी का अहसास होता है। वे कातर हो उठते हैं—

दुरलभ जनम लहव वृन्दावन, दुर्लभ प्रेम-तरंग।
ना जानियै बहुरि कब ह्वैहै स्याम तिहारौ संग।

....

कब पुनि गोप-वेष ब्रज धरिहौ, फिरिहौ सुरभिनि साथ।
कब तुम छाक छीनि कै खैहौ, हो गोकुल के नाथ।[५७]

सदा वर्तमान में जीने वाले, प्रतिपल सख्य-सुख में मग्न रहने वाले सखाओं की यह उद्विग्नता नहीं है। वियोग नहीं, संयोग-सुख के अनिश्चय की कल्पना ही उन्हें विचलित कर देती है। विकलता को वे रस में डुबा देना चाहते हैं, इसलिए कृष्ण के पाँव पड़ते हैं—"छवीले मुरली नैंकु बजाउ।" करुण आवेग से दीन होकर नन्द बाबा की दुहाई देते हैं—"छवीले मुरली नैंकु बजाउ।"

अन्तरंग क्षणों में कृष्ण आत्मीय सखाओं से हृदय की 'गुप्त बात' कहते हैं—वृन्दावन मोकौं अति भावत····रमा सहित वैकुंठ भुलावत····तुम मेरे मन अतिहिं सुहावत।'[५८] यह सुन सखा 'चकृत' हो जाते हैं। अब तक जिनके साथ सख्य का, बराबरी का व्यवहार करते रहे, अब अचानक उनके ऐश्वर्य का साक्षात्कार होता है। वे कातर होकर हाथ जोड़ विनय करते हैं—

····हमहिं स्याम तुम जनि बिसरावहु।
जहाँ-जहाँ तुम देह धरत हौ, तहाँ-तहाँ जनि चरन छुड़ावहु।[५९]

और कृष्ण भी आश्वासन देते हैं—

ब्रज तैं तुमहिं कहूँ नहिं टारौं, यहै पाइ मैं हूँ ब्रज आवत।

सखाओं को कृष्ण के ऐश्वर्य और माहात्म्य का बोध असुर-संहार आदि अलौकिक कार्यों से भी होता है। इस बोध में संभ्रम है, और संभ्रम के साथ सख्य प्रेम का आस्वाद सम्भव नहीं। तब आस्वाद होता कैसे है ? इस सम्बन्ध में 'नारदभक्ति-दर्शन' के सूत्र "न तत्रापि माहात्म्यज्ञान-विस्मृत्यपवादः" की व्याख्या करते हुए स्वामी अखण्डानन्द सरस्वती कहते हैं—"स्वयं कृष्ण उनके (सखा तथा अन्य प्रकार के भक्तों के) प्रेम का आस्वादन करने के लिए माहात्म्य-ज्ञान विस्मृत करा देते थे।" इस व्याख्या से अलौकिक कार्यों के प्रसंग में सखाओं की प्रतिक्रिया और उनके आचरण की संगति भी बैठ जाती है।

बकासुर को मारने का संकल्प कर कृष्ण आगे बढ़ते हैं, तो सखा कहते हैं—तुम्हें डर नहीं लगता ? प्राणों का भय नहीं ? मरते हुए असुर की चीत्कार सुन वे डर जाते हैं—"अब न उबरै स्याम।" लेकिन श्याम उनका भय दूर करने के लिए, उन्हें असुर-संहार के श्रेय का भागी बनाने के लिए पुकारते हैं—"सबै आवहु धाय। चोंच फारि बका संहारौ, तुमहु करहु सहाय।"[६०] बक को मारने के बाद सहायता की पुकार ! लेकिन सखा यह सब नहीं समझते। उनको आश्चर्य तो होता है—'ब्रज मैं को उपज्यौ यह भैया', लेकिन वहीं तक। दूसरे ही क्षण वे हर्ष और प्रेम के आवेग में कृष्ण को वनमाला पहनाकर बार-बार हृदय से लगाते हैं—

"वनमाला पहिरावत स्यामहिं बार-बार अँकवार भरत धरि।"[६१]

५७—सूरसागर, द० स्कं० १२१६। ५८—वही ४४९। ५९—वही ४५०। ६०—वही ४२७। ६१—वही ४२९।

अघासुर के मुख में पहुँचकर कृष्ण के धीरज बँधाने पर भी सखा व्याकुल हो जाते हैं—"अब को सकै उवारि", लेकिन अघ का ब्रह्मद्वार फोड़कर कृष्ण उन्हें वाहर निकालते हैं, तो वे कहते हैं—'हम अजान कत डरत हैं, कान्ह हमारैं पास।" यहाँ भी कृष्ण कार्य-व्यापार को स्वाभाविक रूप देने के लिए सखाओं को ही महत्त्व देते हैं—

हरि हँसि वोले वैन, संग जौ तुम नहिं होते।
तुम सव कियौ सहाइ, भयौ तव कारज मोते।[६२]

अलौकिकता का रंग नहीं चढ़ पाता, लेकिन कार्य अद्भुत पराक्रम का तो है ही। नन्द-यशोदा के आगे सखा छाती फुलाकर कहते हैं—

याकैं वल हम वदत न काहुहिं, सकल भूमि तृन चारयौ।
जीते सवै असुर हम आगैं, हरि कवहूँ नहिं हारयौ।[६३]

असुरों का संहार तो पलभर की वात है। संहार की प्रक्रिया (कृष्ण का शरीर विस्तार करना आदि) भी अदृश्य रहती है, सखाओं के सामने केवल फल उपस्थित होता है। वहाँ माहात्म्य-वोध होते न होते हर्ष और प्रेमातिरेक से वह आवृत भी हो जाता है। लेकिन गोवर्धन-धारण का कार्य क्षणिक नहीं, सात दिनों तक कृष्ण को वायें हाथ की कानी उँगली के नाखून पर उस विराट् पर्वत को धारण करना है, सात दिनों तक समग्र व्रजवासियों की चेतन दृष्टि उनपर केन्द्रित रहेगी। इसलिए यहाँ माहात्म्य-विस्मरण की योजना भी विशद है! उसके लिए आकाशवाणी होती है—"सत्य वचन गिरिदेव कहत हैं", कान्ह लेहि मोहिं कर उचकाइ!"[६४]

अव पर्वत-धारण में अलौकिकता कृष्ण की नहीं गोवर्धन देवता की है। फिर भी कृष्ण को श्रम तो हो ही रहा है, अतः सखा उनके दाहिने हाथ को सहारा देते हैं—

"गिरिवर टेकि रहे वाएँ कर, दच्छिन कर लियौ सखनि उठाइ।"[६५]

माँ यशोदा भी अपने नन्हें लाल का हाथ दवा रही हैं—

"जननि जसोदा कर लै चापति, अति स्रम होय नन्हैया।"[६६]

सखा सोचते हैं—एक ही मुद्रा में कृष्ण कव से पर्वत को धारे हुए हैं। कहीं ऐसा न हो कि उनका हाथ थक जाये, पर्वत वैठ जाये।

गिरि जनि गिरै स्याम के कर तैं।

....

लै लै लकुट ग्वाल सव धाए, करत सहाय जु तुरतैं।
यह अति प्रवल, स्याम अति कोमल, रवकि-रवकि हरवर तैं।[६७]

नन्द आदि को विस्मित होते देख उन्हें भी कृष्ण सहारा देने के लिए वुला लेते हैं। सव व्यस्त हो जाते हैं। अव किसी को फुरसत ही कहाँ कि इस कार्य की अलौकिकता के वारे में सोचे। सव सहज स्वाभाविक लगता है। हाँ कठिन और परिश्रमसाध्य जरूर है। लेकिन विपत्ति जव टल जाती है, घटना स्मृति वन जाती है, तव उसे याद कर सखाओं को वड़ा कुतूहल होता है—

६२– सूरसागर, द० स्कं० ४३१। ६३– वही ४३३। ६४– वही ८७१। ६५– वही ८७२। ६६– वही ८७५। ६७– वही ८७३।

क्यौं राख्यौ गोवर्धन स्याम ।
अति ऊँचौ, विस्तार अतिहिं, वह लीन्हौ उचकि करज-भुज-वाम ।[६८]

यहाँ वलदेव के सम्बन्ध में एक वात समझ लेनी चाहिए। वे भाई होने साथ सखा भी हैं, किन्तु अन्य सखाओं से विशिष्ट। उन्हें कृष्ण के ब्रह्मत्व का ज्ञान है। भाई, सखा और ज्ञाता, तीनों रूपों का वे साथ-साथ निर्वाह करते हैं। भाई के रूप में माँ को समझाकर कृष्ण को गोचारण के लिए ले जाते हैं और कृष्ण के शब्दों में "मोकौं वन-फल तोरि देत हैं, आपुन गैयनि घेरत ।"[६९] सखा के रूप में साथ खेलते हैं, चिढ़ाते हैं, और ज्ञाता के रूप में कृष्ण की लीलाओं पर टिप्पणी करते हैं। कृष्ण गरम दूध पीने में नखरा करते हैं, तो वलदेव कहते हैं—

"तातौ लगत डारि तुम दीन्हौ, दावानल अँचवत नहिं ताम ।"[७०]

कालीदह में कृष्ण के कूदने पर विकल व्रजवासियों को सान्त्वना देते हैं—"वै अंतरजामी अविनासी""रमा सहित जल ही के वासी" ।[७१] माँ जव हाऊ का भय दिखाती हैं और कृष्ण पूछते हैं "मैया कौन पठाए हाऊ ?" तो वलदेव हँसते हैं—"अव डरपत सुनि-सुनि ये वातैं, कहत हँसत वलदाऊ। सप्त रसातल सेषासन रहे, तव की सुरति भुलाऊ ।"[७२]

उलूखल-वन्धन के समय ये तीनों भाव उनमें एक साथ प्रकट होते हैं। एक ओर तो

देखि स्याम ऊखल सौं वाँधे, तवहीं दोउ लोचन भरि आए।
मैं वरज्यौ कै वार कन्हैया, भली करी दोउ हाथ वँधाए।
अजहूँ छाँड़ौगे लँगराई, दोउ कर जोरि जननि पै आए।
स्यामहिं छोरि मोहिं वाँधै वरु.......... ।[७३]

और दूसरी ओर

निरखि स्याम हलधर मुसुकाने ।
को वाँधै, को छोरै इनकौं, यह महिमा येई पै जाने ।[७४]

वलदेव अंशावतार भी हैं। धेनुक-वध कृष्ण नहीं, वलदेव ही करते हैं।

कृष्ण की कुछ मधुर लीलाओं में समवयस्य अर्थात् समवय-समशील सखा उनके साथ रहते हैं। कृष्ण नयी-नयी योजनाएँ वनाते हैं, सखाओं के सामने रखते हैं। और सखा प्रसन्न हो उठते हैं उनकी मौलिक सूझ पर। माखनचोरी का आरम्भ भी ऐसे ही होता है। सखाओं की टोली निकल पड़ती है दिन-दहाड़े चोरी करने—अगुआ कृष्ण हैं। इधर-उधर घरों के भीतर की आहट लेते हुए वे एक जगह रुकते हैं। कृष्ण खिड़की से भीतर झाँकते हैं—गोपी दही मथ रही है। हाँ अव मथानी रख दी, यह उठी, वाहर निकली। कृष्ण तो ताक में हैं ही। वस मण्डली को ले घुस पड़ते हैं। सव दही-माखन खाकर, मटकियाँ खाली कर हँसते हुए वाहर आते हैं। सामने गोपी खड़ी है। पूछ वैठती है—"कहँ आए व्रज-वालक सँग लै, माखन मुख लपटान्यौ ।" कृष्ण झट एक सखा का हाथ पकड़ सफाई देते हैं—"खेलत तैं उठि भज्यौ सखा यह, इहिं घर आइ छपान्यौ ।"[७५] और गोपी की प्रतिक्रिया देखे विना तेजी से वाहर निकल जाते हैं।

वे इस वात का ख्याल रखते हैं कि चौरकर्म में यदि पकड़े जायें, तो सखा न फँसे। इसलिए पहले वे घर के भीतर की स्थिति को भाँपने की चेष्टा करते हैं। सखाओं को वाहर छोड़ अकेले दवे पाँव भीतर प्रवेश करते हैं। कोई नहीं—सव ठीक है। इशारे से सखाओं को वुलाते हैं। खूव खाते हैं, खिलाते हैं, पर हैं चौकन्ने। इधर-उधर देखते जाते हैं, कहीं गोपी आ तो नहीं रही—

६८– सूरसागर, द० स्कं० ९६२। ६९– वही ४२४। ७०– वही ४९७। ७१– वही ५४९। ७२– वही २२१। ७३– वही ३७०। ७४– वही ३८०। ७५– वही २७०।

सैन देइ सब सखा बुलाए, तिनहिं देत भरि-भरि अपनैं कर ।
छिटकि रही दधि-बूँद हृदय पर, इत-उत चितवत करि मन मैं डर ।
उठत ओट लै लखत सवनि कौं, पुनि लै खात लेत ग्वालनि बर ।[७६]

सखाओं के साथ वे गोपियों पर जासूसी भी करते हैं । एक ग्वालिन यमुना की ओर जाती दिखाई देती है, पहुँच जाते हैं उसके घर । एक दूसरी ग्वालिन मथुरा जानेवाली है । उसके घर के पीछे दुबककर बैठ जाते हैं, और ग्वालिन के निकलते न निकलते घर में धावा बोल देते हैं—"सूर पौरि लौं गई न ग्वालिनि, कूद परे दै धहियौ ।"[७७] ग्वालिन लौट आती है । सखा तो चकमा देकर खिसक जाते हैं, कृष्ण पकड़े जाते हैं ।

कृष्ण प्रायः गोपियों की पकड़ में आ जाते हैं और सखा हमेशा निकल भागते हैं । कभी ग्वालिन के आने से पहले ही कृष्ण सखाओं को विदा कर देते हैं—'ग्वाल दए चलाइ ।'[७८] और इसके बाद कभी गोपियों का माधुर्य उमड़ता है, कभी यशोदा का वात्सल्य ।

यशोदा के आगे गोपियों के उलाहनों से सखा-मण्डली की विशालता और कृष्ण की मधुर प्रवृत्तियों का संकेत मिलता है; चोरी की जगह अब वे सीनाजोरी करने लगे हैं—

लरिका सहस एक सँग लीन्हे, नाचत-फिरत साँकरी खोरि ।
मारग तौ कोउ चलन न पावत, धावत गोरस लेत अँजोरि ।[७९]

× × × × × ×

रितु आए कौ खेल, कन्हैया सब दिन खेलत फाग ।
रोकि रहत गहि गली साँकरी, टेढ़ी बाँधत पाग ।[८०]

ये टेढ़ी पागवाले कन्हैया अब तक गली रोकते थे, अब पनघट रोकने लगे हैं । कभी गोपियों की प्रतीक्षा में "सखा लिए जमुना तट बैठ्यो,"[८१] कभी "ग्वाल सखा सँग लीन्हे डोलत, दै-दै हाँक जहाँ-तहँ धावत ।"[८२] वे गोपियों को कंकड़ मारते हैं, उनकी गगरी ढुलकाते हैं, तरह-तरह की छेड़खानी करते हैं, और सखा चुपचाप देखते रहते हैं—न कुछ बोलते हैं, न हँसते हैं, न तालियाँ बजाते हैं । सखाओं के उत्साह की यह कमी पूरी होती है दानलीला में, जहाँ वे सक्रिय और वाचाल हैं—'प्रियनर्मसखा' की भूमिका के सफल निर्वाहक ।

गोपियाँ रोज सबेरे दूध-दही-घी बेचने मथुरा जाती हैं । यमुना के जिस घाट से वे पार होती हैं, उस घाट को रोकने के लिए कृष्ण सखाओं के साथ भोरे ही आ जाते हैं । कुछ सखा पेड़ों पर छिपे हुए, कुछ इधर-उधर पेड़ों के नीचे ठगों-सा ठाठ बनाये, कुछ कृष्ण के साथ गोपियों के मार्ग में तैनात । गोपियाँ आती हैं, कृष्ण इशारा करते हैं और सब सखा एक साथ मुरली, शंख, विषाण, वेणु फूँकते हैं, पेड़ों की डालियाँ झकझोरते हैं । गोपियाँ चकित—

चकित भईं तरु-तरु प्रति देखत, डारनि-डारनि ग्वाल ।
कूदि-कूदि सब परे धरनि मैं, घेरि लईं ब्रज-बाल ॥[८३]

गोपियाँ सहम जाती हैं, सखा आश्वस्त करते हैं—डरो मत, हम कोई चोर लुटेरे नहीं; हमें कृष्ण ने भेजा है । फिर डाँटते हैं—तुम रोज इधर से जाती हो मथुरा सामान बेचने, दान देने की सुध नहीं रहती ? तुम्हें मालूम नहीं कि कृष्ण यहाँ सब स्थानों की चुंगी लेने के अधिकारी हैं ?

७६– सूरसागर, द० स्कं० २८२ । ७७– वही ३१३ । ७८– वही २८९ । ७९– वही ३२७ ।
८०– वही ३२८ । ८१– वही १४३२ । ८२– वही १४३४ । ८३– वही १५०३ ।

गोपियाँ हँस पड़ती हैं—"चोरी भर्‌यो न पेट, आनि अब दान लगायौ"।[८४] कृष्ण सामने आते हैं। प्रेम-विवाद चलता है। गोपियाँ दही माखन देने को तैयार हैं, किन्तु दान के रूप में नहीं। पर दही-माखन तो कृष्ण छीन कर भी खा सकते हैं; उन्हें तो दान चाहिए, गोपियों के सर्वस्व का दान—

दही लेत हौं छीनि, दान अंगनि को लैहौं।
लैहौं रूपहिं दान, दान जोवन पै कैहौं॥[८५]

गोपियाँ भी अकड़ जाती हैं—"जोवन, रूप देखि ललचाने ?"[८६] तो ठीक है, अब दूध-दही भी नहीं देते। कृष्ण अकड़ कैसे सहें! झपट कर मटकी छीन लेते हैं। राधा को भी ताव आ जाता है—

प्यारी पीताम्वर उर झटक्यौ।
हरि तोरी मोतिनि की माला, कछु गर, कछु कर लटक्यौ॥[८७]

दोनों पक्ष बराबर। तब राधा बढ़कर कृष्ण का फेंटा पकड़ लेती हैं, उन्हें अँकवारी भरती हैं। गोपियाँ भी अनुकरण करती हैं। सखा किलकारी मारकर हँसते हैं, फिर डाँटते हैं—

माँगत दान ज्वाव नहिं देतीं, ऐसी तुम जोवन की जोरी।
उर नहिं मानति नंद-नँदन कौ, करति आनि झकझोरा झोरी॥[८८]

सखा गोपियों को दान दिए बिना लौटने नहीं देते, बात बढ़ती जाती है, तो राधा कृष्ण को अलग बुलाकर समझाती हैं—एक तो मैं यों ही बदनाम हूँ उसपर तुम सबके सामने ऐसी बातें कर रहे हो। बात फैल जायगी, तो मुझे और लज्जित होना पड़ेगा। दूर खड़े सखा ताड़ जाते हैं। वे राधा को समझाते हैं—

तुम प्रति अंग-अंग की सोभा, देखत हरि सुख पावैं॥
तुम नागरी, नवल नागर वै, दोउ मिलि करौ विहार।
सूर स्याम स्यामा तुम एकै, कह हँसिहैं संसार॥[८९]

ये सखा "स्याम के प्रकृति सुभाई"[९०] हैं—उनके गूढ़तम रहस्यों से परिचित, उनके लीला-सहायक। हृदय की जो बातें श्याम खुद नहीं कह पाते ये सखा कह देते हैं, और इस तरह गोपियों का संकोच दूर करते हैं। यही इनकी सीमा भी है। इनकी भूमिका वहीं तक है जहाँ तक गोपियों में मर्यादा बोध है। मर्यादा को तिलांजलि देकर जब वे पूर्ण आत्मसमर्पण करती हैं, तो इन सखाओं का प्रयोजन नहीं रह जाता। इसीलिए चीरहरण और रासलीला में इनकी प्रत्यक्ष उपस्थिति नहीं है।

अबतक मधुर प्रसंगों में छोटे-बड़ों का लिहाज है; उनकी दृष्टि से परे ये लीलायें होती हैं। सम-वयस्य वहाँ रहते भी हैं, तो अरस-परस से दूर। लेकिन होली में मर्यादायें टूट जाती हैं। वसन्त की हुलसाती उमंग के रस रंग में लाज-कानि छोड़ ब्रजमण्डल डूब जाता है। 'अग्रज, अनुज सुबाहु, श्रीदामा', वृन्द, तोक आदि सखाओं के साथ कृष्ण होली खेल रहे हैं—सब दधि-गोरसमाते, रंग-बिरंगी पाग कसे—फेंटों में अबीर कीं झोलियाँ। उधर से राधा के साथ झूमक गाती झूमती गोपियाँ आती हैं—सब सजी-धजी फुल-वारियों-सी रँगराँची, रसभीजी—और गोपों की टोली में मिल जाती हैं—

गोपी ग्वाल मिले इकसारी। बचत नहीं बिनु दीन्हे गारी॥
आनि अचानक अँखियाँ मीचैं। चंदन बंदन ऊपर सींचैं॥[९१]

यह निरामिष होली है। इसके बाद दोनों टोलियाँ आमने-सामने आ जाती हैं। इधर कृष्ण और उनके सखा—ताल, मृदंग, बीन, बाँसुरी, डफ—होली के गीत और अबीर। उधर राधा और उनकी सखियाँ—

८४– सूरसागर, द० स्कं० १४६१। ८५– वही १४६१। ८६– वही १४७१। ८७– वही १५३१।
८८– वही १५३४। ८९– वही १५५८। ९०– वही १५५८। ९१– वही २८९६।

चोवावा, चन्दन अगरु और कुमकुम के कलश—पिचकारियाँ और गालियाँ। होली मची है। सखा आवाज कसते हैं—"कह्यौ न, करौ री"[९२] अरे, गालियाँ क्या देती हो, कुछ करके दिखाओ। गोपियाँ डण्डे उठा लेती हैं; सखाओं में भगदड़ मच जाती है—"मारति बाँस लिए उन्नत कर, भाजत गोप त्रियनि सौं हारी।"[९३] गोपों के हाथों में भी 'जेर' (छोटी लकुटिया) है, पर तड़ातड़ बजते डण्डों के आगे उनकी क्या बिसात! इस 'झोराझोरी' में ललिता, चन्द्रावली कृष्ण को बाँहों में जकड़ लेती हैं, सखियाँ घेर लेती हैं। कोई पीतांवर झटकती है, कोई बाँह मोड़ मुरली छीन लेती है, कोई गले लगकर छेड़ती है—

तव तुम चीर हरे जमुना-तट, सुधि विसरे माखन-चोरी की।
अव हम दाउँ आपनौ लैहैं, पाइ परी राधा गोरी की॥[९४]

कृष्ण व्याकुल! वड़े हाथ-पाँव मारते हैं और किसी तरह दाँव लगाकर निकल भागते हैं पर पीताम्वर तो विजय-पताका-सा सखियों के हाथ में फहरा रहा है। एक सखा को भेजते हैं गोपी-वेश में। वह सखियों में मिल जाता है, पीतांवर देख हँसता है—"मोहिं देहु राखौं दुराइ कै, स्यामहिं जनि लै देहु।"[९५] गोपियों से पीताम्वर लेकर वह छिपा लेता है। फिर धीरे-से चम्पत! उधर सखियाँ चकित—पीताम्वर तो कृष्ण के हाथ में लहरा रहा है।

कृष्ण अव सतर्क हो जाते हैं। सखाओं को भी सावधान करते हैं—कहीं गोपियों की पकड़ में न आ जाना, वुरी गत वनायेंगी। इधर राधा का संकेत पाकर एक सखी वलदेव का वेश वनाती है। कृष्ण उनसे मिलने जाते हैं और फँस जाते हैं। कभी गोपियों की चतुरता से, कभी वलदेव या श्रीदामा के षड्यन्त्र से वे वारवार गोपियों के हाथ पड़ जाते हैं और वे उनके साथ मनमानी करती हैं। उनकी आँखें आँजती हैं, माथे में सिंदूर लगाती हैं, वेणी गूँथती हैं, साड़ी पहनाती हैं। उन्हें सखी सजाकर उनपर पीताम्बर न्यौछावर करती हैं, उनकी मुरली खुद वजाती हैं। फिर कोई ठोढ़ी उचकाती है, कोई कपोल मसलती है, कोई चुम्वन लेती है। कोई आँखों में आँखे डालकर कहती है—जरा, इधर भी तो देखो। वे सव "मगन भईं अप वपु न सम्हारति। लालन भुज अपनैं उर धारति।" और तो और, 'नख-छत-छाप' भी वना देती हैं। गुरुजन सामने हैं, पर "तिनकौं तरुनी तृन सम लेखैं" कृष्ण लज्जित—"देखत सखा दूरि भए ठाढ़े, निरखत स्याम लजाइ।"[९६] ऐसी स्थिति में कृष्ण को वचाने की चेष्टा में पहले कई वार सखाओं ने गोपियों के डण्डों की मार भी सही थी, लेकिन वार-वार कृष्ण का जव इसी तरह शृंगार होता है, तो सखाओं के लिए भी वे हास्य के आलम्वन वन जाते हैं—

ग्वाल हँसे मुख हेरि कै, अति वने कन्हाई।
हो हो करि करि कहत हैं, अति वने कन्हाई।
महर हँसे छवि देखि कै, अति वने कन्हाई।
सुनि जननी तहँ आइ, आजु अति वने कन्हाई।[९७]

मेवा, पट-भूषण आदि मँगाकर माँ यशोदा गोपियों को देती हैं, तव कहीं कृष्ण को वे छोड़ती हैं, और छूटते ही कृष्ण वदला लेते हैं, वलदेव को पकड़ाते हैं। गोपियाँ उनकी भी आँखें आँजती हैं, मुँह रँगती हैं, उनसे राधा के पाँव छुवाती हैं—

सव गोपिनि हलधर पकरि, (हो) छाँड़े पाइ लगाइ।
दाऊ आजु भले वने, (हो) आए आँखि अँजाइ॥[९८]

९२– सूरसागर, द० स्क० २८९४। ९३– वही २८९३। ९४– वही २८७२।
९५– वही २८७७। ९६– वही २८९८, २९०१। ९७– वही २८९९। ९८– वही २९००।

वसन्त का उत्सव—मदनोत्सव। उधर बारहों वन टेसुओं से रतनारे, इधर गोकुल की गैलें, यमुना-तट, वृन्दावन कुमकुम-अबीर से लाल। प्रतिपदा से पूनो तक नित नयी रंगरेली, उच्छल रस—मर्यादा नैतिकता का विराम। सबमें केवल एक संवेदन—आनन्द का। कृष्ण की मुरली में, गोपियों के नूपुर में, सखाओं के ताल-डफ-मृदंग में केवल एक गमक–आनन्द की।

इसके बाद ही विछोह की कसक और विषाद। अक्रूर आते हैं। कृष्ण प्रसन्न हैं—कल हमें राजा ने बुलाया है। सखा चकित—यह कह क्या रहे हो? उनकी आँखें भर आती हैं। कृष्ण बात बनाते हैं—कल राजा को देखने चलेंगे। इसमें डरने की क्या बात? पर सखाओं का मन कैसा-कैसा हो जाता है। नन्द के साथ वे मथुरा जाते हैं, वहाँ कृष्ण के साथ रहते हैं, नृप-वसन पहनते हैं, धनुष-भंग, गज और मल्लों के बाद कंस का वध और उग्रसेन का राज्यारोहण देखते हैं, पर पहले का-सा सख्य का हुलास अब नहीं है, निरन्तर कृष्ण से दूरी का एहसास होता रहता है। कृष्ण भी अब बदले-बदले दिखायी देते हैं। लगता है उनमें अब "जसुमति सुत कौ भाव नहीं।"[९९] इस आशंकाभरी स्थिति को कृष्ण शीघ्र समाप्त कर देते हैं। अपने अवतार का प्रयोजन और सांसारिक सम्बन्धों की असारता बताकर, नन्द और सखाओं को प्रबोध कर विदा करते हैं। आश्वासन इतना ही है कि वे एक बार फिर मिलेंगे।

सखा विरह से कातर हैं—"व्याकुल सखा गोप भए व्याकुल। अंतक-दसा भए भय-आकुल॥"[१००] उठते-बैठते, सोते-जागते, गोकुल की गैल-गैल नदी-तट, वन-उपवन में खेलते, गाय चराते जो सदा उनके अस्तित्व का केन्द्र बना रहा, उसके बिना सब कुछ कैसा सूना-सूना लगता होगा। विलाप वे नहीं करते, पर मन तो रोता होगा। सूर ने उनकी विरह-दशा को तूल नहीं दिया, पर उसकी जो भी झांकी हमें मिलती है, वह बड़ी ही कोमल और मार्मिक है। सुध-बुध खोकर कृष्ण की भावना में डूबे सखा धीरे-धीरे कृष्णमय हो जाते हैं; उनकी लीलाएँ रचते हैं, गुणगान करते हैं। गोकुल आये कृष्णदूत उद्धव विभोर होकर यह सब देखते हैं। मथुरा लौटकर वे कृष्ण के आगे गोपियों की विरहाकुलता का वर्णन करते हुए सखाओं की तन्मयता का भी चित्रण करते हैं—

> एक ग्वाल गोसुत ह्वै रेंगत, एक लकुट कर लेत।
> एक मंडली करि बैठारत, छाक बाँटि इक देत॥
> एक ग्वाल नटवर वपु लीला, एक कर्म गुन गावत।[१०१]

कुरुक्षेत्र में फिर एक बार कृष्ण से भेंट होती है। कृष्ण अपनी ओर से सखा की तरह ही मिलते हैं, पर सखा अब जानते हैं कि वे अवतार हैं; उनसे बातें क्या करें! कृष्ण ही सुबल, सुदामा आदि को सम्बोधित कर अपनी भक्तवत्सलता और गोकुल-प्रेम की बातें कर उनके प्रेम को दृढ़ करते हैं—

> कहा भयौ जो देस द्वारिका, कीन्हौ दूरि बसेरौ।
> आपुन ही या ब्रज के कारन, करिहौं फिरि-फिरि फेरौ॥
> ....
> सूर हृदय तैं टरत न गोकुल, अंग छुअत हौं तेरौ॥[१०२]

कृष्ण के परवर्ती सखाओं में उद्धव, सुदामा और अर्जुन उल्लेखनीय हैं। उद्धव और कृष्ण में जितनी समता है, उतनी ही विषमता। दोनों का रूप-रंग एक-सा, पर कृष्ण तो व्रजवासियों के प्रेम में पगे हैं और उद्धव प्रेम से विरस—ज्ञानयोगी। दोनों "सदा मिलि इक साथ बैठत, चलत बोलत संग"[१०३], फिर भी मन की बातें कृष्ण उनसे नहीं कर पाते, कारण, "सखा हमकौं मिले ऊधौ, बचन मारत माथ"।[१०४] कृष्ण

९९– सूरसागर, द० स्क० ३११२। १००– वही ३११५। १०१– वही ४१४५।
१०२– वही ४२९५। १०३– वही ३४१४। १०४– वही ३४१७।

को इस बात की पीड़ा है कि उद्धव सख्य की महिमा से अनजान हैं। इसीलिए तो ऐसी अनीति करते हैं—

जदुपति जानि उद्धव रीति।
जिहिं प्रगट निज सखा कहियत, करत भाव अनीति ॥
....
त्रिगुन तन करि लखत हमकौं, ब्रह्म मानत और।[१०५]

ऐसा ज्ञान भी क्या जो प्रेम को न स्वीकारे; प्रेम विना जीवन किस काम का, और विरह विना प्रेम कैसे उपजे। सखा के परम हित की दृष्टि से कृष्ण चाहते हैं कि वे प्रेममय बनें—"सूर कैसैंहु प्रेम पावैं, तबहिं होइ सुरूप"।[१०६] पर समझाने से तो उद्धव मानेंगे नहीं, इसलिए उनके ज्ञानगर्व को उकसाकर उन्हें गोकुल भेज दिया जाये गोप-गोपियों को योग की सीख देने। यह सोचकर कृष्ण कहते हैं—

ऊधौ ब्रज कौं गमन करौ।
हमहिं विना गोपिका विरहिनी, तिनके दुःख हरौ ॥
जोग ज्ञान परवोधि सवनि कौ, ज्यौं सुख पावैं नारि।[१०७]

कृष्ण की पाती लेकर उद्धव गोकुल जाते हैं। उनका योग गोपियों के नैन-नीर में वह जाता है, स्वयं वे गोपियों के "अर्ध-वचन मैं मात" हो तन्मय हो जाते हैं। छः महीने बाद मथुरा लौटकर वे कृष्ण के आगे ब्रजवासियों की विह्वलता और अपनी भावदशा का वर्णन करते हुए पूछ बैठते हैं—तुमसे गोपियों का दुःख सहा कैसे जाता है ?—

मोहिं आचरज एक पै लागत, तुम पै जात सह्यौ।
सूर स्याम सुनि सखा सयानौ लै भुज बीच गह्यौ ॥[१०८]

ब्रज में उद्धव को कृष्ण की नित्य लीला का भी आभास हुआ था। वे कृष्ण से कहते हैं—

ब्रज मैं एक अचंभौ देख्यौ।
मोर मुकुट पीतांवर धारे, तुम गाइनि सँग पेख्यौ ॥[१०९]

प्रकट लीला में कृष्ण अभी मथुरा में हैं, लेकिन अप्रकट रूप से तो ब्रज में उनकी नित्य लीला होती ही रहती है। "ब्रजति व्याप्नोति इति ब्रजः" के अनुसार भी 'मूल परब्रह्म की नित्य लीला-भूमि होने से तद्रूपतया जो व्याप्त है, वही ब्रज है।"[११०]

दूसरी बार उद्धव के दर्शन उस समय होते हैं जब कृष्ण उन्हें बदरिकाश्रम जाने की आज्ञा देते हैं। यहाँ उद्धव का दास्यभाव प्रधान हो उठता है; कृष्ण भी उन्हें 'भृत-रीति' का स्मरण कराते हैं।

दूसरे सखा सुदामा हैं। वस्तुतः सखा तो वे तब थे जब संदीपनी गुरू के आश्रम में साथ पढ़ते थे। अव उनकी व्यक्त भावना दास्य की है, किन्तु कृष्ण उन्हें सखा ही मानते हैं। उनके आने का समाचार सुन दौड़कर उनका स्वागत करते हैं, गले लगाते हैं, अपने पीतांवर से उनके पाँव की धूल पोंछते हैं, अर्द्धासन पर बैठाते हैं। रुक्मिणी पूछती हैं—कौन हैं ये 'छीन मलीन'? कृष्ण गौरव से कहते हैं—हमारे सखा। संदीपनी गुरू के यहाँ हम एक साथ पढ़ते थे।

गुरु-गृह हम जब वन कौं जात।
तोरत हमरे वदलैं लकरी, सहि सब दुख निज गात ॥[१११]

१०५– सूरसागर, द० स्क० ३४१३। १०६– वही ३४१२।
१०७– वही ३४२८। १०८– वही ४१३१। १०९– वही ४१५३।
११०– श्रीमद्भक्तिरसायन २।७१ की विवृति। १११– सूरसागर, दशम स्कंध ४२३१।

वे गद्‌गद् हैं । सुदामा से कहते हैं—तुम्हारे अरस-परस से हम कृतार्थ हुए । पर यह तो बताओ कि "खैवे कौं कछु भाभी दीन्ही ?" सुदामा को और भी संकोच होता है । वे कृष्ण के लिए साथ लाए चावल की पोटली छिपाते हैं; कृष्ण छीन लेते हैं—

फेंट उपर तैं अंजुल तंदुल, वल करि हरि जू खोले ।।
द्वै मूठी तंदुल मुख मेले, वहुरौ हाथ पसारयौ ।[११२]

सूखे चावल स्वाद से चवाते हैं, फिर और माँगते हैं । पुरानी वातें याद कर पूछते हैं—

वह सुधि आवत तोहिं सुदामा ।
जव हम तुम वन गये लकरियनि, पठये गुरु की भामा ।[११३]

याद है, एक दिन वन में पानी वरसने लगा था । हम लौट नहीं सके, वहीं रह जाना पड़ा । भोरे ही गुरू हमें लेने आये थे। सच, सुदामा, तुम्हारा उपकार मैं भूल नहीं सकता; उसका प्रतिदान कभी संभव नहीं ।

सुदामा मुग्ध होकर लौटते हैं । गये थे कुछ धन की इच्छा से, पहुँचकर कामना की, "सो दीजै जो चित न डुलावत", और लौट कर पाया अविचल भक्ति के साथ विपुल ऐश्वर्य । पत्नी से कहते हैं—

ऐसैं और कौन पहिचानै ।
सुनु सुंदरि वा दीनवंधु विन कौन मित्रई मानै ।।[११४]

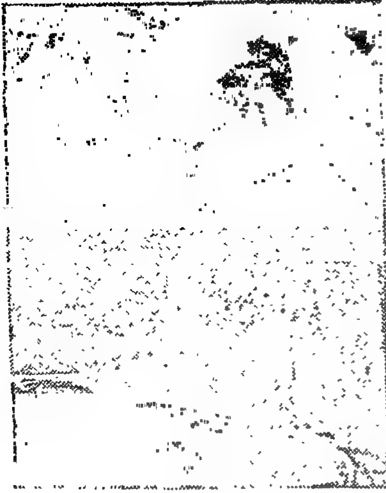
अर्जुन पुरवासी सखाओं में सर्वश्रेठ माने जाते हैं,[११५] किन्तु सूरदास ने मात्र भागवत के कथा-प्रसंगों का निर्वाह करने के लिए उनके सख्य का संक्षिप्त वर्णन किया है । अर्जुन द्वारा की गयी शंखचूड़ ब्राह्मण के पुत्र की रक्षा की प्रतिज्ञा पूरी करने के लिए कृष्ण अर्जुन को अपने रथ पर वैठाकर रहस्यमय मार्ग से श्री अनन्त भगवान् के दिव्य धाम में ले जाते हैं और शंखचूड़ के दशों पुत्रों को लेकर लौटते हैं । अर्जुन को विस्मय होता है—"नहिं जान्यौ मैं कहाँ सिधायौ । अरु ह्वाँ तैं ह्याँ कैसें आयौ ।।" तव कृष्ण उन्हें अपना स्वरूप दिखलाते हैं—"हरि अर्जुन कौं निज जन जान । लै गए तहँ न जहाँ ससि भान ।। निज स्वरुप अपनौ दरसायौ । जो काहूँ देखन नहिं पायौ ।।"[११६]

सुभद्रा-हरण के समय कृष्ण अर्जुन की सहायता करते हैं । अर्जुन-सुभद्रा के विवाह का श्रेय भी उन्हीं को है । महाभारत-युद्ध में वे अर्जुन के सारथी वनते हैं और उनके कारण शस्त्र-ग्रहण न करने की अपनी प्रतिज्ञा तोड़ते हैं । भीष्म के शब्दों में "प्रभु पारथ द्वै नाहीं ।"[११७] कृष्ण के लीला-संवरण का समाचार सुन अर्जुन पछाड़ खाकर गिर पड़ते हैं, असहाय होकर विलाप करते हैं—

हरि विनु को पुरवै मो स्वारथ ।
मीड़त हाथ सीस धुनि ढोरत, रुदन करत नृप पारथ ।।[११८]

ऊपर के विवेचन से यह स्पष्ट है कि सख्य की विश्रम्भ-प्रीति को सूरदास ने मर्मस्पर्शी अभिव्यक्ति प्रदान की है, जिसमें काव्य का थोथा चमत्कार नहीं, सहज सरल भाषा में व्यंजित साहचर्यजन्य स्वाभाविक स्नेह है जिसकी सान्द्रता माहात्म्य को घुलाकर हमें तन्मय कर देती है । यह तन्मयकारी गुण ही सूरदास का वैशिष्ट्य है और इसी के कारण उनका सख्य-चित्रण महिमामण्डित हो गया है । ■

११२– सूरसागर, द० स्क० ४२४५ । ११३– वही ४२३३ । ११४– वही ४२४१ ।
११५– श्रेष्ठः पुरवयस्येषु भगवान् वानरध्वजः— भ० सिंधु, प० वि०, ३।८
११६– सूरसागर, १०।४३०९ । ११७– वही १।२६९ । ११८– वही १।२८७ ।



सूर की कृष्णप्रिया

डॉक्टर प्रेमशंकर

राधा का प्रश्न, सम्पूर्ण विचार-विनिमय के बावजूद आज भी विवादास्पद बना हुआ है। भागवत में राधा की अनुपस्थिति ने प्रश्न को काफी उलझा दिया है; इतना ही नहीं, कृष्ण से सम्बद्ध विष्णु पुराण तथा हरिवंश पुराण में भी उसकी चर्चा नहीं। ब्रह्मवैवर्त पुराण में राधा और कृष्ण की लीलाएँ विस्तार से आई हैं, यद्यपि विद्वान उसकी प्रामाणिकता में ही संदेह करते हैं। निम्बार्क और वल्लभ सम्प्रदायों में राधा को कृष्ण की आह्लादिनी शक्ति के रूप में चित्रित किया गया है और राधावल्लभ सम्प्रदाय में तो राधा प्रथम स्थान पर हैं ही। आचार्य बलदेव उपाध्याय ने अष्टछापी काव्य में राधा का विवेचन करते हुए लिखा है—"राधा और कृष्ण देखने में दो तत्त्व प्रतीत होते हैं, परन्तु वे हैं वस्तुतः एक ही अभिन्न तत्त्व। नित्य वृन्दावन में नित्य विहार करनेवाले राधाकृष्ण की यह युगल जोड़ी शक्ति से मण्डित शक्तिमान के परस्पर संश्लिष्ट रूप के मंजुल सामरस्य का प्रतीक है।"

सूर जब राधा को कृष्णप्रिया के रूप में अपने पदों में स्थान देते हैं तो निश्चित ही उनके समक्ष वल्लभ सम्प्रदाय की यह अवधारणा उपस्थित है कि राधा कृष्ण की आह्लादिनी शक्ति है और लगभग अपृथक्। राधावल्लभ सम्प्रदाय में युगलमूर्ति का महत्त्व स्थापित है, पर पुष्टिमार्गीय भक्ति में भी राधा के बिना कृष्ण का व्यक्तित्व जैसे अपूर्ण लगता है। सूर के पूर्व जयदेव राधा-कृष्ण को शृंगार की भूमि पर चित्रित कर चुके थे, पर सूरसागर में राधा को नया व्यक्तित्व देने की चेष्टा की गई है। राधा-कृष्ण के प्रथम मिलन को सहज भाव से अंकित किया गया है—'सूर स्याम देखत ही रीझे, नैन-नैन मिलि परी ठगौरी'[1] इसके पूर्व कवि राधा के मन में कृष्ण की छवि बसा चुका है—"सूर स्याम चितवत गए मो तन, तन मन लियौ अँजोरि।"[2] कृष्ण सीधे ही प्रस्ताव करते हैं, और कहा गया है—"सूरदास प्रभु रसिक सिरोमनि, बातन भुरइ राधिका भोरी।"[3] यह उभयपक्षी प्रेम था—

> प्रथम सनेह दुहूँनि मन जान्यौ।
> नैन-नैन कीन्हीं सब बातैं, गुप्त प्रीति प्रगटान्यौ॥[4]

सूर राधाकृष्ण के आरम्भिक स्नेहभाव को गोकुल के परिवेश में चित्रित करते हैं। यमुना-तट, खरिक—ये मिलन-स्थल बनते हैं। धीरे-धीरे यह प्रेम अधिक खुली भूमि पर आता है—स्वच्छन्द वन-विहार

१– सूरसागर (ना० प्र० सभा) १२९० ।   २– वही १२८८ ।   ३– वही १२९१ ।
४– वही १२९२ ।

होता है।[५] राधा और कृष्ण एक दूसरे के घर आना-जाना आरम्भ करते हैं।[६] सूर ने प्रेमी-प्रेमिका के सहज भाव-भरे शब्द उरेहे हैं—

धेनु दुहत अतिहीं रति बाढ़ी।
एक धार दोहनि पहुँचावत, एक धार जहँ प्यारी ठाढ़ी॥
मोहन कर तैं धार चलति, परि मोहनि-मुख अतिहीं छवि गाढ़ी।
मनु जलधर जलधार वृष्टि-लघु, पुनि-पुनि प्रेमचन्द पर बाढ़ी॥
सखी संग की निरखति यह छवि, भई व्याकुल मन्मथ की डाढ़ी।
सूरदास प्रभु के रस-बस सब, भवन-काज तैं भईं उचाढ़ी॥[७]

सूर राधा-कृष्ण के प्रेम को गहराते चले जाते हैं। बात फैल जाती है, चर्चाएँ होने लगती हैं और कवि उनके विवाह का संक्षिप्त वर्णन करता है।[८] राधा, कृष्ण की बालप्रिया है जो किशोरावस्था में पहुँचते-पहुँचते कृष्णमय हो जाती है।[९] उनके घनिष्ठ मिलन-दृश्य बनाते हुए सूर निश्चित ही तन्मयता की पूर्णता पर पहुँचते हैं। रास का दृश्य है, जहाँ गोपिकाएँ भी उपस्थित हैं, पर राधा की विशिष्ट स्थिति है—"मनौ घन-बीच दामिनी कौंधति सुभग, एक है रूप, द्वै नाहिं बाधा"[१०]। सूर इस प्रसंग में एक मौलिक नियोजना करते हैं। राधा के मन में गर्व हो जाता है कि "मो समान तिय और नहीं कोउ, गिरधर मैं हीं बस करि पायो"[११] और इस अहंकार से मुक्ति दिलाने के लिए कृष्ण लीला करते हैं, अन्तर्धान हो जाते हैं।[१२] राधा वियोग में मूर्छित हो जाती हैं[१३] और "रुदनी करती वृषभानुकुमारी। बार-बार सखियनी उर लावति कहाँ गए गिरिधारी॥"[१४] इस लीला का प्रयोजन राधा तथा गोपिकाओं को अहंकार से मुक्त कर कृष्ण के वास्तविक स्वरूप का बोध कराना है। कृष्ण सहसा फिर प्रकट हो जाते हैं और राधा को अंक में भर लेते हैं।[१५] थोड़े व्यवधान के अनन्तर रास पुनः आरम्भ होता है—"बहुरी स्याम सुख-रास कियौ,"[१६] "मोहन रच्यौ अदभुत रास"।[१७] यद्यपि रासक्रीड़ा में सभी गोपियाँ सम्मिलित हैं, पर राधा की स्थिति निश्चय ही सर्वप्रमुख है—

स्यामा स्याम सुभग जमुना-जल निर्भ्रम करत विहार।
पीत कमल इंदीवर पर मनु मोर भएँ नीहार॥
श्रीराधा अंबुज कर भरि-भरि छिरकति बारम्बार।
कनकलता मकरंद झरत मनु हालत पवन संचार॥
अतिसी कुसुम कलेवर बूँदैं प्रतिविम्बित निरधार।
जोतिस-चक्र गगन सौं डोलत, सखि सब करति विचार॥
धाइ धरे वृषभानु-सुता हरि, मोहे सकल सिंगार।
तड़ित जलद सूरज मानौ मिलि बरषत अमृतधार॥[१८]

सूर ने राधा को मध्यकालीन संदर्भों से गुजारा है, इसलिए वहाँ मान-मनुहार के दृश्य भी उपस्थित हैं, पर यहाँ वे सजग हैं कि कृष्णप्रिया साधारण नायिका बनकर न रह जाये, जैसा कि आगे चलकर रीति-

---

५– सूरसागर १३०४। ६– वही १३२२ आदि। ७– वही १३५४। ८– वही १६८९ से आरम्भ। ९– वही २६४०। १०– वही १६७०। ११– वही १७१८। १२– वही १७२०। १३– वही १७२६। १४– वही १७३०। १५– वही १७४३। १६– वही १७५०। १७– वही १७५१। १८– वही १७७७।

काल में हुआ। राधा कई बार मान करती है कि उसका प्रिय न जाने कहाँ भटकता रहता है[19] अथवा परोपकार में सबकी इच्छाएँ पूरी करता घूमता रहता है।[20] बिना विस्तार में गये कहा जा सकता है कि इस मान-मनुहार के माध्यम से सूर प्रचलित परम्परा का निर्वाह मात्र नहीं करना चाहते, वे दोनों के स्नेह-भाव को और प्रगाढ़ बनाते हैं।

राधा साधारण प्रिया नहीं है, वह सौन्दर्य में अप्रतिम है। इसे व्यंजित करने के लिए जब-जब सूर को अवसर मिला है, उन्होंने सर्वोत्तम उपमाओं से उसका रेखांकन किया है—क्षीण कटि, चंचल नेत्र, पुष्ट वक्ष····। कृष्ण जब प्रथम बार राधा के नेत्रों को खेल-खेल में मींचते हैं तो "अति विसाल चंचल अनियारे हरि-हाथनि न समाए।[21] विधाता ने राधा का रूप निर्मित करके जैसे सौन्दर्य के तत्त्वों को निःशेष कर दिया—"सुनि राधे तेरे अंगनि ऊपर, सुन्दरता न बची। लोक चतुर्दस नीरस लागत, तू रस-रासि-सँची।।"[22] उसके मुख की कांति के आगे निशापति चन्द्रमा फीका पड़ जाता है।[23] वह रूप की चरम सीमा है—उपमान पराजित हैं।[24] सूर ने राधा के अनेक चित्र बनाए हैं; एक लम्बे पद में उन्होंने विस्तृत वर्णन किया है—

चन्द्रमुखी, भौंहें कलंक बिच, चन्दन तिलक लिलार।
मनु बेनी भुवंगिनी परसत, स्रवत सुधा की धार।।
नैन मीन, सरवर आनन मैं चंचल करत बिहार।
मानौं कर्नफूल चारा कौं रवकत बारम्बार।।
बेसरि बनी सुभग नासा पर, मुक्ता परम सुढ़ार।
मनु तिल फूल, अधर बिम्बाधर, दुहुँ बिच बूँद-तुषार।।
सुठि सुठान ठोढ़ी अति सुन्दर सुन्दरता कौ सार।
चुवतहि चुवत सुधा रस मानौ रह गई बूँद मँझार।।[25]

पर राधा केवल अपने शारीरिक सौन्दर्य के कारण कृष्णप्रिया नहीं है, खास तौर पर जब वह विष्णु-अवतार परमाराध्य की आह्लादिनी शक्ति भी है। राधा की आध्यात्मिकता के अनेक संकेत सूरसागर में उपलब्ध हैं और विद्वानों ने इस दृष्टि से राधा, लक्ष्मी, सीता आदि में समानताएँ तक देखी हैं जिसमे औचित्य कम है। पर सूर राधा को निश्चय ही अधिक उन्मुक्त मानवीय भूमि पर उतारते हैं जहाँ शृंगार के निर्बन्ध दृश्य हैं, रासलीला के रस भरे प्रसंग। पर राधा गंगाजल की तरह पवित्र मन है—"राधा परम निर्मल नारि"[26] और उसका स्नेह निश्छल है—"राधा हरि-अनुराग भरी····स्यामहिं रंग ढरी"[27] आदि।

राधा का सही व्यक्तित्व तब उजागर होता है जब कृष्ण उसे छोड़कर मथुरा चले जाते हैं। सहसा दृश्य बदल जाता है। राधा कृष्ण के चले जाने पर अपना अस्तित्व ही जैसे खो देती है। यों तो समस्त ब्रजमण्डल भीतर से टूट चुका है—वृन्दावन उदास है, गौएँ विकल हैं, यमुना का जल तक खिन्न है। गोपिकाएँ ऊधौ से अपनी व्यथा-कथा कहते हुए राधा के विषय में कहती हैं—"जसुमति जननी प्रिया राधिका देखे औरहि देस ?" राधा विषादमग्न होकर मौन हो जाती है, केवल कृष्ण के चित्र रेखाओं में उभारती है।[28] गोपिकाओं की पीड़ा में राधा भी सम्मिलित है, पर वह कान्हा को दोष नहीं देती, अपने ही किए पर पश्चाताप करती है—"रति माँगत मैं मान कियौ सखि ···"।[29] ऊधौ कृष्ण से जाकर कहते हैं—

१९– सूरसागर २६९१। २०– वही ३१५४। २१– वही १२९३। २२–वही ३०६६।
२३– वही २३२०। २४– वही ३३९४। २५– वही ३२२८। २६– वही २४६१।
२७– वही २५१८। २८– वही ३९६४। २९– वही ४०१३।

सुनहु स्याम यह बात और कोउ क्यौं समुझाइ कहै।
दुहुँ दिसि कौ अति विरह विरहिनी कैसैं कै जु सहै ॥
जब राधा तबहीं मुख माधौ माधौ रटत रहै।
जब माधौ ह्वै जात सकल तन राधा-विरह दहै ॥
उभै अग्र दव दारु कीट ज्यौं सीतलताहिं चहै।
सूरदास अति विकल विरहिनी कैसेहुँ सुख न लहै ॥[30]

गोपिकाओं की तुलना में राधा की वियोग व्यथा को सूर शब्दों से कम कहते हैं; वे उसे पीड़ा की गहरी अनुभूति में डुवोते हैं। कनुप्रिया ने अपने प्रेमी का अपरिमित स्नेह पाया, उसमें डूबकर जीवन के सर्वोत्तम क्षण व्यतीत किए, पर उसके स्नेह की परीक्षा तो तब आरम्भ होती है जब कृष्ण गोकुल छोड़कर मथुरा चले जाते हैं। राधा स्वयं को ही दोषी मानती हैं—"मेरोइ कपट सनेहु।"[31] जब ऊधौ आते हैं तो गोपिकाएँ उत्सुकता से भर उठती हैं, पर राधा के चरणों में शक्ति ही नहीं है—

तन अति कंप विरह अति व्याकुल, उर धुकधुकि अति कीन्ही।
चलत चरन गहि रही गई गिरि, स्वेद सलिल भइ भीनी ॥
छुटी न भुज, टूटी वलयावलि, फटी कंचुकी झीनी।
मनौ प्रेम की परनि परेवा, याही तैं पढ़ि लीनी ॥[32]

ऊधौ राधा की विरह-दशा से इतने आन्दोलित हो जाते हैं कि कृष्ण से कहते हैं व्रज में फिर जाकर बस जाओ, क्योंकि तुम्हारे वियोग में राधा का शरीर जलकर राख हो गया है और "सजल लोचन चुअत उनके वहति जमुना धार"।[33] ऊधौ जैसे निर्गुणमार्गी ज्ञानी भी कृष्णप्रिया की पीड़ा से द्रवित हो उठते हैं। सूरसागर के कई पदों में उन्होंने कृष्ण से राधा की व्यथा-कथा कही है—"तुम्हरे विरह व्रजनाथ राधिका नैननि नदी वढ़ी।"[34] वहिया के एक सम्पूर्ण रूपक के द्वारा वे पीर की कथा कहना चाहते हैं। राधा और कृष्ण के प्रेम की सीमान्ती रेखाओं पर भी सूर उद्धव के माध्यम से टिप्पणी करते हैं—

उमँगि चले दोउ नैन विसाल।
सुनि सुनि यह संदेस स्यामघन, सुमिरि तुम्हारे गुन गोपाल ॥
आनन अरु उरजनि के अन्तर जलधारा वाढ़ी तिहिं काल।
मनु जुग जलज सुमेरु सृङ्ग तैं जाइ मिले सम ससिहिं सनाल ॥[35]

सूर ने राधा के वियोगचित्र को पूरा करने के लिए कुरुक्षेत्र का दृश्य निर्मित किया है। रुक्मिणी की जिज्ञासा है कि 'वृषभानु किसोरी' कौन है—"वारक हमैं दिखावहु अपने वालापन की जोरी", जिसे देखे विना आज भी मन तरसता है, क्षण युगों की तरह वीतते हैं।[36] राधा अव भी कृष्ण को उसी रूप में देखना चाहती हैं—"मुख मुरली सिर मोर पखौवा, गर घुंघचिनि कौ हार। आगैं धेनु रेनु तन मण्डित, तिरछी चितवनि चार ॥"[37] वह कुछ बोल भी नहीं पाती। राधा-रुक्मिणी की भेंट होती है—सहज भाव से—कोई उपालम्भ नहीं—"एक प्रान मन एक दुहुनि कौ, तन करि दीसति न्यारी"।[38] सूर ने वर्षों के वाद राधाकृष्ण की भेंट का चित्र खींचा है—"राधा माधव, माधव राधा, क्रीट भृंग गति ह्वै जु गई।"[39]

३०— सूरसागर ४७२३। ३१— वही ३८१४। ३२— वही ४७२१। ३३— वही ४७२५।
३४— वही ४७३०। ३५— वही ४७२९। ३६— वही ४९०३, ४९०४।
३७— वही ४९०७। ३८— वही ४९०९। ३९— वही ४९१०।

दोनों में परम अपार्थक्य भावातिरेक के क्षणों में शब्द मौन—"हरि आए हौं रही ठगी सी, जैसे चित्र धनी।"[४०] यहां सूर ने राधा को प्रेम की सर्वोच्च गरिमा से सम्पन्न किया है।

सूर राधा के अनेक चित्र बनाते हुए उसे मिलन तथा वियोग की स्थितियों से गुजारते हैं और इस प्रकार दृश्य पूरा करते हैं। जयदेव, चण्डीदास, विद्यापति तथा सूर की राधाओं पर तुलनात्मक दृष्टि डालते हुए आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी की निष्कर्षात्मक टिप्पणी है—"भारतवर्ष के किसी कवि ने राधा का वर्णन पूर्णता के साथ नहीं किया। बाल-प्रेम की चंचल लीलाओं की इस प्रकार की परिणति सचमुच आश्चर्यजनक है। संयोग की रस-वर्षा के समय जिस तरल प्रेम की नदी बह रही थी, वियोग की आँच से वही प्रेम सान्द्रगाढ़ हो उठा। सूरदास की यह सृष्टि अद्वितीय है।" सूर ने राधा का व्यक्तित्व निर्मित करने में अपनी संलग्नता का उपयोग किया है और उसे कृष्ण से भी अधिक संवेदनशीलता देकर ममस्पर्शी बनाया है।

यदि भागवत में राधा का स्पष्ट उल्लेख होता, तो विद्वानों को उसके चरित्र का उत्स खोजने में सुविधा होती और यह प्रश्न आज भी अनुत्तरित न बना रहता। पर मेरा विचार है कि सूर में राधा अपनी सम्पूर्ण मानवीयता में प्रस्तुत हुई है और यहाँ कवि के रूमानी संवेदन भी काम करते रहे हैं। राधा को दार्शनिक स्थितियों में रखकर देखने की बाध्यता सूर की सर्जनशीलता का क्षरण करती है। कृष्णप्रिया रूप में वह यों ही प्रभावी है—अपनी रूपराशि से लेकर सम्पूर्ण समर्पण तथा चरम त्याग तक। इसलिए 'राधाभाव' को सर्वोच्च स्थान दिया गया। सूर ने राधा को अपनी काव्य-सम्पत्ति बनाते हुए अपने सर्वोत्तम संवेदनों का उपयोग किया। जब कृष्ण गोधूलि वेला में लौटते हैं, तो राधा का स्नेह उद्वेलित हो उठता है—

मुख मृदु छवि मुरली-रवि-पूरित गोरज-कर्वुर केस।
नट नाटकगति विकट लटक जब बनतें कियो प्रवेस।
अति आतुर अकुलाय धाय पिय पोंछत नैन कुसेस।
कुम्हिलानो मुखपद्म परस करि देखत छविहिं विसेस।

■

रुकमिनि राधा ऐसैं भेंटी।
जैसैं बहुत दिनन की बिछुरी, एक बाप की बेटी॥
एक सुभाव एक वय दोऊ, दोऊ हरि कौं प्यारी।
एक प्रान मन एक दुहुनि कौ, तन करि दीसति न्यारी॥
निज मंदिर लै गई रुकमिनी, पहुनाई विधि ठानी।
'सूरदास' प्रभु तहँ पग धारे, जहँ दोऊ ठकुरानी॥

सूरसागर ४९०९

४०– सूरसागर ४९११।



सूर-वर्णित चीरहरण

एक अनुचिन्तन

श्री श्यामसुन्दर शुक्ल

ईश्वर ज्ञान-गम्य न होने के कारण उसका दर्शन केवल अनन्य भक्ति से ही सम्भव है—'भक्त्या त्वनन्यया शक्य'[१]। सूर इसी अनन्य भक्ति के अधिकारी बन ज्ञान की परिधि से ऊपर उठ चुके थे। 'नहि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते'[२],। यह सच होते हुए भी ज्ञान वही पवित्र है जो अनन्य भक्ति में समाप्त होकर अपनी परिधिता खो बैठे, नहीं तो महाभारतकार महाज्ञानी व्यास की तरह अशान्त और अस्थिर होना पड़ेगा—ससीमता की उत्तुंग दीवालों का घिराव उसे परतन्त्रता की टीस देता ही रहेगा, तथा पपीहे के 'पी कहाँ ?' 'पी कहाँ ?' के आर्तनाद में 'मोक्ष कहाँ ?' 'मोक्ष कहाँ ?' की कराहट व्यंग्यात्मक प्रतिप्रश्न की तरह प्रतिध्वनित होती ही रहेगी। सूर के 'चीर हरण' में 'पी यहाँ, 'पी यहाँ' का आनन्दमय आमन्त्रण है।

जो कृष्ण-कथा के ज्ञानी मात्र हैं, वे कृष्ण का आंशिक ज्ञान रखते हैं, क्योंकि ज्ञान के प्रकाश में आंशिक विचार या व्यक्तित्व ही उपलब्ध होता है। कृष्ण के सम्पूर्ण व्यक्तित्व को आत्मसात करने वाले केवल उनके भक्त ही हो सकते हैं। चीर-हरण में सूर ज्ञान की परिधि से परे भक्ति के अलौकिक दिव्य-लोक में पहुँच कर ब्रह्म-सान्निध्य से उद्भूत आनन्द के महासागर की अमृतमयी तरंगों में केलि करते हुए प्रतीत होते हैं।

भक्त की अलौकिक दृष्टि एक जीवन में नहीं आती। इसे पाने के लिए जन्म-जन्मान्तरों के कठोर प्रयासों की इस्पाती बुनियाद होनी चाहिये—'जन्मान्तर भवेत् पुण्यं तदा भागवतं लभेत्'।[३]

गोपिकाओं में ऐसे ही जन्म-जात संस्कार हैं जिनके कारण उनका व्यक्तित्व असाधारण है—उनकी लिप्साएँ, चेष्टाएँ, फल-प्राप्ति के हेतु, कल्पनाएँ, संकल्प-विकल्प, बुद्धि-विवेक, तर्क-वितर्क, पराक्रम, साधन और साध्य, सब अलौकिक हैं। फलतः चीर-हरण-लीला के समस्त व्यापार भी अलौकिकता से आप्लुत हैं, लौकिक धरातल पर खड़े रहकर उनको हृदयंगम करना असम्भव है। लौकिक धरातल पर तो श्रद्धा और विश्वास अन्धविश्वास और विवेकहीनता के पर्याय बन जाते हैं।

गोपियाँ आत्मज्ञान की तलवार से संशयरूपी अज्ञान को काट चुकी हैं[४], वे लौकिक मनोवैज्ञानिकता की सीमा पार कर चुकी हैं। जिस स्थित-प्रज्ञता को प्राप्त करने के लिए भगवान् कृष्ण अर्जुन के मोहग्रस्त

१— गीता ११।५३। २— वही ४।३८। ३— श्रीमद्भागवत।

४— तस्मादज्ञानसंभूतं हृत्स्थं ज्ञानासिनात्मना।
छित्वैनं संशयं योगमातिष्ठोत्तिष्ठ भारत॥ गीता

हो जाने पर उन्हें उपदेश देते हैं, उसे तो गोपियाँ पूर्व-जन्म से लेकर आयी हैं क्योंकि उनमें ईश्वर-भिन्न कामनाएँ कभी उत्पन्न ही नहीं हुईं।[५] वे प्रेमा-भक्ति के चरमोत्कर्ष की निदर्शन हैं।[६]

सूर के कृष्ण महापुरुष नहीं, साक्षात् भगवान् सच्चिदानन्द तत्त्व हैं। उनकी लीला अवर्णनीय है।[७]

गोपियाँ वचपन से ही उनके अद्‌भुत महापराक्रमों को देखती और सुनती आयी हैं। उनमें कृष्ण के प्रति श्रद्धा और विश्वास का अंकुरण हो चुका है। वे जानती हैं कि कृष्ण सामान्य व्यक्ति नहीं, स्वयं पर ब्रह्म हैं और व्रज में अवतार के रूप में उत्पन्न हुए हैं।[८] अव उनमें एक नयी कामना का उदय होता है। वे कृष्ण को वररूप में पाना चाहती हैं। श्रीमद्‌भागवत में वेणु-गीत तक गोपियों के हृदय में कृष्ण को वररूप में प्राप्त करने की कामना का कोई संचार नहीं होता, किन्तु महाकवि सूर ने उस कालविन्दु को हमारे सामने वड़ी विलक्षणता से ला उपस्थित किया है। एक दिन सन्ध्या समय—

नंदनंदन वर गिरिवरधारी। देखत रीझीं घोष कुमारी॥
मोर-मुकुट पीताम्वर काछे। आवत देखे गाइन पाछे॥
यह मन मैं अनुमान कियौ तव। जप-तप-संजम-नेम करैं अव॥
नेम-धरम-तप-साधन कीजै। सिव सों माँगि कृष्ण पति लीजै॥[९]

गोपियाँ सोचती हैं, इस पृथ्वी पर दूसरा कोई वालक इतना रूपवान, कलावान, शक्तिमान, अथवा ज्ञानवान नहीं हो सकता। पति सचमुच ऐसा मिले तो जीवन धन्य हो जाये। वे अनुमान लगाती हैं कि जप-तप-संयम-नियम आदि का पालन करने से निश्चय ही उनकी मनोकामना पूर्ण होगी। इसलिए सव एक साथ संकल्प करती हैं कि आज से एक वर्ष तक हम सव भगवान् सूर्य और आशुतोष शंकर की विधिवत् पूजा करेंगी।

उनके हृदय में ज्ञान और वैराग्य का उदय होता है—'ह्याँ अपनौ नहिं कोऊ' इसलिए 'वृथा जनम जग में जनि खोवहु', वरन् 'जैसे मिलैं स्याम सुन्दर वर, सोइ कीजै नहिं आना।'[१०]

समस्त मिथ्या-मण्डित लौकिक कर्मों को उन्होंने तिलांजलि दे दी है। उन्हें लेशमात्र चिन्ता नहीं कि इसका क्या परिणाम होगा। कृष्ण-हेतु कर्म ही जीवन का एकमात्र लक्ष्य वन जाता है। 'मा कर्मफल-हेतुर्भू' का उन्हें सहज ज्ञान है। वे सुख-दुख से परे, नित्य सत्वस्थित, निर्द्वन्द्व हैं। वे कृष्ण को डाँटती-

---

५– प्रजाहाति यदा कामान् सर्वान् पार्थ मनोगतान्।
आत्मन्येव आत्मना तुष्टः स्थितप्रज्ञस्तदोच्यते॥— गीता २-५५।

६– सा त्वस्मिन् परमप्रेमरूपा।''''यथा व्रजगोपिकानाम्।—नारद भक्तिसूत्र २-३।

७– कोटि व्रह्मांड छनहिं मैं नासै, छनही मैं उपजावै।
सिव सनकादि अंत नहिं पावै, भक्त-वछल कहवावै॥
— सूर ग्रन्थावली (अ. भा. वि. प.) ८३१।

८– सूर स्याम अवतार वड़ौ व्रज। येई हैं करता संसार॥
× × × × × ×
अघा वकासुर तवहिं सँहार्‌यौ, प्रथम कियौ वन गौना।
सूर प्रगट गिरि धर्‌यौ वाम कर, हम जानत वलि वौना॥—वही १००३–१००४।

९– वही १०४२। १०– वही १००७।

डपटतीं, उनकी शिकायत करतीं, उनकी धृष्टता के लिए उन्हें पकड़ने दौड़ती हैं। उनकी सारी कार्य-विधियाँ कृष्ण-संकीर्तन-मय हो चुकी हैं। कृष्ण के लिए ही उनकी साँस चलती है—'स्वपंश्वसन्'।[११]

सूर भागवत से कथा का आधार अवश्य लेते हैं, किन्तु उसका विस्तार पूर्णतः अपनी इच्छानुसार करते हैं। भागवतकार ने मात्र सत्ताइस श्लोकों में 'चीरहरण' लीला समाप्त कर दी है, जब कि सूर ने इसके लिए तैंतीस पदों की रचना तो की ही, और जब इससे उन्हें तृप्ति न मिली तो उन्होंने एक सौ इकतालीस चौपाइयों की अतिरिक्त रचना करके, इसी कथानक को अत्यन्त रोचकतापूर्ण ढंग से पल्लवित किया।

श्रीमद्भागवत में चीर-हरण लीला का वर्णन उतना हृदयग्राही नहीं है। प्रथम श्लोक में ही गोपियाँ कृष्ण प्राप्ति के लिए व्रत में संलग्न हो, उषाकाल में यमुना-स्नान करके, कात्यायनी देवी की वालुकामयी प्रतिमा बना कर, उसकी पूजा में रत दिखाई पड़ती हैं। दो श्लोकों में एक मास तक की कात्यायनी वा भद्रकाली की आराधना पूरी हो जाती है।[१२]

भगवान् प्रसन्न हो चीर-हरण द्वारा उन्हें फल देते हैं। भागवतकार गोपियों की साधना का वांछित प्रभाव नहीं उत्पन्न कर पाता। सूर अपने सात पदों में उनकी साधना और निष्ठा का बड़ा ही मोहक चित्र खींचते हैं, सामान्य कथानक को इतना भावपूर्ण बना देते हैं कि हमारी सम्पूर्ण संवेदना गोपियों के प्रति उद्वेलित हो उठती है।[१३]

"याते होय सो होई" में जो संकल्प गोपियों का है कलिकाल में वही संकल्प 'मेरो पति सोई' गाकर मीरा ने किया। सूर की गोपियों की व्यथा और मीरा की व्यथा समान तत्त्वज्ञान के लिए थी। इस ज्ञान की साधना में मीरा ने भी 'लोक लाज खोई'। गोपियों की तरह ही मीरा की भक्ति भी उस पति के लिए थी, जो इन्द्रियातीत हैं, जिसकी प्राप्ति शारीरिक नहीं, आध्यात्मिक है, इसलिए काल्पनिक, सैद्धान्तिक और वैचारिक है। मीरा के लौकिक पति जीवित थे। गोपियों की तरह कृष्ण को पति-रूप में प्राप्त करने की उनकी साधना में भी वासना का कोई स्थान नहीं। गोपियों का अणुप्रत्याणु कृष्ण-संकीर्त्तन से झंकृत रहता है। उनके उस महाभाव में शरीर की विस्मृति है—'सीत भीत न करति सुन्दरि, कृस भई सुकुमारि।'[१४] कृष्ण-संकीर्त्तन-रत मानस में वासना का बीज दग्ध हो अंकुरण की क्षमता ही खो बैठता है जैसा कि भगवान् ने गोपियों से कहा—

न मय्यावेशित धियां कामः कामाय कल्पते।
भर्जिताः क्वथिता धाना प्रायो बीजाय नेष्यते ॥[१५]

११– गीता ५।८

१२– कात्यायनी महामाये महायोगिन्यधीश्वरि।
नन्द-गोप सुतं देवि पतिं मे कुरु ते नमः।
इति मन्त्रं जपन्त्यस्ताः पूजां चक्रुः कुमारिकाः ॥
× × ×   × × ×
एवं मासं व्रतं चेरुः कुमार्यो कृष्णचेतसः।
भद्रकालीं समानुर्चुर्भूयान्नन्दसुतः पतिः ॥ — श्रीमद्भागवत १०।२२।४-५

१३– नाभि प्रजंत नीर में ठाढ़ी, थर थर अँग काँपति सुकुमारी। १४– वही १००९।

१५– भागवत १०।१२।६

अतः गोपियों की साधना वासना-पूर्ति की नहीं कामोन्मूलन की है—"शरण राखि लीजै सिव संकर, तनहिं त्रसावत मार ॥[१६] शंकर ही कामदहन में समर्थ हैं। इसके बाद ही आत्म-दर्शन होते हैं। सूर्य से भी उनकी यही प्रार्थना है—"काम अति तनु दहत, दीजै सूर हरि भरतार।[१७]

आखें वन्द कर यमुना के शीतल जल में घंटों कृष्ण का ध्यान करने वाली गोपियाँ आसनसिद्धा हैं। कछुए के अंगों की तरह वे अपनी इन्द्रियों को समेट कर पूर्णतः अन्तर्मुखी कर चुकी हैं—"ध्यान धरि करि जोरि लोचन, मूँदि इक-इक जाम।"[१८]

यहाँ विशेष द्रष्टव्य यह है कि इस प्रसंग में सूर कात्यायनी या भद्रकाली की कोई चर्चा ही नहीं करते यद्यपि विवाह-प्रसंग में 'देवी पूजा' का उल्लेख है। उनकी गोपियाँ सूर्य और शंकर की उपासना करती हैं। प्रयोजनीय यथार्थ से जुड़कर ही परम्परा का अनुगमन करना सूर का सिद्धान्त है। गोपियों की सोलह हजार की संख्या भी सूर की अपनी सूझ है, श्रीमद्भागवत के चीर-हरण में इसका कोई उल्लेख नहीं।

सूर की गोपियाँ भागवत की गोपियों से कहीं उज्जवलतर व्यक्तित्व की आभा से मंडित होने के साथ ही बारह गुना अधिक तपोपूत हैं क्योंकि वे पूरे एक वर्ष तक तप करती हैं। उनमें ज्ञान-कर्म-भक्ति की त्रिगुणात्मिका सिद्धि सहज रूप में परिलक्षित होती है।

गोपियों के तप से कृष्ण द्रवित हो जाते हैं। अपनी कृपा का आभास देते हैं। माघ महीने में एक दिन प्रातः काल जब गोपियाँ यमुना में स्नान कर रही हैं, कृष्ण अचानक उनके पास प्रकट होते हैं और विनोदवश उन सबों की पीठ सहला देते हैं। भगवान् हैं तो नौ वर्ष के ही किन्तु गोपियों ने तमन्य हो उनके नवल-किशोर रूप का ध्यान किया था इसलिए वे उनको नवल-किशोर रूप में ही दर्शन देते हैं—"अति तप देखि कृपा हरि किन्हीं। तन की जरनि दूर भई सबकी, मिलि तरुनिनि सुख दीन्हौ ॥"[१९]

भगवान के करूणामय स्पर्श से गोपियों का तन-ताप (काम) मिट जाता है। अधिरूढ़ महाभाव की यह अवस्था एक ऐसी आध्यात्मिक स्थिति है जिसमें आराध्यरूप साकार हो उपस्थित होता है। ये प्रकट होनेवाले कृष्ण अशरीरी हैं, ज्ञानान्त-कल्पना में उनका मिलन होता है। किन्तु तुरत ही गोपियों को जगत और समाज के आचार और शील का ध्यान आ जाता है। मन में कृष्ण-मिलन की उत्फुल्लता है, किन्तु लोकाचार की रक्षा करना भी जरूरी है। कृष्ण ने हमलोगों की पीठ कैसे सहलायी! वे कृष्ण को फटकारती हैं—"सूरदास प्रभु लाज न आवत, जुवतनि माँझ कन्हाई।"[२०]

लीलामय कृष्ण सिटपिटा जाते हैं गाँव की ओर भाग खड़े होते हैं। गोपियाँ झटपट जल से निकल उनके पीछे दौड़ पड़ती हैं। कृष्ण को पकड़ने में असफल हो वे रास्ते में खड़े गोपों से शिकायत करती हैं—

कहा भयौ जो नन्द-महर सुत, हमसौं करत ढिठाई।

....

लरिकाई तबहीं लौं नीकी, चारि बरस कै पाँच ॥[२१]

गोप हँसने लगते हैं। वे तो जानते ही हैं कि गोपियाँ जिस भागवत स्वरूप में तल्लीन हैं, वह वासनामय देह-पिण्ड नहीं, वरन् सच्चिदानन्द-रूपी अशरीरी तेज-पुंज है। उसका स्मरण ही वासना को दूर करता है फिर जहाँ सम्पूर्ण स्मृति ही कृष्ण-तत्त्व में निमज्जित हो, वहाँ वासना कैसी!

१६– सूरग्रंथावली १००८। १७– वही १०९। १८– १००९।
१९– वही १०११। २०– वही १०११। २१– वही १०१२।

"मनमोहन के रूप रईं" गोपियाँ यशोदा से शिकायत करने के लिए आगे बढ़ती हैं। गोपियों की यह लीला सूर की अपनी सृष्टि है। भागवतकार इन प्रेम-पगे दृश्यों को आँकता ही नहीं। यहाँ सूर की विलक्षणता का एक और उदाहरण द्रष्टव्य है। कृष्ण ने गोपियों की पीठ अवश्य सहलाई थी, मगर न उन्होंने उनकी चोली छुई थी, न हार तोड़े थे, न ओढ़नियों को फाड़ा था। पर गोपियों को तो तिल का ताड़ बनाकर यशोदा से शिकायत करनी है। इसलिए रास्ते में वे स्वयं ही अपने हार तोड़ कर हाथों में ले लेती हैं, आँचल फाड़ डालती हैं, छाती पर नख के चिह्न बना लेती हैं। उनकी अँगिया तो कृष्ण-प्रेम में पहले ही फट चुकी थी।

इस नाटकीय रूप में वे यशोदा के आँगन में भरभरा पड़ती हैं, भर्राये स्वर में शिकायत करती हैं—

जसुमति माइ ! कहा सुत सिखयौ, हमकौ जैसे हाल किये।
चोली फारि-हार गहि तोरे देखौ उर नख घात दिये ।।
अंचल चीरि, आभूषन तोरे घेरि धरत उठि भाग गये।[२२]

यशोदा जी सोचती हैं, कृष्ण इतना नन्हा सा तो है और फिर भी गोपियाँ क्या-क्या अपराध लगा रही हैं। इतना उपद्रव करने लायक कृष्ण भला अभी कहाँ हुआ है! वे हँसकर स्नेह-स्निग्ध स्वर में गोपियों से कहती हैं—

ऐसी बात कहौ, जु लहै री !.... ....
चोरै रहौ, छिनारौ अब भौ, जानों ज्ञान तुम्हारौ।
औरै गोप सुतन नहिं देखौ, सूर स्याम है बारौ ।।[२३]

ब्रज में कृष्ण के अलावा कितने ही लड़के हैं जो उससे बड़ी उम्र के हैं। उन सबों की तरफ तुम लोगों की दृष्टि क्यों नहीं जाती? यशोदा जी मन ही मन बड़ी विस्मित हैं। ये सोलह हजार गोपियाँ साल भर से कोई न कोई शिकायत लेकर दिन रात हमारे ही आँगन में भीड़ लगाये रहती हैं। कृष्ण की उम्र किसी से छिपी तो है नहीं। नीलकंठ की मूर्ति के लिए रोज ही मचला करता है। सचमुच, ये गोपियाँ अपने घरों की फालूत न होतीं तो इस तरह बेसिर-पैर की बातें नहीं करती—

ग्वालिनि हैं घर ही की बाढ़ी।
निसि अरु दिन प्रति मैं देखत हौं अपने हिं आँगन ठाढ़ी ।।
....
कबहिं गोपाल कंचुकी फाड़ी, कब भे ऐसे जोग।
अबहिं नैकु खेलन सीखे हैं, यह जानत सब लोग ।।[२४]

इसी बीच कृष्ण भी अपनी नाटकीय वेश-भूषा में वहाँ आ पहुँचते हैं। यशोदा उनके नन्हें हाथों को गोपियों के सामने बढ़ाकर कहती हैं —गोपियों !

देखहु री अति मदमाती।
इनहीं कौं अपराध लगावति, कहा फिरति हौ इतराती ।।[२५]

गोपियाँ सहम जाती हैं, किन्तु चटपट सोचकर कहती हैं—देखा, यह माखन-चोर तो है ही, पर आज यह भी साफ हो गया कि यह देह-चोर भी है। सच कहती हूँ अभी जब यमुना-तट पर मिला था और हमलोगों से छेड़छाड़ कर रहा था, तब इसका नवल-किशोर रूप था। अब देखो, यहाँ इसने फिर

२२– सूरग्रन्थावली १०१३। २३– वही १०१४। २४– वही १०१६। २५–वही १०१७।

कैसा नन्हा-सा रूप धर लिया है— "देखहु री, ये भाव कन्हाई। कहाँ गई तब की तरुनाई ।।"[२६] तुम कहती हो कि श्याम नन्हा है। मगर देखो अब फिर वहाँ खड़े-खड़े मुस्कुरा रहा है—"महरि ! तुम्हहिं कछु दूषन नाहीं। हमकौ देखि देखि मुसुकाही ।।"[२७] यह बड़ा मायावी है। इसका चोरी का ऐसा स्वभाव पड़ गया है कि इसने हमलोगों का मन भी·······। हड़बड़ी में गोपियाँ कह तो जाती हैं, पर शरमा जाती हैं। कुछ और कहने को रह भी नहीं जाता। वे आँगन छोड़ घर की ओर चल पड़ती हैं। कृष्ण-प्रेम में उनकी आँखों से अश्रुधारा बहती जा रही है।

मधुर और वात्सल्य रस का ऐसा अद्‌भुत सम्मिश्रण सूर के अलावा कब किसने किया ! भागवतकार तो केवल अलौकिक माधुर्य की सृष्टि कर पाता है।

घर के किसी काम में गोपियों का मन नहीं लगता। माताएँ डाँटती फटकारती हैं, मगर उन पर कोई असर ही नहीं—

मातु पितु की डर न मानति, सुनति नाहिन गारि।
हठ करति, विरुझाति, तब जिय जननि जानति बारि ।।[२८]

एक वर्ष बीत जाता है। आज व्रत का शेष दिन है। उषा-काल में नित्य की तरह गोपियाँ हरि संकीर्त्तन करती हुई यमुना-तट पर पहुंचती हैं। माघ महीने का जाड़ा, वस्त्र-आभूषण तट पर रख वे यमुना में नित्य की भाँति स्नान करती हैं। उनका घोर तप देख कृष्ण को अपनी प्रतिज्ञा का स्मरण हो आता है—"कैसेहु मोहिं भजै कोऊ, मोहिं विरुद की लाज।"[२९] और तब

कृपानाथ कृपाल भे तब, जानि उनकी पीर।
सूर प्रभु अनुमान कीन्हौ, हरौ उनके चीर ।।[30]
× × ×   × × ×
बसन हरे सब कदम चढ़ाये।
नीलांबर पाटंबर सारी, सेत पीत चुनरी अरुनाये।[३१]

स्नान के बाद गोपियाँ तट पर आकर देखती हैं, उनके वस्त्र-आभूषण कुछ भी वहाँ नहीं। विस्मित हो लज्जावश वे फिर जल में प्रवेश कर जाती हैं। अनुमान लगाती हैं, सम्भवतः नन्द-कुमार ने ही यह काम किया हो। पर कृष्ण तो आस-पास कहीं नहीं। वे विनय करती हैं—"हौ कहुँ स्याम विनय सुनि लीजै। अम्बर देहु कृपा करि जीजै ।।"[३२] कड़ाके के जाड़े में गोपियाँ थर-थर काँप रही हैं। कृष्ण से अब रहा नहीं जाता। वे बोल पड़ते हैं—कहा कहति मोसौं व्रज बाला। माघ-सीत कत होति बिहाला ।।[३३] गोपियाँ देखती हैं, कृष्ण कदम्ब की एक शाखा पर बैठे मुस्कुरा रहे हैं। पुराना रूप छोड़कर कदम्ब अब विशाल हो चुका है और इसी की डालियों में उनके सारे वस्त्र-आभूषण टँगे हुए हैं। कृष्ण के दर्शन पाते ही गोपियों को अपने व्रत का सम्पूर्ण फल मिल जाता है—"इहि अन्तर प्रभु वचन सुनायौ। व्रत कौ फल दरसन सब पायौ ।।"[३४] कृष्ण हँसते हुए कहते हैं—

जलतैं निकरि सबै तट आवहु। तबहिं भले अंबर तुम पावहु ।।
भुजा पसारि दीन ह्वै भाखहु। दोउ कर जोरि-जोरि तुम राखहु ।।[३५]

२६– सूरग्रन्थावली १०४१। २७– वही १०४१। २८– वही १०१९
२९– वही १०२५। ३०– वही १०२५। ३१– वही १०२६। ३२– वही १०४१।
३३– वही १०४१। ३४– वही १०४१। ३५–वही १०४१।

गोपियों को कृष्ण की यह बात असामाजिक लगती है। वे कहती हैं—"यह मति आप कहाँ धौं पाई। आज सुनी यह बात नवाई ॥"[३६] वे कृष्ण की भर्त्सना करती हैं—"तुम यह बात अचम्भै भाखत, नाँगी आवहु नारी ॥[३७]

शील और लज्जा की सहज सांस्कारिक अनुभूति गोपियों को है। भावगत होने के कारण उनके ये संस्कार अन्तर को वस्त्र की तरह लपेटे हुए हैं। अन्तर संकुचित होने के कारण उनका सान्त के साथ अस्तित्वबोध है, अनन्त के साथ नहीं। किन्तु कृष्ण अपने अनन्तत्व के साथ उनका तादात्म्य करवाना चाहते हैं। वे कहते हैं—"ऐसैं नहिं रीझौ मैं तुमसौं, तट हीं बाँह उठावहु।········वस्त्रहार तब पावहु ॥"[३९] गोपियाँ आर्त हो उठती हैं लेकिन कृष्ण पर इसका कोई असर नहीं पड़ता। तपाक से कहते हैं—"तब तुम बैठि रहौ जल ही सब।"[४०] कृष्ण की शील विरुद्ध बात गोपियों की समझ में नहीं आती। वे विनती करती हैं—

अति ही दुखित प्रान, वपु परसत प्रबल प्रचंड समीर।
मानहिंगी उपकार रावरौ, करौ कृपा बलवीर ॥[४१]

किन्तु कृष्ण अड़े हैं—"अंग दिखाऐहि अंबर पैहौं। नातरु ऐसेहि दिवस गवैंहौ।"[४२]

अनन्त अंबर का परिधान लौकिक परिधान को त्याग कर ही मिल सकता है। बेचारी गोपियाँ असहाय हो बाहर निकल आती हैं, किन्तु—

बैठि गईं तरुनी सकुचानी। देहु स्याम हम अतिहि लजानी ॥
देहु स्याम अंबर अब डारी। हा हा दासी सबै तुम्हारी ॥[४३]

पर कृष्ण उन्हें सावधान करते हैं—"कर सौं कहा अंग-उर मूँदौ, मेरे कहैं उघारौ ॥ ···· वस्त्र हार तब पावौ।"[४४]

गोपियों का देहाभिमान अन्तर्दिष्ट को धूमिल कर रहा है, जैसे आँखों के सामने कोई वस्त्र लटका हो। इस देहाभिमान में शरीर की सूक्ष्म स्मृति है जो गोपियों की चेतना को सीमायित कर रही है। इस चेतना को तिलांजलि देनी होगी। इसलिए कृष्ण बार-बार हठ करते हैं। अन्त में—"सोरह सहस घोष-कुमारि। देखि सबको स्याम रीझैं, रहीं भुजा पसारि ॥"[४५] गोपियों के सम्पूर्णतः देहाभिमान-मुक्त हो जाने पर—"भे प्रगट तहँ सबनि कौं हरि, काम-दंद निवारि ॥[४६]

काम-द्वन्द से पूर्ण निवृति पाना ही कृष्ण-दर्शन का परम लाभ है।[४७] तप से तुष्ट होकर भगवान ने गोपियों की पीर दूर करने के लिए उनके चीर हरने का उपाय सोचा। चीर-हरण में पीर-निवारण की औषधि है। चीर और आभूषणों का व्यवहार गोपियाँ सामाजिक शील-रक्षा के लिए ही करतीं हैं। ये शील-बन्धन के प्रतीक हैं। चीर की अनुभूति मर्यादित परिधि की अनुभूति है, जिसकी वर्त्तमानता में अमर्यादित अनन्तत्व के दर्शन संभव नहीं। दिव्य दृष्टि अथवा अबाधित अन्तर्दृष्टि के लिए देहाभिमान की मर्यादित परिधि का अपसारण निश्चय ही परम आवश्यक है। देह-बोध के साथ देव-बोध कैसा !

गोपियों के पूर्ण समर्पण से भगवान प्रसन्न हो उठते हैं—

३६– सूरग्रन्थावली १०४१। ३७– वही १०३०। ३८– वही १०३३। ३९– वही १०४१। ४०– वही १०४१। ४१– वही १०३२। ४२– वही १०४१। ४३– वही १०४१। ४४– वही १०३३, १०३५। ४५– वही १०३७। ४६– वही १०३६। ४७–रसवर्जं रसोप्यस्य परं दृष्ट्वा निवर्तते।— गीता

तब हँसि बोले कृष्ण मुरारी । मैं पति तुम मेरी सब प्यारी ।।
तुम्हहिं हेत यह वपु व्रज धारयौ । तुम कारन वैकुंठ बिसारयौ ।।
जाहु सदन अब सब व्रज-बाला । अंग परसि मेटे जंजाला ।।[४८]

अणु-प्रत्याणु में जिसकी आँखें जड़ी हुई हैं, उससे संकोच का आवरण उसे प्रवंचित करने की चेष्टा के साथ-साथ अज्ञान का प्रतीक भी है । इससे द्वित्व का बोध होता रहता है । वस्तुतः किस अंग को ढँका जाये और किससे ! गोपियाँ शील-संस्कार की क्षुद्र परिधि से मुक्त होकर भगवान को ज्यों ही आत्म-समर्पण करती हैं, उनकी अवरुद्ध चेतना की धार सच्चिदानन्द की महत्तम चेतना के अनन्त आनन्द-सागर में जा मिलती है ।

सूर के कृष्ण तो यह लीला करके व्रज-गमन करते हैं और भागवत के कृष्ण गोपों के साथ वन चले जाते हैं गायें चराने के लिए, किन्तु सूर की गोपियाँ यमुना-तट पर ही खड़ी हैं—भगवान सूर्य और आशुतोष शंकर के प्रति आभार प्रकट किए बिना वे कैसे जायें—

पाइँ परीं जुवती सब यह कहि, धन्य धन्य त्रिपुरारि ।
तुरतहिं फल पूरन हम पायौ, नन्द-सुवन गिरिधारी ।।
विनय करति, सविता ! तुम सरि को, पय अंजलि कर जोरी ।
सूर स्याम पति तुमतैं पायौ, यह कहि घरहिं बहोरी ।।[४९]

■

हमारे देहु मनोहर चीर ।
काँपति सीत तनहिं अति व्यापत, हिम सम जमुना-नीर ।।
मानहिंगी उपकार रावरौ, करौ कृपा बलबीर ।
अतिहीं दुखित प्रान, वपु परसत प्रबल प्रचंड समीर ।।
हम दासी, तुम नाथ हमारे, बिनवति जल मैं ठाढ़ी ।
मानहु बिकच कुमुदिनी ससि सौं, अधिक प्रीति उर बाढ़ी ।।
जौ तुम हमैं नाथ कै जान्यौ, यह हम माँगैं देहु ।
जल तैं निकसि आइ बाहिर ह्वै, बसन आपने लेहु ।।
कर धरि सीस गईं हरि सन्मुख, मन मैं करि आनंद ।
ह्वै कृपाल सूरज-प्रभु अंबर दीन्हे परमानंद ।।
सूरसागर १४१०

■

४८— सूरग्रन्थावली १०४१ । ४९— वही १०४० ।



सूर वर्णित श्रीकृष्ण रासक्रीड़ा और गोपियाँ

डॉक्टर राजनारायण राय

भारतीय भक्त्यात्मक साहित्य का विपुल अंश आराध्य-लीला-निरूपक है। उसका सर्वोत्तम सार-सौंदर्य परमोपास्य के निष्काम नृत्य-विषयक काव्य में परिलक्षित होता है। भक्तिचेता कवियों ने पूर्ण तन्मयता से नटराज शिव, नटवर श्रीकृष्ण और रास-रसिक रामचन्द्र, तीनों की मधुरतम नृत्य-क्रीड़ाओं का अत्यंत उत्कृष्ट गान किया है, पर उनमें सर्वश्रेष्ठ है लीलाशाली श्रीकृष्ण, नृत्यपण्डिता राधिका और गोपिकाओं का रास-नृत्य, जिसकी लीलानुभूतियों को सम्प्रेषित करने में विशेषोल्लेख्य सफलता महाकवि सूरदास को मिली है। हिन्दी में मर्यादा-पुरुषोत्तम रामचन्द्र और वृन्दावन-विहारी श्रीकृष्ण, दोनों के रास-नृत्य का सविस्तार अंकन हुआ, किन्तु उनमें श्रीकृष्ण-रास को न केवल पूर्ववर्त्ती अपितु सर्वाधिक माधुर्यपूर्ण होने का गौरव प्राप्त है।

रास वस्तुतः एक कोमल ललित लोक-नृत्य है जिसमें नारी पुरुष भाग लेते हैं। स्थान के आधार पर श्रीकृष्ण-कृत रास के दो भेद हैं—

(क) वृंदावन रास, और (ख) द्वारिका रास।

ऋतु-दृष्टि से भी इसके दो ही प्रकार हैं—

(क) वसंत रास, और (ख) शरत् रास।

पात्राधार को लेकर इसके तीन रूप वर्णित हैं—

(क) श्रीकृष्ण-गोपी-रास, (ख) श्रीकृष्ण-राधिका-गोपी-रास, और (ग) राधिका-गोपी-रास।

सूरसागर वस्तुतः श्रीकृष्ण-राधिका का वृहत् लीला-कोष है जिसकी शरत्कालीन क्रीड़ा में वृन्दावन की थल-लीला और सलिल-लीला, दोनों का कलात्मक समन्वय है।

सूरवर्णित रासक्रीड़ा में एक राधिका हैं, अनेक श्रीकृष्ण हैं, साथ ही अनेक गोपियाँ हैं। नृत्यशास्त्रीय दृष्टि से रास-नर्त्तकियाँ तन्वी और रूपवती हैं, श्यामा और पीनोन्नतपयोधरा हैं, कमलमुखी और विशाल-लोचना हैं। कोई भी ऐसी नहीं जिसकी पदगति 'गीत-वाद्य-ताल' की अनुवर्त्तिनी न हो। कुंचित कुंतलयुक्त शिर, चपल नयन, नूतन पद्म-गर्भ-सदृश हस्त, चंचल पाद, क्षीण कटि आदि विभिन्न अंगों को श्रीकृष्ण के संकेतानुसार संचालित करने में वे सुदक्ष हैं। यह अकल्पनीय है कि रास की भूमिका में केशहीना, स्थूलोष्ठी प्रलम्बितस्तनी गोपिकाएँ सक्षम और मान्य होंगी। यह ज्ञातव्य है कि रास-गायकों ने इसके पात्रों के संदर्भ में निजी वोध का ही परिचय दिया है।

श्रीकृष्ण-साहित्य के अध्येता प्रायः इस बात से सहमत प्रतीत होते हैं कि कृष्ण-रास, अवतार-लीला रूपात्मक है। अतः उसमें रामावतारकालीन मुनिजनों, उपनिषदों, प्राचीन और नव्यसिद्ध भक्तों आदि ने

गोपियों के रूप में अवतरित हो रास के माध्यम से श्रीकृष्ण-प्रेम प्राप्त किया था, परंतु उनकी संख्या को लेकर उनमें मतैक्य नहीं मिलता। अद्यावधि यह असमाधित प्रश्न रहा है।

महाकवि सूरदास का कथन है कि रासक्रीड़ासक्त गोपांगनाओं की संख्या सोलह सहस्र थी, जिसकी पुष्टि निम्नलिखित पंक्तियों से होती है—

सोरह सहस पीर तनु एकै, राधा जिव, सब देह।[1]

× × ×   × × ×

षोड़स सहस नारि सँग मोहन, कीन्हौ सुख अवगाधि।[2]

× × ×   × × ×

षट सहस दस गोप-कन्या, रैनि भोगीं रास।[3]

× × ×   × × ×

गईं सोरह सहस हरि पै, छाँड़ि सुत पति नेह।[4]

इस प्रसंग में यह प्रश्न स्वाभाविक है कि कवि की इस मान्यता का आधार क्या है। यदि ब्रह्म-पुराण, विष्णुपुराण तथा भागवतपुराण के रास-क्रीड़ा-विषयक अध्यायों में आधार अन्वेषित किया जाये, तो निराश होना पड़ेगा, क्योंकि उनमें रास-नर्त्तकियों की संख्या अनिर्दिष्ट है। श्रीमद्जिनाचार्य द्वारा वि० सं० ८४० में रचित हरिवंशपुराण का अनुशीलन यह तो प्रमाणित करता है कि रासोत्सव में श्रीकृष्ण गोपकन्याओं की उँगलियाँ[5] पकड़ कर उन्हें रसविभोर कर देते थे, लेकिन यह संकेतित नहीं करता कि उन रास-रसा-कांक्षिणी गोपियों की संख्या कितनी थी।

महाभारत के खिल भाग हरिवंशपुराण के रास-वृत्त में भी गोप-बालाओं की संख्या अनुल्लिखित है। परन्तु रास, हल्लीसक और छालिक्य—इन तीन कोमल नृत्य-भेदों से समन्वित जलोत्सव-वर्णन में पुराणकार श्रीकृष्ण की भार्याओं की संख्या निर्दिष्ट करना नहीं भूलते—

षोडश स्त्री सहस्राणि जले जलज लोचनाः।
रमयामास गोविन्दो विश्वरूपेण सर्वदृक्॥[6]

× × ×   × × ×

कृष्णोऽपि तेषां प्रीत्यर्थं विजह्रे वियति प्रभुः।
सर्वैः षोडशभिः सार्द्धंस्त्रीसहस्रै-र्मुदान्वितः॥[7]

ऊपर उद्धृत श्लोक यह मानने को हमें बाध्य करते हैं कि श्रीकृष्ण की द्वारिका-लीला में उनकी सोलह हजार रमणियों का साहचर्यपूर्ण सहयोग था।

विष्णुपुराण के अनुशीलन से यह ज्ञात होता है कि श्रीकृष्ण ने सोलह हजार ही नहीं वल्कि उससे भी अधिक, सोलह हजार एक सौ, सुंदर कन्याओं को प्राग्ज्योतिषपुर के नरकासुर के कारागार सदृश अंतःपुर से

१– सूरसागर (ना० प्र० स०) १७४१। २– वही १७७४। ३– वही १७८७। ४– वही १६२५।

५– कराङ्गुलिस्पर्शसुखं स रासेष्वजीजनद्गोपवधूजनस्य।
सुनिर्विकारोऽपि महानुभावो सुमुद्रिकानद्धमणिर्यथार्घ्यः॥
—हरिवंशपुराण, सं० डॉ० पन्नालाल जैन, सर्ग ३५, श्लो० ६६।

६– हरिवंशपुराण, विष्णुपर्व, अध्याय ८८, श्लो० १३।

७– वही श्लो० ५०।

विमुक्त कर द्वारिकापुरी भिजवा दिया था।[८] भागवतपुराण का कथन है कि भौमासुर ने बलपूर्वक सोलह हजार राजकन्याओं को अपने अंतःपुर में छिपा रखा था जिन्हें श्रीकृष्ण ने अनेक प्रकार के वस्त्राभूषण से समलंकृत कराकर द्वारका पहुँचवा दिया।[९] हरिवंशपुराण के प्रणेता ने नरकासुर-संबंधी आख्यान के अंतर्गत यह तो लिखा कि नरकासुर के वध के पश्चात् मधुसूदन को घेरकर गंधर्वों तथा देवताओं की कुमारी और पृथुल श्रोणी कन्याएँ खड़ी हो गई थीं तथा शिविकाओं पर सवार होकर द्वारिका को गई थीं, पर यह नहीं संकेतित किया कि उन कन्याओं की संख्या कितनी थी।[१०] गर्गसंहिताकार की मान्यता है कि राधापति श्रीकृष्ण भौमासुर का वध करके उसकी सोलह हजार एक सौ चारुदर्शना नृपकन्याओं को ले आए।[११] सूरदास भागवतोक्त इतिवृत्त को स्वीकारते हुए यह बताते हैं कि भौमासुर के कारागार में सोलह सहस्र कन्याएँ वन्दिनी थीं जिन्होंने नींद और भूख भी छोड़ दी थी—

षष्ठदस सहस कन्या असुर वंदि मैं,
नींद अरु भूख अहनिसि बिसारी ॥[१२]

परंतु रासगायक कवि ने यह निरूपित नहीं किया कि श्रीकृष्ण के प्रेम की आकांक्षिणी कन्याएँ द्वारिका गईं और फिर वे उनकी पत्नी बन गईं। इस अनुशीलन के आधार पर यह निष्कर्ष निकलता है कि श्रीकृष्ण की सोलह हजार पत्नियों के संदर्भ में पुराणकारों में मतैक्य नहीं है; साथ ही यह भी कि वे पत्नियाँ द्वारिका-निवासिनी बन गई थीं जिनकी भूमिका द्वारिका-रास में भले ही हो, व्रज-रास में शून्य थी। कालिंदी के सुरम्य वालुकामय तट पर संपन्न होनेवाली रासक्रीड़ा में उनका योग न होना ही स्वाभाविक है, क्योंकि भौमासुर-वध और कन्या-मुक्ति का कार्य श्रीकृष्ण की प्रौढ़ावस्था का है, किशोरावस्था का नहीं; और फिर कहाँ व्रजभूमि और कहाँ द्वारिकापुरी !

सूरदास चीरहरण-लीला का सौंदर्य-वर्णन करते हुए लिखते हैं—

सोरह सहस गोप-कन्यनि के, अंग-आभूषन, स-हित चुराए ॥[१३]
× × ×　　　　× × ×
पट-दस-सहस जुरीं सुकुमारी। व्रत साधति नीकैं तन गारी ॥[१४]

यहाँ यह स्मरणीय है कि भागवतपुराणकार के चीरहरण प्रसंग में व्रज-योषिताओं की संख्या अनिर्दिष्ट है और यह भी कि ब्रह्मपुराण, विष्णुपुराण तथा हरिवंशपुराण में श्रीकृष्ण की एतत्संबंधी लीला का निरूपण ही नहीं मिलता। तात्पर्य यह कि जिन गोपकन्याओं के 'नील पाटंबर सारी सेत पीत चुनरी' आदि वस्त्राभूषण श्रीकृष्ण द्वारा कदंब पर लटका दिए गए, उनकी उपर्युक्त संख्या महाकवि सूर की मौलिक उद्भावना है।

सूरदास-अभिचित्रित रास-क्रीड़ा में सोलह हजार गोपियाँ (जो वेद ऋचाओं की अवतार थीं) और सोलह हजार श्रीकृष्ण उपस्थित थे—

८– कन्यापुरे स कन्यानां षोडशातुलविक्रमः।
शताधिकानि ददृशे सहस्राणि महामुने ॥—विष्णुपुराण, अंश ५, अ० २८, श्लो० ३१।

९– भागवत पुराण, स्कंध १०, अ० ५९, श्लो० ३३।

१०– हरिवंश पुराण, विष्णु पर्व, अ० ६४, श्लो० २४–३८।

११– गर्ग संहिता, द्वारिका खण्ड, अध्याय ८, श्लो० २०।

१२– सूरसागर ४८१२।　　१३– वही १४०२।　　१४– वही १४१७।

रासमंडल बने स्याम स्यामा।
नारि दुहुँ पास, गिरघर बने दुहुँनि विच ससि सहस बीस द्वादस उपामा ।।[१५]

× × ×   × × ×

पटदस सहस घोप-सुकुमारी, पटदस सहस गुपाल ।[१६]

ऊपर निवेदित पंक्तियां यह सावित करती हैं कि रासक्रीड़ा में स्त्री-पुरुष पात्रों की कुल संख्या बत्तीस हजार थी। ब्रह्मवैवर्त्तपुराणकार उसमें अठारह लाख पात्रों की कल्पना करते हैं जिनमें नौ लाख नृत्य-कुशल गोपियाँ थीं और नौ लाख श्रीकृष्ण रूप ।[१७] सूरसागर और ब्रह्मवैवर्त्त दोनों का तुलनात्मक अध्ययन यह स्पष्ट कर देता है कि सूरदास रासपात्रों के संख्या-निर्धारण में ब्रह्मवैवर्त्तकार के प्रति ऋणी नहीं हैं ।

महाकवि सूरदास को अपने दीक्षागुरु श्रीवल्लभाचार्य के श्रीमुख से श्रीमद्भागवतपुराण के दशम स्कंध की अनुक्रमणिका श्रवण करने का सुयोग प्राप्त हुआ था, अतः यह अनुमेय है कि इस संदर्भ में कवि को मार्गदर्शन गुरुवर्य से मिला था। परन्तु जब हम रास पंचाध्यायी—श्री सुबोधिनी का अध्ययन करते हैं, तो ऐसा प्रतीत होता है कि उन्होंने सोलह हजारवाली संख्या नहीं बताई होगी। कारण यह कि वे निम्नोद्धृत श्लोक—

रासोत्सवः संप्रवृत्तो गोपो मण्डल मण्डितः ।
योगेश्वरेण कृष्णेन तासां मध्ये द्वयोर्द्वयो ।।
प्रविष्टेन गृहीतानां कण्ठे स्वनिकटं स्त्रियः ।।[१८]

की टीका करते हुए कहते हैं—

हस्तद्वयेन पार्श्वस्थितयोः कण्ठे ग्रहणम् ।
एवं पोडश गोपिकानां मध्येऽष्ट कृष्णा भवन्ति ।।[१९]

अर्थात् 'भगवान् ने दोनों तरफ की गोपियों के कण्ठ ग्रहण कर लिये हैं। इस प्रकार सोलह गोपियों के मध्य में आठ कृष्ण होते हैं, अर्थात् सोलह गोपियों का मण्डल है।'[२०] इसके आलोक में रास-पात्रों की संख्या २४ ही मानी जानी चाहिए जो अन्य कवियों को स्वीकार्य नहीं। निष्कर्षतः हमें यह स्वीकार करने में कि रास-नृत्य-विशारद पात्रों की संख्या सूर की निजी अनुभूति और बोध का सूचक है, तबतक विप्रतिपत्ति नहीं होनी चाहिए जब तक कि अन्य सुमान्य प्रमाण नहीं उपलब्ध हो जाता—भले ही वह भागवतपुराणेतर या अवल्लभमतवादी हो। निश्चय ही सूर की इस धारणा को नाति उल्लेख्य बल पुराण वर्णित भौमासुर की सोलह सहस्र राजकन्याओं वाले प्रसंग से मिला है। ■

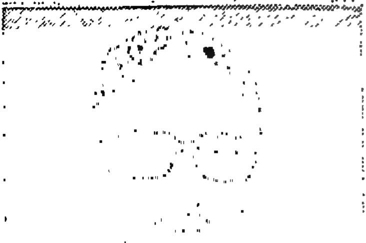
१५– सूरसागर १६५८।   १६– वही १६६५।

१७– गोपीनां नवलक्षाणि गोपानाञ्च तथैव च।
लक्षाण्यष्टादश मुने ! युक्तानि रासमण्डले ।।
— ब्रह्मवैवर्त्तपुराण, श्रीकृष्णजन्मखण्ड, अ० २८, श्लो० ७९।

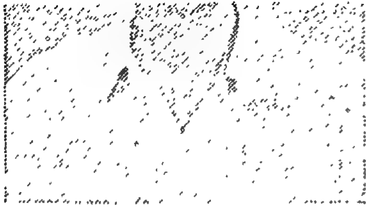
१८– भगवतपुराण, स्कं० १०, अ० ३३।

१९– रासपंचाध्यायी— श्री सुबोधिनी, हिंदी व्याख्याकार : पं० जगन्नाथ चतुर्वेदी, पृ० ४२०।

२०– वही पृ० ४२३।



कृष्णप्रिया : मुरली



श्री मृत्युञ्जय उपाध्याय

मुरली नाद-ब्रह्म[१] है, मुरली रुद्र[२] है, मुरली भगवान का वंशावतार[३] है। मुरली योगमाया[४] है, सरस्वती[५] है, गायत्री[६] और परावाक्[७] की जननी है। मुरली विषयानन्द और ब्रह्मानन्द को तुच्छ करनेवाली है।[८] इसकी ध्वनि महामंत्र[९], अनहदनाद[१०] और अमृत[११] है, भगवत्-स्वरूप[१२] और भगवदामृत[१३] है। ये आप्तोक्तियाँ कृष्ण की मुरली के सम्बन्ध में हैं। मुरली बिना कृष्ण को पहचानना असम्भव है—

वन्य स्रजे कवल वेत्रविषाणवेणु-
लक्ष्मश्रिये मृदुपदे पशुपाङ्ग जाय।[१४]

किन्तु यदि इसे कृष्ण से पृथक् करके देखा जाये, तो यह मात्र बाँस के छोटे-से मुखवाद्य से अधिक कुछ नहीं है। इस मुरली के वादक कृष्ण हैं तो सच्चिदानन्द ब्रह्म, किन्तु 'रसो वै सः' श्रुति के अनुसार रस की प्रधानता से रस-ब्रह्म हैं। रस-ब्रह्म अर्थात् प्रेम एवं आनन्दस्वरूप ब्रह्म। ये निःसाधन भक्तों को अपने स्वरूप का बोध कराने के लिए प्रेम और अनुग्रहवश क्रिया-ज्ञान-सहित इसे बजाते हैं। इसकी ध्वनि

१— श्री सुबोधिनी ग्रन्थमाला, तृतीय पुष्प, पृ० ३४८।
२— श्री कृष्णोपनिषद् (कल्याण-उपनिषद्-अंक), पृ० ६९५।
३— श्रीमद्भागवत पुराण में वेणुगीत—स्वामी अखण्डानन्द सरस्वती, पृ० ११।
४— हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास, पञ्चम संस्करण, डॉ० रामकुमार वर्मा पृ० ५३३।
५— भक्ति-सुधा, द्वितीय खण्ड, स्वामी हरिहरानन्द सरस्वती, पृ० २९१।
६— श्रीमद्देवी भागवत (कल्याण—श्रीमद्देवी भागवत अंक) में श्री गायत्री सहस्रनाम, स्कन्ध १२, श्लोक १४१, पृ० ६४७
७— जप सूत्रम्, प्रथम खण्ड, स्वामी प्रत्यगात्मानन्द सरस्वती, श्लोक ९६।
८— श्री सुबोधिनी-ग्रंथमाला, तृतीय पुष्प, पृ० ३३०।
९— गीत गोविन्दम्—जयदेव, लक्ष्मीवेङ्कटेश्वर मुद्रणालय, ९।२
१०— सूर और उनका साहित्य, संशोधित संस्करण, डॉ० हरवंश लाल शर्मा, पृ० २०९।
११— उज्ज्वल नीलमणि, उद्दीपन प्रकरण, श्लोक ६१।
१२— श्री सुबोधिनी ग्रन्थमाला, तृतीय पुष्प, पृ० ३११।
१३— श्रीमद्भागवत में वेणुगीत, स्वामी अखण्डानन्द सरस्वती, पृ० १०।
१४— श्रीमद्भागवत पुराण, द्वितीय खण्ड, गीता प्रेस १०।१४।१

में संवलित उनके रसस्वरूप का सारांश कानों से होकर भक्तों के हृदय में पहुँचता है, फिर वहाँ से समस्त इन्द्रियों में प्रसरित हो जाता है, भक्त भगवदीय हो जाते हैं, ब्रह्मानन्द और मोक्षानन्द से भी उत्कृष्ट आनन्द की समाधि में स्थिर हो जाते हैं।

भक्ति-साहित्य में कृष्ण की मुरली के तीन प्रकार[१५] बताए गए हैं—वेणु, मुरली और वंशी। सूर ने इन तीन नामों के अतिरिक्त बाँसुरी और मुरलिका, दो और नामों का प्रयोग किया है। ऐसा लगता है, ये सभी नाम पर्याय रूप में प्रयुक्त हुए हैं—

छबीले! मुरली नैंकु बजाउ।[१६]

× × ×

हरिके सम मधुर वेनु कोउ न बेजा पावै।[१७]

× × ×

बंसी बैर परी जु हमारैं।[१८]

× × ×

पैले पार बजावै बँसुरी, उले पार बिरहिनि ठाढ़ी।[१९]

× × ×

स्याम तुम्हारी मदन मुरलिका, नैंसुक सी जग मोह्यौ।[२०]

सूर-काव्य में इस मुरली के सही स्वरूप को समझने के लिए उसे कृष्ण की गोकुल-लीला के प्रायः सभी प्रसंगों से सम्बद्ध करके देखना उचित होगा। बाल्य-काल में यह उनकी संगिनी है तथा उनके उन प्रिय खिलौनों में से एक है, जिनके राधा द्वारा चुराये जाने की आशंका से वे माँ से आग्रह करते हैं—"राखि छिपाइ कह्यौ करि मेरौ।"[२१] इसके नाम का उन पर मन्त्र-सा असर होता है। उन्हें दिन चढ़े तक सोते देख माँ कहती हैं—"तुम मोहन जीवन-धन मेरे, मुरली नैंकु सुनावहु कान।[२२]........ "यह सुनि स्रवन उठे नँदनन्दन, बंसी निज माँग्यौ मृदु बानि।[२३] मुरली के प्रति उनके अगाध प्रेम का पता इस बात से भी लगता है कि जब मथुरा-प्रवास में उद्धव उन्हें माँ की भेजी मुरली देते हैं, तो वे अत्यन्त भाव-विह्वल होकर उसे हृदय से लगा लेते हैं—"लई उठाई सुख मानि, सूर-प्रभु प्रीति आनि उर साली।"[२४] उनके गोकुल-जीवन में प्रायः प्रत्येक अवसर और स्थान पर वह उनके साथ रहती है। वृन्दावन में उसी के बल पर वे धेनु चराते हैं,[२५] ग्वालों को रिझाते हैं।

रीझत ग्वाल, रिझावत स्याम।
मुरलि बजावत, सखिनि बुलावत, सुबल श्रिदामा लै लै नाम।[२६]

१५– The Nectar of Devotion, A. C. Bhaktivedant Swami Prabhupad, Page 221.

(क) वेणु—छः इञ्च से छोटी, छः छिद्र।

(ख) मुरली—लगभग अठारह इञ्च लम्बी, पाँच छिद्र।

(ग) वंशी—लगभग पन्द्रह इञ्च लम्बी, नौ छिद्र।

१६– सूर ग्रन्थावली, (अ० भा० वि० प०) २७३६। १७– वही २७३८। १८– वही २७४९। १९– वही २७४२। २०– सूर सागर, ना० प्र० स० १२७४।

२१– सू० ग्रं० (अ० भा० वि० प०) १४६७। २२– वही २७०७। २३– २७०७

२४– सू० सा० ४७१६। २५– सू० ग्रं० २८०१। २६– वही २७३७।

सन्ध्या-समय वृन्दावन से घर लौटते हुए जमुना-तट पर खड़े होकर गोपियों का जल-विहार देखते समय मुरली उनके अधरों पर या हाथों में विराजती रहती है—

> देखौ नंद-नँदन घर आवत।
> वृन्दावन तैं धेनुवृन्द मैं, वेनु अधर धरि गावत।[२७]
> × × ×
> जमुना-जल विहरति व्रजनारी।
> तट ठाढ़े देखत नँद-नंदन, मधुर मुरलि कर धारी॥[२८]

होली में गोपियाँ इसे उनके हाथ से छीन लेती हैं—"लियौ काहू मुरलि करतैं" [२९] तो रास की रात इसी की ध्वनि से आमंत्रित होती हैं—"गोपीजन सब नेंवत आईं। मुरलि धुनते पठईं बुलाईं॥[३०] राधा के संग प्रेम के अंतरंग क्षणों में भी यह "रति-रन-धीर-कृष्ण" के समीप आयुध की भाँति रहती है—"मुरलि धरनि डारी आयुध लौं गहे सुभुज भट भीर।"[३१]

मुरली कृष्ण की बाल-संगिनी ही नहीं, उनके रूप का शृंगार भी है। रूप-वर्णन के अधिकतर पदों में मोर-मुकुट, कुंडल, वनमाल इत्यादि के साथ इसका उल्लेख हुआ है—

> मोर-पंख सिर मुकुट विराजत, मुख मुरली धुनि सुभग सुहाई।
> कुंडल लोल कपोलन की छवि, मधुरी बोलनि बरनि न जाई॥[३२]

मुरली-वादन की उनकी भंगिमा को देखकर 'कोटि मदन छवि' लज्जित हो जाती है—

> लटकत मुकुट, भौंह छवि मटकति, नैन सैन अति राजति।
> ग्रीव नवाइ अटकि वंसी पर, कोटि मदन छवि लाजति॥[३३]

सूर-काव्य के प्रेरणा-स्रोत श्रीमद्भागवत में कृष्ण के मुरलीधर रूप का चित्रण तो अनेक स्थलों पर हैं, पर मुरली के प्रति कृष्ण की क्या भावना थी, इसका उल्लेख नहीं है। हाँ, उसे 'कृष्ण की पहचान'[३४] कहकर भागवत्कार ने यह अवश्य संकेत किया है कि वह उनके व्यक्तित्व का अविभाज्य अंग है।

अन्य भक्त कवियों के कृष्ण की भाँति सूर के कृष्ण भी 'रस रासि'[३५] अर्थात् रस-ब्रह्म हैं। उनके समान मुरली कोई नहीं बजा पाता।[३६] उनकी मुरली 'जग-जीवन' है,[३७] विधि से भी अधिक प्रवीण है,[३८] क्योंकि 'कहिये काहि, आहि को ऐसौ, कियौ जगत आधीन।'[३९] और इसका नाद ?

> महामनोहर नाद, सूर थिर-चर मोहे, कोउ मरम न पावत।
> मानहु मूक मिठाई के गुन कहि न सकत मुख सीस डुलावत॥[४०]

'थिर-चर' के मोहित होने की अवस्था का एक चित्र है—

> धेनु-मृग तृन तजि रहे, बछरा न पीवत छीर।
> नैन मुँदे खग रहे, ज्यों करत तप मुनि धीर॥
> डुलत नहिं द्रुम-पत्र, वेली, थकित मंद समीर।
> सूर मुरली-सब्द सुनि, थकि रहत जमुना नीर॥[४१]

२७— सू० ग्रं० ९९०। २८— वही १५२५। २९— वही २६४७। ३०— वही २६९३
३१— वही १७५७ ३२— वही ९८९ ३३— वही ९५३।
३४— श्रीमद्भागवतपुराण १०।१४।१ ३५— सू० सा० २४२१।
३६— सू० ग्रं०, २७३८ ३७— वही २७३८ ३८— वही २७६७।
३९— वही २७६७ ४०— वही ९५६ ४१— वही ९६६।

इस नाद की पहुँच स्वर्ग तक है। सुर-वधुएँ इसे सुनते ही चित्र-लिखित सी रह जाती हैं, देव-विमान स्तम्भित हो जाते हैं, शिव की समाधि भंग हो जाती है, ग्रह-नक्षत्र अपनी राशि से बाहर नहीं निकल पाते।[४२] देवों पर पड़े नाद-प्रभाव को सूर बड़े ही विनोद से चित्रित करते हैं—

> बाँसुरी बजाइ आछे रंग सौं मुरारी। सुनि के धुनि छूट गई संकर की तारी ॥
> वेद पढ़न भूल गये ब्रह्मा ब्रह्मचारी। रसना गुन कहि न सकै, ऐसि सुधि बिसारी ॥
> इंद्र सभा थकित भई लगी जब करारी। रंभा को मान मिट्यौ, भूली नृतकारी ॥[४३]

ध्वनि-प्रभाव का ऐसा ही वर्णन रूप गोस्वामी के 'विदग्ध माधव'[४४] में भी है जिसमें शिव डमरू बजाना भूल जाते हैं, कुमार मुनियों की समाधि भंग हो जाती है, ब्रह्मा स्तब्ध और अनन्त देव अस्थिर हो जाते हैं। श्रीमद्भागवत में भी ब्रह्मा, शंकर, इन्द्र आदि को मुरली-ध्वनि में तल्लीन, आत्मविस्मृत दिखाया गया है।[४५] सूर की तरह भागवतकार की सुर-वधुएँ 'चित्रलिखित' नहीं, बेसुध हो जाती हैं—उनकी चोटियों में गुंथे पुष्प पृथ्वी पर बिखर जाते हैं, साड़ी कमर से खिसक गिर जाती है, और उन्हें पता भी नहीं चलता।[४६]

'वेणु-गीत' प्रसंगमें श्रीमद्भागवत् की ब्रजस्त्रियों में मुरली-ध्वनि से स्मरोदय होता है[४७] और रास-प्रसंग में कृष्ण के प्रति उनकी प्रीति और मिलन-लालसा अत्यन्त उत्कट हो जाती है।[४८] उनका धैर्य, भय संकोच, सब कुछ छिन जाता है। वे बिना एक दूसरे को बताए जिस अवस्था में होती हैं, उसी अवस्था में[४९] अपने-अपने पति, भाई, बन्धु की अवज्ञा[५०] कर कृष्ण से मिलने चल देती हैं। इन प्रसंगों में सूर ने भागवत का अनुसरण किया है। मुरली बजती है और—

> (कहाँ कहा) अंगनि की सुधि बिसर गई।
> स्याम-अधर मृदु सुनत मुरलिका, चकित नारि भई ॥
> जो जैसैं सो तैसैं रहि गईं, सुख-दुख कह्यौ न जाइ।
> लिखी चित्र-सी, सूर सुहै रहि, इकटक पल बिसराइ ॥[५१]

रास की रात इसकी ध्वनि से ब्रज-वधुओं के हृदय में काम[५२] का उदय होता है, और वे आर्य पथ,[५३] सुत-पति-नेह[५४] त्याग कर चल देती हैं—

> इक जेवनार करत ही छाँड़ी इक जेंवत पति त्याग्यौ।
> इक बालक पय पियत सुवावति, प्रेम-बिबस तनु लाग्यौ ॥[५५]

हड़बड़ी में उन्हें यह भी ध्यान नहीं रहता कि वे आभूषण और वस्त्र कैसे पहन रही हैं—

> कटि कंचुकी उरज लहँगा कसि, चरननि हार सँवार्‌यौ।
> उलटे भूषन अंगनि साजे, फेर न काहु निहार्‌यौ ॥[५६]

४२— सू०ग्रं० ९३०। ४३— वही ९५७।
४४— The Nectar of Devotion–Page 197।
४५— श्रीमद्भागवत पुराण, १०।३५।१४-१५। ४६— वही १०।२१।२२।
४७— वही १०।२१।३। ४८— वही १०।२९।३। ४९— वही १०।२९।५।
५०— वही १०।२९।८। ५१— सू० ग्रं० ९२८। ५२— वही १२४१।
५३— वही १२४२। ५४— १२५३। ५५— सू० ग्रं० १४२३। ५६— वही १४२३।

मुरली-ध्वनि चूँकि विषय स्वाद को छुड़ानेवाली है, अतः माता-पिता का अपमान भले ही हो जाये, पर कृष्ण के दर्शन की हानि वे नहीं सह सकतीं—

स्यामहिं सूचत मुरली-नाद । सुनि धुनि छूटे विषय सवाद । रास रसिक गुन गाइ हो ।
एक मातु-पितु रोकी आनि । सही न हरि-दरसन की हानि । सबहीं कों अपमान कै ॥[५७]

यह ध्वनि-प्रभाव स्थायी है, इसलिए वे कृष्ण के मथुरा चले जाने पर मुरली को कंठी और सिंगी के भाँति गले में बाँध लेती हैं[५८] और उद्धव जब उन्हें योग का उपदेश देते हैं, तब वे स्पष्ट कह देती हैं—"जिन स्रवननि मुरली सुर अँचयौ, मुद्रा सुनत डरात ।"[५९] विरह की उन्मादावस्था में तो मुरली न बजने पर भी उन्हें सुनाई देती है और लगता है कि कृष्ण मुरली में उनके नाम ले-लेकर पुकार रहे हैं—"कबहुँ कहति वा मुरली महियाँ लै लै बोलत हमरो नाँव री ।"[६०]

ब्रज की गोपियों की सी ही अवस्था गायों तथा अन्य जीवों की भी है। यशोदा कृष्ण को सन्देश भेजती हैं—

बिडरी जाति काहु नहिं मानति, नैंकु मुरलि की टैर दै ।
धौरी धूमरि पीरी काजरि, बन बन फिरती पीय ॥[६१]

उद्धव, जिन्होंने ब्रज के जीवों की अवस्था अपनी आँखों से देखी है, कृष्ण से कहते हैं—

नाचत नहीं मोर ता दिन लौं, रटन न वर्षाकाल ।
मृग दुबरे तुम्हरे दरसन बिनु, सुनत न बेनु रसाल ॥[६२]

समस्त संसार को प्रभावित कर उसके स्वभाव में परिवर्तन कर देने की मुरली की अद्भुत शक्ति उसके श्रीकृष्णस्वरूप होने का, कृष्ण की आह्लादिनी शक्ति होने का प्रमाण है। उसे नाद-ब्रह्म आदि मानने के पीछे यही दृष्टि है। गोप-गोपियों, ब्रजवासियों सहित समस्त चर-अचर का उसकी ध्वनि से मोहित एवं स्तम्भित होना, उनका कृष्ण-स्वरूप को प्राप्त होकर आनन्द-समाधि में स्थिर होना है। मुरली चूँकि उन्हें कृष्ण-स्वरूप का ज्ञान कराती है, अतः वह कृष्ण की आह्लादिनी-शक्ति है। किन्तु सूर जब कृष्ण को "बाँस-बंस-बंसी बस सबै जगत स्वामी"[६३] तथा "आप भए रस बस ताही के"[६४] कहते हैं तब तो मुरली उस 'पराशक्ति' की प्रतीक हो जाती है, जिसके बिना स्रष्टा सृष्टि नहीं कर सकता और शिव शव हो जाते हैं।

सूर के मुरली सम्बन्धी पदों में सबसे रोचक और हृदय-स्पर्शी वे पद हैं जिनमें मुरली गोपियों की सौत के रूप में चित्रित है। मुरली को सौत रूप में देखने की कल्पना को डॉ० गोवर्धन नाथ शुक्ल सूर की मौलिक कल्पना मानते हैं।[६५] संभवतः इस कल्पना का आधार किसी पुराणान्तर्गत वह कथा हो जिसका उल्लेख करपात्रीजी ने अपने निबंध 'वेणु-गीत' में किया है। एक बार कृष्ण जब राधा के गुणगान में तन्मय थे तब उनके मुख से सरस्वती प्रगट हुई और उन्होंने कृष्ण के सौन्दर्य पर लुब्ध होकर उनका आलिंगन चाहा। तदर्थ कृष्ण ने उन्हें वृन्दारण्य में वेणु-रूप में प्रकट होने को कहा। सरस्वती ने वैसा ही किया। बाँस-कुल में जन्म लेकर उन्होंने कृष्ण को पाने के लिए तप किया और उनकी मुरली बनकर अपनी साध पूरी की।[६६] इस प्रकार मुरली राधा और उनकी अंश गोपियों की सौत बनी। वैसे भी अपने गुण और

५७– सू० ग्रं० १४२२ । ५८– सूरसागर, ४३११ । ५९– वही ४५४० ।
६०– वही ४७२१ । ६१– वही ४७०५ । ६२– वही ४७४१ ।
६३– वही २७६४ । ६४– वही २७४० । ६५– वही प्र० खं०, पृ० ८८ ।
६६– भक्ति-सुधा, द्वितीय खण्ड, पृ० २९१ ।

प्रभाव के कारण वह कृष्ण की शक्ति है और राधा तो उनकी आह्लादिनी शक्ति हैं हीं। इस दृष्टि से भी सपत्नीत्व की कल्पना सहज स्वाभाविक है। श्रीमद्भागवत के 'वेणु-गीत' में वेणु के प्रति गोपियों की ईर्ष्या का उल्लेख निम्न रूप में है—

गोप्यः किमाचरदयं कुशलं स्म वेणु-
र्दामोदराधर सुधामपि गोपिकानाम्।[६७]

अर्थात् इस वेणु ने न जाने क्या पुण्य किये हैं कि हम गोपियों की अपनी सम्पत्ति—दामोदर के अधरों की सुधा—इस प्रकार पीये जा रहा है कि हमारे लिए थोड़ा भी रस शेष न रहेगा।

सूर ने इस वेणु को पुरुष नहीं, स्त्री (मुरली) रूप में देखा है और ईर्ष्या को स्वाभाविक बनाने के लिए सपत्नी रूप में प्रस्तुत किया है। ईर्ष्या अपने समकक्ष व्यक्ति की वृद्धि देखकर होती है। ईर्ष्यालु व्यक्ति अपने ईर्ष्या-पात्र की अवनति चाहता है, उसकी निन्दा करता है, उसके गुणों को भी दोष रूप में देखता है, उसे किसी भी सुफल का अनधिकारी समझता है। मुरली के प्रति गोपियों की ईर्ष्या का कारण है उसका त्रिभुवन पर प्रभाव, कृष्ण पर एकाधिकार तथा गोपियों की दृष्टि में अनधिकारिणी होते हुए भी कृष्ण की अधर-सुधा का पान।

आचार्य वल्लभ[६८] ने अधर-सुधा के तीन भेद बताये हैं—देव-भोग्या, भगवद्-भोग्या और सर्वा-भोग्या। देव-भोग्या सुधा का भोग देव कर सकते हैं। भगवद्-भोग्या सुधा वह सुधा है जिसे भगवान् वेणु-नाद द्वारा भक्त हृदय में प्रविष्ट कराके पुनः स्वयं उसका पान करते हैं। सर्वाभोग्या सुधा द्रवानन्दात्मक प्रभु का स्वरूप है, यह कानों से हृदय में होती हुई सभी इन्द्रियों में प्रसरित हो जाती है।

इस अधर-सुधा के लिए गोपियों ने छओं ऋतुओं में तप किया[६९], किन्तु इसका पान करती है श्रीमुख के स्वाद से अनभिज्ञ, सार-हीन हृदय वाली कुटिल मुरली।[७०] सभी के सिर पर पैर रखकर[७१], आँखों में धूल झोंककर[७२] वह गर्व के साथ अतृप्त भाव से इस अधर-सुधा को पीती है, बिखेरती है—

इहँ अँचवति, उहँ डारति लै लै, जल-थल-बननि बई।
जा रसकौं व्रत करि तनु गार्‌यो, कीन्हीं रई-रई।
पुनि-पुनि लेत, सकुच नहिं मानति, कैसी भई दई।[७३]

ईर्ष्या का अन्य प्रधान कारण मुरली का कृष्ण पर एकाधिकार तथा कठोर अनुशासन है। वह कृष्ण को नाना भाँति नचाती है और—

राखति एक पाँइ ठाढ़ी करि, अति अधिकार जनावति।
कोमल तन अज्ञा करवावति, कटि टेढ़ी ह्वै आवति॥
अति आधीन सुजान कनौड़े, गिरिधर नार-नवावति।
आपुनि पौढ़ि अधर-सज्जा पर, कर-पल्लव पद पलुटावति॥
भृकुटि कुटिल नैन, नासा-पुट, हम पर कोप कुपावति।[७४]

मुरली जो कुछ कहती है, श्याम वही करते हैं, उसी के रंग में ढले रहते हैं और 'घर-वन रैनि-दिना सँग डोलत, करतैं करत न न्यारी।'[७५]

६७– श्रीमद्भागवतपुराण १०।२१।९।

६८– श्री सुबोधिनी ग्रन्थमाला, तृतीय पुष्प, व्याख्यार्थ, पृ० ३१५। ६९– सूर-ग्रन्थावली २७४१। ७०– वही २८३६। ७१– वही २७४३। ७२– वही २७४३। ७३– वही २७६०। ७४– वही ९६३। ७५– वही २८३९।

उनकी अर्द्धांगिनी तो हैं राधा, पर यह उनसे भी अधिक प्रिय हो गई है—'राधा आधौ अंग हैं, तातैं यह प्यारी।'[७६] इसी के कारण वे गोपियों को भी भूल गये हैं—'जब तैं स्याम परे वस वाकैं, हम सबहिन बिसराई।'[७७] प्रारम्भ में जब यह नई-नई आई थी, तब तो इसने—

वार वार बन बोलि मधुर धुनि, अति प्रतीति उपजाई।
मिलि स्रवननि मन मोहि महारस, तन की सुधि बिसराई॥[७८]

लेकिन कृष्ण के मुँह लगते-लगते अब यह बड़ी चंट हो गई है—

वारे तैं मुँह लागत लागत, अब ह्वै गई सयानी।
सुनहु सूर, हम भोरी-भारी, याकी अकथ कहानी॥[७९]

कृष्ण को कोई अन्य स्त्री अच्छी ही नहीं लगी। वे इसे वन से लाये। उन्होंने इसे सुहागिन बनाया। अब क्या, कृष्ण राजा तो यह रानी है—

स्याम नृपति मुरली भई रानी।
बनतैं ल्याइ सुहागिनि कीन्हीं, और नारि उनको न सुहानी।

ईर्ष्या अब मुरली के दोष-दर्शन में परिणत हो जाती है।[८०] वह उन्हें छिनाल[८१], पापिनी[८२], हत्यारिनि[८३], कपटिनी[८४], टुनहाई[८५], ओछी[८६] और जाने क्या-क्या लगने लगती है। वे उसके जन्म, जाति, कुल-धर्म आदि को याद करने लगती हैं—

सुनहु री! मुरली की उतपत्ति।
बन में रहति बाँस कुल याकौ, यह तो याकी जत्ति॥
जलधर पिता, धरनि है माता, अवगुन कहौं उघारि।
बनहूँ तैं याकौ घर न्यारौ, निपटहिं जहाँ उजारि॥
इकतैं एक गुननि हैं पूरे, मातु पिता अरु आप।[८७]

विश्वासघात तो इसे कुल-परम्परा से मिला है। इसके पिता बरसते हैं तो सम्पूर्ण धरती को तृप्त करते हैं, पर उनका एकनिष्ठ प्रेमी चातक एक बूँद के लिए तरस कर रह जाता है। माँ का चरित्र तो ऐसा है कि वह कुँवारी होते हुए भी सभी को जन्म देती है और उसकी सन्तानें उसी में नष्ट हो जाती हैं, पर उसे रंचमात्र दुःख नहीं होता।[८८] ऐसे निष्ठुर माता-पिता की आत्मजा यह मुरली उनसे भी बढ़कर है, क्योंकि—

जा कुल मैं उपजी, ता कुल कौं जारि करति है छार।
तन ही तन मैं अगिनि प्रकासति, ऐसी याकी झार॥[८९]

बादल और पृथ्वी के संयोग से मुरली की उत्पत्ति-कथा 'वेण'[९०] नामक उस वर्ण-शंकर गवैया जाति का स्मरण कराती है, जिसकी उत्पत्ति अम्बष्ठ पिता और वैदेहक माता से मानी गयी है। मुरली (वेणु) भी गाती है, अतः वेण जाति की है। 'अम्बष्ठ' शब्द में 'अम्ब' जलवाची है, अतः उससे जलधर अर्थ सहज ही व्यंजित होता है। सीता भूमिजा थीं और विदेह की होने से वैदेहक भी। क्या भूमि और वैदेहक में

७६– सू० ग्रं० २७७२। ७७– वही २८३२। ७८– वही २८३२। ७९– वही २८३४।
८०– वही २८४९। ८१– वही २८१४। ८२– वही २८३५। ८३– वही २८३५।
८४– वही २८१९। ८५– वही २८०९। ८६– वही २७९१। ८७– वही २७७६।
८८– वही २७७७। ७९– वही २७७८। ९०– हिन्दी-विश्वकोश, नगेन्द्रनाथ वसु।

भी कोई सम्बन्ध है ? क्या सूर के "सुनिकै कुंज कानन बैंन" जैसे पदों में 'बैंन' शब्द का प्रयोग 'वेण' (जाति) और वेणु (मुरली), दो अर्थों को व्यंजित करने के लिए साभिप्राय किया गया है ?[९१]

बादल और धरती जैसे निष्ठुर माता-पिता की यह अतिनिष्ठुर सन्तान—मुरली—इतनी 'स्वारिथिनी'[९२] है कि श्याम की अधर-सुधा पीने के लिए अपने कुल को जलाकर आई है।[९३] इसने गोपियों से वैर बढ़ा लिया है।[९४] श्याम ने इसे अधरों से छू क्या लिया, इसका गर्व बढ़ गया, इतराकर चलती है।[९५] इसकी अवस्था उस कंगालिन की तरह है जिसकी आँखें जरा-सा धन मिलते ही आकाश में चढ़ जाती हैं—

फूली फिरति स्याम कर बैठी, अतिही गर्व बढ़ायौ।
ज्यों निधनी धन पाइ अचानक, नैंन अकास चढ़ायौ ॥[९६]

यदि अच्छे 'कुल-नेम-धर्म' की होती तो दिन प्रति दिन गुण-गम्भीर होती, शीश नवाकर रहती और—'सबनिकौं लै संग चलती, दौरि मिलती आइ।'[९७] ऐसी मुरली को गोपियाँ भला क्यों न कोसें—'मुरली यह वहि गई न नारे।'[९८]

कुछ गोपियाँ मुरली को निर्दोष समझती हैं। उनकी दृष्टि में नई नवेलियों के चक्कर में रहनेवाले कृष्ण ही दोषी हैं। यदि उसे वे ओठों से लगायें, छाती से चिपकाएँ, तो वह क्या करे !

मुरली को कह लागै री !
देखौ चरित जसोदा-सुत कौ, वह जुवतिनि अनुरागै री ॥
यह दृढ़ नाहिं कहाँ तिहिं दो वल, ये उचटैं वह पागै री।
कर धरि, अधर परस, आलिंगन देत, कहा उठ भागै री ॥[९९]

वस्तुतः समान-धर्मा होने से मुरली और कृष्ण में परस्पर प्रेम अनिवार्य है। श्याम निर्दय हैं और मुरली भी।[१००] वे वन में गाय चराते हैं और यह वन की है[१०१], वे अहीर हैं और यह बाँस है[१०२], वे वनवारी तो यह वन-बाँस है[१०३]। जैसे वे तैसी यह—

जैसे ये तैसी वह आई ! विधना जोरी भली बनाई ॥
मुरली के संग मिले मुरारी। भाग सुहागिन पिय अरु प्यारी।
अहैं कुलट कुलटा ये दोऊ। इकतैं एक नहीं घट कोऊ ॥[१०४]

मुरली और कृष्ण के इस अविच्छेद्य सम्बन्ध को देखकर गोपियाँ कृष्ण से यह कहना चाहती हैं

अब मुरली-पति जाइ कहावहु, वह वंसी तुम काठ।
सूरदास-प्रभु, नई चतुरई, मुरली पढ़ये पाठ ॥[१०५]

गोपियों की कटूक्तियाँ सुनकर मुरली अत्यन्त दुखी होती है। उसकी समझ में नहीं आता कि कि वे उस पर लाल-पीली क्यों हो रही हैं।[१०६] क्यों उसकी जाति-पाँति उघट रही हैं,[१०७] क्यों उसे बाँसु-री कहकर बके जा रही हैं।[१०८] उन्हें यदि कुछ पूछना ही है तो श्याम से पूछें न कि कितना दुःख उठाने पर उसका स्नेह उनसे जुड़ पाया है।[१०९] वह अपने दुःख और तप का उल्लेख कर स्वयं

९१– सूर-ग्रन्थावली १२४४। ९२– वही २७८४। ९३– वही २७८३।
९४– वही २७८५। ९५– वही २७८५। ९६– वही २७८५। ९७– वही २७८७।
९८– वही २७३८। ९९– वही २८०९। १००– वही २७९८। १०१– वही २७९९।
१०२– वही २८००। १०३– वही २८०१। १०४– वही २८२९। १०५– वही २८०८।
१०६– वही २८५१। १०७– वही २८५३। १०८– वही २८५०। १०९– वही २८५०।

को श्याम के स्नेह की अधिकारिणी सिद्ध करती है और गोपियों को अपने जैसा ही तप करके उन्हें रिझाने की नम्र चुनौती देती है—

> जन्मत ही तैं भई बिरत-चित, तज्यौं गाउँ गुन गेह।
> एकहि पाउँ रही हौं ठाढ़ी, हिम-ग्रीषम-ऋतु मेहु ॥
> तज्यौ मूल साखा-सुपत्र सब, सोच सुखानी देहु।
> अगिनि सुलाकत मुर्यौ न तन मन, विकट वनावत वेहु ॥
> वकतीं कहा वाँसु-री कहि कहि, करि करि तामस तेहु।
> सूर स्याम इहिं भाँति रिझै, किनि, तुमहूँ अधर रस लेहु ॥[110]

यह तो भाग्य की वात है, कृष्ण की उस पर कृपा है तो वह क्या करे! वड़ी विनम्रता से गोपियों को समझाती है कि—

> वृथा वैर तुम करति निसा-दिन, आछो जनम गँवावति री।
> सूर सुनहु व्रजनारि सयानी, मूरख ह्वै समुझावति री ॥[111]

उन्हें आश्वासन भी देती है कि जिस दिन वे उसके जैसा तप करके श्याम की अधर सुधा की अधिकारिणी हो जायेंगी, उस दिन वह उनकी दासी वन जायेगी, और श्याम से स्वयं दूर हट जायेगी—'सुनहु सूर मैं न्यारी ह्‌वै हौं, जब देखौं तुम मेरी-सी।'[112]

मुरली की विनम्रता का गोपियों पर अपेक्षित प्रभाव पड़ता है। उसके प्रति अपनी पूर्ववर्ती धारणाएँ उन्हें निर्मूल लगती हैं और उसकी कृष्ण-प्रिया होने की योग्यता को वे स्वीकारती हैं—

> मुरली स्याम अधर पर वैसी।
> सुनहु सखी! यह है तिहि लायक, अतिहि भली, नहिं नैंसी।[113]

अव उन्हें मुरली से स्नेह-सम्वन्ध स्थापित करना उचित लगता है। श्याम तो वहुनायक हैं—उनकी अनेक प्रेयसियों में एक मुरलो भी सही। कृष्ण के प्रति उनका अपना प्रेम यदि दृढ़ रहा, तो निष्फल न होगा—

> सूर स्याम वहुनायक सजनी, यहौ मिली इक आई।
> तुम अपने जो नेम रहौगी, नेम न करतैं जाई ॥[114]

मन में क्रमशः मुरली के प्रति सहृदयता वढ़ती जाती है। उसके उपकारों की स्मृतियाँ जागती हैं—

> वासर-स्याम-विरह अति ग्रासित हूजत मृतक समानौ।
> लेति जिवाइ सुमंत्र सुरस कहि, करति न डर अपमानौ ॥
> निज-संकेत लखावत अजहूँ, मिलवत सारँग-पानी।
> सरद-निसा-रस-रास करायौ, वोलि-वोलि मृदु-वानी ॥[115]

अपने दुःखों का औचित्य उनकी समझ में आता है और उसके प्रति कटूक्तियाँ अनुचित लगने लगती हैं—

> परकृत-सील सुकृत उपमा रमि तासौं यों कत कहियै।
> परकौ सूरदास मेटे कृत न्याइ इतौ दुःख सहियै ॥[116]

११०— सू० ग्रं० २८५०। १११— वही २८५४। ११२— वही २८५८।
११३— वही २८७४। ११४— वही २८६४। ११५— वही २८७६।
११६— वही २८७६।

ईर्ष्या पूर्णतः समाप्त हो जाती है। वह उन्हें अत्यन्त प्रिय, अद्वितीय लगती है—

मुरली मोकौं लागति प्यारी।

....

यह निरमोल मोल नहिं याकौ, भली न यातै कोई।
सूरदास याके पटतर कौ, तौ दीजै जो होई॥[117]

वे श्रद्धा-विह्वल होकर कह उठती हैं—

धन्य मुरली, धन्य तप तुम्हारौ।
धन्य धनि मातु धनि धन्य भ्राता-पिता, बहुरि धनि धन्य तुव भगति-सारौ।
धन्य वह बाँस, धनि धन्य जहँ तू रही, धन्य बन झार तोतैं बड़ाई॥[118]

जैसा कि इस प्रसंग के एक वाक्यांश "सरद निसा रस रास करायौ" से लगता है, ईर्ष्या-प्रसंग रास के बाद का है। इस प्रसंग में मुरली के कई रूप सामने आते हैं। एक ओर वह कृष्ण के अनुग्रह से पुष्ट भगवत्-स्वरूप को प्राप्त आदर्श भक्त है, तो दूसरी ओर गोपियों को भगवद्-रस में दीक्षित करनेवाली आचार्य। भगवत्-स्वरूप का बोध कराने का कार्य सरस्वती एवं आह्लादिनी शक्ति का है, अतः वह सरस्वती और आह्लादिनी शक्ति भी है। उसका तप शिव के लिए पार्वती के तप की स्मृति दिलाता है, साथ ही इस तथ्य की भी पुष्टि करता है कि यह वही वेणुरूपा सरस्वती है जिसने वृंदारण्य में कृष्ण के लिए तप किया था। राधा की अंश गोपियों का इसके प्रति प्रेम देखकर स्कन्दपुराण की इस उक्ति की सार्थकता समझ में आती है कि यह राधा और कृष्ण की 'प्रेमरूपिका' हैं।[119] इसके प्रति गोपियों की ईर्ष्या वस्तुतः ईर्ष्या नहीं, ईर्ष्या के रूप में मुरली और कृष्ण के प्रति उनका आंतरिक प्रेम है, यह कृष्ण और गोपियों के प्रेम की विग्रह है। कृष्ण के प्रति गोपियों की आसक्ति रास के पश्चात् व्यसनावस्था को पहुँच चुकी थी। उसके कारण उनकी अन्तरात्मा में स्वयं स्फूर्त अलौकिक उन्माद प्रगट हुआ। इस उन्माद को महाभाव कहा जाता है। इसी के कारण गोपियाँ मुरली की सौत रूप में कल्पना करती हैं, उससे काल्पनिक ईर्ष्या करती हैं। यह प्रेम का एक विचित्र भाव है, अतृप्ति है, तृष्णा है। भक्ति-रस में इस महाभाव (अलौकिक उन्माद) को उच्चकोटि का माना गया है तथा इसे "अधिरूढ़ मादन मोदनाख्य अवान्तर भाव"[120] की संज्ञा दी गयी है।

मुरली की उपर्युक्त विवेचना आध्यात्मिक दृष्टि से है। लौकिक दृष्टि से जब हम उसे कृष्ण, राधा, यशोदा, गोप, गोपियों तथा सम्पूर्ण प्रकृति के सन्दर्भ में देखते हैं, तो वह मनुष्य के प्रति मनुष्य के उस महान् प्रेम की प्रतीक हो जाती है, जिसके बिना मनुष्य-द्रोह के विविध रूपों का सक्रिय प्रतिरोध एवं जीवन के नये-नये रूपों की व्यावहारिक संरचना असंभव है। इस प्रेम-तत्त्व के रूप में यह मुरली सूर के काव्य की आत्मा है, उनके व्यक्तित्व का पर्याय है। ■

११७— सू० ग्रं० २८८१।   ११८— वही २८८४।

११९— स्कन्दपुराण का श्रीमद्भागवत माहात्म्य, अध्याय २, श्लोक १३ (श्रीमद्भागवत पुराण, गीता-प्रेस, में उद्धृत)।   १२०— भक्ति-सुधा (द्वितीय खण्ड), पृ० ३११।

मानलीला

श्रीमती भारती शर्मा

भक्त शिरोमणि महात्मा सूरदास की वाणी में भक्ति एवं काव्य का मणिकांचन संयोग हुआ है। दैन्य, वात्सल्य, सख्य, श्रृंगार आदि विभिन्न भावों के मनोरम चित्र सूरसागर में प्राप्त होते हैं किन्तु सूर के प्रिय वर्ण्य विषय दो ही हैं—वात्सल्य और श्रृंगार। मानलीला का वर्णन श्रृंगार रस के अन्तर्गत ही आता है। श्रृंगार को साहित्य में आरम्भ से ही सर्वाधिक महत्त्व मिला है। उसे रसराज माना जाता है। श्रृंगार के दो मूल भेद है—संयोग और वियोग। संयोग में आश्रय और आलंवन का मिलन रहता है अतः वह सुखात्मक है। वियोग में प्रेमी प्रेमिका का विच्छेद है अतः वह दुखात्मक है। इसके चार भेद हैं—पूर्वराग, मान, प्रवास और करुण। वियोग श्रृंगार के इस द्वितीय भेद मान से सम्बधित सूरदास के कई सुन्दर पद मिलते हैं। यहाँ एक बात उल्लेखनीय है। भक्ति युग का श्रृंगार अपार्थिव श्रृंगार है—अर्थात् उसका आलंवन मनुष्य न होकर भगवान है। इस अपार्थिव श्रृंगार का अपना शास्त्र और दर्शन है। शास्त्र में देव विषयक श्रृंगार को उज्ज्वल रस कहा गया है। इसका स्थायी भाव है—भक्ति या कृष्ण के प्रति रति। आलंवन हैं कृष्ण, उद्दीपन है भागवत का श्रवण, रासलीला का अवलोकन आदि। वैष्णव दर्शन में इसे आदि रस कहा गया है। राधाकृष्ण का प्रेम वर्णन इस आदि रस को ही निष्पन्न करता है। कृष्ण और गोपियाँ परमात्मा और आत्मा की प्रतीक हैं। माया का आवरण ढीला होते ही आत्मा परमात्मा से मिलने के लिए छटपटा उठती है। मिलन की यह व्याकुलता ही साधक का लक्ष्य है। इसी भावना को वैष्णव साहित्य में दाम्पत्य अथवा माधुर्य के रूपक द्वारा शत-शत प्रकार से अभिव्यक्त किया गया है, यह भाव शुद्ध आध्यात्मिक है। इसमें प्रेम की सभी विशेषताएँ विद्यमान हैं, परन्तु काम नहीं है। राधा-कृष्ण की प्रेम क्रीड़ाओं को इसी परिप्रेक्ष्य में देखना उचित होगा।

सूर द्वारा वर्णित मानलीला का वर्णन करने के पूर्व 'मान' का काव्यशास्त्रीय स्वरूप समझ लेना समीचीन होगा। मान है क्या ? इसे समझाते हुए विश्वनाथ कविराज ने साहित्य दर्पण में कहा है—

मानः कोपः स तु द्वेधा प्रणयेर्ष्यासमुद्भवः।
द्वयोः प्रणयमानः स्यात्प्रमोदे सुमहत्यपि ॥
प्रेम्णः कुटिलगामित्वात्कोपो यः कारणं विना।[1]

अर्थात् कोप का नाम मान है। वह दो प्रकार का होता है। एक प्रणय से उत्पन्न, दूसरा ईर्ष्या से उत्पन्न। प्रेम की उलटी ही चाल हुआ करती है। इसलिए दोनों के हृदय में भरपूर प्रेम होने पर भी, विना कारण ही जो एक दूसरे के ऊपर कोप है, उसे प्रणयमान कहते हैं।

१– साहित्यदर्पण—विश्वनाथ कविराज, परिच्छेद ३, श्लोक १९८।

इस श्लोक की 'व्याख्या' के अनुसार प्रणयमान यदि अनुनय के समय तक न ठहर सके, तो उसे विप्रलम्भ शृंगार नहीं, 'सम्भोग संचारी' नामक भाव समझना चाहिये।[२]

पति की अन्य स्त्री में आसक्ति देखने पर या अनुमान कर लेने पर, अथवा उसके बारे में किसी से सुन लेने पर स्त्रियों में ईर्ष्यामान होता है—

पत्युरन्यप्रियासङ्गे दृष्टेऽथानुमिते श्रुते ।।[3]
ईर्ष्यामानो भवेत्स्त्रीणां....

ईर्ष्यामान में अनुमान तीन तरह से होता है—

....तत्र त्वनुमितिस्त्रिधा ।
उत्स्वप्नायित भोगाङ्क गोत्रस्खलनसंभवा ।।[४]

अर्थात् (१) स्वप्न में अन्य नायिका के सम्बन्ध की बातें बड़बड़ाने से, या (२) नायक में उसके संभोग-चिह्नों को देखने से अथवा (३) अचानक नायक के मुख से अन्य नायिका का नाम निकल जाने से।

स्त्रियों के मान-भंग के उपाय हैं—

साम भेदोऽथ दानं च नत्युपेक्षे रसान्तरम् ।
तद्भवङ्गाय पतिः कुर्यात्षडुपायानिति क्रमात् ।।[५]

अर्थात्, साम, भेद, दान, नति, उपेक्षा और रसान्तर, इन छः उपायों को मानभंग करने के लिए पति को यथाक्रम ग्रहण करना चाहिये। इन उपायों का स्पष्टीकरण भी किया गया है—

तत्र प्रियवचः साम, भेदस्तत्सख्युपार्जनम् ।
दानं व्याजेन भूषादेः, पादयोः पतनं नतिः ।।
सामादौ तु परिक्षीणे स्यादुपेक्षावधीरणाम् ।
रभसत्रासहर्षादेः कोपभ्रंशो रसान्तरम् ।।[६]

प्रिय वचन का नाम 'साम' है। नायिका की सखी को अपनी ओर मिला लेना 'भेद' है। किसी बहाने से भूषण आदि देना 'दान' है। पैरों पर गिरना 'नति' और सामादिक चार उपायों के निष्फल होने पर उपाय छोड़ कर बैठे रहना 'उपेक्षा' है। घबराहट, भय, हर्ष आदि के कारण कोप दूर हो जाने का नाम 'रसान्तर' है।

रासलीला में वर्णित राधा-कृष्ण के एकान्त प्रेम संयोग का स्वाभाविक विकास हुआ है। गर्व के सर्वथा नाश के उपरान्त स्वयं कृष्ण राधा के संयोग के लिए लालायित हो उठते हैं। प्रेम की पूर्णता में प्रेम की गति का प्रवाह एकांगी नहीं रहता। इसी को प्रदर्शित करने के लिए राधा की मान लीलाओं का वर्णन किया गया है। मान का वर्णन कवि ने चार बार किया है जिसमें प्रेम के उत्तरोत्तर विकास का चित्रण हुआ है।

मान का पहला वर्णन लघु मानलीला शीर्षक से किया गया है। शीर्षक से ही स्पष्ट है कि यह मान नायक के गंभीर अपराध के कारण नहीं किया गया है। प्रेमगर्विता राधा ललिता की प्रशंसा सुन

२— अनुनयपर्यन्तासहत्वे त्वस्य न विप्रलम्भभेदता, किन्तु संभोगसंचार्याख्यभावत्वम् ।

३— सा० द० ३।१९९। ४— वही ३।२००। ५— वही ३।२०१।

६— वही ३।२०२,२०३

कर फूली नहीं समाती। यह हर्ष गर्व में बदल जाता है। उन्हें ऐसा लगता है कि व्रज में मुझ जैसी नवेली दूसरी नहीं। अतः वे मन ही मन यह निश्चय करती हैं कि अब कृष्ण को किसी के पास नहीं जाने दूँगी।

ललिता मुख सुनि सुनि वै बानी। मैं ऐसी जिय में यह आनी ।।
और नाहिं कोउ व्रज मो सरिकी। हौं राधा आधा अँग हरि की ।।
अपने ही बस प्रिय को करिहौं। कहूँ जात देखौं तब लरिहौं ।।[७]

इसी बीच कृष्ण वहाँ आए। राधा ने उनकी झलक मात्र देख कर मुँह घुमा लिया और क्रोध से डाँटने लगीं। राधा का यह असमय क्रोध और गर्व देखकर कृष्ण समझ गए कि राधा का हृदय अभिमान से भर गया है। ऐसी जगह कृष्ण कैसे रह सकते हैं। वे अंतर्ध्यान हो गए—

जहाँ गर्व अभिमान है, तहँ गोविंद नाहीं।
....
तहाँ नैकहूँ नहिं रहे, नहिं दरसन दीन्हीं।
सूर स्याम अंतर भए, जब गर्वहि चीन्हीं।[८]

अब राधा को अपना अपराध ज्ञात हुआ। वह प्रेम का अभिमान दूर हो गया। प्रिय के वियोग में वे व्याकुल हो उठीं। अब उनसे कौन मिलाये, यही प्रश्न हृदय को मथने लगा—

कासौं कहौं, मिलावै को अब, नैंकु न धीरज धरत जियौ।
वै तो निठुर भये या बुधि सौं, अहंकार फल यहै दियौ।[९]

राधा को पूर्ण विरह दशा आ घेरती है। मन अस्थिर हो गया। ज्ञानेन्द्रियों ने साथ छोड़ दिया। नेत्रों से आँसू बह चले। वह उन्मत्त के समान विरह वन में डोलने लगीं। तभी वहाँ राधा की सखियाँ आ पहुँचीं। डूबते को तिनके का सहारा मिला। राधा उनसे भी यही प्रार्थना करती हैं कि कृष्ण से मिलने का कोई उपाय करो—

मिलावहु पार्थ मित्रहिं आनि।
जलधि सुत के सुत कि रुचि करि, भई हित की हानि।[१०]

कृष्ण से मान करने पर उनकी क्या दशा हुई, इसका वर्णन करते हुए वे कहती हैं—

रैनि मोंहि जागतहि बिहानी, मान कियो मोहन सौं, तातैं भई अधिक तन तपति।
सेज सुगंधित लखि विष लागत, पावकहू तैं दाह सखीरी, त्रय विधि पवनहु उड़पति ।।[११]

राधा की सखी चंद्रावली कहती है कि देखो बिना मान किये (कृष्ण से रूठे बिना) तेरा प्रेम अधिक दिन नहीं ठहरेगा। अगर कृष्ण कठोर हो गए हैं तो तू भी अपना मन कठोर कर के बैठ जा, वे स्वयं आ मिलेंगे। पर एक बार मान कर के राधा को सबक मिल गया है। अतः वे साफ कहती हैं—

सजौं मान क्यौं, मन न हाथ, पिय सुमिरत उमँगि भरत।
मोसौं मानत बाम, स्याम गुनगुनि अभिलाष करत।[१२]

और मान हो भी तो कैसे! यह मन ही चंचल होकर कृष्ण से जा मिला है। मेरी न सुनकर उन्हीं के ध्यान में रमा रहता है—

७– सूर ग्रंथावली (अ. भ. वि. प.) १८४३। ८– वही १८४५। ९– वही १८४७।
१०– वही १८५०। ११– वही १८६०। १२– वही १८६२।

मान करौ मन थिर न रहै।
कोटि जतन करि करि पचि हारी, मोहिं बिसरि गयौ, को कहै।[13]

बल्कि राधा प्रण करती हैं कि अब कभी भी मान नहीं करूँगी—

भूलि नहीं अब मान करौं री।
जातै होइ अकाज आपनौ, काहै वृथा मरौं री।[14]

सखियाँ राधा की दशा देखकर द्रवित हो जाती हैं। ललिता दूती बन कर कृष्ण को मनाने जाती है। राधा की विरह दशा के साथ साथ उनके रूप की प्रशंसा करती है। आखिर कृष्ण प्रसन्न होते हैं और आकर राधा को हृदय से लगा कर उनका विरह ताप शांत करते हैं।

राधा के दूसरी बार के मान का कारण भ्रमजनित संदेह है। कृष्ण के वक्षस्थित आभूषण में स्वयं अपना प्रतिबिंब देख कर कृष्ण के अन्य स्त्री को हृदयस्थ करने की कल्पना करके वह मान कर बैठती हैं। राधा का यह मान प्रेम विनोद का खेल जैसा ही है। परंतु राधा यहाँ गौरवशाली मानवती के रूप में चित्रित की गई हैं और उनका मान कृष्ण के हृदय में उनके प्रति प्रेम को और अधिक दृढ़ करता है।

राधा कृष्ण विहार कर रहे थे। अकस्मात् राधा की दृष्टि कृष्ण की छाती पर लटकती हुई मणि-माला पर पड़ी। मणि में अपना प्रतिबिंब देख कर राधा को ऐसा लगा मानो कोई अन्य नागरी कृष्ण के हृदय में बसी है। बस, वे छिटक कर दूर जा खड़ी हुईं और उलाहना देती हुई बोलीं—

जानी अब पिय बात तुम्हारी।
मो सौं तुम मुख ही की मिलवत, भावति है वह प्यारी।
राखे रहत हृदय पै जाकौं, धन्य भाग हैं ताके।[15]

यह सुनते ही कृष्ण चकित हो गए। उन्होंने हर प्रकार से राधा को अपने प्रेम का विश्वास दिलाना चाहा, पर राधा तो कुछ भी सुनने को तैयार नहीं। अत्यंत क्रुद्ध होकर वे मान कर बैठीं—

कियौ अति मान वृषभानु बारी।
देखि प्रतिबिंब पिय हृदै नारी॥[16]

बिना अपराध ही दंड मिलता देख कृष्ण व्याकुल हो उठे। हर प्रकार से राधा को मनाने समझाने की कोशिश की, पर मान नहीं टूटा। निराश होकर उन्होंने दूती को भेजा। चतुर दूती सखियों के साथ राधा को मनाने गई। कृष्ण का विरह वर्णन करके, राधा के सौंदर्य की बारंबार प्रशंसा करके सखियों ने राधा को मना ही लिया। इसके बाद जैसे ही एक सखी ने अति प्रिय शब्द "मोहन" सुनाया वैसे ही राधा मगन मन मुस्कुरा उठीं और मान छूट गया—

मोहन सो सुनि नाम स्रवन हीं, मगन भई सुकुमारी।
मान गयौ, रिस गई तुरत ही, लज्जित भइ मन भारी॥[17]

प्रणयमान के अंतर्गत ही श्रीकृष्ण के मान का भी एक स्थान पर सूरदास ने वर्णन किया है। यह प्रसंग संक्षिप्त होते हुए भी अत्यंत रोचक है। एक दिन प्रणय लीला में कृष्ण ने राधा के वस्त्राभूषण पहन लिये और राधा ने कृष्ण के। अब राधा बने कृष्ण रूठने का अभिनय करने लगे और कृष्ण बनी राधा मनाने का। इसी बीच कृष्ण ने सोचा कि राधा के हृदय में विरह रस उत्पन्न करना चाहिए—"प्यारी

१३– सूर० ग्रं० १८७१। १४– वही १८७३। १५– वही २१८४।
१६– वही २१९२। १७– वही २२०८।

हृदय रस विरह उपाऊँ।"[१८] क्योंकि "न विना विप्रयोगेन संयोग पुष्टिमश्नुते।" और वे सचमुच रूठ कर निष्ठुर होकर बैठ गये—

निठुर ह्वै लालन बैठि रहे।
प्यारी हा हा करति, मनावति, पुनि पुनि चरन गहे।[१९]

कृष्ण के रूठते ही राधा अपनी चपलता भूल गईं। तरह तरह से कृष्ण को मनाने लगीं, पर वे भला क्यों इतनी जल्दी मानते?

नैकु नहिं चितवत राधा तन, निठुर भए नंदलाल।[२०]

अब तो राधा व्याकुल हो गईं। कभी पैर पकड़तीं, कभी अंक में भर लेतीं, कभी उठतीं, कभी बैठतीं। तरह तरह के मधुर वचनों से उन्हें रिझाने लगीं। उनकी व्याकुलता देख कर कृष्ण मन ही मन मुस्कुरा उठे। उन्होंने मान छोड़ कर राधा को हृदय से लगा लिया। फिर वे स्वयं ही कहते हैं कि यह मान तो सिर्फ क्रीड़ा के लिए था, तुम डर क्यों गईं?

खेलत मैं तुम बिरह बढ़ायौ, गई कहा बितताई।
तुमही कह्यौ मान करिबे कौ, आपुहि बुद्धि उपाइ।
काहैं बिबस भई बिनु कारन, ऐसी गई डराइ।[२१]

इन सुधामय वचनों को सुनते ही राधा का विरह दुःख दूर हो गया और वे प्रसन्न हो उठीं।

राधा का मध्यममान ईर्ष्यामान के अंतर्गत आता है। प्रिय के शरीर पर रतिचिह्न देखकर राधा पहले तो परिहास करती हैं पर शीघ्र ही यह परिहास क्रोध और फिर मान में बदल जाता है।

अब तक राधा को सहज स्वभाव यही विश्वास था कि कृष्ण रात में अन्यत्र नहीं जाते। या तो 'महर सदन' में रहते हैं या स्वयं मेरे घर में। पर जब एक बार प्रातः काल श्याम सुरति चिह्नों के सहित आ गए तो राधा को उनका विचित्र रूप देखकर हँसी आ गई—

पिय छबि निरखि हँसति तिय भारी।
कहाँ महाउर पाग रँगाई, यह सोभा इक न्यारी।
अरुन नैन अलसात देखियत, पलक पीक लपटानों।
अधर दसन छत, अंजन राजत, बंधुक पै अलि मानों।[२२]

पर शीघ्र ही परिहास क्रोध में बदल गया। क्रोध के कारण राधा कृष्ण को चले जाने के लिए कहने लगीं। राधा का बढ़ता क्रोध देख कर कृष्ण का साहस नहीं हो रहा है कि आँख मिलायें। राधा ने स्पष्ट कह दिया—

नैनति तै अब न्यारै हूजै, तब ही ते अति रिसनि भरी।
....
लाज नाहिं मेरे गृह आवत जाहु जाहु कहि तिय झहरी।[२३]

कृष्ण ने आखिरी प्रयास किया। कसम खा खा कर अपने निर्दोष होने की सफाई देने लगे। इतने में सखियाँ भी आ गईं। राधा उनसे कहने लगीं, देखो इतने चिह्न होने पर भी ये झूठी सौगंध खा रहे हैं—

तब नागरी कहति सखियन सौं, एते पै ए सौंह करै।
दरसन प्रात देत हैं हमकौं, निसि औरनि के चित्त हरै।[२४]

१८– सूर० ग्रं० १९१६। १९– वही १९१७। २०– वही १९१८। १९– वही १९२१।
२२– वही २३०८। २३– वही २३३२। २४– वही २३३३।

इतना कह कर क्रोध से झुँझलाती हुई राधा चली गईं और अत्यंत कठोर मान धारण कर बैठ गईं। राधा के इस मान में कृष्ण की व्यथा के साथ मानिनी राधा भी विरहाकुल दिखाई देती हैं। दूती एवं सखियाँ हर तरह से राधा को मनाने का प्रयास करती हैं। कृष्ण के प्रेम का विश्वास दिलाती हुई दूती कहती है—

हरि तोहि वारंवार सम्हारैं।
कहि कहि नाम सकल जुवतिनि के, नहिं रुचि जिहि उर धारैं।[२५]

लेकिन जैसे जैसे दूती प्रार्थना करने लगी, वैसे वैसे राधा का क्रोध वढ़ता गया। हारकर दूती ने कह ही दिया—

तऊ गँवारि अहीरी।
तोसौं कछु नँदनंद हँसि कही, इतने कौं कवकी न वोलति न मानै कहीरी।[२६]

अव सखियाँ राधा को समझाती हैं कि यौवन काल वहुत छोटा है। इसे मान में खोने से क्या लाभ! यही तो समय है जव तुम कृष्ण के सान्निध्य का आनंद उठा सकती हो—

रहि री मानिनी! मान न कीजै।
यह जोवन अँजुरी को जल है, ज्यों गुपाल माँगै त्यौं दीजै।
छिनु छिनु घटत वढ़त नहिं सजनी, ज्यों ज्यों कला चंद्र की छीजै।[२७]

इस पर भी राधा न मानीं तो दूती निराश होकर कृष्ण के पास लौट आई और राधा के विषम क्रोध का वर्णन किया। साथ ही वियोगिनी राधा के विरह दुख का भी वर्णन किया। यह सुनते ही कृष्ण अपना अपराध क्षमा कराने के लिए व्याकुल हो कर स्वयं चल दिए। आपस में मिलते ही दोनों मुस्कुरा दिए—

यह सुनि कै अकुलाइ चले हरि, कृत अपराध छमाने।
सूरदास प्रभु मिलै परस्पर, मानिनि मिलि मुसुकाने।[२८]

लेकिन कृष्ण के मनाने पर भी राधा मौन रहीं—"मानि मनायौ, मौन रही।"[२९] परंतु जव कृष्ण गुप्त चरित की वातों का कुशलतापूर्वक संकेतों के द्वारा राधा को स्मरण कराते हैं, तव राधा का हृदय द्रवित होता है और वे वन-धाम के निकुंज-सुख की अनुमति देती हैं।

राधा का वड़ा मान सवसे कठिन है। इस वार तो राधा ने अपनी आँखों से कृष्ण की करतूत देखी है। एक दिन राधा तड़के ही उठकर अपने साथ सखियों को लेकर यमुना-स्नान के लिए जाने लगीं। जाते समय वे उस गोपी को भी वुलाने पहुँची जिसके घर कृष्ण रात में रमे थे। ज्यों ही राधा गोपी के द्वार पर पहुँचीं, त्यों ही कृष्ण भी घर से वाहर निकले। अचानक वहाँ भेंट हो जाने से दोनों अवाक् रह गये। राधा तो गुस्से के मारे पैर पटकती चली गईं और श्याम जहाँ के तहाँ खड़े रह गए। राधा अत्यंत कठोर मान करके वैठ गईं। कृष्ण समझ ही नहीं सके कि अव उन्हें कैसे मनाया जाय। सखियाँ जाकर अपनी ओर से राधा को मनाने लगीं—

नाहिन तेरौ अति हठ नीकौ।
मेरो कह्यौ सुनै री सुंदरि! मान मनायौ नागर पी कौ।[३०]

सावन की सुंदर ऋतु का स्मरण कराते हुए सखी कहने लगी कि यह रूठने का समय नहीं है। अव भी चलो और जा कर कृष्ण पर कृपा कर दो—

२५– सूर० ग्रं० २३५७। २६– वही २३६७। २७– वही २३६९। २८– वही २३७२। २९– वही २३७३। ३०– वही २५०९।

यह रितु रूसन की है नाहीं।
बरषत मेघ मेदिनी कैं हित, प्रीतम हरषि मिलाहीं ॥[31]

लेकिन सखी की बातों से राधा और झल्ला उठीं। सखी को उन्होंने साफ कह दिया कि यहाँ कृष्ण की चर्चा करने की कोई जरूरत नहीं। अब तू ज्यादा बातें न बना और चली जा यहाँ से—

तू आई है बात बनावन।
जाइ न ह्याँ तैं बैठि रही है आई मोहिं मनावन।
....
को उनकी ह्याँ बात चलावै, इतनौ हित है काके।[32]

सखी चुपचाप लौट आई। पर कृष्ण ने फिर एक सखी भेजी। एक एक कर कितनी ही सखियाँ गईं। किसी ने राधा के सौंदर्य का वर्णन कर उन्हें प्रसन्न करना चाहा तो किसी ने प्रकृति के सौंदर्य का वर्णन किया। पर राधा का हठ नहीं छूटा। तब कृष्ण स्वयं दूती का वेष बना कर राधा के पास गए—

तब हरि रच्यौ दूती रूप।
गए मानिनि जहाँ राधा, त्रिया स्वाँग अनूप।[33]

कृष्ण ने अनेक प्रकार से मनाया, पर राधा न मानीं। मनाते मनाते कृष्ण थक गए और मन ही मन कहने लगे कि इतना परिश्रम तो तब भी नहीं हुआ था जब कच्छप अवतार में पृथ्वी उठायी थी या शङ्खासुर जैसे राक्षस का वध किया था—

इतौ स्रम नाहिंन तबहिं भयौ।
सुनि राधिके! जितौ स्रम मोकौं तैं इहिं मान दयौ।
धरनी धरि, बिधि बेद उधार्‌यौ, मधु सौं सत्रु हन्यौ।[34]

जब कृष्ण मनाते मनाते थक गए तो राधा ने ध्यान से उनकी ओर देखा और देखते ही छल समझ गईं। कृष्ण को उन्होंने पहचान लिया और कहने लगीं—

स्याम चतुरई जानति हौं।
ये गुन तुम अजहूँ नहिं छाँड़त, इन छंदनि मैं मानति हौं।[35]

श्याम, तुम्हारी चतुराई मैं जानती हूँ। तुम्हारे इसी छल प्रपञ्च से तो मुझे क्रोध आता है। इतना कह कर और क्रुद्ध हो कर राधा बैठ गईं। कृष्ण पछताते हुए चले गए। पर जाते ही उन्होंने अत्यन्त चतुर दूती को राधा के पास भेजा। दूती तरह तरह से राधा को समझाने लगी। यहाँ तक कहा कि जो मन में आए कृष्ण को सजा देना, पर अब मान छोड़ दो—"सुनि राधिका कहत माधौ यों, दण्ड बूझिये जो सो लीजे।"[36] कृष्ण की विरह-व्याकुल दशा का वर्णन किया। तरह तरह से उन्हें कृष्ण के प्रेम का विश्वास दिलाया। पर राधा ये सब सुन कर और झुँझला उठीं—

झुकि बोली, ह्याँतैं ह्वै हाती, कौन सिखै पठई।
हौ किनि जाहि भवन अपनै ह्याँ, लरन कौन सों आई।[37]

३१— सूर० ग्रं० २१५६। ३२— वही २५२७। ३३— वही २५८४। ३४— वही २५८६।
३५— वही २५८९। ३६— वही २५९४। ३७— वही २५९७।

अर्थात् किसने ये सब सिखा कर भेजा है। यहाँ आकर लड़ने की क्या जरूरत है। तू ही उन्हें अपने यहाँ ले जा। इतना कह कर पीठ घुमा कर वे बैठ गईं। तब कृष्ण ने कुछ और सखियाँ बुलवा लीं जो तरह तरह की बातें करके कृष्ण की दुहाई देने लगीं। स्वयं कृष्ण भी पुनः दूती का रूप सजाकर आ गए और राधा को मनाने लगे। पर राधा उनका छल पहचान गईं। उन्होंने स्पष्ट कह दिया कि उसी के पास जाओ, जहाँ रात में गए थे। कृष्ण तरह तरह की कसमें खाने लगे कि उन्हें एकमात्र राधा से ही प्रेम है। पर राधा ने उनकी ओर देखा तक नहीं। तब कृष्ण ने एक उपाय किया। उन्होंने एक मणि-दर्पण ला कर राधा के चरणों पर रख दिया और स्वयं पीछे खड़े हो गए। प्रतिबिम्ब में दोनों के नयन मिल गए। राधा के नयनों में किंचित् मुस्कान आ गई। कृष्ण का चेहरा खिल उठा। प्रेम के रस-प्रवाह में मान बह गया—

> निरखि निरखि प्रतिबिम्ब वहै तन, नैन नैन मिलि मोहै।
> नैंकु भौंह मुस्कानि जानि, मन मोहन मन सुख आन्यौ।[३८]

इसके बाद राधा ने कृष्ण को बताया कि मान ही तो प्रेम की कसौटी है। प्रेम के कारण ही तो मान का दुख सहन होता है—"स्याम मान है प्रेम कसौटी, प्रेमहि मान सहायी।"[३९]

बड़ी मानलीला का दूसरा वर्णन भी प्राप्त होता है। यह वर्णन पहले वर्णित मानलीला का ही संक्षिप्त रूप जान पड़ता है। मान का कारण भी वही है। अर्थात् राधा गोपी को यमुना स्नान के लिए बुलाने पहुँची, पर उसी समय कृष्ण उसके घर से बाहर निकले। कृष्ण को वहाँ देखते ही राधा क्रोध से वापस लौट गईं। राधा तो मान कर के मुँह फेर बैठीं और कृष्ण अवाक् से खड़े रह गए। सखियाँ राधा को मनाने लगीं। कृष्ण की दीन दशा का वर्णन करते हुए उन्होंने कहा—

> मुरछित पड़े धरनि अकुलाई। तरु तमाल जनु गयौ झुराई।
> तै ऐसे चितयौ कछु विनकौ। नैकहुँ चैन रह्यौ नहिं तिनकौ।[४०]

पर राधा का क्रोध बढ़ता ही गया। मन ही मन उन्होंने ठान लिया कि अब किसी भी श्याम वर्ण की वस्तु का उपयोग नहीं करूँगी। श्याम रंग से ही उन्हें चिढ़ हो गई—

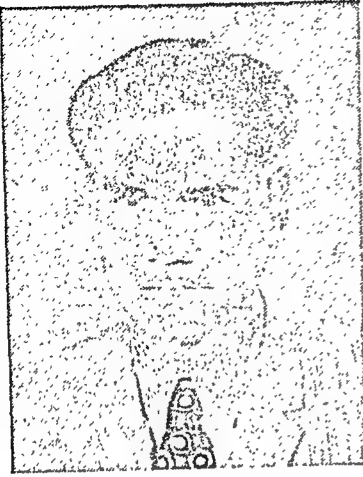
> मैं अब अपनै मन यह ठानी। उनके पंथ न पीवौं पानी।
> कबहूँ नैन न अंजन लाऊँ। मृगमद भूलि न अंग चढ़ाऊँ।[४१]

जब सखियाँ मना-मना कर हार गईं तो कृष्ण अत्यन्त दीन हो गये। उन्होंने कातर हो कर राधा के चरणों पर सिर झुका दिया। इस पर राधा मुस्कुरा दीं और मान छूट गया—

> जब परसे प्यारी चरन, परम प्रीति नँद नंद।
> छूट्यौ मान हरषी प्रिया, मिट्यौ बिरह दुख द्वंद।[४२]

मानवती राधा में प्रेम की गम्भीरता, प्रेमिका के गौरव और एकांत प्रेम की महत्ता का प्रदर्शन करके राधा का कृष्ण प्रेम पर एकाधिकार व्यंजित किया गया है। मान कर के वे कृष्ण को और अधिक और निकट लाने में समर्थ होती हैं। वस्तुतः मानलीला के द्वारा राधा कृष्ण के उत्तरोत्तर प्रगाढ़ होते प्रेम का वर्णन किया गया है। ■

३८— सूर०ग्रं०, पृ० सं० १३५८। ३९— वही २५९७। ४०— वही पृ० सं० १३६३।
४१— वही पृ० सं० १३६४। ४२— वही पृ० सं० १३६६।



सूर के भ्रमर-गीत की दार्शनिक पृष्ठभूमि

डॉक्टर आदर्श सक्सेना

सूर का सम्पूर्ण साहित्य एक प्रतिक्रिया है। यह प्रतिक्रिया उन्हीं तत्कालीन परिस्थितियों का परिणाम थी जिन्होंने उनके गुरू श्री वल्लभाचार्य को अपने सिद्धान्तों के प्रचार के लिए उत्तर भारत में भ्रमणार्थ भेजा था। विजयनगर नरेश कृष्णदेव राज के दरवार में शास्त्रार्थ द्वारा शंकर के मायावाद का खण्डन कर उन्होंने कीर्ति अर्जित की और आचार्य-पद भी पाया, परन्तु हिन्दू धर्म और दर्शन की अवरुद्ध धारा के पुनर्प्रवाह का कार्य शेष रह गया था। १४वीं और १५वीं शताब्दियों में मुस्लिम साम्राज्य और इस्लाम के प्रसार के लिए जो दुर्दमनीय प्रयत्न हुए थे, उन्होंने इस देश की सांस्कृतिक जड़ें ही हिला दी थीं। श्री वल्लभाचार्य ने अपने 'कृष्णाश्रय पोडश ग्रन्थ' में मुसलमानों द्वारा आक्रान्त देश की पतितावस्था का वर्णन किया है। तीर्थों की दयनीय स्थिति, वर्णाश्रम-धर्म का विरोध, व्रत-नियम आदि का अभाव, सभी की ओर उन्होंने संकेत किया है। सवसे विकट समस्या निर्गुणोपासना-पद्धति के व्यापक प्रचार के कारण उत्पन्न हुई थी। महापतन के उस काल में श्रीवल्लभाचार्य ने जीवन में पुनः सरसता का संचार करने के लिए जिस आनन्दवर्द्धिनी कला का दर्शन कराया, उसी में उन्हें हिन्दू-समाज के उद्धार का मार्ग दीखा था। अपने शुद्धाद्वैत दर्शन को पुष्टिमार्गीय भक्ति-पद्धति में ढाल कर उन्होंने म्रियमाण हिन्दू समाज में जीवन की ललक तो उत्पन्न कर ही दी, अपनी मधुरा भक्ति से उसे आकर्षक भी वना दिया। पुष्टिमार्ग में गोपीजनों की भक्ति को ही आदर्श माना गया है। वे ही कृष्ण के प्रति सच्चा प्रेम करती थीं, उन्होंने ही कृष्ण का सच्चा अनुग्रह प्राप्त किया था। इस अनुग्रह की प्राप्ति भक्त भी कर सकता है यदि वह गोपीजनों के सुख-दुःख, हर्ष-शोक, संयोग-वियोग आदि भावों का अपने अन्तर्मन में अनुभव कर सके। "निरोधलक्षणम्" में आचार्यजी ने इसी भाव को इस प्रकार व्यक्त किया है—

> यच्च दुःखं यशोदाया नन्दादीनां च गोकुले।
> गोपिकानां च यद्दुःखं तद्दुःखं स्यान् मम क्वचित् ॥

भक्त यह कामना करता है कि जो दुःख-सुख नन्द-यशोदा, गोप-गोपियों को गोकुल में हुआ था, उसका अनुभव मुझे भी हो।

सूरदास वल्लभाचार्य के अन्यतम शिष्य थे। उन्हीं की भक्ति-पद्धति को काव्य में ढाल कर उन्होंने जहाँ उसका व्यापक प्रसार करने में सहायता दी, वहीं उसे आकर्षक एवं ग्राह्य भी वना दिया। वल्लभाचार्य से प्रभावित होने के पूर्व सूर दास्य भक्ति के प्रवाह में वहे जा रहे थे। तत्कालीन परिस्थितियों में दास्य-भावना की अनुपयुक्तता की ओर उनका ध्यान वल्लभाचार्य ने ही आकर्षित कराया था।

"प्रभु हौं सब पतितन कौ टीको" सुनकर वल्लभाचार्य ने कहा था—"जो सूर ह्वै कैं ऐसो घिघियात काहे को है....।" उनके आदेश को स्वीकार कर सूर ने घिघियाना छोड़ कर सरस लीलागान के जिस मार्ग का अनुसरण किया, वह विश्व-साहित्य में बेजोड़ है। घिघियाने के स्थान पर वाग्वैदग्ध्य, उपालम्भ और कटूक्तियों का सहारा लेकर उन्होंने ज्ञान और योग के सम्मुख प्रेम और भक्ति की महिमा ही प्रतिपादित नहीं की, दिग्भ्रमित हिन्दू समाज का दिशा-निर्देश भी किया। वल्लभाचार्य के प्रति अपने ऋण को सूर ने स्पष्ट शब्दों में स्वीकार किया है —

कर्म योग पुनि ज्ञान उपासन, सब ही भ्रम भरमायो।
श्रीवल्लभ गुरु तत्त्व सुनायो, लीला भेद बतायो॥

× × ×   × × ×

ता दिन ते हरि लीला गाई एक लक्ष पद बंध।

सूर की भक्ति-दृष्टि में यह जो परिवर्तन हुआ, यह परवर्ती साहित्य की दृष्टि से ही महत्त्वपूर्ण नहीं रहा, तत्कालीन परिस्थितियों की दृष्टि से भी आवश्यक था। भक्ति को अधिकार और प्रेम का आधार प्रदान कर सूर ने उसे निष्क्रिय दासत्व से उठा कर जाग्रत सख्य के पद पर प्रतिष्ठित कर दिया। यह वह स्थिति थी जिसमें भक्त भगवान को अपने प्रेम के बल पर झुकने को बाध्य कर सकता था, उससे तर्क कर उसे परास्त कर सकता था, प्रेम के अधिकार का प्रदर्शन कर सकता था और सुख-समृद्धि के आकर्षण का तिरस्कार कर दुःख और पीड़ा में आनन्दानुभूति प्राप्त कर सकता था। कृष्ण की गोपियों के प्रति चिन्ता और विरह व्याकुलता, गोपियों के सम्मुख उद्धव की पराजय इसी तथ्य की ओर संकेत करती है। मधुरा भक्ति की इस चरित्र विधायिनी शक्ति का पूर्ण परिपाक 'भ्रमरगीत' में हुआ है। स्वतंत्र रूप में भी यह प्रसंग ज्ञान पर भक्ति की ओर निर्गुण पर सगुण की विजय का शंखनाद है।

भ्रमरगीत की शैली है उपालम्भ। यद्यपि इसमें विरह-वर्णन के गहन प्रसंग भी हैं, तथापि उन्हें आकर्षण और तीव्रता उपालम्भ से ही प्राप्त हुई है। उपालम्भ स्वयं में एक बौद्धिक प्रक्रिया है जो प्रिय के द्वारा अपने तिरस्कार-बोध से उत्पन्न होती है। इस प्रक्रिया में एक ओर बुद्धि-विलास के दर्शन होते हैं तो दूसरी ओर अनुभूति की तीव्रता के। परन्तु इन दोनों का समन्वय उस प्रेम में होता है जो प्रिय के व्यवहार से असन्तुष्ट होते हुए भी उसकी हितचिन्ता से ग्रस्त रहता है। उपालम्भ में अपने प्रति उपेक्षा की प्रतीति तो होती है, परन्तु तज्जन्य विरोध नहीं। वाचालता, वाग्विदग्धता और भावविह्वलता की कलात्मक अभिव्यक्ति उपालम्भ का प्राण है। कृष्ण और उद्धव के प्रति गोपियों के उपालम्भ वास्तव में ज्ञान मार्ग और निराकार ब्रह्म के दर्शन के प्रति सगुण प्रेम भक्ति की वह प्रतिक्रिया है जो सूर के भ्रमरगीत की आत्मा है। उद्धव के निराकार ब्रह्म के उपदेश के उत्तर में गोपियों ने जिस साकार ईश्वर की प्रतिष्ठा की है तथा उद्धव के ज्ञानगर्व को जिस प्रकार खण्डित किया है, वह तत्कालीन धार्मिक-सामाजिक परिस्थितियों के प्रति सूर की अपनी प्रतिक्रिया थी जो विभिन्न साम्प्रदायिक आन्दोलनों के माध्यम से सुसंठित रूप में अभिव्यक्त हो रही थी। सूर के काव्य के इस पक्ष पर विचार करने से पूर्व इस स्थिति पर भी किंचित् विस्तार से विचार करने की आवश्यकता है।

मुस्लिम सम्प्रदायवाद, राजनीतिक अस्थिरता और सांस्कृतिक संकट के काल पूर्व-मध्य युग में दो ऐसी प्रमुख समस्याएँ थीं जिनसे उस काल का भारतीय मानस आक्रान्त था। प्रथम था भौतिक संकट जिसमें धार्मिक अत्याचार और धर्म-परिवर्तन के प्रयास सम्मिलित थे और दूसरा था वैचारिक संकट जिसमें निर्गुण चिन्तन की विविध प्रणालियों से लेकर सगुणोपासना को विविध पद्धतियाँ तक सम्मिलित थीं। इन दोनों ने तत्कालीन जीवन को विशृंखलता के कगार तक पहुँचा दिया था। गीता के उपदेश—

"यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत"—के विश्वास का प्रकाश मंद पड़ चुका था और दिग्भ्रमित हिन्दू समाज को कहीं भी सुरक्षा का मार्ग नहीं दीख रहा था। ऐसे समय में मधुर, आकर्षक और प्रेममय विश्वास की महती आवश्यकता की पूर्ति कृष्ण के लोकरंजक स्वरूप के माध्यम से ही संभव हुई। इस प्रकार दिग्भ्रम के उस काल में सगुणोपासक भक्त कवियों ने जो आकर्षक मार्ग दिखाया, वह मानसिक शान्ति और भावनात्मक सन्तोष तो प्रदान कर ही सकता था। परन्तु यह कार्य पर्याप्त दुष्कर था, क्योंकि इन भक्त कवियों के लिए पहली आवश्यकता यह थी कि वे साम्प्रदायिक विरोध से अपने प्रचार को बचाते। दूसरी ओर यह भी आवश्यक था कि अपने सिद्धान्तों के प्रति वे आस्था जाग्रत कर पाते। तुलसी ने यह कार्य अलौकिक गुणों से युक्त भगवान राम के चरित्र गान के माध्यम से किया और सूर ने लोक-रंजनकारी दिव्य गुण-सम्पन्न कृष्ण के विशिष्ट व्यक्तित्व के निर्माण के माध्यम से। यह एक अनोखी स्थिति है कि तुलसी के समन्वयवाद की दुहाई बड़े जोर-शोर से दी जाती है परन्तु हिन्दू-धर्म और दर्शन की सूर द्वारा की गई सेवा को अनदेखा कर दिया जाता है। तुलसी ने सगुण और निर्गुण के समन्वय को केवल वैचारिक स्तर पर ही स्वीकार किया है। रामचरितमानस में इस समन्वय की बात केवल चिन्तन, विचार अथवा संवादों के माध्यम से ही कही गई है, जब कि व्यावहारिकता के स्तर पर सगुण ब्रह्म के आदर्श की बात ही पुष्ट होती है। सूर ने इस स्थिति को अधिक सरस और दृढ़ आधार प्रदान किया है और निर्गुण अविनाशी ब्रह्म के विचार को भावना की कसौटी पर कसा है। तुलसी जो बात भूल गये थे वह सूर ने याद रखी—मनुष्य विचारों से कम, भावनाओं से अधिक प्रेरित एवं निर्देशित होता है। इसी कारण तुलसी के राम का ग्राह्यरूप लोकहितकारी, अलौकिक शक्ति-सम्पन्न अवतार का बना जबकि सूर के कृष्ण अवतारी होते हुए भी लोकरंजक, मनोमुग्धकारी मधुर रूप में प्रतिष्ठित हो सके, दिव्य होते हुए भी लौकिक बन सके। यह बात उनके गुरु वल्लभाचार्य के दार्शनिक मतवाद के अनुरूप ही थी। वल्लभाचार्य को यही चिन्ता थी कि मस्तिष्कप्रधान व्यक्ति ब्रह्म के विशुद्ध रूप को प्राप्त कर संसार से मुक्त हो जायेगा, परन्तु हृदयप्रधान भावनाप्रेरित व्यक्ति किस प्रकार मुक्त होगा? ज्ञान और योग के मार्ग सामान्य मनुष्य के लिए कष्टप्रद हैं। उन्हें प्रेम ही ऐसा तत्त्व लगा जो सहज हो सकता है। 'अणु-भाष्य' में उन्होंने कहा है—"कृतिसाध्यं ज्ञानभक्तिरूपं शास्त्रेण वोध्यते। ताभ्यां विहिताभ्यां मुक्तिमर्यादा तद्विहितानामपि स्वस्वरूप-बलेन स्वप्राणं पुष्टिरित्युच्यते।" तुलसी के राम की भक्त से दूरी की बात कभी विस्मृत नहीं होती और सूर के कृष्ण की भक्त से निकटता की बात सदा ध्यान में बनी रहती है। राम और कृष्ण के विशिष्ट चरित्र-निर्माण की जो भी आवश्यकता रही हो, यह स्वीकार करने में कोई आपत्ति नहीं हो सकती कि राम के ईश्वरत्व ने साहस भले ही बँधाया हो, जीवित रहने की लालसा कृष्ण के चरित्र ने ही उत्पन्न की थी।

अपने युग की परिस्थियों के अनुरूप वल्लभाचार्य ने जिस दार्शनिक चिन्तन की भूमिका का निर्माण किया था, उसी के एक अनन्य अनुगामी के रूप में सूर ने उस पद्धति को अत्यन्त मनोवैज्ञानिक धरातल पर प्रतिष्ठित करने का सार्थक प्रयास किया। इस प्रयास की चरम परिणति हुई भ्रमरगीत-प्रसंग में। एक संक्षिप्त धार्मिक सूत्र को ग्रहण कर उस पर सूर ने किस प्रकार तत्त्व-चिन्तन के भव्य भवन का निर्माण किया, इस पर विचार करना आवश्यक है।

श्री वल्लभाचार्य ने श्रीमद्भागवत से प्रेरणा ग्रहण कर पुष्टि का मार्ग दिखाया था। सूर ने भी उसी भागवत का आधार लेकर 'सूरसागर' की रचना की। परन्तु यह उनकी सीमा न रही। अपनी मौलिक उद्भावनाओं से उन्होंने अपनी आवश्यकता के अनुरूप रोचक प्रसंगों का निर्माण कर लिया। श्रीमद्भागवत में उद्धव-गोपी प्रसंग बहुत सीमित है। दशम स्कंध के ४६ वें व ४७ वें अध्यायों में ही

'भ्रमरगीत' का आधार भी है। वहाँ उद्धव को संबोधित कर गोपियाँ कहती हैं कि भौंरों का पुष्पों से और पुरुषों का स्त्रियों से जो प्रेम-संबंध होता है, वह स्वाँग होता है, स्वार्थ के लिए होता है। वहाँ कृष्ण के प्रति उपालम्भ व्यक्त करती गोपियाँ भावातिरेक में आत्मविस्मृति की अवस्था में पहुँचकर रुदन करने लगती हैं। उसी समय पास में गुनगुनाते एक भौंरे को देखकर एक गोपी उसे कृष्ण का दूत मान बैठती है और उसे लक्ष्य कर अपनी मनोव्यथा व्यक्त करने लगती है। उद्धव बहुत प्रभावित होते हैं और कृष्ण का संदेश उन्हें सुनाते हैं। कृष्ण का संदेश है कि मैं सबका उपादान कारण होने से सबका आत्मा हूँ तथा सब में अनुगत हूँ, इसलिए मुझसे तुम्हारा कभी वियोग नहीं हो सकता ''' अशेष वृत्तियों से रहित होकर सम्पूर्ण मन से जब तुम मुझ में अनुरक्त होओगी, तब तुम मुझे सदा के लिए प्राप्त हो जाओगी। जिस समय मैंने वृन्दावन में शरद् पूर्णिमा की रात्रि को रास लीला की थी, उस समय जो गोपियाँ स्वजनों की रोक के कारण रास में सम्मिलित नहीं हो सकी थीं, वे भी मेरी लीलाओं का स्मरण कर मुझे प्राप्त हो गई थीं। तुम्हें भी मैं अवश्य प्राप्त हूँगा, निराशा की कोई बात नहीं है। कृष्ण के संदेश ने गोपियों को आनन्दित एवं संतुष्ट कर दिया, यद्यपि इस कार्य के लिए उद्धव को कई महीने गोकुल में रहना पड़ा था। उद्धव भी गोपियों की प्रेमभक्ति से इतने प्रभावित हुए थे कि यह कामना करने लगे थे कि लता, जड़ी, बूटी आदि किसी भी रूप में वे वृन्दावन में रह जायें जिससे व्रजबालाओं की चरणधूलि में स्नान करने का सौभाग्य उन्हें प्राप्त होता रहे।

भागवत की यही कथा सूर के 'भ्रमरगीत' का आधार है, यद्यपि दोनों की प्रकृति और इस कारण कथ्य में अन्तर आ गया है। सूर के भ्रमरगीत में ज्ञान, योग, भक्ति, निर्गुण, सगुण आदि पर वाद-विवाद है जो भागवत में कहीं नहीं है। भागवत में कृष्ण का जो संदेश उद्धव ने दिया, वह कोरा ज्ञानयोग या निर्गुण का संदेश भी नहीं है। वह संदेश तो भक्ति का ही है, परन्तु मनोनिग्रहपूर्वक ज्ञानमार्गीय भक्ति का है, यद्यपि अंत में उद्धव भी गोपियों की प्रेम-भक्ति को आदर्श मानने लगते हैं। इसके विपरीत सूर के उद्धव भक्ति का खण्डन कर स्पष्ट रूप से ज्ञानयोग और निर्गुण का संदेश देते हैं। सूर की गोपियाँ जिस मधुरा भक्ति की स्थापना करती हैं, उसमें ज्ञान और योग के लिए कोई स्थान नहीं है, हालाँकि यहाँ भी अन्त में उद्धव पराजित हो जाते हैं—"सूर उनके भजन आगे लगै फीको ज्ञान।"

भागवत के कृष्ण नन्द, यशोदा, गोपियों आदि के विरह की विकलता को शान्त करने तथा सबके कुशल-क्षेम का समाचार लाने के लिए उद्धव को भेजते हैं। इस कारण उद्धव जो संदेश व्रज लाते हैं, वह न ज्ञानमार्ग का है, न योग का, न ही निर्गुण की साधना का। उसमें कृष्ण के सगुण रूप का निषेध तो है ही नहीं, समर्थन ही है। उद्धव गोपियों को केवल प्रबोध देते हैं, उन्हें प्रेरित करते हैं कि वे विरह में रोने-धोने के स्थान पर कण-कण में सर्वात्मा का दर्शन कर शान्ति प्राप्त करें। इस संदेश का गोपियों पर प्रभाव भी पड़ता है। परन्तु सूर के कृष्ण तो स्पष्टतः उद्धव के ज्ञान-गर्व को चूर्ण करने के उद्देश्य से उन्हें व्रज भेजते हैं। कृष्ण ने देख लिया था कि उद्धव निर्गुण के साधक हैं और उन्हें (कृष्ण को) त्रिगुण मायाकृत मानते हैं, ब्रह्म नहीं। उन्होंने यह भी देख लिया था कि प्रेम, भजन और भक्ति से भी वे शून्य थे। समझाने से वे मानते नहीं, अतः उनके सुधार का यही एक मार्ग कृष्ण को दिखाई दिया है—

> जदुपति जानि उद्धव रीति।
> जिहि प्रगट निज सखा कहियत, करत भाव अनीति॥
> ... .
>
> रेख रूप न बरन जाकैं, इहिं धर्‌यौ वह नेम।
> त्रिगुन तन करि लखत हमकौं, ब्रह्म मानत और।
> ... .

प्रेम-भजन न नैंकु याकैं, जाइ क्यौं समुझाइ।
सूर प्रभु मन यहै आनी, ब्रजहिं देउँ पठाइ।

भागवत में उद्धव पहली रात नन्द-यशोदा से ही भेंट करते हैं, अगले दिन गोपियों से मिलते हैं। सूर के भ्रमरगीत में यह क्रम इतना स्पष्ट नहीं है; ऐसा लगता है जैसे उद्धव की पहली भेंट गोपियों से ही होती है। गोपियाँ दूर से ही कृष्ण जैसी आकृति को रथ में आते देखकर उत्सुक हो उठती हैं —

कोउ माई आवत है तनु स्याम।
वैसे पट, वैसिय रथ बैठनि, वैसीयै उर दाम॥
जो जैसैं तैसैं उठि धाईं, छाड़ि सकल गृह काम।

भागवत की गोपियाँ सरल ग्रामीण बालाएँ हैं जो कृष्ण के प्रेम में तो पूर्णतः निमग्न हैं, परन्तु जिनमें सूर की गोपियों जैसी अधीरता या वाक्-चातुर्य नहीं है। कृष्ण को उपहार और मंगल कामनाएँ भेजने का प्रसंग भागवत के समान सूर के काव्य में भी उपलब्ध है। उसी कथा के अनुरूप सूर के उद्धव भी गोपियों के प्रेम के सम्मुख परास्त हो जाते हैं और मथुरा लौटकर जो संदेश कृष्ण को देते हैं, वह उन्हें विचलित कर देता है।

इस प्रकार मोटे तौर पर सूर के भ्रमरगीत में भागवत का आधार दिखाई देता है, परन्तु अपनी प्रकृति और उद्देश्य में सूर का भ्रमरगीत पर्याप्त भिन्न है। इसका कारण वही है जो पूर्व के पृष्ठों में स्पष्ट किया गया है—गोपियों के प्रेम की उत्कटता के माध्यम से सूर सगुणोपासना के सिद्धान्त का प्रतिपादन करना चाहते थे। तत्कालीन परिस्थियों में ऐसी सरस पद्धति का अनुसरण करना कितना उपयोगी था, इस पर भी विचार किया जा चुका है। इस दृष्टि से भ्रमरगीत की सार्थकता सिद्ध करने के लिए सूर के भ्रमरगीत की कथा और उसके दार्शनिक पक्ष पर किंचित् विस्तार से विचार करना उपयोगी होगा।

जीवन की बाल और किशोरावस्था ब्रजवासियों के मध्य प्रेम में व्यतीत कर जब कृष्ण अक्रूर के साथ मथुरा चले गये, तब ब्रजवासियों के लिए विरह का अपार समुद्र ही उमड़ पड़ा। सबसे अधिक कातर थीं व्रज की गोपियाँ, क्योंकि माखन चोरी और रासलीला के माध्यम से कृष्ण उन्हीं के सर्वाधिक सम्पर्क में आये थे। यमुनातट, वंशीवट, सघन कुंज, गौएँ, सभी को उन्होंने अपनी उपस्थिति से प्राणवान बना दिया था। विरह व्याकुल गोपियों से एक पखवाड़े में लौट आने की बात वे कह गये थे। परन्तु पखवाड़े पर पखवाड़े बीतते चले गये—"मंदिर अरध अवधि बदि हम सों हरि अहार चलि जात", पर न कृष्ण आये, न उनका संदेश ही आया। गोपियों के दुःख की सीमा न रही। उन्होंने अपनी वियोग-व्यथा के संदेशे भेजने प्रारम्भ कर दिये। इतने संदेशे भेजे होंगे कि मथुरा के कुएँ भर गये होंगे—"सँदेसनि मधुवन कूप भरे।" परन्तु उनके संदेशों का कोई परिणाम नहीं निकला; उल्टे पथिकों ने व्रज के रास्ते से निकलना ही छोड़ दिया—"सूर स्याम संदेसनि कैं डर पथिक न उहिं मग जात।" गोपियाँ खीज गयीं। यह अच्छी रही; स्वयं तो खोज खबर लेते नहीं और हम संदेश भेजती हैं, तो उन्हें भी दबा जाते हैं—

अपने तौ पठवत नहिं मोहन, हमरे फिरि न फिरे।
....
कागद गरे मेघ मसि खूटी, सर दव लागि जरे।
सेवक सूर लिखन कौ आँधौ, पलक कपाट अरे॥

पता नहीं मथुरा में स्याही चुक गई या कागज भीग कर गल गये या सरकण्डों के वन में आग लग गई! भक्ति श्रद्धेय के प्रति जिस विश्वास और प्रीति पर आश्रित होती है, उसी का प्रस्फुटन गोपियों की इस

खोज में हुआ है। भगवान भक्त के प्रति बेखबर दीख सकते हैं और भक्त उनके उपेक्षा भरे व्यवहार के लिए उन्हें उलाहना दे सकता है, परन्तु भगवान तक उसकी प्रार्थना न पहुँचती हो, ऐसा नहीं होता। कृष्ण तो स्वयं व्रज के वियोग में दुःखी थे, उस पर उद्धव ने अपने ज्ञानोपदेश से जले पर नमक छिड़कने का कार्य किया। अतः उन्होंने एक तीर से दो शिकार करने का निश्चय किया। उद्धव को ही अपना संदेश-वाहक बनाकर उन्होंने व्रज भेज दिया—जाओ, अपने ज्ञान से गोपियों के अज्ञान का नाश कर उनकी विरह-व्यथा का उपचार करो। ज्ञान गर्व से मण्डित उद्धव कृष्ण के अविश्वास का खण्डन करने व्रज के लिए चल पड़े।

मथुरा के पथ पर दिवारात्रि आँखें बिछायें बैठी गोपियों ने जब उस दिशा से रथ आता देखा, तो उनके उत्साह की सीमा न रही। वे दौड़ पड़ीं। रथ में कृष्णानुवर्णी कोई मूर्ति विराजमान थी। रथ निकट आने पर उन्होंने देखा कि कृष्ण तो नहीं, उन्हीं की अनुकृति के उनके सखा थे। प्रिय न सही, प्रिय का सखा ही सही। अत्यन्त उत्साह और उमंग से उद्धव का सत्कार कर वे उन्हे पौढ़ी में ले आईं। गोपियों के प्रेम को देखकर उद्धव मुग्ध हो गये। परन्तु तत्काल ही उन्हें अपनी यात्रा के उद्देश्य का ध्यान आया—ज्ञान मार्ग का उपदेश देकर मधुरा भक्ति में आसक्त गोपियों के अज्ञान का विनाश करना, जिससे वे साकार कृष्ण को भूल कर, उनमें निराकार ब्रह्म का दर्शन कर, अपने चित्त को शान्त और आत्मा को तृप्त कर सकें। नंद और यशोदा तो उनके ज्ञानोपदेश के सम्मुख नतमस्तक हो गये। वही उपदेश उन्होंने गोपियों को देना प्रारम्भ किया—

नैन नासिका अग्र है तहाँ ब्रह्म कौ बास।
अविनासी बिनसै नहीं, सहज जोति परकास॥

प्रिय के संदेश के स्थान पर नीरस ज्ञान! गोपियाँ बिगड़ गईं। कुब्जा की कथा उन्होंने पहले ही सुन रखी थी; अब इस अरसिक कृष्ण सखा से पाला पड़ा। उनके प्रेमी हृदय पर कठोर आघात लगा। उद्धव की ज्ञानगर्वोक्ति वे सहन नहीं कर सकीं। दैवयोग से तभी एक भ्रमर उड़ता हुआ वहाँ आ गया—"इहि अंतर मधुकर इक आयौ" और गोपियों के विरह विदग्ध प्रेमी-हृदय ने उसमें एक ओर कृष्ण की प्रवृत्ति का और दूसरी ओर उद्धव की नीति का दर्शन कर लिया—दोनों भ्रमर के समान श्याम वर्ण, वैसे ही स्वार्थी और नीरस! भरी बैठी गोपियों ने उसी को लक्ष्य कर प्रकारान्तर से कृष्ण और उद्धव को जो खरी-खोटी सुनाईं, वे ही भ्रमरगीत का प्राण हैं। सबसे पहला लक्ष्य उन्होंने भौंरे को ही बनाया। वे उससे, और प्रकारान्तर से जैसे उद्धव से, पूछने लगीं—

.... कुब्जा तोहि पठायौ?
कैधौं सूर स्याम सुन्दर को, हमैं सँदेसौ लायौ?

भ्रमर के माध्यम से यह विशेष लाभ था कि उद्धव जैसे सम्मान्य अतिथि का प्रत्यक्ष निरादर किये बिना वे सभी प्रकार के व्यंग्य और उपालम्भ का आधार उन्हें बना सकती थीं। यदि गम्भीरता से देखा जाये तो उद्धव का इसी रूप में उपहास उचित था। जिस ज्ञानमार्ग का खण्डन सूर करना चाहते थे, उसपर उस काल के समाज के एक बहुत बड़े भाग की आस्था थी। शंकराचार्य के बाद उनके नाना अनुयायियों ने, ज्ञानोपासक अन्य संतों ने तथा स्वयं भक्तिमार्गी अनेक साधकों ने, ब्रह्म के निर्गुण रूप में आस्था व्यक्त की थी और सगुण के समकक्ष ही उसे महत्त्व दिया था। उनकी भावनाओं को ठेस पहुँचाये बिना मीठे प्रहार का, उपालम्भ का यह मार्ग तत्कालीन परिस्थितियों में सर्वाधिक उपयुक्त था। कट्टर निर्गुण-मतवादी विचारधारा के प्रहार से सुरक्षित रहकर भी वे उस पर इस माध्यम से तीखा प्रहार कर सकते थे। अपनी

सुदृढ़ सगुण-दृष्टि का इस प्रकार अत्यन्त कूटनीतिक उपयोग सूर ने भ्रमरगीत के माध्यम से किया। इसी हेतु गोपियाँ पहले अत्यन्त भोली बनकर पूछती हैं—

हम सों कहत कौन की बातें ?
सुनि ऊधौ हम समुझति नाहीं, फिरि बूझति हैं तातैं ॥

पर उद्धव के उत्तर से उन्हें सन्तोष नहीं होता। भक्ति-विरोधी ज्ञान की बात उनकी समझ में नहीं आती। भगवान् में भक्त की कितनी दृढ़ आस्था हो सकती है, इसका प्रमाण सूर ने गोपियों के माध्यम से कृष्ण सन्देश के प्रति संदेह व्यक्त करके दिया है —

मधुकर, कान्ह कही नहिं होहीं।
यह तौ नई सखी सिखई है, निज अनुराग बरोही ॥
सँचि राखी कूवरी-पीठि पै, ये बातें चकचोही ॥

परन्तु जब उद्धव अपने तर्क पर जमे ही रहते हैं, तो गोपियों की खीज बढ़ जाती है और वे कृष्ण के प्रति अपना क्रोध स्पष्ट शब्दों में प्रकट कर देती हैं—

ऊधौ, जान्यौ ज्ञान तिहारौ।
जानै कहा राजगति लीला, अन्त अहीर बिचारौ ॥

वह बेचारा अहीर राजनीति क्या जाने ! पर उसी अहीर में उन्होंने जितना अटल विश्वास व्यक्त किया है, वह भक्ति की तीव्रता का ही प्रमाण है—'व्याहौ लाख धरौ दस कुब्जा, अंतहि कान्ह हमारो।' इस पर भी जब उद्धव अपना प्रलाप जारी रखते हैं, तो गोपियाँ पूछ बैठती हैं—"ऊधौ श्याम ने जो कहा था तुम ठीक तो समझे ? नहीं तो जाकर फिर पूछ आओ—"ऊधौ, जाइ बहुरि सुनि आवहु कह्यौ जो नन्दकुमार।" पर यह भी तो हो सकता है कि कृष्ण ने उद्धव के साथ परिहास किया हो और भोले उद्धव उनकी चपलता न समझे हों। इसलिए गोपियाँ भेद की बात पूछती हैं—"सूर स्याम जब तुमहिं पठायौ, तब नैंकहुँ मुसकाने ?" गोपियों का यह तर्क बुद्धि की प्रक्रिया नहीं, अन्तर्मन में बैठे उस विश्वास की अभिव्यक्ति है जो अपनी आस्था पर तनिक-सा आघात भी सहन नहीं कर सकता। भक्त की उस सगुण आराध्य में यह आस्था ही गोपियों से कहला देती है कि श्याम ने तुम्हें भेजा ही नहीं है—"स्याम तुमहिं ह्याँ कौं नहिं पठयौ, तुम हौ बीच भुलाने।" उद्धव तब भी इन्कार कर देते हैं। उन्हें तो कृष्ण ने ही भेजा है गोपियों को ज्ञानमार्ग का उपदेश देने के लिए, वे किसी के द्वारा उकसाये नहीं गये हैं। इस पर गोपियाँ तुरन्त कृष्ण की राम से तुलना करके कह देती हैं—उनसे तो राम अच्छे थे, कम से कम अपने दूत के हाथ उन्होंने विरह-व्याकुला सीता को तत्वज्ञान का उपदेश तो नहीं भेजा—

हरि सों भलो सो पति सीता को।
दूत हाथ उन लिखि न पठायो, निगम ज्ञान गीता को।

कृष्ण राजा थे, अतः उनको आधार बनाकर सूर ने राजधर्म की बात भी गोपियों से कहला दी। विदेशी विधर्मियों के शासन में स्वदेशी प्रजा की स्थिति का चित्रण इन पंक्तियों में देखा जा सकता है—

हरि हैं राजनीति पढ़ि आए।
....
राजधरम तौ वहै सूर जो प्रजा न जाहिं सताए ॥

यह कैसा राजधर्म है जिसमें प्रजा सताई जा रही है ?

सूर गीतकार थे। एक कवि का सच्चा हृदय उन्हें उपलब्ध था, इसी कारण उनके काव्य में अनुभूति की तीव्रता दृष्टिगत होती हैं। भ्रमरगीत आध्यात्मिक साहित्य नहीं है, परन्तु साहित्य के माध्यम

से अध्यात्म की बात वह अवश्य कहता है, प्रच्छन्न रूप में। इसी कारण उसे पहचानने के लिए गहन दृष्टि की अपेक्षा है, यद्यपि यह सत्य है कि सूर के अपने समय में आचार्यों और सन्तों की वाणी के व्यापक प्रचार के परिप्रेक्ष्य में इस अर्थ को ढूँढ़ना तब कठिन नहीं रहा होगा।

भक्त का विश्वास अडिग होता है, इसलिए उद्धव के अटपटे ज्ञान-सन्देश पर गोपियों को हँसी आ जाती है। चलो, इस प्रकार की मूर्खतापूर्ण बातें करके ही सही, उन्होंने ब्रज के दुःखी लोगों को हँसा तो दिया—

ऊधौ भली करी तुम आये।
ये बातें कहि कहि या दुख में ब्रज के लोग हँसाए॥

उद्धव का ज्ञान गोपियों की भक्ति के सम्मुख परास्त होना नहीं चाहता, अतः वे अपने प्रवचन को आगे बढ़ाते हैं। गोपियों की खीज बढ़नी स्वाभाविक है। वे सगुण कृष्ण की प्रकृति भली प्रकार जानती हैं। मथुरा में उनके भटक जाने का कारण भी स्पष्ट कर देती हैं—

स्याम विनोदी रे मधुवनियाँ।
अब हरि गोकुल काहे कौं आवत, भावति नव जोवनियाँ॥
वै दिन माधौ भूलि गए जब, लियें फिरावती कनियाँ।
....
दिना चारि तैं पहिरन सीखे, पट पीताम्बर तनियाँ।
सूरदास प्रभु वाकैं त्रस परि, अब हरि भए चिकनियाँ॥

चार दिनों में जो बदल गया हो, उसकी प्रीत कैसी है, वे जानती हैं। उनकी खीज क्रोध में प्रकट होनी स्वाभाविक ही है। यह भक्त का अधिकार है जो केवल सगुण आराध्य के प्रति ही प्रकट किया जा सकता है—

मधुकर जानत है सब कोऊ।
जैसे तुम अरु सखा तुम्हारे, गुननि आगरे दोऊ॥
सुफलक-सुत कारे नख-सिखतैं, कारे तुम अरु ओऊ।

अतिथि उद्धव कहीं बुरा न मान जायें, इसलिए गोपियाँ उन्हें पुचकार भी देती हैं। ऊधौ बुरा मत मानना, तुम्हारा कोई दोष नहीं—

बिलग जनि मानौ ऊधौ कारे।
वह मथुरा काजर की ओवरि, जे आवहिं ते कारे॥

और उद्धव, हम स्वयं तुम्हारे कहे का बुरा नहीं मानतीं, क्योंकि तुम्हारी भी मजबूरी है। तुम नीरस ज्ञान, के प्रचारक हो, सरस प्रेम की बात क्या जानो—

तेरौ बुरौ न कोऊ मानै।
रस की बात मधुप नीरस सुनि, रसिक होइ सो जानै॥

भगवान के सम्मुख भक्त का रूप प्रिय के सम्मुख प्रेमिका का ही रूप है। मध्ययुग में जिस मधुरा भक्ति का प्रचार हुआ था, उसमें भक्त की अवधारणा प्रेमिका के रूप में ही हुई थी। यद्यपि दास्य, सख्य और वात्सल्य भाव को भी महत्त्व मिला था, परन्तु जो आकर्षण, रस की जो अनुभूति, आराध्य के साथ एकाकार होने का जो भाव मधुरा भक्त में उपलब्ध हो सकता है वह अन्य रूपों में नहीं। फिर भी सूर में इन विविध भावों की भी उतनी ही गहन अभिव्यक्ति हुई है, कारण इनका आधार भी तो सगुण ब्रह्म ही है।

वल्लभाचार्य के सिद्धान्तों से इनका मेल भी बैठता है। तत्कालीन अन्य कई सम्प्रदायों ने भी केवल माधुर्य भाव ही स्वीकार किया था। चैतन्य या गौड़ीय सम्प्रदाय में भी माधुर्य भाव की प्रधानता स्वीकार की गई थी। बंगाल में वैष्णव भक्तों ने राधा के परकीया स्वरूप को अपनाया था और मधुरा भक्ति में विरह-भाव को प्रमुख माना था। राधावल्लभ सम्प्रदाय में भी एकमात्र माधुर्य भाव ही ग्रहण किया गया था। हित हरिवंश गोस्वामी ने बाह्य कर्मकाण्ड, विधि-निषेध आदि किसी को भी स्वीकार नहीं किया, न जीव, जगत्, माया, मोक्ष आदि के सम्बन्ध में ही कोई दार्शनिक मतवाद प्रचारित किया। ध्रुवदासजी ने तो स्पष्ट शब्दों में कहा है—

महा माधुरी प्रेम रस, आवै जिहि उर माहिं।
नवधाहू तिहिं रुचै नहिं, नैम सबै मिटि जाहिं॥

भक्त की गोपीरूप में कल्पना इसी आधार पर सूर का भी लक्ष्य रहा है। इस रूप में गोपी की कल्पनामात्र से ज्ञान और योग की सारी अवधारणा ही अर्थहीन एवं उपहासास्पद हो जाती है। इसलिए सूर की गोपियाँ उद्धव को फटकार देती हैं—

उलटी रीति तिहारी ऊधौ ...
अल्प वयस, अवला, अहीर सठ, तिनहिं जोग कत सोहै?

गोपियाँ अल्पवय हैं, अवला हैं, जाति की अहीर हैं और ज्ञान की दृष्टि से मूर्ख; उन्हें योग क्या शोभा देगा? प्रकारान्तर से यह कथन सामान्य जन पर पूर्णतः उपयुक्त बैठता है जिसके लिए वल्लभाचार्य ने भक्ति-मार्ग निर्धारित किया था। वय अवला, अहीर सठ के प्रतीकात्मक अर्थ लगाये सा सकते हैं जो प्रेम-भक्ति के मार्ग की उपयुक्तता ही सिद्ध करेंगे।

आध्यात्मिक दृष्टि से हीन, विचारात्मक दृष्टि से निर्धन ब्रजवासियों में उन्हीं सामान्य जनों का दर्शन सूर ने किया था जिनके लिए जोग की गठरी अद्‌भुत अनुपम वस्तु थी, अतः उनके किसी काम की नहीं थी—

ऊधौ जोग बिसरि जनि जाहु।
बाँधौ गाँठि छूटि परिहै कहुं, फिर पाछैं पछिताहु॥
ऐसी बस्तु अनूपम मधुकर, मरम न जानै और।
ब्रजबनितनि के नाहिं काम की, है तुम्हरेई ठौर॥

निर्गुण के व्यापक प्रसार को सूर ने व्यापार माना है, उद्धव उसके बड़े व्यापारी हैं, परन्तु भक्त की दृष्टि में तो यह व्यापार ठगी है। यह जोग ठगौरी ब्रज में नहीं बिकेगी। उद्धव तो फाटक देकर हाटक माँगते हैं, बड़े भोले हैं।

भ्रमरगीत काव्य है, अतः नाना साहित्यिक आवश्यकताओं की पूर्ति भी उसके लिए आवश्यक है। सूर ने वाग्वैदग्ध्य का आश्रय लेकर इस आवश्यकता की पूर्ति की है जिसके उदाहरण विगत प्रसंगों में भी आ चुके हैं। निर्गुण के सम्बन्ध में वाग्विदग्धता अपने तीव्रतम रूप में अभिव्यक्त हुई है। गोपियाँ अत्यन्त भोलेपन से निर्गुण का परिचय पूछती हैं—

निरगुन कौन देस को बासी?
मधुकर कहि समुझाइ सौंह दै, बूझति साँच न हाँसी॥

और

मोहन माँग्यौ अपनौ रूप।
इहिं ब्रज बसत ऊँचै तुम बैठीं, ता बिनु उहाँ निरूप॥

सगुण कृष्ण को निर्गुण बताये जाने पर कितना पैना व्यंग्य है ! 'ज्ञान को पंथ कुठार को धारा' के ही अर्थ में गोपियाँ सगुणोपासना को सीधा मार्ग मानती हैं जिसके अनुसरण में निर्गुण की बात बाधाएँ उत्पन्न करती है—

काहे कौं रोकत मारग सूधौ ।
सुनहु मधुप, निरगुन कंटक तें राजपंथ क्यौं रूंधौ ।।
... ...
ताकौ कहा परेखौ कीजै, जानै छाँछ न दूधौ ।
सूर मूर अक्रूर गयो लै, ब्याज निबेरत ऊधौ ।।

मधुरा भक्ति में प्रिय का व्यक्तित्व सदा सम्मुख रहता है और उसकी उपस्थिति का बोध कभी क्षीण नहीं होता । ऐसी स्थिति में उसे निर्गुण मान कर कैसे विस्मृत किया जा सकता है ? गोपियाँ इस विडम्बनापूर्ण स्थिति को स्वीकार नहीं कर सकतीं—

सुनि है कौन कथा निर्गुन की, रचि पचि बात बनावत ।
सगुन सुमेरु प्रकट देखियत, तुम तृन की ओट दुरावत ।।

सगुण भक्ति के प्रसार में निर्गुण की बाधा पर खिन्न होकर तुलसी ने कड़े शब्दों में अपना रोष व्यक्त किया था—"तुलसी अलखहि का लखै, रामनाम जपु नीच ।" परन्तु सूर ने इतनी ही कटु बात कहीं अधिक मीठे शब्दों में कही है—

ज्यौं राखति हैं पति तेरी ।
हियाँ ते जाहु, दुरहु आगे तें, देखति आँख वरति है मेरी ।

इस क्रोध, आक्रोश और उपहास का कारण है ; जो जैसा करेगा, वैसा उत्तर पायेगा —

वहिरे पति सों बात करै सो तैसोइ उत्तर पावै ।
सो गति होय सबै ताकी जो ग्वारिनि जोग सिखावै ।

परन्तु उत्तर देने का भी क्या उपयोग ? उत्तर साधु को दिया जाता है, दुर्मति को नहीं, उससे तो हार मान लेना ही ठीक है । गोपियों से यह बात कहलाकर सूर ने ज्ञानमार्ग की अनुपयुक्तता पर सबसे कठोर प्रहार किया है—

साधु होय तेहि उत्तर दीजै, तुमसे मानी हारी ।
याही तें तुमकौं नँदनंदन यहाँ पठाये टारी ।।

और सच तो यह है कि कृष्ण स्वयं उद्धव के ज्ञानगर्व से तंग आ गये थे और उन्हें ब्रज भेज कर उन्होंने अपनी बला टाली थी । मधुरा भक्ति के वशीभूत कृष्ण जब ब्रज का स्मरण कर व्याकुल हो रहे थे, तब उन्हें भय था कि उद्धव अपने ज्ञान के घमण्ड में उनके प्रेम का तिरस्कार करेंगे । हुआ भी वही —

जदुपति लख्यौ तिहिं मुसुकात ।
कहत हम मन रही जोई, भई सोई बात ।।

परन्तु जब उद्धव ब्रज से लौटे तो उनका पूर्णतः हृदय-परिवर्त्तन हो चुका था । उनका ज्ञानगर्व चूर हो गया था, प्रेम के महत्त्व को वे पहचान गये थे और निर्गुण को भूल कर सगुण के भक्त बन गये थे । लौटकर कृष्ण से उन्होंने कहा था—

अब अति चकितवंत मन मेरौ ।
आयौ हो निर्गुन उपदेसन, भयौ सगुन कौ चेरौ ।।

छः मास ब्रज में रहकर प्रेम-भक्ति का जो स्वरूप उन्होंने देखा था, उसके आगे उन्हें अपने ज्ञानयोग की बात फीकी लगने लगी थी—

देह गेह सनेह अर्पन कमललोचन ध्यान।
सूर उनकौ प्रेम देखैं फीकौ लागत ज्ञान ॥

उद्धव पर ब्रज-प्रवास का कितना गहन प्रभाव पड़ा था, इसका प्रमाण उनकी वह आपबीती है जो लौटकर उन्होंने कृष्ण को सुनाई —

बातैं सुनहु तो स्याम सुनाऊँ।
जुवतिनि सौं कहि कथा जोग की, क्यौं न इतो दुख पाऊँ॥
हौं पचि एक कहौं निरगुन की, ताहू मैं अटकाऊँ।
वै उमड़ैं वारिधि के जल ज्यौं, क्यौं हूँ थाह न पाऊँ॥
कौन कौन कौ उत्तर दीजै, तातैं भज्यौ अगाऊँ।
वै मेरे सिर पटिया पारैं कंथा काहि उढ़ाऊँ॥
एक आँधरी, हिय की फूटी, दौरत पहिरि खराऊँ।
सूर सकल षट दरसन वै हौं बारहखड़ी पढ़ाऊँ॥

यह कहकर कि जिस सम्पूर्ण ब्रज ने तुम्हारे प्रेम में ही षड्दर्शन का सार प्राप्त कर लिया था, उसे ज्ञानयोग की शिक्षा देने का मेरा प्रयास बारहखड़ी पढ़ाने जैसा मूर्खतापूर्ण कार्य था, सूर ने निर्गुण पर सगुण की सम्पूर्ण विजय की दुन्दुभी बजा दी है। इस प्रकार उद्धव की पराजय को जितने प्रभावशाली ढंग से सूर ने प्रस्तुत किया है, उतने ही प्रभावपूर्ण ढंग से सगुण का मण्डन और निर्गुण का खण्डन भी हो गया है। निर्गुण ब्रह्मोपासना तथा योग और ज्ञान के मार्ग को इतने कौशल से उन्होंने अनुपयुक्त ठहराया है कि उनकी कला पर आश्चर्य होता है। यह सब इसलिए है कि उनके व्यंग्य-विनोद, हास-परिहास कटूक्तियाँ-उपालम्भ आदि जिस प्रेमातिरेक से उद्भूत हैं, उसमें संदेह नहीं किया जा सकता। सूर की यह सफलता अभूतपूर्व थी। तुलसी ने भी सगुण के प्रति श्रद्धा-विश्वास का भाव उत्पन्न करने में सफलता पाई थी, परन्तु उस विश्वास और श्रद्धा को प्रेम का सरस आधार सूर ही प्रदान कर सके थे। यही वह आधार था जिसने संकट के उस काल में भी जीवन के प्रति ललक जाग्रत रखी। सम्पूर्ण सूर-साहित्य ने व्यापक स्तर पर जो कार्य किया था, भ्रमरगीत प्रसंग ने दर्शन के सीमित क्षेत्र में उसी को पूर्ण तल्लीनता से सम्पादित किया। इस प्रकार सूर का भ्रमरगीत प्रसंग एक गहन आध्यात्मिक आवश्यकता की ऐसी सरस साहित्यिक पूर्ति है जिसकी तुलना विश्व साहित्य में कहीं उपलब्ध नहीं।

■



भ्रमरगीतसार में अभिव्यंजना-कौशल

डॉक्टर भ० ह० राजूरकर

'भ्रमरगीत' के नामकरण में और प्रसंग में अभिव्यंजना है। इस प्रसंग में अभिव्यक्ति प्रेम की है। इसका महत्त्व कथा की दृष्टि से उतना नहीं, जितना अभिव्यंजना की दृष्टि से है। स्वयं आचार्य रामचन्द्र शुक्ल इस प्रसंग को वस्तु-गांभीर्य से रहित मानते हैं। उन्होंने लिखा है—"परिस्थिति की गम्भीरता के अभाव से गोपियों के वियोग में भी वह गम्भीरता नहीं दिखाई पड़ती जो सीता के वियोग में है। उनका वियोग खाली बैठे का काम-सा दिखाई पड़ता है। सीता अपने प्रिय से वियुक्त होकर कई सौ कोस दूर दूसरे द्वीप में राक्षसों के बीच पड़ी हुई थीं। गोपियों के गोपाल केवल दो-चार कोस दूर के एक नगर में राजसुख भोग रहे थे। सूर का वियोग-वर्णन, वियोग-वर्णन के लिए ही है, परिस्थिति के अनुरोध से नहीं।"[१] कहना यह है कि भ्रमरगीत की प्रसिद्धि का कारण प्रसंग की गम्भीरता नहीं, अपितु अभिव्यंजना-कौशल है।

भ्रमरगीत-प्रसंग में भ्रमर है। भ्रमर से उद्धव जुड़ा है और उद्धव से कृष्ण जुड़े हैं। भ्रमरगीत की अभिव्यंजना पहचानने के लिए यह जानना आवश्यक है कि किसकी अभिव्यंजना किसके प्रति है। गोपियों की अभिव्यंजना श्रीकृष्ण के प्रति है, यह उत्तर दिया जा सकता है। यह बात सत्य होने पर भी गोपियों के सम्मुख कृष्ण उपस्थित नहीं हैं। कृष्ण न सही, उद्धव तो है, किन्तु उद्धव से जो कुछ कहा जा रहा है, वह उद्धवविशेष के लिए नहीं। फिर उद्धव से भी सीधे कहाँ कहा जा रहा है। भ्रमर स्वयं उद्धव और गोपियों के बीच में है। संक्षेप में भ्रमरगीत-प्रसंग में भ्रमर अभिव्यंजना का माध्यम है। यह ऐसा माध्यम है, जिसके सम्मुख गोपियाँ अपने मन को उन्मुक्त रूप से खोलती हैं और खरी-खोटी बात कहने में बिलकुल नहीं हिचकतीं। मनोवैज्ञानिक दृष्टि से देखें, तो भ्रमर के कारण गोपियों की अभिव्यंजना में पूर्णता आई है। एक उदाहरण—

रहु रे, मधुकर ! मधु-मतवारे।
कहा करौं निर्गुन लै कै हौं जीवहु कान्ह हमारे॥
लोटत नीच परागपंक में पचत, न आपु सम्हारे।
बारंबार सरक मदिरा की अपरस कहा उघारे॥
तुम जानत हमहूँ वैसी हैं जैसे कुसुम तिहारे।
घरी पहर सबको बिलमावत जेते आवत कारे॥
सुन्दर स्याम कमलदल-लोचन जसुमति-नंद-दुलारे।
सूर स्याम को सर्वस अर्प्यो अब कापै हम लेहिं उघारे॥[२]

---

१ – भ्रमरगीतसार, सं० आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, अष्टम संस्करण, पृ० ४। २ – भ्रमरगीतसार, ६१।

'भ्रमरगीत' में मुक्तक-पद्धति के गीत हैं। अतः प्रसंगों का स्वतंत्र बोध उन पदों में अपना है और कथा-प्रसंग सामान्य रूप में एक ही होने पर भी भाव-व्यंजना के कारण प्रसंग की कथा अपने आप निर्मित होती है और उसमें अनेक प्रकार की संभावनाएँ हैं। इन संभावनाओं के कारण ही अभिव्यंजना-कौशल की प्रशंसा करनी पड़ती है। ऊपर जो पद उद्धृत है, उसके प्रसंग-निर्देश और उसकी संभावना (अर्थाभिव्यक्ति के रूप में) का रूप नीचे दिया जा रहा है।

"रहु रे, मधुकर ! मधु मतवारे"—प्रथम पंक्ति है; गोपियाँ भ्रमर को (मधुकर को) सम्बोधित करते हुए कह रही हैं। कहती हैं—"रहु रे" अर्थात् जहाँ हो, जिस स्थिति में हो, वहीं रहो। इसमें अतिक्रमण को रोकने का भाव है। मधुकर के अतिक्रमण से गोपियाँ त्रस्त हो गईं, अतः उसे रोका गया। "हे मधु के मतवाले, मधुकर, तुम जहाँ हो, जिस स्थिति में हो, वहीं रुके रहो।" "कहा करौ निर्गुन लै कै" जिस निर्गुण को तुम हमें दे रहे हो, उसे लेकर हम क्या करें ? "जीवहु कान्ह हमारे"—हमारे कान्ह जिस रूप में हैं, उसी रूप में जीएँ, बने रहें।

यहाँ स्पष्ट रूप से लिख देना आवश्यक है कि गोपियों के इस प्रकार के कथन में अतिक्रमण को—उद्धव की ओर से बढ़बढ़ कर होनेवाले अतिक्रमण को—जहाँ है, वहीं पर रोकने का प्रयत्न है और इस प्रयत्न में वे जो कुछ कह रही हैं, उसे 'अभिव्यंजना' के अर्थ में ही लिया जा सकता है। 'अभिव्यंजना' कहने का कारण यह है कि गोपियाँ जो चाहती हैं, वह किसी-न-किसी रूप में कह देती हैं।

'भ्रमरगीत' के पदों में एक ही बात को बार-बार दोहराया गया है, ऐसा प्रतीत हो सकता है। किन्तु सच्चाई यह कि इसे दोहराना नहीं कह सकते। हम चाहें तो इस प्रकार से दोहराए जानेवाले कथ्य को 'अभिव्यंजना' का दूसरा रूप कह सकते हैं। एक बात—एक प्रकार की शब्दावली में—एक क्रम में कही जा सकती है। यदि शब्दावली का क्रम बदलता है, तो अभिव्यक्ति बदलती है। तथ्य में बहुत अन्तर न आनेपर भी 'अभिव्यक्ति' में अन्तर आता है। उदाहरणरूप में निम्नलिखित पद प्रस्तुत हैं—

ऊधो ! मन नहिं हाथ हमारे।
रथ चढ़ाय हरि संग गए लै मथुरा जबै सिधारे॥
नातरु कहा जोग हम छाँड़हि अति रुचि कै तुम ल्याए।
हम तौ झकति स्याम की करनी, मन लै जोग पठाए॥
अजहूँ मन अपनो हम पावैं तुमतें होय तो होय।
सूर, सपथ हमैं कोटि तिहारी कही करैंगी सोया॥[३]

मधुकर ! मन तो एकै आहि।
सो तो लै हरि संग सिधारे जोग सिखावत काहि ?
रे सठ, कुटिल-वचन, रसलंपट ! अवलन तन धौं चाहि।
अब काहे को देत लोन हौ, विरहअनल तन दाहि॥
परमारथ उपचार करत हौं, विरहव्यथा नहिं जाहि।
जाको राजदोष कफ व्यापै, दही खवावत ताहि॥
सुन्दरस्याम-सलोनी-मूरति पूरि रही हिय माहिं।
सूर ताहि तजि निर्गुन-सिंधुहि कौन सकै अवगाहि॥[४]

---

३ – भ्रमरगीतसार १३०। ४ – वही १४३।

इन दोनों पदों का मूल आशय प्रायः समान प्रतीत हो सकता है और है भी समान। दोनों में ही गोपियों ने अपनी विवशता व्यक्त की है। ऐसा होने पर भी भावाभिव्यंजना दोनों की एक नहीं है। "ऊधो ! मन नहिं हाथ हमारें" और "मधुकर ! मन तो एकै आहि", दोनों पदों की प्रथम पंक्तियाँ हैं। ये दोनों प्रथम पंक्तियाँ पद के प्रत्येक चरण से सम्बन्ध रखने वाली हैं। सूर के ये दोनों पद ही नहीं, अन्य पद भी गेय हैं और गाते समय प्रथम पंक्ति बार-बार दोहराई जाती है। इस नाते प्रथम पंक्ति में पूरे पद की अभिव्यंजना निहित रहती है। जैसे-जैसे उक्त पंक्ति को दोहराया जाता है, और उसका सम्बन्ध उसी पद की अन्य पंक्तियों से जोड़ा जाता है, वैसे-वैसे उस पंक्ति का अर्थ अधिक मुखरित होता जाता है। यहाँ हम सुविधा के लिए ऊपर दिये गये दोनों पदों की प्रथम दो पंक्तियों की आपस में तुलना करें, जिससे बात और अधिक स्पष्ट हो।

ऊधो ! मन नहिं हाथ हमारे।
रथ चढ़ाय हरि संग गए लै मथुरा जबै सिधारे॥

× × × × × ×

मधुकर ! मन तो एकै आहि।
सो तो लैं हरि संग सिधारे जोग सिखाहत काहि ?

प्रथम दो पंक्तियों का सीधा-सा अर्थ है – हे उद्धव, मन हमारे हाथ में नहीं है। हरि जब यहाँ से रथ पर सवार होकर गए मथुरा, उसी समय वे हमारे इस मन को अपने साथ ले गये। इसी तरह दूसरी दो पंक्तियों का अर्थ है – हे मधुकर, मन तो हमारे पास एक ही है और उसे तो हरि अपने साथ लेकर चले गये, अब तुम जोग किसे सिखाते हो ? 'जिसे जोग सिखाना है, वह तो है नहीं।'

दोनों का भावार्थ प्रायः समान है किन्तु दोनों की अभिव्यंजना भिन्न है। यदि हम इन दो पंक्तियों के भावार्थ तक अपने को सीमित रखते हैं और तुलना करने लगते हैं, तो संभवतः आशय एक लगे। पर ऐसा है नहीं। आगेवाली पंक्तियों को जब देखने लगेंगे तो इन पंक्तियों की अभिव्यंजना का अन्तर धीरे-धीरे अपने आप स्पष्ट प्रतीत होगा। दोनों ही पदों के अगले दो-दो चरणों का अर्थ इस प्रकार होगा—

१ – नातरु कहा जोग हम छाँड़हि अति रुचि कै तुम ल्याए।
हम तौ झकति स्याम की करनी, मन लै जोग पठाए॥

२ – रे सठ, कुटिल-वचन, रसलंपट ! अवलन तन धौं चाहि।
अब काहे को देत लोन हौं बिरह-अनल तन दाहि॥

१ – अन्यथा क्या हम उस जोग को छोड़ देंगी, जिसे तुम बड़ी रुचि के साथ हमारे लिए लाए हो। हम तो स्याम की करनी पर झीख रही हैं, क्योंकि उसने हमारे मन को तो ले लिया और जोग को उसी मन के लिए भेजा। ....मन नहिं हाथ हमारे।

२ – रे मूर्ख, कुटिल वचन कहता है, हे रस-लंपट, हम अबलाओं की ओर तो देख ! यह तन तो विरह की आग से पहले से ही जला हुआ है। इस पर लवण क्यों लगाना चाहता है ? इससे विरह की आग और तेज़ होगी। ....मन तो एकै आहि।

दोनों ही पदों के दूसरे दो-दो चरणों के अर्थों में पहले दो-दो चरणों की तुलना में काफी अन्तर आ गया है। पहला अन्तर तो यह है कि सम्बोधन का ढंग बदलता दिखलाई देता है। 'ऊधो' और 'मधुकर' का अन्तर तो है ही। पहले पद के सम्बोधन में उतनी उग्रता नहीं है, जितनी दूसरे पद के सम्बोधन में है।

इसी तरह हम आगेवाले और चरणों का अर्थ देखते जाएँगे तो और अन्तर प्रतीत होता जाएगा। निष्कर्षरूप में हम यह अनुभव करेंगे कि दोनों पदों में पुनरुक्ति नहीं है। आशय एक होनेपर भी अभिव्यंजना अलग-अलग है। वैसे हम इन पदों को पढ़ते समय इनके मूल कथानक या आशय की ओर उतना ध्यान नहीं देते और हमें इस प्रकार ध्यान देना भी नहीं चाहिए। प्रत्येक पद की अभिव्यंजना स्वतंत्र और पूर्ण है।

यदि हम दोनों पदों के समग्र प्रभाव को देखें, तो कथ्य में अन्तर प्रतीत होगा। हमारे मन में कोई भाव हो, तो हम उसे अनेक रूपों में व्यक्त करते हैं। भाव समान और मूल रूप में एक होने पर भी उसकी अभिव्यक्ति की अदाएँ भिन्न-भिन्न हैं।

जब हमारा ध्यान कथानक से हटकर पात्र की ओर और पात्र से हटकर उसकी अभिव्यक्ति की ओर जाएगा, तब हम कविता के मर्म को समझ सकेंगे। अभी ऊपर जिन दो पदों की चर्चा की गई, उनमें एक 'उद्धव' को सम्बोधित किया गया है और दूसरा 'मधुकर' को। कथ्य लगभग समान होने पर भी कहने का ढंग अलग-अलग है। 'उद्धव' की तुलना में 'मधुकर' को अधिक फटकारा गया है। उसे 'सठ' और 'रसलंपट' तक कहा गया, जबकि उद्धव के साथ कुछ नम्रता बरती गई है। 'भ्रमरगीत' प्रसंग के पदों में 'उद्धव' और 'भ्रमर' दोनों को सम्बोधित करनेवाले पदों को अलग-अलग किया जाए तो निश्चित ही दोनों की अभिव्यंजना में अन्तर मिलेगा। कुछ उदाहरण, उद्धव से सम्बन्धित—

ऊधो ! अब यह समुझ भई।
नँदनंदन के अंग अंग प्रति उपमा न्याय दई।।[५]

× × ×   × × ×

ऊधो ! हम अति निपट अनाथ।
जैसे मधु तोरे की माखी त्यों हम बिनु ब्रजनाथ।।[६]

× × ×   × × ×

ऊधो ! ब्रज की दसा बिचारौ।
ता पाछे यह सिद्धि आपनी जोगकथा बिस्तारौ।।[७]

'मधुकर' से सम्बन्धित पद —

मधुकर ! हम न होहिं वे बेली।
जिनको तुम तजि भजत प्रीति बिनु करत कुसुमरसकेली।।[८]

× × ×   × × ×

मधुकर ! स्याम हमारे ईस।
जिनको ध्यान धरे उर-अंतर आनहिं, नए न, उन बिन सीस।।[९]

× × ×   × × ×

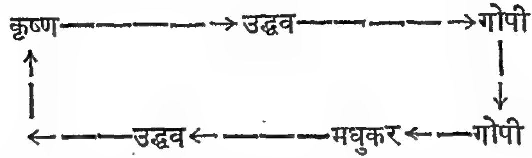
मधुकर ! तुम हौ स्याम-सखाई।
पा लागों यह दोष बकसियो संमुख करत ढिठाई।।[१०]

---

५ – भ्रमरगीतसार १०७। ६ – वही १०८। ७ – वही १०९। ८ – वही १४०। ९ – वही १४१। १० – वही १४२।

इनमें स्थूल अन्तर माध्यम का है। उद्धव से सीधे कहने और 'मधुकर' के माध्यम से कहने में भेद है। माध्यम बदलने से अभिव्यक्ति में अन्तर आता है। उद्धव से कहने में अभिव्यंजना का रूप उतना तीखा नहीं जितना 'मधुकर' से कहने में है।

'भ्रमरगीत' की अभिव्यंजना को समझने के लिए स्थूल रूप में हमें यह देखना होगा कि अभिव्यक्ति किसकी है और किसके प्रति है। और फिर इन सबका संदर्भ भी देखना होगा। संक्षेप में इन प्रश्नों के उत्तर में निम्नलिखित रूपरेखा प्रस्तुत की जा सकती है —



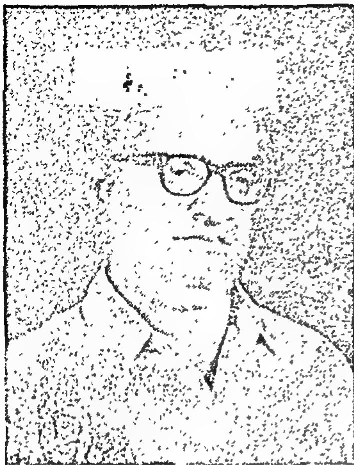
संवाद का यह वृत्त बनता है। इस वृत्त में कृष्ण अनुपस्थित हैं, उद्धव उपस्थित है। यह भी स्पष्ट है कि गोपियों की सारी अभिव्यक्ति कृष्ण के प्रति है। जो अनुपस्थित है, उसको अपने भीतर उपस्थित मानकर उसके साथ अपने सम्बन्ध-भाव को गोपियाँ उद्धव के सम्मुख व्यक्त करती हैं। कृष्ण की अनुपस्थिति को कृष्ण के विरहरूप में अभिव्यक्ति मिली है और इस विरह की भाव-छटाएँ भिन्न-भिन्न रूपों में भ्रमरगीत में व्यक्त हुई हैं। सारे भ्रमरगीत-प्रसंग में कृष्ण के अनुपस्थित रहने पर भी प्रच्छन्न रूप में उनके उपस्थित रहने का बोध हमें होता रहता है। उनकी उपस्थिति के बोध को निर्गुणरूप में साकार करने का प्रयास व्यर्थ प्रमाणित हुआ है। इसके विपरीत उनका सगुण रूप अधिक उभरता है।

संवाद के इस वृत्त में उपस्थित पर विचार करें, तो गोपियाँ अधिक मुखर हैं। श्रोतारूप में उद्धव है। उद्धव इस अभिव्यंजना का भोक्ता है। कृष्ण उपस्थित रहें या न रहें, वे गोपियों के हृदय के स्वामी हैं और उनसे अलग नहीं हैं। वे तो उद्धव को गोकुल भेजने से पूर्व ही जानते थे कि गोपियाँ उनको भजती हैं। कुल मिलाकर उद्धव को इस बात की प्रतीति करवाई गई कि "भक्ति का मर्म" क्या है। प्रेम में भक्ति का निवास होता है, इसे उद्धव मान जाता है और इसे मान लेने में भ्रमरगीत की अभिव्यंजना सफल हुई है। भ्रमरगीत-प्रसंग सूरदास के अभिव्यंजना-कौशल का अनूठा उदाहरण है।

■

मधुप कहा ह्याँ निरगुन गावहि।
यह प्रिय कथा नगरनारिनि सौं कहहि जहाँ कछु पावहि॥
जानति मरम नंदनंदन कौ, और प्रसंग चलावहि।
हम नाहीं कमला सी भोरी, करि चातुरी मनावहि॥
अति विचित्र लरिका की नाईं, गुर दिखाइ बौरावहि।
जौं तू कितक सुमन रस लै, तजि जाइ बहुरि नहिं आवहि॥
सुन्दर मधु आनन अनुरागी, नैनन आनि पिवावहि।
नागर रतिपति 'सूरदास' प्रभु किहि विधि आनि मिलावहि॥

सूरसागर ४११६



सूरदास के उद्धव : भ्रमरगीतसार के सन्दर्भ में

डॉक्टर राजमल बोरा

भक्त शिरोमणि सूरदास का भ्रमरगीत-प्रसंग अभिव्यंजना-कौशल तथा प्रेम-व्यंजना का ऐसा प्रसंग है, जिसके आधार पर भक्ति-भावना के बल का ज्ञान होता है। यह भावना जन-जीवन की शक्ति का स्रोत है और हमारे देश की संस्कृति का आधार भी है। इसी का विश्लेषण यहाँ किया जा रहा है।

भ्रमरगीत-प्रसंग में संवाद है और यह संवाद दो पक्षों में है—एक पक्ष में श्रीकृष्ण हैं और दूसरे पक्ष में गोकुल का जन-जीवन जिसमें प्रधान रूप से गोपियाँ हैं। इन दोनों पक्षों के संवाद में माध्यम उद्धव हैं। श्रीकृष्ण गोकुल की जनता को, गोपियों को, राधा को, नंद और यशोदा को, यही नहीं ग्वाल-बालों को अच्छी तरह जानते हैं। श्रीकृष्ण गोकुल की जन-भावना का पूरा ज्ञान रखते हैं। इसी तरह गोकुलवासी, यह सारा वर्ग, श्रीकृष्ण से श्रीकृष्ण की अनुपस्थिति में उसी तरह प्रेम करता है और अपना सम्बन्ध अपनी भावनाओं के अनुरूप बनाये हुए हैं। भ्रमरगीत का संवाद वास्तव में इन दो पक्षों में होते हुए भी ये दोनों पक्ष सीधे आमने-सामने नहीं हैं। सीधे आमने-सामने होते तो यह संवाद ही क्यों होता ? श्रीकृष्ण का संवाद (संदेश कह लीजिए) गोकुल पहुँचाना और गोकुल का संवाद (संदेश) श्रीकृष्ण तक पहुँचाने का कार्य उद्धव करते हैं। उद्धव ही एकमात्र ऐसे पात्र हैं, जो दोनों के संवादों में आमने-सामने उपस्थित हैं। उद्धव के माध्यम से भगवान् और भक्त दोनों का आपस में पाया जानेवाला सम्बन्ध व्यक्त होता है। उद्धव का साक्षात्कार दोनों पक्षों से होता है और वे दोनों पक्षों की भावनाओं का मूल्यांकन करने में समर्थ हैं। उद्धव के माध्यम से भक्त-शिरोमणि सूरदास भक्ति का प्रतिपादन करना चाहते हैं। उद्धव को मनवाया गया और वे अन्ततः मान गये, इसी में भ्रमरगीत की व्यंजना सार्थक हुई है।

भ्रमरगीत-प्रसंग में आदि से अन्त तक उद्धव विराजमान हैं। वे सन्देशवाहक हैं। सन्देशवाहक होते हुए भी वे वक्ता कम और श्रोता अधिक हैं। उद्धव को अपनी ओर से कहने का अवसर नहीं के बराबर मिला है। उनकी उपस्थितिमात्र से यह समझ लिया गया है कि उनका संदेश क्या है। प्रथमतः ब्रज की ओर जाते समय श्रीकृष्ण ने उनको संदेश दिया और जब वे ब्रज पहुंच गये तो उनसे अनेक प्रकार के प्रश्न पूछे गये और लौटते समय संदेशा सुनाया गया। ब्रज की यात्रा को निकलने से पहले वे श्रीकृष्ण की बातें (संदेशे के रूप में ही) सुनते हैं और ब्रज से लौटने से पूर्व उन्हें ब्रजवासियों की बातें सुननी पड़ती हैं। दोनों ही स्थितियों में वे श्रोता हैं। स्वतंत्र रूप से उद्धव को जानना तथा पहचानना कठिन-सा है। ऐसा इसलिए कहा जा रहा है कि उद्धव के सम्बन्ध में हम जो कुछ जानते हैं, वह श्रीकृष्ण तथा गोपियों के माध्यम से ही। प्रत्यक्ष उद्धव को जानना सूरदास के प्रयोजन से परिचित होना है। भ्रमरगीत की सारी अभिव्यंजना उद्धव के लिए है और उद्धव के माध्यम से हम सबके लिए भी है।

उद्धव के सम्बन्ध में एक पद है—

> उद्धव मन अभिलाष बढ़ायो ।
> जदुपति जोग जानि जिय साँचो नयन अकास चढ़ायो ॥
> नारिन पै मोको पठवत हौ कहत सिखावन जोग ।
> मन ही मन अब करत प्रसंसा है मिथ्या सुख-भोग ॥
> आयसु मानि लियो सिर ऊपर प्रभु-आज्ञा परमान ।
> सूरदास प्रभु गोकुल पठवत मैं क्यों कहौं कि आन ॥[1]

व्रजगमन से पूर्व उद्धव की यह अभिलाषा है। योग में उनका पूर्ण विश्वास है और वे यह समझकर ही निकल रहे हैं कि मुझे यहाँ से जाकर नारियों को जोग सिखाना है। प्रभु की आज्ञा को मानकर अपने ज्ञान पर विश्वास रखकर वे निकलते हैं। प्रत्यक्ष रूप में इस पद में भी, सीधे उद्धव से सम्बन्धित होते हुए भी, क्या हम यह कह सकते हैं कि इसमें उद्धव का प्रत्यक्ष चित्र है और उसकी ठीक भावना है ? ऐसा नहीं लगता। उद्धव का यह स्वतंत्र चित्र भी उद्धव पर श्रीकृष्ण के प्रभाव से युक्त है, प्रभु-आज्ञा को मानकर ही वे जा रहे हैं। पद की प्रथम पंक्ति में ही अभिव्यंजना है। उद्धव ने मन में अभिलाषा बढ़ाई। अभिलाषा किस बात की ? जदुपति से जोग करना (योग मार्ग से श्रीकृष्ण को पाना)। यह बात ठीक है और इसके ठीक होने में विश्वास करना ('जानि जिय साँचो') उद्धव की अभिलाषा बढ़ने का द्योतक है। उनकी आँखें इस समय आकाश की ओर चढ़ी हुई हैं, अर्थात् उन्हें अपने ज्ञान की पूर्ण प्रतीति है। ....संक्षेप में यह समझा जाये कि पद का भावार्थ अभिधात्मक नहीं है। पद का भावार्थ अभिव्यंजनात्मक है। उद्धव का यह चित्र जिस रूप में प्रस्तुत है, उस रूप के प्रति हमारे सामने उद्धव का सहज सीधा चित्र नहीं आता। पद का पाठक या श्रोता जान जाता है कि जिस योग को 'जानि जिय साँचो' उद्धव ने अपने नयन आकाश को चढ़ाए हैं, वह व्यर्थ है। वह उद्धव का भ्रम है। 'जानि जिय साँचो' में ही अभिव्यंजना है कि उद्धव का यह जानना भ्रम है और आँखें आकाश की ओर चढ़ाना तो और गलत है। कहना यह है कि उद्धव का यह सीधा चित्र भी उद्धव के प्रति सहानुभूति से युक्त नहीं है। उद्धव से सम्बन्धित सीधे पद वैसे ही बहुत कम हैं और जो हैं, उनमें उनका अभिधात्मक (सहज सीधा भावात्मक) वर्णन नहीं है। चित्र उद्धव का है, व्यंजना गोपियों की (भक्तों की) है।

भ्रमरगीत-सार के पदों में अधिक भाग गोपियों से सम्बन्धित है। गोपियों से सम्बन्धित होने के कारण इनमें भावना गोपियों की है। यह भावना उद्धव के सामने व्यक्त की गई है। उद्धव श्रोता रूप में सामने उपस्थित हैं। संवाद दोनों पक्षों में होता है और होना चाहिए। उद्धव भी कहें और गोपियाँ भी कहें, यदि ऐसा होता है तो दोनों पक्ष ठीक-ठीक सामने आते हैं, किन्तु सूरदास के भ्रमरगीत-प्रसंग में ऐसा नहीं है। यहाँ संवाद में एक पक्ष ही मुखरित है और दूसरा पक्ष मौन धारण किये हुए है, वैसे उद्धव कहते हैं और उद्धव का यह कथित भाग हम उद्धव के मुख से नहीं, गोपियों के मुख से सुनते हैं। गोपियाँ स्वयं प्रश्न पूछती हैं और उद्धव की बातों का उत्तर भी देती हैं, गोपियों के उत्तर के आधार पर हमें इस बात की कल्पना करनी पड़ेगी कि उद्धव ने ऐसा कहा है, इसलिए गोपियाँ इस तरह से उत्तर दे रही हैं। ऐसी स्थिति में होता यह है कि उद्धव अपनी बात को जिस ढंग से गोपियों के सामने कह गये हैं, वह सामने नहीं आता। गोपियों ने उद्धव को जिस रूप में समझा है, वही भाग सामने आता है, वही पक्ष उभरता है अर्थात् उद्धव को हम गोपियों की आँखों से देखते हैं, गोपियों के कान से सुनते हैं, गोपियों की समझ

१ – भ्रमरगीतसार, सं० आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, ११।

से जानते हैं और गोपियों के हृदय से पहचानते हैं। हमारे सामने उद्धव का ऐसा रूप प्रस्तुत है, जिसे गोपियों ने जाना है। उदाहरण के लिए—

ऊधो ! होत कहा समुझाये ?
चित चुभि रही साँवरी मूरति, जोग कहा तुम लाये ?[2]

× × ×

मधुकर, जानत है सब कोऊ।
जैसे तुम औ मीत तुम्हारे, गुननि निपुन हौ दोऊ ॥[3]

उद्धव से कहा गया कि तुम्हारे समझाने से क्या होता है ; अर्थात्, उद्धव ने गोपियों को बहुत समझाया है। यदि न समझाते तो इस प्रकार से प्रश्न क्यों पूछा जाता ? समझाने की व्यर्थता प्रमाणित है। दूसरे पद में कहा है कि 'हे मधुकर, तुम्हें सब जानते हैं। जैसे तुम हो और तुम्हारे मित्र हैं – तुम दोनों के गुणों की निपुणता से हम पूरी तरह परिचित हैं।' अब परिचय क्या है ? यह तो व्यंजना है। सीधी बात यह है कि उद्धव अपने को जैसे प्रस्तुत कर रहे हैं, उस पर उनका विश्वास नहीं है। उद्धव की अभिधात्मक बातों को (सीधे तर्कयुक्त वाक्यों और ज्ञान को) गोपियाँ सुनना ही कहाँ चाहती हैं ? सुनने से पहले ही कह देती हैं कि हम खूब जानती हैं। कहना यह है कि गोपियों के कथन के आधार पर ही हम उद्धव को जानते हैं।

भगवान् श्रीकृष्ण उद्धव को जानते हैं तथा ब्रजवासियों और गोपियों को भी जानते हैं। उद्धव के सामने ब्रज का प्रसंग छेड़ें, तो उद्धव को उस प्रेम की प्रतीति नहीं होती। अतः प्रेम की प्रतीति उद्धव को हो जाये, इस आशय से श्रीकृष्ण ने उन्हें ब्रज भेजा है। कहा है —

ऐसे को वैसी बुधि होती ब्रज पठवैं तब आने ॥
या आगे रस-काव्य प्रकासे जोग वचन प्रगटावै।
सूर ज्ञान दृढ़ याके हिरदय जुवतिन जोग सिखावै ॥

श्रीकृष्ण यह जानते थे कि उद्धव जब ब्रज से लौटकर आयेंगे, तो ब्रज के अनुसार कहने लगेंगे। वे बदल जायेंगे और अभी जिस बात की उन्हें प्रतीति नहीं है, उस पर उनकी प्रतीति हो जायेगी। और हम ठीक यही अनुभव करते हैं। सूरदास उन उद्धव के अनेक चित्र प्रस्तुत करते हैं जिनमें गोपियों के कारण प्रेम की प्रतीति हो गई है। श्रीकृष्ण से मिलनेपर उद्धव ब्रज की कथा जिन मर्म भरे शब्दों में सुनाते हैं, उनमें उनका ज्ञान बह गया है और प्रेम की विजय हुई है। गोपियों के हृदय की तो वह सम्पत्ति थी, किन्तु उद्धव जैसे ज्ञानी भी प्रेम में (गोपियों के साथ रहने के कारण) दीक्षित हो जाते हैं—

माधव जू, मैं अति सचु पायो।[५]

× × ×

अब अति पंगु भयो मन मेरो।
गयो तहाँ निर्गुन कहिवे को भयो सगुन को चेरो ॥[६]

× × ×

---

२ – भ्रमरगीतसार २४०। ३ – वही २४५। ४ – वही ३। ५ – वही ३८०। ६ – वही ३८२।

उनमें पाँच दिवस जो वसिये।
नाथ! तिहारी सौं जिय उमगत, फेरि अपनपो कस ये?
वह लीला विनोद गोपिन के देखे ही वनि आवै।
मोको वहुरि कहाँ वैसो सुख, वड़भागी सो पावै॥
मनसि, वचन, कर्मना, कहत हौं नाहिन कछु अव राखी।
सूर काढ़ि डारचो हौं व्रज तें दूध-माँझ की माखी॥[७]

ये पद अपने आप में स्पष्ट हैं — उद्धव गोपियों से परास्त हो गये और स्वयं गोपीमय होकर भगवान् कृष्ण से व्रज लौटने के लिए कहने लगे। उद्धव का यह कहना सामान्य संदेश के रूप में कहना नहीं है, अपितु गोपीमय होकर कहना है। सूरदास ने उद्धव के उस रूप का चित्र अधिक नहीं चित्रित किया, जिस रूप में उद्धव अधिक ज्ञानी हैं या कहे गये हैं। उद्धव के उस रूप की उपेक्षा की गई है। किन्तु जब उद्धव गोपियों के वचन पूरी तरह सुन लेते हैं और उनकी वास्तविक दशा से परिचित हो जाते हैं, तो उन उद्धव के सीधे प्रत्यक्ष चित्र सूर ने खींचे हैं। इससे यह वात स्पष्ट रूप से ज्ञात होती है कि भ्रमरगीत-प्रसंग उद्धव के हृदय परिवर्तन के लिए है। परिवर्तित उद्धव हमें प्रिय लगते हैं और हमारी सहानुभूति के पात्र वनते हैं। कृष्ण-प्रेम से रहित उद्धव जव कृष्ण-प्रेम से युक्त हो जाते हैं और कृष्ण से व्रज लौटने के लिए कहने लगते हैं, तव उनका ज्ञानरूप में कृष्ण को जानना निरर्थक प्रमाणित हो जाता है। उद्धव के इस रूप को उजागर करने में भ्रमरगीत की सार्थकता है।

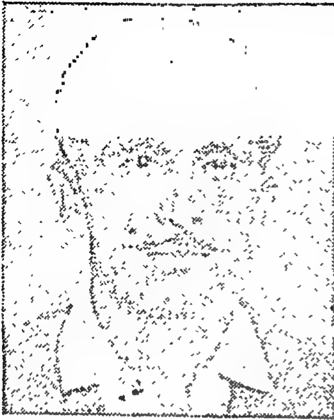
भ्रमरगीत-प्रसंग की सारी व्यंजना प्रेम-व्यंजना है। इस प्रेम-व्यंजना की प्रतीति उद्धव को कराई गई है। प्रेम का वखान उन्हीं के आगे किया गया है। भ्रमरगीत की खूवी यह है कि प्रेम की यह व्यंजना सीधी न होकर गूढ़ है और प्रत्यक्ष से वचकर अप्रत्यक्ष के माध्यम से व्यक्त है। कहा तो भ्रमर को जा रहा है, किन्तु भ्रमर के व्याज से उद्धव को ही कहना है। इसी तरह उद्धव स्वयं माध्यम हैं, क्योंकि मूलतः गोपियाँ श्रीकृष्ण से ही कहना चाहती हैं। जिससे कहना चाहती हैं, वह तो उपस्थित नहीं है। अतः जो उपस्थित है, उसको कहना प्रत्यक्ष कथन नहीं हो सकता। इसीलिए भ्रमरगीत प्रसंग ध्वनि-काव्य अधिक है।

सूरदास के उद्धव एक ऐसे पात्र हैं, जो भगवान् और भक्त दोनों के सम्वन्ध को लौकिक स्तर पर समझाने में सहायक हैं। उद्धव के आकाश पर चढ़े हुए नयन धरती की ओर उन्मुख हो जाते हैं। वे प्रेम का साक्षात्कार करते हैं और उनके माध्यम से हम सव भी प्रेम का साक्षात्कार करते हैं और कृष्ण की भक्ति का मर्म समझने लगते हैं।

■

---

७ — भ्रमरगीतसार, ३८५।



सूरदास की कुब्जा

श्री लाल बहादुर सिंह

'सूरसागर' भक्तवर सूरदास की कृष्ण-भक्ति-साधना की पावन गंगा है जिसमें अवगाहन कर प्रेमी भक्तजन आन्तरिक तोष प्राप्त करते हैं और लौकिक व्यथा-कथा विस्मृत कर अलौकिक आनन्द की प्राप्ति करते हैं। यद्यपि यह ग्रन्थ सूर द्वारा रचित विविध भावों के पदों का संचयन है, फिर भी इसमें कृष्ण कथा के विभिन्न प्रसंग एवं पात्र इस प्रकार सुनियोजित हैं कि प्रबन्ध-काव्य न होते हुए भी पात्रों के चारित्रिक वैशिष्टय पर सम्यक् प्रकाश पड़ता है और कृष्ण-लीला-गान का उद्देश्य प्रधान होते हुए भी पात्रों की पात्रता स्पष्ट हो उठती है। कृष्ण-चरित के साथ-साथ राधा, गोपियाँ, नन्द, यशोदा, देवकी-वसुदेव आदि की विशेषताओं पर यथोचित प्रकाश पड़ता है। कतिपय खल-चरित्रों की भी योजना यथास्थान सटीक हुई है जिनमें कंस, वकासुर, पूतना, तृणावर्त इत्यादि उल्लेखनीय हैं। इन पात्रों के अतिरिक्त सूर-सागर का एक अत्यन्त साधारण किन्तु अपनी प्रेमा-भक्ति में असाधारण पात्र है—कुब्जा। कुब्जा अपनी लघुता और साधारणता में असाधारण है।

सूरदास की कुब्जा की चर्चा करने के पूर्व उनकी कृष्ण-भक्ति के प्रेरणा-ग्रंथ श्रीमद्भागवतपुराण की कुब्जा का उल्लेख प्रासंगिक होगा जिससे प्रेरणा पाकर ही कविवर सूरदास ने उसके स्वरूप एवं भावों का निरूपण किया है। श्रीमद्भागवतपुराण में कुब्जा या त्रिवक्रा का प्रसंग दशम स्कन्ध के उत्तरार्द्ध में है, जहाँ पुराणकार ने १८ श्लोकों में उसके रूप, कर्म, गुण और कृष्ण-प्रेम का समुचित विवेचन प्रस्तुत किया है। वहाँ कुब्जा कंस की दासी के रूप में वर्णित है, जो प्रतिदिन कंस को चन्दन और अंगराज अर्पित करती है। अपनी मंडली के साथ कंस के आयोजन में जाते हुए श्रीकृष्ण की उससे भेंट होती है और वे उसका परिचय पूछते हैं, साथ ही अंगराग की याचना भी करते हैं। कुब्जा उन्हें सस्नेह पीत अंगराग प्रदान करती है और उनकी चारु चितवन, सुकुमारता, सुन्दरता और मनोहरता पर मुग्ध होकर उनकी अनन्य प्रेमिका बन जाती है। कृष्ण अपनी कृपा एवं कुशलता से त्रिवक्रता मिटाकर उसे सुघरता प्रदान करते हैं। उसे उर्वशी-सी परम सुन्दरी रूप में परिणत कर देते हैं। रूप-गुण-सम्पन्न कुब्जा के मन में श्रीकृष्ण-मिलन की कामना जाग उठती है और वह सबके सामने अपनी भावना को निःसंकोच व्यक्त करती है, उनसे अपने घर चलने का निवेदन करती है। श्रीकृष्ण अपनी वाक्पटुता से उसे समझाते हैं, और कार्य-सम्पन्न कर उससे मिलने का वचन देते हैं। कुब्जा उनकी प्रतीक्षा अति व्यग्रता से करती है और वे अपना कर्म पूरा कर सर्वप्रथम उसी से मिलते हैं। वह शृंगार के प्रसाधनों से अपने को सुसज्जित कर उन्हें अपने कक्ष में ले जाती है, और सलज्ज भाव से उनके पास बैठती है। तदनन्तर वे उसके तन-मन के ताप को अपने स्नेह से शमित करते हैं। कुब्जा की भक्ति एवं सेवा सफल सिद्ध होती है। यही सहज प्रसंग श्रीमद्भागवतपुराण में वर्णित है। कुब्जा-कृष्ण-प्रसंग प्रिया एवं प्रिय के सहज प्रेम का मधुर दृष्टान्त है,

जिसमें प्रेम और सेवा की भावना के साथ-साथ सहज समर्पण-भाव भी है। प्रिया कुब्जा पर अनुग्रह कर प्रिय कृष्ण उसे सुन्दरता और सौभाग्य का दान देते हैं और वह सम्पूर्ण सुन्दरी बनकर उन्हें सर्वस्व अर्पण करती है।

श्रीमद्भागवत पुराण के इसी लघु प्रसंग की पृष्ठभूमि में भक्तवर सूरदास ने कुब्जा का उल्लेख यथास्थान किया है जिसमें श्रीमद्भागवत पुराणकार की सहजता के साथ-साथ उनकी अपनी कतिपय विशेषताएँ भी हैं। सूर की कुब्जा दो रूपों में वर्णित है—प्रथमतः श्रीमद्भागवत की सहजता और सामान्यता लिए एक भाग्यवती प्रेमिका के रूप में और द्वितीयतः गोपियों की सौत रूप में जिससे गोपियाँ बहुत द्वेष-भाव रखती हैं और समय-समय पर अपने व्यंग्य-बाणों से छेदती हैं।

कुब्जा भाग्यशालिनी युवती है, जिससे रसिकशिरोमणि श्रीकृष्ण की भेंट होती है और वे उसकी भक्ति भावना पर रीझकर अनुग्रह करते हैं, उसे पूर्ण सुन्दरता प्रदान करते हैं—

> कुबिजा-सी भागिनि को नारि।
> कंसहिं चंदन लिए जाति रही, बीच मिले ताको दैत्यारि।
> हरि करि कृपा करी पटरानी, वाकौ डारयौ कुबज मिटारि॥

श्रीकृष्ण अद्भुत कृपालु हैं, जिस पर रीझ गए, वह धन्य हो गया, उसकी सारी कामनाएँ पूर्ण हो गईं। उनकी कृपा की महत्ता का कितना अपूर्व वर्णन सूर ने किया है—

> कृष्ण कृपा सबहीं तैं न्यारी, कोटि करै तप नहीं मुरारी।
> भाव भजन कुबिजा भई प्यारी, दनुज भाव बिनु डारे मारी॥

श्रीकृष्ण के पास कोई भेदभाव नहीं। उनके लिए राजा-रंक दोनों ही समान हैं। कुल, जाति या मर्यादा की दीवार उनके लिए नहीं है। वे तो ऐसे प्रेम के प्रतिरूप हैं जिसमें भला-बुरा, ऊँच-नीच का भेद रहता ही नहीं। तभी तो कुब्जा जैसी एक साधारण दासी को भी वे अपनी अन्यतम प्रिया बनाते हैं, और उसके तन की त्रिवक्रता मिटाकर सुघरता प्रदान करते हैं। भावभक्ति से पूर्ण कुब्जा भी अपने को अनन्या सिद्ध करती है—

> कूबरी नारि सुन्दरी कीन्हीं।
> भाव मैं बास, बिनु भाव नहीं पाइयै, जानि ह्रिदै हेत मान लीन्हीं॥
> ग्रीव कर परसि पग पीठि तापर दियौ, उरबसी रूप पटतरहि दीन्हीं।
> चित वाकै इहै, स्याम पति मिलै मोहि, तुरत सोई भई नहीं जाति चीन्हीं॥

श्रीकृष्ण ने कुब्जा को केवल सौन्दर्य ही नहीं प्रदान किया। उसको उर्वशी-सी सुन्दरी ही नहीं बनाया, वरन् उसकी मनोवांछाएँ भी पूरी कीं। कंस-वध के पश्चात् अपना वचन पूरा करने के लिए सर्वप्रथम उसी से मिले और अपने हास-परिहास एवं विलास से शारीरिक एवं मानसिक तृप्ति दी। सूर का पद दर्शनीय है—

> इतनौ काज किए हरि नीकै। कुब्जा-प्रेम बँधे हरि ही कै॥
> आतुर हरि ताके घर आए। रानिनि बोधि महल नहिं भाए॥
> ....
> जबहि सुने कुबिजा हरि आए। पाटंबर पाँवड़े डसाए॥
> कुबिजा से भई राजकुमारी। रूप कहाँ-कहाँ कृष्ण पियारी॥
> टेढ़ी से हरि सूधी कीन्हीं। लच्छन अंग-अंग प्रति दीन्हीं॥
> राजा हरि कुबिजा पटरानी। मथुरा घर-घर सबहीं जानी॥

दासी कुब्जा को पटरानी का गौरव प्रदान करनेवाले श्रीकृष्ण की प्रशंसा जितनी ही की जाए,

थोड़ी है। उनकी महानता और उदारता ने कुब्जा को गौरवमय स्थान दिलाया और प्रेम-भक्ति की महिमा सिद्ध की। साथ ही प्रेम में जाति-पाँति या किसी प्रकार के भेद-भाव की तुच्छता प्रमाणित की —

गेह कूवरी के पग धारे, जाति-पाँति विसराई।
पूरन भाग मानि तिन अपने, चरन गहे उठि धाई॥
....
सूरदास प्रभु सदा भक्त वस, रंक गनत नहिं राई॥

उपर्युक्त प्रसंगों में सूरदास ने कुब्जा का वर्णन प्रायः श्रीमद्भागवत की छाया में किया है, किन्तु कवि की अपनी मौलिकता और सहजता भी दर्शनीय है। सूर की गोपियाँ उद्धव के आने पर भ्रमर-गीत के प्रसंग में कुब्जा पर कटूक्तियों का प्रयोग करती हैं, उसे भला-बुरा कहती हैं। साथ ही कृष्ण पर भी आरोप लगाती हैं, उनके प्रति आक्षेप करती हैं। इससे कुब्जा के प्रेम और भक्ति की विशिष्टता ही परिलक्षित होती है, जिसके दृढ़ सूत्र में कृष्ण इस प्रकार आवद्ध हैं कि गोपियों की याद भी उन्हें नहीं आती।

सूरदास जी ने उद्धव-गोपी-संवाद में यथा-स्थान कुब्जा को केन्द्र में रखकर गोपियों के वाक्‌वाण का लक्ष्य बनाया है। वे विरह-व्यथा और प्रेम की पीड़ा के कारण ही यदा-कदा रुक्ष होकर कटूक्तियों का प्रयोग कुब्जा पर करती हैं। साथ ही वे कृष्ण को भी आड़े हाथों लेती हैं। उद्धव के साथ बातें करते हुए, अथवा आपस में वार्तालाप करते हुए गोपियाँ परिहास करती हैं —

कुविजा मिली कह्यौ यह बात।
× × ×
सुन्दरि भई अंग परसत ही, करी सुहागन भारी।
नृपति कान्ह कुविजा पटरानी, हँसति कहति ब्रजनारी॥

उद्धव से वार्तालाप के प्रसंग में गोपियाँ कुब्जा का नाम सुनकर ही गर्म हो जाती हैं, विरह-ज्वर से ग्रस्त हो जाती हैं, उन्हें अपनी सुध-बुध नहीं रहती— 'कुविजा को नाम सुनत, विरह अनल जुड़ी।' और अपना पूरा आक्रोश उद्धव पर उतारती हैं, उन्हें ही डाँटती फटकारती हैं —

मधुप बिराने लोग बटाऊ।
दिन दस रहे आपने स्वारथ, तजि फिरि मिलै न काऊ।
....
हमकौं जोग भोग कुविजा कौ, उहि कुल यही सुभाऊ॥

गोपियाँ श्रीकृष्ण पर व्यंग्य करती हुई उनके कुब्जा-प्रेम पर आक्षेप करती हैं। वे कहती हैं —

कुबिजा नई पाई जाइ।
नवल आपुन, वह नवेली, नगर रही खिलाइ॥
दास-दासी-भाव मिलि गयौ, प्रेम तें भयो एक।

फिर भी उन्हें पूरा विश्वास नहीं होता कि कैसे श्रीकृष्ण इस प्रकार बदल गये और राधा के सहज प्रगाढ़ प्रेम को भुलाकर कुब्जा में रत हो गये। उन्हें विस्मय होता है और वे आपस में बातें करती हैं —

कैसे री यह हरि करिहैं।
राधा को तजिहैं मनमोहन कहा कंस-दासी धरिहैं।
... .
लाज बेंच कूवरी विसाही, संग न छाड़त एक घरी।

वे उद्धव को संबोधित करती हैं और कुब्जा की खबर लेती हैं, उसे चेरी, दासी और लौंडी कहकर तिरस्कृत करती हैं –

ऊधो जाके माथे भाग ।
कुब्जा को पटरानी कीन्हीं, हमहिं देत बिराग ।
तलफत फिरत सकल ब्रज-वनिता, चेरी चपरि सुहाग ।
बन्यो बनायो संग सखी री, वै रे हंस वै काग ।

वे कुब्जा दासी को सौभाग्यवती मानती हैं, और अपने को अभागिन । कृष्ण के प्रेम पर आश्चर्य प्रकट करती हुई कूबरी के प्रति उपेक्षा भाव प्रकट करती हैं – "लौंड़ी के घर डौंड़ी बाजी, स्याम रँगे अनुराग ।"

इस प्रकार सूरदास की कुब्जा श्रीमद्भागवत की त्रिवक्रा कुब्जा तो है ही, साथ ही उद्धव-गोपी प्रसंग में जहाँ गोपियाँ उसे बार-बार अपने व्यंग्य बाणों से बेधती हैं, उसकी अपनी विशेषताएँ भी स्पष्ट परिलक्षित होती हैं । सूर-सागर के दशम स्कन्ध में कवि ने कुब्जा को विशिष्ट गरिमा प्रदान की है, जो गोपियों के लिए उनके प्रेम की चुनौती रूप में प्रस्तुत है, और जैसे भूत सिर चढ़कर बोलता हो, वैसे ही गोपियों के सिर पर कुब्जा का मानो भूत सवार हो, जो उन्हें छोड़ता ही न हो । वे बात-बात में उसे दासी, कुरूपा, कुब्जा शब्दों से संबोधित करती हैं । उनकी इस भावना के मूल में उनका 'सौतिया डाह' ही है, अन्यथा स्वयं अनेक गोपियाँ उनकी प्रेमिकाएँ हैं किन्तु आपस में उनमें कोई वैमनस्य नहीं है, कोई द्वेष नहीं है । सवाल यह उठता है कि तो फिर कुब्जा से ही ईर्ष्या क्यों ? हमें ऐसा प्रतीत होता है कि वे कुब्जा के सामने अपने को पराजिता महसूस करती हैं । उस एक कुब्जा दासी ने हजारों गोपियों के कृष्ण-प्रेम को मानो चुनौती दे दी हो और श्रीकृष्ण को उनसे विमुख कर दिया हो । अतः कृष्ण की अनन्य प्रेयसी गोपियों के लिए यह स्थिति असह्य है और तब उनका व्यंग्य एवं कटाक्ष अस्वाभाविक नहीं प्रतीत होता ।

कुब्जा के साथ कृष्ण का प्रेम आदर्श एवं महान होते हुए भी अत्यन्त सामान्य प्रतीत होता है – उनके प्रेम की प्रगाढ़ता को गोपियों की कटूक्तियाँ और भी मधुर एवं गंभीर बना देती हैं । हमें गीता के कृष्ण स्मरण हो आते हैं जो अपनी भावना प्रकट करते हुए कहते हैं– "ये यथा मां प्रपद्यन्ते, तांस्तथैव भजाम्यहम्" । कुब्जा के प्रेम की स्वीकृति और उसकी कामनाओं की पूर्ति इस विचार का पुष्ट प्रमाण है । उसके प्रेम की यह धारा मर्यादा और लोक-भावना से मुक्त स्वच्छन्द प्रेम-धारा है जो मानवमात्र के लिए जीवन-दायिनी है, लोकमंगलकारिणी है । सच्चे प्रेमी रूप में श्री कृष्ण कुब्जा को स्वीकारते हैं और उसे अपना सम्पूर्ण प्रेम प्रदान करते हैं, उनके मन में उसका पूर्ण रूप है जो 'अच्छा-बुरा' से परे है । I love thy love – यही तो प्रेम की चरम आदर्श स्थिति है जहाँ प्रिया के लिए प्रेमी के मन में किसी प्रकार की गाँठ नहीं है । किन्तु गोपियाँ फिर ऐसा क्यों करती हैं ? वे क्यों कुब्जा के साथ-साथ कृष्ण पर भी आरोप लगाती हैं ? उत्तर अत्यन्त सहज है । उनके मन की गहराई में प्रेम की वही स्वच्छ सरिता प्रवाहित है, जो कुब्जा के मन में प्रवाहित है । किन्तु भक्तवर सूरदास ने उनके प्रेम को यथार्थता की भूमि प्रदान करने के लिए, उसे स्वाभाविक बनाने के निमित्त, आक्रोश एवं व्यंग्योक्तियों की योजना की है, जिससे उनके प्रेम की तीव्रता व्यंजित हो ।

अस्तु । सूरदास की कुब्जा एक ओर अपने परम्परागत स्वरूप में चित्रित है, तो दूसरी ओर भ्रमर-गीत के प्रसंग में गोपियों की प्रतिद्वन्द्वी रूप में । उसका प्रथम रूप एक सहज दासी एवं प्रेमिका का रूप है । दूसरे प्रसंग में जब गोपियाँ उद्धव से बातें करती हुई अपनी पराजित मनोवृत्ति का परिचय देती हैं और उसके प्रति अपनी खीझ प्रकट करती हैं, तब वह रूप, गुण, प्रेम और गरिमा में गोपियों को पीछे छोड़ती हुई अनन्य कृष्ण-प्रिया के रूप में हमारे सामने आती है । ■

भ्रमर-गीत : गाँव बनाम नगर

डॉक्टर युगेश्वर

नागर सिंधु सभ्यता के वावजूद भारतीय सभ्यता नगरी नहीं, ग्रामीण है। पूरा भारतीय साहित्य गाँव उन्मुख है। रामकी जवानी के १४ वर्ष गाँव नहीं, जंगल में बीते। भरत नंदि गाँव में रहे। कृष्ण का असली चरित्र गोकुल गाँव का है। लव-कुश, शकुंतला, सभी गाँव या अरण्य में पले। भारतीय साहित्य नगर की अपेक्षा गाँव को महत्त्व देता है। श्रीमद्भागवत और सूरदास के प्रसिद्ध भ्रमर-गीत में भी गाँव सभ्यता मुख्य है। गाँव आज भी नगरीकरण का महत्त्वपूर्ण विकल्प है। भक्ति का दर्शन गाँववाला है। इसीलिए सूर आदि गोकुल-कृष्ण के भक्त हैं। मथुरा और द्वारिका के कृष्ण के प्रति उनमें आकर्षण नहीं है। भ्रमर-गीत के माध्यम से सूर ने इसी तथ्य को उजागर किया है।

भ्रमर-गीत में क्या है? गोपियों का, राधा, नंद-यशोदा का प्रेम-विरह-निवेदन? निर्गुण-निराकार योग का खंडन? उद्धव द्वारा योग-मार्ग का उपदेश? विद्वानों के एक समूह का विश्वास है कि सूर और नन्ददास द्वारा रचित भ्रमर-गीत में योग और निर्गुण के विरोध की अधिकता का कारण तात्कालिक है। विशेषकर यह कबीर, दादू आदि पिछड़ी जाति के संतों की निर्गुण बानियों के विरोध में आया है। यह संभव है। फिर भी यह विरोध कबीर के निर्गुण मार्ग को ही ध्यान में रखकर है, यह कहना कठिन है। एक तो यह कि कबीर का मार्ग योग की अपेक्षा निर्गुण और सहज साधना का है। दूसरा यह कि सूर ने तो स्पष्ट ही गीता के ज्ञानमार्ग का विरोध किया है–"समुझत नाहिं ज्ञान गीता को, मृदु मुसकानि अरे।" सूर के ज्ञान-विरोधी पदों की अपेक्षा योग-विरोधी पद अधिक हैं। तुलसी भी तप पर जोर देते हैं। निरगुनिया सहजो बाई का जोर योग और ज्ञान की अपेक्षा भक्ति पर है–"जोगी पावैं जोग सूं, ग्यानी लहैं विचार, सहजो पावैं भक्ति सूं, जोग प्रेम आधार।" इतना ही नहीं, इनसे कुछ भिन्न भी है। सर्वप्रथम भागवत को लें। यहाँ भी उद्धव कृष्ण के निर्गुण रूप का संदेश देते हैं। स्वाभाविक था। सगुण को तो गोपियाँ भज ही रही थीं। उद्धव की दृष्टि में कृष्ण सब भक्तों के हृदय में इस प्रकार विराजमान हैं जिस प्रकार लकड़ी के भीतर अग्नि। यहाँ उद्धव भक्ति का निषेध नहीं करते। हाँ, संबंधों का निषेध अवश्य करते हैं। उनके न कोई माता है, न पिता है, न भार्या है और न सुतादि ही हैं। उनके न कोई अपना और न पराया है। न देह है, न जन्म। सूरदास, नंददास, रत्नाकर आदि कवियों ने उद्धव को निर्गुण और योग-मार्ग का प्रतिनिधि बना दिया। गोपियाँ उसका खंडन करने लगीं। कुछ अध्येताओं ने इस खंडन-मंडन पर इतना अधिक बल दिया कि वह प्रमुख हो गया। शेष छूट गया, विशेषकर ऐसी चीज छूट गयी जो संपूर्ण कृष्ण-काव्य के मूल में है। कृष्ण नागर और गँवार दोनों हैं। गो-पालक अहीर और कंस को मारने के बाद वाले नागर हैं। वृन्दावन गाँव है। मथुरा नगर। वृन्दावन, बरसाना और गोकुल में गोप, गोसुत, गोपियाँ, राधा,

ग्वालवाल और नन्द-यशोदा हैं । मथुरा में यह सब कहाँ है ? वृन्दावन में मित्र-समूह हैं, मथुरा में व्यक्ति-मित्र । राजा के मित्र गिने-चुने व्यक्ति ही हो सकते हैं । राजा की फुर्सत और राजकाज की गुरुता तथा गोपनीयता की दृष्टि से भी यह ठीक है । राज-दरवार में मित्र की अपेक्षा मंत्री अधिक होते हैं । उद्धव सखा मंत्री-से हैं, वरना जहाँ सारी दुनिया कृष्ण के सगुण रूप को भज रही है, वे निर्गुण में क्यों जाते ? वृन्दावन में नदी है, पहाड़ हैं, वन हैं, तमाल और कदंव वृक्ष हैं, गोचारण और वंशीवट है, दूध, दधि, मक्खन, गुंजों की माला, वैजयंती की माला, आनन्द-उत्सव, नृत्य और क्रीड़ा है, चोरी और सीनाजोरी है, कृष्ण का वचपन और कैशोर्य है । पूरा वृन्दावन एक परिवार है । कृष्ण किसी के घर जा सकते हैं, कहीं कुछ खा सकते हैं, सवसे प्रेम, हँसी और क्रीड़ा कर सकते हैं । सहजता और सरलता है । गाँव की सादगी और गँवार का भोलापन है । प्रेम में वैधता के स्थान पर निश्छलता है । कृष्ण का वेश भी क्या है ? पीताम्वर, मोर-मुकुट, मुरली का वादन, त्रिभंगी मुद्रा । मथुरा में यह सब नहीं हो सकता । राजा को राजा की तरह रहना होगा । राज्य शान से चलता है । प्रदर्शन से टिकता है । व्यस्तता राजा की अनिवार्यता है । मथुरा में कृष्ण के माता पिता नहीं हैं (वे उन्हें भूले रहते हैं) । प्रेयसि भी गिनी चुनी हैं । राजा सवसे प्रेम नहीं कर सकता, सव जगह नहीं जा सकता, फिर ऐसा राजा जो गाँव से आया है, गँवार से नागरिक हुआ है, अहीर से क्षत्रिय हुआ है । कोई असभ्य न कह दे । गोपियों ने कह ही दिया—'अंत अहीर वेचारो' । मथुरा वृन्दावन से भिन्न है । वह नगर है, राजधानी है, धूल नहीं सोने की है । रावण की लंका भी सोने की थी । संकर्पण-सहित कृष्ण ने अपराह्न में मथुरापुरी देखने के लिए गोपालोंसहित नगर में प्रवेश किया । वहाँ कृष्ण ने देखा नगर में ऊँचे-ऊँचे द्वार स्फटिक मणि के वने हुए हैं । उनमें वड़े-वड़े सोने के किवाड़े लगे हैं । उत्सव के कारण सव ओर वन्दनवारें लगी हैं । नगर के सव ओर खाई खुदी है । सुवर्णमय चौराहा है ।........वैदूर्य, वज्र, निर्मल नीलमणि, विद्रुम, मोती, हीरे आदि से जड़े हुए वलभी अर्थात् झाप, वेदी, झरोखे, फर्श आदि जगमगा रहे हैं (भागवत १०।४१–१९, २०, २१, २२) । नागरीदास इस मथुरा के वारे में कहते हैं । कहते क्या हैं, व्रज और मथुरा का भेद वताते हैं, गाँव और शहर को अलगाते हैं । राजधानी में प्रेम नहीं, नियम है । निर्गुण की कथा राजनीति का प्रवन्ध है । पाठ है—

ऊधो, तुम न जानत प्रेम ।
वसी मथुरा राजधानी, तहाँ व्यापक नेम ।
कथा निरगुन-ग्यान सूको राजनीति प्रवन्ध ।

मथुरा में कृष्ण की भेंट जिस स्त्री से हुई वह कुब्जा थी । हम आजकी कथा पढ़ रहे हैं । कुब्जा माने कुंठा । उस नारी में कुंठा थी । दरवारी नारी कुंठित होती है । राजा कुंठिता को पसन्द करता है । कंस के अत्याचार ने उसे कुंठित वना दिया था । दरवारी स्त्री में गँवई की मुक्तता और स्वच्छंदता नहीं । गाँव की प्रकृति मुक्त है । दरवार में महल का घेरा ऊँचा है, ठोस है । कौन लाँघ सकता है ? यहाँ नारी-जीवन में विविधता नहीं है । कृष्ण के संपर्क से उसका कूवड़ दूर हो गया । किन्तु कृष्ण का रास छूट गया, वंशी गुम हो गयी, दही का मटका फूट गया, मोरपंख का मुकुट सुवर्ण-रत्नों में वदल गया । यहाँ धातु का ठोसत्व है, पंखों और वैजयंती की कोमलता नहीं । दुंदुभी और नगाड़ों का घनत्व है, वंशी की मृदुता नहीं । मेवा, मिष्टान्न और नाना पकवान हैं, किन्तु माखन की चिकनता और मिसरी की मिठास नहीं है । सव कुछ औपचारिक है । सारे संवंधों में नियमों की दीवार है । कृष्ण का मन ऊवा होगा । मथुरा कृष्ण का प्रवास था । कृष्ण को अपना वचपन याद आया । आदमी कहीं चला जाये, कितना ही वड़ा क्यों न हो जाये, उसका गाँव, उसके गाँव के लोग, वालसखा उसे और भी याद आते हैं । 'अहा ग्राम्य जीवन भी क्या है ।' कृष्ण के इस मन को आचार्य शुक्ल ने समझा था । उनकी दृष्टि से वृन्दावन के प्रति कृष्ण का प्रेम साहचर्यजन्य था ।

यह हेतु-ज्ञान-शून्य था। शुक्ल जी कहते हैं—"हम किसी किसान को उसकी झोपड़ी से हटाकर किसी दूर देश में ले जाकर राजभवन में टिका दें, तो वह उस झोपड़ी के छप्पर पर चढ़ी कुम्हड़े की बेल का, सामने के नीम के पेड़ का, द्वार पर बँधे चौपायों का ध्यान करके आँसू बहायेगा।" कृष्ण के आँसू बहने लगे। उन्होंने वृष्णियों के सर्वश्रेष्ठ मंत्री, अपने प्रिय सखा उद्धव से कहा—'तुम व्रज जाओ।' उद्धव व्रज गये। वह व्रज कैसा था ? वह व्रज पुष्पवती गौओं के लिए आपस में लड़नेवाले मतवाले साड़ों से शब्दायमान था। गौएँ अपने थनों के भार से भारान्वित होते हुए भी अपने-अपने बछड़ों पर दौड़ती थीं— उनके आलिंगन के लिए उनकी ओर आती थीं। इधर-उधर दौड़ते हुए सफेद गायों के बछड़ों से शोभित व्रज गोदोहन के शब्दों से झंकरित, वंशी-ध्वनि से प्लावित है। भारत के किसी भी गाँव की गोधूलि का यह चित्र है। नगर में, राजधानी में यह नहीं है। कृष्ण का मन व्याकुल हो रहा है—

> ऊधौ, मोहिं व्रज बिसरत नाहीं।
> हंस सुता की सुन्दर कगरी अरु कुंजनि की छाहीं॥
> वै सुरभी वै बच्छ दोहनी खरिक दुहावन जाहीं।
> ग्वालबाल मिलि करत कुलाहल नाचत गहि गहि बाहीं॥
> यह मथुरा कंचन की नगरी मनि मुक्ताहल जाहीं।
> जबहि सुरति आवति वा सुख की जिय उमगत तन नाहीं॥

शहर में एक प्रकार की ऊब है। सम्पूर्ण कृष्ण-काव्य ग्राम्य-काव्य है। वह शहर और ठाठ के विरुद्ध कुंजों और साधारणता का काव्य है। शायद कोई कवि हो जो मथुरा की कल्पना करता हो। मथुरा में कृष्ण राजा हैं। राजा भक्त का उपास्य नहीं हो सकता। अन्य धर्म-परिवार में पैदा हुए रसखानि कृष्ण के राजा रूप पर फिदा नहीं होते। वृन्दावनी कृष्ण उनके मुख्य आकर्षण हैं— "मानुष हौं तो वही रसखानि बसौं व्रज गोकुल गाँव के ग्वारन।" पूरा कृष्ण-काव्य नगर और राजधानी-सभ्यता-विरोधी है; केन्द्रीकरण, नगरीकरण के विरुद्ध गाँव और गोचारण का समर्थक है। बाद में कृष्ण गाँव को भूल गए। राजधानी का व्यक्ति गाँव और ग्रामवासियों को भूल ही जाता है।

उद्धव नगरी सभ्यता, दरबारी संस्कृति का उपदेश देते हैं। दरबारी संस्कृति में निर्गुण के लिए बहुत गुंजाइश है। निर्गुण एक ओर आदमी को अतीन्द्रिय दुनिया में ले जाता है, गम्भीर बनाता है, दूसरी ओर उसे बायवी बनाता है, प्रपंचों और वस्तु-स्थिति से भगाता है। गोपियों के सगुन में अपने आस पास के प्रति प्रेम है, मित्र और स्वजन से प्यार है। यह देशी का पर्याय है। राजा कृष्ण उससे भागे हैं। उनके दरबारी उनको सामान्य जन से, अपने गाँव-घर की निष्ठा से अलग करना चाहते हैं। इसलिए वे निर्गुण का उपदेश देते हैं। निर्गुण देशी का विरोधी है। गोपियाँ पूछती हैं—'निर्गुन कौन देस को बासी ?' उद्धव द्वारा निर्गुण और योग का उपदेश एक ढोंग है, षड्यंत्र है, प्रेम की साकारता के स्थान पर व्यक्तिगत साधना का भटकाव है। इस योग में नारी के लिए स्थान नहीं है। योग समूह की साधना नहीं हो सकता। निर्गुण निराकार सामान्य जन की पकड़ के बाहर है। इसमें दरबारी व्यक्ति-जैसी सिद्धि चाहिये। गोपियों ने उद्धव के निर्गुण योग को ठुकरा दिया, क्योंकि इस निर्गुण में देशी और साधारणता के विरोध का षड्यन्त्र था। निर्गुण निराकार देश की बात नहीं करता, सुजलाँ-सुफलाँ के लिए निर्गुण में गुंजाइश नहीं है।

क्या उद्धव ने ग्राम्य संस्कृति का विरोध किया था ? नगर संस्कृति, दरबारी जीवन का समर्थन किया था ? नहीं। चालाक उद्धव इनके बारे में मौन हैं। केवल यह बताते हैं कि कृष्ण अब राज-काज में

लग गये हैं । उनके कारण मथुरा नगर के लोग सुखी हैं (नगर लोग सुखी वसत हैं, भये सुरनि के काज) । स्वयम् कृष्ण ने गोकुल-जीवन के प्रति गम्भीर ममता व्यक्त की थी । किन्तु चतुर गोपियाँ समझती हैं । वे समझती हैं, कृष्ण राजा हो गये हैं, अव हमें भूल रहे हैं, कुछ वहका रहे हैं, अव गोकुल की चीजें देखकर कृष्ण को कुछ-कुछ शर्म आती है, वे लजाते हैं–

सुनियत मुरली देखि लजात ।
दूरिहिं तें सिंहासन वैठे सीस नाइ मुसकात ।।
मोर पच्छ को व्यजन विलोकत वहरावत कहि वात ।
जो कहुँ सुनत हमारी चरचा चालत हीं चपि जात ।।
सुरभी लिखत चित्र की रेखा, सोचै हू सकुचात ।

मुरली देखकर लजाते हैं । मुरली गाँव और गोचारण की उन्मुक्तता की प्रतीक है । सिंहासन वैठा राजा मुरली नहीं वजाता । मुरली तो प्रेमी कृष्ण वजाते हैं । मुरली वजाकर प्रेमिकाओं को वुलाते हैं । मुरली ग्वारिनों को आकर्षित करती है । नाम संकेत रहता है । राजा की मर्यादा में वँधे कृष्ण ऐसा कैसे कर सकते हैं ? विशिष्ट (इलियट) की संस्कृति ग्राम-संस्कृति से विल्कुल भिन्न होती है । मोर-पंख मथुरा की राजधानी में भी है । किन्तु यहाँ पंखे के रूप में प्रयुक्त है । वृन्दावन में वह मुकुट था । किसी आदि-वासी-प्रधान का मुकुट हो । मथुरा का मुकुट सोने का होगा । हीरे मोती जड़ा । जड़ाऊ । राजा को गाय से क्या मतलव । दूध पहुँचाने के लिए असंख्य नौकर-चाकर हैं । किन्तु सवसे महत्त्वपूर्ण है कृष्ण की मनःस्थिति ! कोई सामान्य आदमी राजा हो गया । गाँव की गरीवी से उठकर नगर की घोर सम्पन्नता मिल गयी । अव उसे पुरानी वातों को याद कर लज्जा आती है । नागर सभ्यता असाधारणता को महत्त्व देती है । साधारणता का तिरस्कार करती है । कृष्ण गाँव का तिरस्कार नहीं करते । किन्तु डरते हैं । विशिष्टों के वीच रहते हैं । सावधान हैं । कोई उनकी पूर्वस्थिति को जान न जाये । लोगों को मालूम हो कि राजा गोपालक है, तो तिरस्कार करेंगे । इसलिए कृष्ण चित्र की गाय देख कर भी संकुचित होते हैं । कोई जाने न । कहाँ तव और कहाँ अव ! गरीव और पिछड़ा शासन में जाकर अपनी पूर्व स्थिति को वुरी तरह से नकारने की कोशिश करता है । अपने को विशिष्ट के अधिक निकट समझने लगता है । अपने को उन्हीं से जोड़ने में गौरव समझता है । अपने पिछड़े भाइयों से कतराता है, परहेज करता है । कृष्ण गोपी, ग्वाल, गाय, मोरपखा, मुरली, सवसे कतराते हैं ।

किन्तु गोपियाँ कव माननेवाली थीं । कह दिया "सूरदास जो व्रजहि विसार्‌यौ दूध दही कत खात ।" नगर संस्कृति तो द्वैध भाववाली होती है–"मुख औरे अंतरगति औरे पतिया लिखि पठवत जुवनाइ ।"

गाँव के लोग सीधा सोचते हैं । सरल मन, सरल वचन । जो सोचते हैं, वही कहते हैं, वही करते हैं । उनके पास छिपाने के लिए क्या है ? सव खुला है । वातावरण खुला है । आचरण और व्यवहार खुला है । सव प्राकृत है । नागर सभ्यता के भीतर-वाहर में अन्तर है । प्रदर्शन मुख्य है । हर चीज के पीछे विशिष्टता की ट्रेनिंग है । वोलना कम, छिपाना अधिक । दिखाना अधिक, होना कम । चमक और प्रदर्शन मुख्य । ठोसत्व अल्प । सव कुछ दीवारों और पर्दों में वन्द है । प्रत्येक वात सोद्देश्य है । प्रेम भी उन्मुक्त नहीं । वात करेंगे प्रेम की, काम करेंगे विरोधी । गोपियों ने कृष्ण की इस स्थिति को पहचाना । कृष्ण द्वारा गोकुल आने की वात धोखा है । वे अव गोकुल नहीं आयेंगे । वे अपने पत्रों में प्राकृत मनःस्थिति नहीं व्यक्त करते । वनावटी चिट्ठी लिखते हैं, जिसमें प्रेम की ताजगी नहीं है । दरवारी औपचारिकता और कलावाजी है । कृष्ण के प्रतिनिधि उद्धव वुद्धि से समझाते हैं । गोपियाँ भावना से काम लेती हैं ।

गोकुल में गोपियों और कृष्ण का प्रेम गहरा था। गोपियाँ उद्धव से पूछती हैं–क्यों उद्धव, अपनी पुर-स्त्रियों के बीच कृष्ण कभी हमारी भी याद करते हैं ? कृष्ण ने शत्रु को मार दिया। उसका राज्य लिया। राजकन्याओं से विवाह कर लिया और अपने सुहृदों को भी पा लिया। इसलिए कृष्ण हम जंगली स्त्रियों को भूल गये ? राजा होने से कृष्ण में नया भेद बढ़ गया (कहा जौ राजा जाइ भयौ। हमकौं कहत और की औरै, पायौ भेव नयौ।)। नंददास की गोपी की दृष्टि में कृष्ण राज्य पाकर इतरा गये हैं–"काहू कहैं अहो स्याम ! कह इतराइ गये हो। मथुरा को अधिकार पाइ महराज भये हो।" महराज कहने में ध्वनि है कि गोपालक कृष्ण राजा से बढ़कर महराजा हो गए हैं। छोटे आदमी को बड़ा पद मिल गया है।

गोपियों को लगता है कि राजा कृष्ण अब ग्वालों के गाँव में आने में लज्जा का अनुभव करते हैं–

हम अहीर अबला ब्रजबासी, वै जदुपति जदुराई।
कहा भयो जु भए जदुनंदन अब वह पदवी पाई।
सकुचन आवत घोष बसत की तजि ब्रज गये पराई।

यही नहीं, अब कृष्ण गाँव में बसेंगे ही नहीं–शहर का व्यक्ति गाँव नहीं बसना चाहता। कृष्ण शहरी की नयी पहचान पा गये हैं। अब देहातों के रूप में अपने को नहीं पहचनवाना चाहते–

अब हरि क्यौं बसें गोकुल गवईं।
बसत नगर नागर लोगनि मैं, नइ पहिचानि भई।।

राजनीति के कारण कृष्ण गोपियों को भूल रहे हैं–"राजनीति की रीति सुनौं हो, चरत बारिचर खेत।"

गोपियों का निवेदन उस स्त्री की विरह-व्यंजना है जिसका पति उसे छोड़ परदेश चला गया है। वे पथिक से संदेशा देती कहती हैं–

ऊधौ पा लागति हौं कहियौ, स्यामहिं इतनी बात।
इतनी दूर बसत क्यों बिसरे, अपने जननी तात।।

रत्नाकर ने भी अपने उद्धव शतक में उद्धव को ज्ञान का प्रतिनिधि माना है। किन्तु वृन्दावन और गोपियों के प्रभाव के सामने वह गौण हो गया है। उद्धव ज्यों ही वृन्दावन के कछार में आये, उनकी ज्ञान गठरी सरक गयी।

गाँव का प्रभाव है। ज्ञानी उद्धव प्रकृति की शोभा और सरलता में ज्ञान भूल गए। भावना में बह गए। भक्ति में स्नात हो गए।

कृष्ण-काव्य में ग्राम्य जीवन की उद्दामता, खुलापन और चंचलता है। भ्रमर-गीत में नगर जीवन के विरुद्ध भावावेश है। भ्रमर गीतों में गाँव का पलड़ा भारी है, क्योंकि गोपियाँ बीस हैं। सत्यनारायण कविरत्न की यशोदा की दृष्टि साफ है। कृष्ण परदेश गये हैं, गाँव छोड़कर राजधानी गये हैं, पुरुषार्थ दिखाने। अब कृष्ण को लौटना चाहिये। गाँव के सभी जीव उनका इंतजार कर रहे हैं। कालिदास की शकुंतला वन से राजभवन जा रही थी। मृगछौने उदास थे। जिन पेड़ों, लताओं को कुंभ कलश से सींचा था, उन्हें प्यार करती है। वे उदास थे। ग्राम्य और वन-जीवन का अनोखापन है सहज प्रेम। सहजानंद। कोई औपचारिकता नहीं। कविरत्न के यहाँ कृष्ण के बिना पलास उदास हैं, अशोक को शोक हो गया है। बौरे रसाल दुखी हैं। सभी जड़ दुखित होकर मलिन हो गये हैं। माता यशोदा की परेशानी है—यहाँ वृन्दावन में मिसरी मिला नया उत्तम किस्म का मक्खन है। भला शहर में ऐसी ताजी चीज कहाँ मिलेगी। सुबह-सुबह उन्हें लगता है कि शहर में कृष्ण भूखे रह जाते होंगे –"भूखो रहत न होइ कहूँ मेरो माखन चोर।"

सचमुच सारा शहर भूखा है। प्रेम का भूखा। स्वादु का भूखा। तृप्ति और ताजगी का भूखा। यहाँ मक्खन बहुत हैं। किन्तु मिलावटी और बासी।

किन्तु यह भी सच है कि कृष्ण अब गाँव नही लौटेंगे। अब वे राजधानी पर राजधानी बसायेंगे। मथुरा तक गाँव के इस वीर को कभी हार नहीं खानी पड़ी थी। उन्होंने न जाने कितनों का दमन किया। गोपियों की, माता यशोदा की भावनाएँ उनके साथ थीं–

जहँ जहँ जाहु राज तुम करहु लेहु कोटि सिर भार।
यह असीस हम देति सूर सुतु न्हात खसै जनि बार।

यह आशीर्वाद कितना उदात्त है। प्रेम में स्वार्थ नहीं परमार्थ है। गाँव का आधार स्वार्थ नहीं, सहयोग है। राजधानी में प्रत्येक व्यक्ति स्वार्थ का साथी है। दरबार दरकारवालों का है। दरकार के बिना सरकार को कौन पूछता है ?

मथुरा के कृष्ण गोपियों को याद कर अपने को ताजा करते थे। उनमें नयी आशा का संचार होता था। गाँव का वही पहलवान नगर की रमणियों में फँसकर कमज़ोर हो गया। द्वारिका के मार्ग में उसे पराजय भोगनी पड़ी। शहर का स्वास्थ्य नकली है, बनावटी। कृष्ण की उन्मुक्त शक्ति खतम हुई। कूट शक्ति बढ़ती गयी।

शहर और राजधानी में आदमी बदल जाता है। कृष्ण काले हो गये। तो क्या वृन्दावन के कृष्ण गोरे थे ? नहीं। अब उनका हृदय काला हो गया है। अक्रूर भी काले थे। उद्धव भी काले हैं। भ्रमर भी काला है। "वह मथुरा काजर की ओवरी, जे आवैं ते कारे।"

काजलता मथुरा की है। यहाँ यशोदानन्दन जैसा सयाना भी काला हो गया। आज भी गोपियों को आशा है कभी हमारे कान्ह काजल-कोठरी (मथुरा) से मुक्त होंगे। वे इन्तजार कर रही हैं। कब लौटेंगे कृष्ण अपने गाँव की ओर ? राजा बदलते हैं। राजधानियाँ बदलती हैं। किन्तु गाँव आज भी गाँव है। कंस गाँव के नेता को मार देना चाहता है। हलधर का भैया उसका दुश्मन है।

बालक कृष्ण गाँव हैं। राजा कृष्ण नगर, राजधानी। कृष्ण कंस को मारकर कंस नहीं बने, किन्तु राजा बन गये। अक्रूर ने गाँव को धोखा दिया था। उद्धव गाँव को ठगने आये थे—"सूर मूर अक्रूर लै गयो ब्याज निबेरत ऊधो।"

राजा गाँव से ब्याज लेता है, टैक्स वसूलता है, किन्तु गाँव को भूल जाता है। गाँव का नेता नगर में खो जाता है। गाँव के प्रति मोह रखकर भी शहरी हो जाता है। मथुरा के कृष्ण शहरी और राजकीय हो गये। भक्तिकाल के बाद रीतिकाल का काव्य मथुरा का काव्य है, राजधानी की जड़ता का काव्य है, अलंकरण और सजावट का काव्य है। कृष्ण का गाँव आज भी प्रतीक्षा कर रहा है। कृष्ण ने कंस को मारने की तैयारी गाँव में की थी। किंतु कृष्ण पिछड़ापन दूर करने पुनः गाँव नहीं गए। गोपियाँ रोती रहीं। राधा विरह में जलती रही। नंद-यशोदा की आँखें भीगती रहीं। ■

■

सूर का काव्य-कौशल

डॉक्टर राजकिशोर पाण्डेय

सूरदास हिन्दी कृष्ण-भक्ति धारा के सर्वश्रेष्ठ कवि हैं। नागरी प्रचारिणी सभा की खोज रिपोर्ट के अनुसार सूरदास के नाम से २५ रचनाएँ उपलब्ध हैं, किन्तु अधिकांश विद्वान् सूरदास की केवल तीन रचनाओं को, सूरसागर, सूर-सारावली और साहित्य-लहरी को प्रामाणिक मानते हैं। 'सूरसागर' सूरदास का सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है। इसकी लोकप्रियता का पता इससे चलता है कि देश-विदेश के विभिन्न पुस्तकालयों में इसकी सौ से अधिक हस्तलिखित प्रतियाँ उपलब्ध हैं। अमेरिका के हार्वर्ड विश्वविद्यालय के पुस्तकालय एवं ब्रिटिश म्यूजियम पुस्तकालय में भी सूरसागर की हस्तलिखित प्रतियाँ सुरक्षित हैं। 'सूरसागर' करीब पाँच हजार गेय पदों का संग्रह है। इस ग्रन्थ के अधिकांश पदों में कृष्ण की लीलाओं का वर्णन श्रीमद्भागवत के आधार पर किया गया है और कुछ पदों में विनय-भावना की अभिव्यक्ति हुई है।

'सूर-सारावली' में कुल ११०७ पद हैं, जिनमें होली के रूपक से सृष्टि-रचना एवं विभिन्न अवतारों का वर्णन किया गया है। वृन्दावन में प्रिया के साथ विहार करते हुए नारायण के मन में सृष्टि की इच्छा उत्पन्न होती है। वे काल-पुरुष की अवतारणा करते हैं। माया के क्षोभ से तीन गुण, पंच महाभूत एवं प्राणतत्त्व आदि उत्पन्न होते हैं। तत्पश्चात् नारायण की नाभि से कमल और उससे ब्रह्मा की उत्पत्ति होती है। उसके बाद नारायण की आज्ञा से ब्रह्मा होली खेलने की विधि से सृष्टि-निर्माण करते हैं—

आज्ञा करी नाथ, चतुरानन! सृष्टि करौ विस्तार।
होरी खेलन की विधि नीकी, रचना रचौ अपार॥

तत्पश्चात् सृष्टि रचना के प्रसंग में विभिन्न अवतारों का वर्णन किया गया है। इसी प्रसंग में रामावतार एवं कृष्णावतार की कथा का वर्णन विस्तार के साथ हुआ है।

'सूर-सारावली' में पदों की संख्या ११८ है। इसमें दृष्ट-कूट शैली में अलंकार एवं नायिका-भेद का वर्णन है। विशेषता यह है कि एक ही पद में किसी अलंकार एवं नायिकाविशेष का स्वरूप प्रस्तुत किया गया है। कुछ पदों में रसों के उदाहरण दिये गये हैं। अलंकार, नायिका-भेद एवं रसों के उदाहरण के लिए राधा-कृष्ण के जीवन-प्रसंगों को चुना गया है।

सूरदास के काव्य के स्वरूप को समझने के लिए उनके जीवन की कुछ प्रमुख घटनाओं पर दृष्टिपात करना आवश्यक है। ऐसा लगता है कि वैराग्य होने के पश्चात् उनकी रचनाओं में दास्य-भावना की अभिव्यक्ति हुई। वल्लभाचार्य से दीक्षा ग्रहण करने के पश्चात् सूरदास के जीवन में एक जबरदस्त मोड़ आया। संवत् १५७६ में गोवर्धन पर श्रीनाथजी के मन्दिर की स्थापना हुई। मन्दिर के उद्घाटन

के अवसर पर सूरदास की भेंट वल्लभाचार्यजी से हुई। सूरदास वल्लभाचार्य के शिष्य हो गये और उन्हें श्रीनाथ जी के मन्दिर में कीर्तन की व्यवस्था दी गयी। सूरदास, मंदिर में आयोजित होनेवाली विभिन्न दैनिकी एवं वार्षिकी सेवाओं के अवसर पर गाने के लिए गीत लिखा करते थे। सूरसागर के अधिकांश पद इसी दृष्टि से लिखे गये। इसीलिए सूरसागर में कृष्ण की विभिन्न लीलाओं का वर्णन अत्यन्त विस्तार के साथ हुआ है। कृष्ण के चरित्र के अन्य पक्षों को, जिनकी प्रतिष्ठा महाभारत में हो चुकी थी, या तो छोड़ दिया गया है या उनका वर्णन अत्यन्त संक्षेप में हुआ है।

सूरदास की भाषा ब्रजभाषा है। उन्होंने सर्वप्रथम ब्रजभाषा को समृद्ध साहित्यिक भाषा का रूप दिया। उनके पूर्व ब्रजभाषा का प्रयोग साहित्य में बहुत कम हुआ है। भक्तिकाल में कुछ विशेष परिस्थितियों के कारण ब्रजभाषा को महत्त्व प्राप्त हो रहा था। निम्बार्क सम्प्रदाय, गौणी वैष्णव सम्प्रदाय, हरिदासी सम्प्रदाय आदि कृष्ण-भक्ति-सम्प्रदायों का वृन्दावन केन्द्र बना हुआ था। देश के विभिन्न क्षेत्रों से आये हुए कृष्ण-भक्त ब्रजभाषा में भक्ति-भावना की अभिव्यक्ति कर रहे थे। गोवर्धन पर श्रीनाथजी के मन्दिर की स्थापना के पश्चात् पुष्टिमार्ग में दीक्षित अष्टछाप के कवियों ने भी ब्रजभाषा को अपनी भक्ति-भावना की अभिव्यक्ति का माध्यम बनाया।

सूरदास का शब्द-भण्डार व्यापक एवं समृद्ध है। उन्होंने आवश्यकतानुसार संस्कृत के तत्सम शब्दों को अपनाया है, ध्वनि एवं संगीतात्मकता लाने के लिए उनमें परिवर्तन किया है और एक ओर देशज, दूसरी ओर अरबी फारसी के प्रचलित शब्दों का प्रयोग करके भाषा को स्वाभाविक एवं व्यावहारिक बनाया है।

भागवत के अनूदित प्रसंगों में, सिद्धान्त-निरूपक स्थलों में एवं स्तोत्र-पद्धति पर लिखी गयी स्तुतियों में, संस्कृत तत्सम शब्दों का प्रयोग अधिक हुआ है। "जयति नँदलाल, जय जयति गोपाल, जय जयति ब्रजबाल आनन्द-कारी" और "अविगत आदि अनन्त अनूपम अलख पुरुष अविनासी, पूरन ब्रह्म प्रगट पुरुषोत्तम निज निज लोक विलासी" जैसे स्थलों में तत्सम शब्दों के आधिक्य के कारण संस्कृत श्लोक का भ्रम होता है।

हिन्दू मुसलमानों के सम्पर्क एवं मुगल शासन-काल में फारसी के राजभाषा बनने के कारण बोलचाल की ब्रजभाषा में अरबी-फारसी शब्दों का प्रवेश होने लगा था। सूरदास के काव्य में अरबी-फारसी के पर्याप्त शब्दों का प्रयोग हुआ है। ध्वनि, संगीतात्मकता एवं स्वाभाविकता की दृष्टि से शब्दरूपों में आवश्यकतानुसार परिवर्तन किया गया है। सूरदास के काव्य में गरज, कसूर, महल, वासिल, कातिल, खबरि, लश्कर, खुमारी, सरमात जैसे सैकड़ों शब्दों का प्रयोग हुआ है जो अरबी-फारसी के हैं।

साहित्यिक भाषा को बोलचाल की भाषा के समीप रखने के लिए सूरदास ने अँकवारि, अँचरा, ओदे (आर्द्र) जैसे तद्भव रूपों का प्रयोग किया है और अपने शब्द-भण्डार में फोकट, अचगरी, खुनुस, झगा, गिंडुरी एवं खरिक जैसे देशज शब्दों को स्थान दिया है। अरबराइ, घहरानि, झहरात, टकटोरत, टनटनात, सकसकात जैसे अनुकरणात्मक शब्दों के प्रयोग से सूरदास की भाषा में अधिक सशक्तता एवं संप्रेषणीयता आयी है।

सूरदास के काव्य में मुहावरों एवं लोकोक्तियों का प्रयोग प्रचुर मात्रा में हुआ है। राधा-कृष्ण के रूप-वर्णन और मुरली-प्रसंग में कुब्जा के प्रति गोपियों की उक्तियों एवं उद्धव के प्रति उपालंभ के अवसर पर मुहावरों का प्रयोग सहजोद्गार के रूप में हुआ है। कुछ अन्य स्थलों में कथन में सौन्दर्य उत्पन्न करने एवं उक्ति में वक्रता लाने के लिए मुहावरों का सहारा लिया गया है। "सिर पर सौति हमारे कुब्जा

चाम के दाम चलावै", "काटे ऊपर लौन लगावत लिखि लिखि पठवत चीठी" आदि उक्तियों में कुब्जा एवं कृष्ण के प्रति गोपियों के मनोभाव की अभिव्यक्ति के लिए मुहावरों का सहारा लिया गया है। सूरसागर के 'भ्रमरगीत' प्रसंग में बहुत से स्थलों पर उक्ति-वैचित्र्य के रूप में मुहावरों का प्रयोग हुआ है। "अँगुरी गहत गह्यौ पहुँचौ", "काहे को द्वै नाव चढ़ावत", "तेरो कह्यौ पवन कौ भुस भयौ" आदि उक्तियों में गोपियों ने चमत्कारिक ढंग से उद्धव के उपदेश की निस्सारता के साथ उनके अनौचित्यपूर्ण प्रयास पर प्रकाश डाला है।

सूरदास ने बहुत सी लोकोक्तियों का प्रयोग उनके प्रचलित रूप में किया है और कुछ का परिष्कार किया है। सूर की कुछ निजी उक्तियाँ ऐसी हैं जो लोकोक्तियों के समान प्रतीत होती हैं। "एक पंथ द्वै काज", "कथा कहत मासी के आगे जानत नानी नाना," "कैसे समाहिगे, एक म्यान दो खाँडे" आदि में लोकोक्तियाँ अपने प्रचलित रूप में प्रयुक्त हुई हैं। सूरदास ने कुछ लोकोक्तियों के स्वरूप में परिवर्तन करके उन्हें परिष्कृत किया है। उद्धव विरह में दुखी गोपियों को कृष्ण-प्रेम छोड़ कर निर्गुण-भक्ति का उपदेश देते हैं। उनसे गोपियाँ कहती हैं कि तुम जल में डूबते हुए व्यक्ति को फेन का सहारा लेने को बार बार क्यों कहते हो—"जल बूड़त अवलंब फेन कौ फिरि फिरि कहा कहत हौ।" यह उक्ति जल में डूबते हुए व्यक्ति के लिए तिनके का सहारा, इस उक्ति का परिष्कृत एवं परिवर्तित रूप है। "विषवृक्षोऽपि संवर्ध्य स्वयं छेत्तुमसांप्रतम्" संस्कृत की प्रसिद्ध उक्ति है। इसका प्रयोग सूरदास ने परिवर्तित रूप में किया है। गोपियाँ कहती हैं कि कृष्ण ने स्वयं हमसे प्रेम किया, अब उन्हें वह प्रेम तोड़ना नहीं चाहिए—"बोखै ही बिरवा लगाइके, काटत नाहिं बहोरी"। सूर के पदों में बहुत सी ऐसी उक्तियाँ हैं, जो लोकोक्तियों के समान हैं। उदाहरण के रूप में "मूरी के पातन के बदले को मुक्ताहल दैहै", "सूरजदास दिगंबर पुरतैं रजक कहा व्यवसाइ", "तन जोबन ऐसे चलि जैहैं ज्यौं फागुन की होरी" आदि उक्तियों को लिया जा सकता है।

सूर की अधिकांश रचनाएँ गीतों के रूप में हैं। सूरदास को शास्त्रीय संगीत का अच्छा ज्ञान था और उन्हें लोकगीतों की प्रकृति की अच्छी जानकारी थी। उनके बहुत से पद शास्त्रीय संगीत के आधार पर लिखे गये हैं। ऐसे पदों में राग-रागिनियों का उल्लेख भी किया गया है। सूरदास के बहुत से पद लोकगीतों की शैली में हैं। उनकी रचनाओं में रसिया, होली, सोहिलो आदि व्रज के प्रमुख लोक-गीतों को कलात्मक रूप मिला है। छन्द-योजना की दृष्टि से एक नया प्रयोग सूरदास की रचनाओं में उपलब्ध होता है। उनके बहुत से गीतों में छन्दों की मात्रा का भी ध्यान रखा गया है। सूरसागर में १०० से अधिक छन्दों का प्रयोग है। छन्दोबद्ध रचना के प्रारम्भ में 'टेक' का आयोजन करके सूर ने उसे गीत का रूप दे दिया है। उन्होंने कुण्डल, शोभन, रूपमाला जैसे लम्बे छन्दों को 'टेक' की सहायता से गेय बना दिया है। कुछ पदों में उन्होंने कई छन्दों को मिला दिया है और कुछ में विभिन्न छन्दों के चरणों का क्रम-हीन मिश्रण किया है। कुछ स्थलों पर दोहा एवं सोरठा जैसे छन्दों में मात्रा बढ़ा कर लोच उत्पन्न करने का प्रयत्न किया गया है।

कृष्ण एवं राधा के चरित्र का क्रमबद्ध विकास 'सूरसागर' की सबसे बड़ी विशेषता है। कृष्ण के परब्रह्मत्व में पूर्ण विश्वास होते हुए भी सूर ने उनका चरित्र लौकिक धरातल पर प्रस्तुत किया है। श्रीमद्भागवत में यशोदा, गोपियों एवं अन्य पात्रों को कृष्ण का परब्रह्मत्व ज्ञात है। इसीलिए इस पुराण में वात्सल्य एवं कृष्ण-गोपियों के सम्बन्धों के वर्णन में स्वाभाविकता नहीं है। सूरदास ने कृष्ण के बचपन एवं किशोरावस्था की लीलाओं को व्रज के तत्कालीन जीवन की पृष्ठभूमि में प्रस्तुत किया है। कृष्ण के

जन्मोत्सव, अन्नप्राशन, वर्षगाँठ, आदि प्रसंगों के वर्णन में व्रज के तत्कालीन जीवन का प्रतिबिम्ब है। बालकों की गोचारण के प्रसंगों के वर्णन में सूरदास का मन बहुत रमा है। उनकी रचनाओं में प्रकृति की, पशुओं एवं चेष्टाओं का सूक्ष्म निरीक्षण है। राधा-कृष्ण के प्रथम मिलन एवं बाद के मिलन-प्रसंगों में राधा एक सामान्य नायिका एवं कृष्ण एक सामान्य नायक के रूप में प्रस्तुत किये गये हैं। यशोदा को कृष्ण के पर-ब्रह्मत्व का पता नहीं है। एक अवसर पर जब कृष्ण के मुख में उसे विश्वरूप का दर्शन होता है, तो वह उसे भूत-प्रेत की बाधा समझती है और आसपास के गुणी लोगों के पास झाड़-फूंक के लिए ले जाती है। इस प्रकार सूरदास के वर्णन में सर्वत्र स्वाभाविकता बनी हुई है।

■

मो देखत जसुमति तेरैं ढोटा, अबहीं माटी खाई।
यह सुनि कै रिस करि उठि धाई, बाँह पकरि लै आई।
इक कर सौं भुज गहि गाढ़ैं करि, इक कर लीन्हीं साँटी।
मारति हौं तोहि अबहि कन्हैया, बेगि न उगिलै माटी।
ब्रज-लरिका सब तेरे आगैं, झूठी कहत बनाइ।
मेरे कहैं नहीं तू मानति, दिखरावौं मुख बाइ।
अखिल ब्रह्मंड खंड की महिमा दिखराई मुख माँहि।
सिंधु सुमेर नदी बन पर्बत, चकित भई मन चाहि।
कर तैं साँटि गिरत नहिं जानी, भुजा छाँड़ि अकुलानी।
सूर कहै जसुमति मुख मूँदौ, बलि गई सारँगपानी।

सूरसागर ८७३

■



सूर की काव्यभाषा

डॉक्टर परमानन्द श्रीवास्तव

सूर का काव्य-संसार सबसे पहले सौन्दर्य के गहन मार्मिक साक्षात्कार से प्रेरित अनुभवों का एक अत्यन्त समृद्ध संसार है। जिन रचनात्मक क्षणों में कवि ने उसे उपलब्ध किया है, उनसे आज के समय की इतनी विशाल दूरी है कि कोई विशिष्ट संवेदनशील संस्कार ही उससे वह रागात्मक सम्पृक्ति अनुभव करा सकता है जो आलोचनात्मक दृष्टि से भी सम्पन्न हो। सौन्दर्य के इस विशिष्ट काव्यानुभव का भाषा या अभिव्यक्ति की दृष्टि से अध्ययन करते हुए पहले रचना-प्रक्रिया की इस विशिष्टता का ही बोध होता है कि रचनाकार एक ओर सौन्दर्य की सरणि में अपने को विलीन करना चाहता है—अपने अहं का विसर्जन कर एक लचीली नम्रता प्राप्त करता है, दूसरी ओर अपने व्यक्तित्व के एक विशिष्ट तेजस अंश को रचनात्मक तनाव के स्तर पर अक्षुण्ण, सजीव रखने के लिए प्रयत्नशील होता है। सूर को यहाँ-वहाँ से, बीच-बीच में पढ़ते हुए मुझे इस रचनात्मकता का कई बार अनुभव हुआ है। मैं अनुभव करता आया हूँ कि हमारे इन कालजयी कवियों का अध्ययन नयी दृष्टि से होना चाहिए—सूर के काव्य का पुनर्मूल्यांकन भी आज की आलोचना के लिए लगभग चुनौती के समान है। यहाँ मैं सूर की काव्यभाषा की ओर कुछ संकेतभर करूँगा जिससे कवि के संसार की सर्जनात्मक बनावट की ओर पाठकों का ध्यान आकृष्ट किया जा सके। यद्यपि सूर की भाषा के व्याकरणिक स्वरूप पर कई बार विचार किया गया है, पर अपवाद-स्वरूप कुछ उदाहरणों को छोड़कर सूर की काव्यभाषा की सृजनशीलता का विश्लेषण प्रायः अछूता ही रह गया है।

काव्यभाषा काव्यसंसार के विश्लेषण का पहला विश्वसनीय और सजीव आधार है। काव्यभाषा में शब्द केवल शब्द नहीं हैं—वे एक पूरे रचनात्मक संघटन के सजीव उपादान हैं, इसलिए काव्यभाषा का अध्ययन शब्द से वाक्य की विशिष्टता, वाक्य की विशिष्टता से पूरे सन्दर्भ अर्थात् एक समग्र काव्यार्थ की ओर ले जाता है। सूर की काव्यभाषा का एक संघटनात्मक सौन्दर्य-मूल्य है और फिर एक अन्तः-संघटनात्मक काव्य-मूल्य है। इस काव्यभाषा में प्रेम-दर्शन, सौन्दर्य-दर्शन और रहस्य-दर्शन का एक अपूर्व रासायनिक संयोजन है। यहाँ कविता यदि एक ओर ऐन्द्रियता से संवेदित है, तो दूसरी ओर वैचारिक कल्पना और आध्यात्मिक अनुभव से सजीव है। रूप, गति, लय के इस संघटनात्मक संसार में एक नितान्त सक्रियता है—स्थिरता प्रायः नहीं है—विषादपूर्ण गतिहीनता में भी भावों की अन्तःस्फूर्ति शेष रहती है। श्रव्यसंवेदना यहाँ प्रायः दृश्य संवेदना में संक्रमित होती है और संवेदनाओं का यह अन्तरावलम्बन अन्य स्तरों पर भी सजीव बना रहता है।

सूर की काव्यभाषा की साहित्यिकता एक सुपरिचित सच्चाई है—अलंकार-बिम्ब-प्रतीक-मिथक आदि के संयोजन से यह साहित्यिक संघटन सम्भव हुआ है, पर महत्त्वपूर्ण तथ्य यह है कि यहाँ लोकभाषा ही काव्यभाषा में एक सजीव रचनान्तरण उपलब्ध करती है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल की टिप्पणी है—"ध्यान देने की सबसे पहली बात यह है कि चलती हुई ब्रजभाषा में सबसे पहली साहित्यिक कृति इन्हीं की मिलती है जो अपनी पूर्णता के कारण आश्चर्य में डाल देती है। पहली साहित्यिक रचना और इतनी प्रचुर, प्रगल्भ और काव्यांगपूर्ण, कि अगले कवियों की शृंगार और वात्सल्य की उक्तियाँ इनकी जूठी जान पड़ती हैं।" इस भाषिक प्रगल्भता और काव्यात्मक पूर्णता को सचमुच ध्यान से देखने की आवश्यकता है।

सूर की काव्यभाषा में शब्द-चयन की विशिष्टता विचारणीय है। शब्द को इस विशिष्ट स्थिति को कहीं उसकी व्याकरणिक स्थिति महत्त्वपूर्ण बना रही है और कहीं अर्थगत, ध्वन्यात्मक, व्यंजनात्मक, लयात्मक स्थिति। छरीदार, औचट, उचाढ़ी लरकिनी, ठगौरी, निनारी, रए—कुछ शब्दों की अलग-अलग कारणों से महत्त्वपूर्ण स्थिति पर ध्यान दें—

अष्ट महासिधि द्वारैं ठाढ़ी कर जोरे उर लीन्हें।
छरीदार वैराग विनोदी झिरकि बाहिरे कीन्हें॥

× × ×   × × ×

हरि सौं ठाकुर और न जन कौं।

....

लग्यौ फिरत सुरभी ज्यौं सुत-सँग **औचट** गुनि गृह बन कौं॥

× × ×   × × ×

सखी संग की निरखति यह छवि भई व्याकुल मन्मथ की डाढ़ी।
सूरदास प्रभु के रस बस सब भवन काज तैं भई **उचाढ़ी**॥

× × ×   × × ×

संग **लरिकिनी** चलि इत आवति दिन थोरी अति छवि तन गोरी।
सूर स्याम देखत हीं रीझे नैन नैन मिलि परी **ठगौरी**॥

× × ×   × × ×

मुरली कैं बस स्याम भए री।
अधरनि तैं नहिं करत **निनारी** वाकैं रंग **रए** री॥

ध्वन्यात्मकता केवल विशिष्ट शब्द-ध्वनि के ही कारण नहीं है—कहीं-कहीं एक अत्यन्त सामान्य बहुप्रचलित घिसा हुआ शब्द एक अद्भुत सांकेतिकता प्राप्त कर लेता है। कृष्ण के निम्नलिखित वाक्य-कथन में 'मित्र' शब्द की व्यंजकता कितनी सजीव और संकेत-जीवित है, कहने की आवश्यकता नहीं—

मित्र एक मन बसत हमारे ताहि मिलैं सुख पाइहौं।

कितने ही प्रचलित पर्यायों में से जब सूर कोई पर्याय-शब्द चुनते हैं, तो उनकी मानसिक क्षमता और रचनात्मक कल्पना देखने की चीज होती है। शब्द में क्रियात्मकता की प्रतिष्ठा का एक उदाहरण लें—यहाँ शब्द ही एक पूरे वाक्य या विशिष्ट काव्य-बिम्ब का रूप ले लेता है—सन्दर्भ कल्पना से अलग भी इस क्रियात्मक शब्द की स्थिति काव्योपयोगी जान पड़ेगी—

चलित कुंडल गंड मंडल झलक ललित कपोल।
सुधा-सर जनु मकर क्रीड़त इंदु **डहडह** डोल॥

मैं यहाँ 'डहडह' शब्द की सक्रिय ध्वन्यात्मकता की ओर संकेत कर रहा हूँ, पर यहाँ यह भी विशिष्टता लक्ष्य करने योग्य है कि अलंकार कैसे बिम्बविधान में संक्रमित होता है, अर्थ का लय के साथ क्या सम्बन्ध होता है, पर अभी इन विशेषताओं से पहले कुछ और शब्द-स्थितियों को देखें—कहीं अरबराना, अरराना, घहराना, झहराना जैसे अनुकरणात्मक शब्द हैं, कहीं ऐसे सांकेतिक विशेषण हैं जो प्रचलित स्मृति-बिम्ब के स्थान पर नयी बिम्बचेतना का प्रमाण दे जाते हैं—

दूबर तन / **तोतर** बोल / **पाछिलौ** सम्बन्ध / **काँचौ** मति ।

कहीं रंगसूचक तथा गुणात्मक विशेषण-शब्द हैं—

नील खुर अरु **अरुन** लोचन **सेत** सींग सुहाइ /
सेत, हरौ, रातौ अरु **पियरौ** रंग / **स्याम** चिकुर /
नैन अति **रतनारे** / **कजरी धौरी सेंदुरी धूमरि** मेरी गैया ।

कहीं तत्सम शब्द-व्यवस्था के बीच अचानक कोई विदेशी स्वभाव का शब्द उपस्थित है—

काया नगर बड़ी **गुंजाइस** नाहिं त कछु बढ़यौ ।

और इन सबसे अलग अधिसंख्य स्थलों पर संस्कृत के तत्सम शब्दों के साथ व्रज के ठेठ तद्भवीकृत शब्दों का सहज अस्तित्व तो काव्यार्थ की दृष्टि से मूल्यवान है ही ।

सूर की काव्यभाषा में वाक्य की लयात्मक विशिष्टता एक ज्ञात तथ्य है पर वाक्य-प्रकारों का अन्तःसम्बन्ध भी कम आकर्षक, कम अर्थपूर्ण नहीं । सरल, जटिल, शृंखलात्मक वाक्य-प्रकारों को एक विशिष्ट संघटना में पहचानना संवेदनशील पाठक के लिए कठिन नहीं होना चाहिए । पर इकहरे वाक्य की अर्थव्यंजकता भी सादगी में अपनी काव्यात्मकता का उदाहरण बन सकती है—

कोउ इक कंस कपट करि पठयौ कछु सँदेस दै हाथ ।
सु तौ हमारौ लिये जात है सरवस अपनैं साथ ।।

दूसरे वाक्य की सरलता में सर्जनात्मकता भी निहित है जो कृत्रिमता के बाहर अपने को चरितार्थ करती है ।

सूरदास की सादृश्य-सम्बन्ध-कल्पना रूपक-उत्प्रेक्षा-उपमा आदि के विधान में प्रत्यक्ष होती है । यहाँ आलंकारिक विन्यास अयथार्थ-यथार्थ के बीच ऐसा लचीला नमनीय सम्बन्ध प्राप्त कर लेता है कि उक्ति के चातुर्य से अधिक उक्ति में निहित संवेदनात्मक अनुभूति की ओर ही ध्यान जाता है—

देखियति कालिन्दी अति कारी ।
अहो पथिक कहियौ उन हरि सौं भई विरह जुर जारी ।।
गिरि-प्रजंक तैं गिरति धरनि धँसि तरँग तरफ तन भारी ।
तट-बारू उपचार-चूर जलपूर प्रस्वेद पनारी ।।
बिगलित कच कुस काँस कूल पर पंक जु काजल-सारी ।
....
सूरदास प्रभु जो जमुना गति सो गति भई हमारी ।।

यहाँ एक विक्षिप्त ज्वरग्रस्त युवती के रूप में यमुना की कल्पना पहले ध्यान आकृष्ट करती है, पर अन्त की ओर जाते हुए उस काव्यात्मक विडम्बना की ओर दृष्टि जाती है जिसके अनुसार यमुना ही अप्रस्तुत संकेत बन जाती है और प्रस्तुत की भूमिका में स्वयं विरहमना गोपी आ जाती है । द्वैत-सम्बन्ध-निर्भर

कल्पना बार-बार उस बिम्ब-स्थिति में आ जाती है जहाँ द्वैत-सम्बन्ध विलीन हो जाता है। सूर के आलंकारिक विधान में उपमान-वाक्य-पद का एक दूसरे से वैसा ही सम्बन्ध है जैसा कहीं-कहीं प्रसाद की काव्य-भाषा में लक्ष्य किया जाता है—

देखि सखी अधरनि की लाली।
मनि मरकत तैं सुभग कलेवर ऐसे हैं वनमाली॥
मनौ प्रात की घटा साँवरी, तापर अरुन प्रकास।
ज्यौं दामिनि विच चमक रहत है फहरत पीत सुवास॥

इस आलंकारिक चित्र-कल्पना के समानान्तर प्रसाद की आलंकारिक चित्र कल्पना को देखें—

आह उस मुख की वह मुस्क्यान
रक्त किसलय पर ले विश्राम
अरुण की एक किरण अम्लान
अधिक अलसाई हो अभिराम।

अवश्य ही प्रसाद की कल्पना में कोई विशिष्ट सूक्ष्म संवेदनात्मक परिष्कार है जिसके लिए काव्यभाषा की सर्जनात्मकता को एक लम्बी यात्रा से गुजरना पड़ा है। इसी आलंकारिक बिम्ब-निर्भर चित्र-कल्पना में लय की समानान्तर गतियाँ काव्यभाषा की दृष्टि से उल्लेख्य हैं—

मानौ माई घन घन अंतर दामिनि।
घन दामिनि दामिनि घन अंतर सोभित हरि ब्रजभामिनि॥

प्रत्यक्ष है कि काव्यभाषा की इन बहुविध विशिष्टताओं की आधार-भाषा ब्रज है जिसे मध्ययुगीन काव्य-भाषा के रूप में स्वीकृति दिलानेवाली शक्ति वह सृजनात्मकता है जो भीतर के सौन्दर्यानुभव को बाह्य प्रकृति की व्यापारगति में व्यक्त करने में नितान्त समर्थ है। कृष्ण की लीलाकथा की गीति-संरचनात्मक अभिव्यक्ति में प्रेम और आनन्द की जो तीव्रता है, वह बहुत कुछ अनुभव और भाषा का भेद मिटा जाती है। इस आनन्द में सुख दुख का ही अभेद नहीं है, शब्द अर्थ की असाधारण सम्पृक्ति भी है—

स्याम सों काहे की पहिचानि।
निमिष निमिष वह रूप न वह छवि, रति कीजै जिय जानि॥
....
एकौ पल सोभा की सीवाँ, सकति न उर महँ आनि॥
....
सखि यह विरह, सँजोग, कि समरस, सुख दुख, लाभ कि हानि॥

यहाँ काव्यभाषा सादगी में संगीत की हदों को छूनेवाली तन्मयता का ही प्रमाण देती है। यह उस कवि की रचनात्मक विशिष्टता का प्रमाण है जो आधार-भाषा के मौलिक स्वभाव को पहचानते हुए उसकी काव्यात्मक संभावनाओं में वृद्धि उपस्थित करने में सक्षम है। पाठकों का ध्यान इस ओर भी जाना चाहिए कि अलिखित व्यावहारिक व्याकरण की ही पूँजी से सूर ने काव्यभाषा की आरम्भिक क्षमता उपलब्ध की। संस्कृत के तत्सम शब्दों की प्रचुरता सूर की काव्यभाषा के लोकरंग में सहज ही खो जाती है। सौन्दर्य-सरणि का यह बिम्बात्मक गठन किसी गहरी अर्थगत विशिष्टता का संकेत है—

कान्ह चलत पग द्वै द्वै धरनी।
जो मन में अभिलाष करति हो, सो देखति नँद-घरनी॥
....
ब्रज जुवती सब देखि थकित भईं सुन्दरता की सरनी।

आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी का संकेत उचित ही है—"कविचित्त की गम्भीर अनुभूति सुन्दर रूप लेकर भाषा में अपनी महिमा प्रतिष्ठित करना चाहती है। प्रेम अपने को सँजोना, सँवारना चाहता है। अन्तर में उसका जो आनन्द है, उसे बाहर के जगत् में सौन्दर्य के भीतर वह प्रतिष्ठित करना चाहता है।" हमारी दृष्टि में सूर की काव्यभाषा एक विशिष्ट सौन्दर्य-सत्ता के प्रति सूर के संवेदनात्मक सम्बन्ध को ही प्रमाणित करती है। इस संवेदनात्मक सम्बन्ध में राग, नम्रता, विषाद के निजी अनुभव एक मधुर भावदीप्त सार्वजनिकता पा लेते हैं।

सूर की काव्यभाषा में अभिव्यक्त संसार एक दृष्टि से सीमित संसार है। इस प्रयोजनीय लीला-संसार से सम्बद्ध शेष संसार की बहुत सी बाहरी उत्तेजनाएँ बाहर और दूर ही रहती हैं पर कल्पना की एक पारदर्शी दीवार उस बाहर और दूर की कतिपय छायाओं को जब तब सटीक समानान्तर उदाहरणों के रूप में प्रतिबिम्बित करती रहती है। पौराणिक चरित्रों की मानवीय बुनावट में भाषा की इस रचनात्मक भूमिका का महत्त्व असंदिग्ध है। सूर की काव्यभाषा में आध्यात्मिक आवेग का स्पन्दन भी है और लोक-तत्त्व की सहजता का मार्मिक स्पर्श भी है। यहाँ अक्षर या शब्द ही एक समग्र संरचना में नहीं ढलते, संरचना भी एक तरह की लयात्मकता में अपना प्रसार चाहती है। तन्मयता और तनाव का सम्बन्ध इस काव्यभाषा में जहाँ तक बन पाया है, वहीं तक यह आदर्श काव्यभाषा है और जहाँ तनावहीन दुहराव है, रूढ़ अलंकृति है, पुष्टिमार्गीय विचारसरणि की धारणात्मक छापभर है, वहाँ हम इसे काव्याभास मात्र ही कहेंगे।

■

रोम रोम ह्वै नैन गए री।
ज्यौं जलधर परवत पर बरषत, बूँद बूँद ह्वैं निचटि द्रए री॥
ज्यौं मधुकर रस कमल पान करि, मोतैं तजि उन्मत्त भए री।
ज्यौं काँचुरी भुअंगम तजहीं, फिरि न तकैं जु गए सु गए री॥
ऐसी दसा भई री उनकी, स्याम रूप मैं मगन भए री।
सूरदास प्रभु अगनित्त सोभा, ना जानौं किंहि अंग छए री॥

सूरसागर २९१०

■



सूर-साहित्य में अलंकार-योजना

डॉक्टर रामस्वरूप आर्य

मानव एक सौंदर्यप्रिय प्राणी है। वह अपने प्रत्येक कार्य को अलंकृत रूप में देखना चाहता है। इसी सहज वृत्ति के आधार पर सृष्टि का भावुक प्राणी कवि अपने काव्य में जहाँ एक ओर सुन्दर भावों का संयोजन करता है, वहाँ दूसरी ओर उसमें सौंदर्य-वृद्धि के लिए भी प्रयत्नशील रहता है। काव्य में इनमें से प्रथम को भावपक्ष तथा दूसरे को कलापक्ष कहते हैं। श्रेष्ठ काव्य में दोनों का ही सम्यक् निर्वाह वांछनीय है। भावपक्ष के अन्तर्गत रस, भाव और संचारी भाव इत्यादि आते हैं तथा कलापक्ष के अन्तर्गत अलंकार, भापा तथा छंद आदि पर विचार किया जाता है।

काव्य के शोभाकारक धर्म अलङ्कार कहे जाते हैं—काव्य-शोभाकरान् धर्मान् अलङ्कारान् प्रचक्षते।[१] काव्य मूलतः शब्द और अर्थमय है—शब्दार्थौ सहितौ काव्यम्।[२] अतः काव्य में शोभा का विधान भी शब्द और अर्थ के द्वारा ही होता है। इसी आधार पर अलङ्कार दो प्रकार के माने गए हैं—शब्दालङ्कार और अर्थालङ्कार। जहाँ शब्दगत सौंदर्य की प्रधानता होती है, वहाँ शब्दालङ्कार तथा जहाँ अर्थगत सौंदर्य की प्रधानता होती है, वहाँ अर्थालङ्कार माने जाते हैं। जहाँ सौंदर्य शब्द और अर्थ दोनों के आश्रित हो, वहाँ उभयालङ्कार माने जाते हैं।

अलङ्कारों का काव्य में क्या स्थान होना चाहिए, इस विषय में प्राचीन काल से ही आचार्यों में पर्याप्त मतभेद रहा है। कुछ आचार्यों ने अलङ्कारों को काव्य में गौण स्थान दिया है, तो अन्य उन्हें काव्य के लिए नितांत आवश्यक मानते हैं। यहाँ तक कि अर्थालङ्कारों से रहित सरस्वती को विधवा कहा गया है—अर्थालङ्कार-रहिता विधवेव सरस्वती। आचार्य मम्मट ने काव्य की परिभाषा देते हुए कहा है—तददोषौ शब्दार्थौ सगुणावनलंकृती पुनः क्वापि।[३] अर्थात् वे काव्य के लिए अलङ्कारों को आवश्यक नहीं मानते हैं। उनके अनलंकृत प्रयोग पर व्यंग करते हुए चन्द्रालोककार का कथन है कि जो व्यक्ति काव्य को अलङ्कार-रहित मानता है, वह अग्नि को उष्णता-रहित क्यों नहीं मानता—

> अंगीकरोति यः काव्यं शब्दार्थावनलंकृती।
> असौ न मन्यते कस्मादनुष्णमनलंकृती।[४]

हिन्दी के आचार्य केशवदास का भी यही मत है कि अलङ्कारों के बिना कविता सुशोभित नहीं होती। उनकी मान्यता है—

> जदपि सुजाति सुलक्षणी सुवरन सरस सुवृत्त।
> भूषन विनु न विराजई कविता बनिता मित्त।[५]

१— काव्यादर्श २।१। २— काव्यालंकार १।१६।

३— काव्यप्रकाश, प्रथम उल्लास। ४— चन्द्रालोक १।८। ५— कविप्रिया ५।१

जहाँ आचार्यों ने अलङ्कारों के महत्त्व पर इतना जोर दिया है, वहाँ हमें यह भी जानना चाहिए कि काव्य की आत्मा रस है। अलंकार रसोद्रेक में सहायक होकर ही आने चाहिएँ। रस-विहीन कविता अलङ्कारों के वोझ से दवकर निर्जीव हो जाती है।

सूरदास एक रससिद्ध कवि थे। उनकी भावधारा उनकी अलंकृत शैली के सम्पर्क-लाभ से जगमगा उठी है। उनकी रचना में जैसी भावप्रवणता है, वैसी अलंकृत सज्जा भी। उनकी अलंकार-योजना में न तो केशव के समान पांडित्य-प्रदर्शन का आग्रह है और न तुलसी के समान साज-सज्जा का। उन्होंने अलंकारों का प्रयोग भावों की सौंदर्य-वृद्धि के लिए भी किया है। व्यर्थ के शब्दाडम्बर को उन्होंने महत्त्व नहीं दिया। उनके काव्य में शब्दालंकारों की अपेक्षा अर्थालंकारों का प्रयोग ही अधिक हुआ। साहित्यलहरी में सूर की अलंकारप्रियता चरम सीमा पर पहुँच गई है। इसके सभी पद दृष्टिकूट हैं जिनमें अलंकारों की योजना की गई है। इसे हम सूर की मूल प्रवृत्ति नहीं मान सकते क्योंकि 'सूरसागर' में इस प्रकार के पद इने-गिने ही हैं।

सूर की व्यंग्यमयी वक्रोक्तियाँ अत्यधिक चमत्कारपूर्ण तथा प्रभावशालिनी हैं। शब्दालंकारों में उन्होंने अनुप्रास, यमक, श्लेष और वक्रोक्ति तथा अर्थालंकारों में उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षा, रूपकातिशयोक्ति, अतिशयोक्ति तथा व्यतिरेक आदि को विशेष रूप से अपनाया है। कुछ पदों में अन्योक्ति का भी सुन्दर निर्वाह हुआ है।

सूरदास जी की रुचि शव्दालंकारों में विशेष नहीं रमी है, तथापि कुछ स्थलों पर इनका सुन्दर प्रयोग मिलता है। निम्नलिखित पंक्तियों में अनुप्रास का सहज प्रयोग द्रष्टव्य है—

> कामी, कृपन, कुचील, कुदरसन, को न कृपा करि तार्‌यौ।
> तातैं कहत दयाल देवमनि, काहैं सूर बिसार्‌यौ।[६]
>
> × × ×
>
> जग जानत जदुनाथ, जिते जन निज भुज स्रम सुख पायौ।
> ऐसौ को जु न सरन गहे तैं कहत सूर उतरायौ।[७]

कुछ पदों में यमक अलंकार का आग्रह दिखाई पड़ता है। निम्नलिखित पद में 'सारँग' शव्द की अनेक वार आवृत्ति हुई है। यहाँ कवि का अर्थ-चातुर्य देखने योग्य है—

> सारँग सारँग धरहि मिलावहु।
> सारँग विनय करति सारँग सौं सारँग दुख विसरावहु।
> सारँग समय दहत अति सारँग, सारँग तिनहिं दिखावहु।
> सारँग गति सारँगधर जे हैं, सारँग जाइ मनावहु।
> सारँग-चरन सुभग-कर-सारँग, सारँग नाम वुलावहु।
> सूरदास सारँग उपकारिनि, सारँग मरत जियावहु।[८]

उक्त पद में सारंग शव्द के अर्थ क्रमश: इस प्रकार हैं—१– अलि = सखी, २– सारंगधर = कृष्ण, ३– सारंग = आकाश, अनन्त, अत्यन्त, ४– विष्णु भगवान, ५– कामदेव, ६– रात्रि, ७– चंद्रमा, ८– प्रेम-पूर्वक, ९– कमल, १०– भ्रमर, ११– कुरंग = विगड़ी हुई। नायिका अपनी सखी से कहती है—हे सखी! तू मुझे श्रीकृष्ण से मिला दे। मैं तुझसे अत्यन्त विनय करती हूँ। तुझे भगवान विष्णु की सौगंध है, तू

६– सूरसागर १०१। ७– वही १५। ८– वही २७१५।

मेरे काम के दुख को विस्मृत करा दे। रात्रि के समय चन्द्रमा मुझे जलाता है, अतः तू कृष्ण के दर्शन करा दे। कृष्ण सर्प की चालवाले हैं, अर्थात् शीघ्र ही क्रुद्ध हो जाते हैं। तू उन्हें प्रेमपूर्वक मना ला। जिनके चरण तथा हाथ कमल के समान हैं तथा जो भ्रमर के रूप में (रसलोभी, अनेक नायिकाओं के प्रति अनुरक्त) प्रसिद्ध हैं, उन्हें बुला ला। तू विगड़ी को बनानेवाली तथा परोपकारिणी है, अतः सखी को मरने से बचा ले।

सूर-साहित्य में श्लेष का प्रयोग अत्यल्प है। इसका एक उदाहरण प्रस्तुत है—

> ऊधौ तुम अति चतुर सुजान।
> जे पहिलै मन रँगे स्याम रँग अब न चढ़ै रँग आन।[९]

सूरदास वक्रोक्ति के तो सम्राट् ही हैं। उनकी वक्रोक्तियाँ हृदय पर सीधा प्रभाव डालती हैं। गोपियाँ उद्धव का ज्ञानोपदेश सुनते-सुनते तंग आ गई हैं। वे उनसे कहती हैं—तुम्हें जो कहना है, कह डालो। आखिर हम तो सब कुछ सुनने और सहने के लिए ही बनी हैं। प्रस्तुत पंक्तियों में गोपियों की खीझ कितने सुन्दर रूप में व्यक्त हुई है—

> ऊधौ और कछू कहिवै कौं।
> मन मानै सोऊ कहि डारौ, हम सब सुनि सहिवै कौं।[१०]

निम्नलिखित पद में गोपियों की उक्तियाँ ध्यान देने योग्य हैं। इसमें गोपियों ने उद्धव पर अच्छा व्यंग्य किया है। उनकी वचन-वक्रता द्रष्टव्य है—

> ऊधौ हम हैं हरि की दासी।
> काहे कौं कटु वचन कहत हौ, करत आपनी हाँसी॥
> हमरे गुनहिं गाँठि किन बाँधौ, हम कह कियौ बिगार।
> जैसी तुम कीन्ही सो सबहीं, जानत हैं संसार॥
> जो कछु भली-बुरी तुम कहिहौ, सो सब हम सहि लैहैं।
> आपन कियौ आप ही भुगतहिं, दोष न काहू दैहैं॥
> तुम तौ बड़े-बड़े कुल जनमे, अरु सबके सरदार।
> यह दुख भयौ सूर के प्रभु सौं, कहत लगावन छार॥[११]

सूर-काव्य में अर्थालंकारों का प्रयोग भावों की सौंदर्य-वृद्धि में सहायक हुआ है। सूरदास ने विशेष रूप से सादृश्यमूलक अलंकारों को अपनाया है। रूपक उनका प्रिय अलंकार है। उनके सांगरूपक अधिक प्रसिद्ध हैं। संसाररूपी नाट्यशाला में विभिन्न प्रकार के नाच नाचते हुए सूरदास थक गए हैं। ये अपने आराध्य देव भगवान् कृष्ण से प्रार्थना करते हैं कि हे नाथ! अब तो आप मेरी अविद्या को हर ही लीजिए—

> अब मैं नाच्यौ बहुत गुपाल।
> काम, क्रोध को पहिरि चोलना, कंठ विषय की माल।
> ....
> कोटिक कला काछि दिखराई जल-थल सुधि नहिं काल।
> सूरदास की सबै अविद्या दूरि करौ नँदलाल।[१२]

९— सूरसागर ४६०२। १०— वही ४१३६। ११— वही ४१६१। १२— वही १५३।

एक अन्य सांगरूपक देखिए—

चितवन रोकैं हूँ न रही।
स्यामसुन्दर-सिंधु-सनमुख, सरित उमँगि वही॥
प्रेम-सलिल प्रवाह-भँवरनि मिलि न कबहुँ लही।
लोभ-लहर-कटाच्छ, घूँघट-पट-करार ढही॥
थके पल-पथ, नाव-धीरज परति नहिन गही।
मिली सूर सुभाव स्यामहि, फेरिहू न चही॥ [१३]

रूपकातिशयोक्ति में भी सूरदास की रुचि विशेष रमी है। रूप-चित्रण तथा वियोग-वर्णन में इस अलंकार का आश्रय लिया गया है। निम्नलिखित पद में रूपकातिशयोक्ति द्वारा नायिका के अद्भुत सौंदर्य का अंकन किया गया है—

अद्भुत एक अनूपम वाग।
जुगल कमल पर गजवर क्रीड़त, तापर सिंह करत अनुराग॥
हरि पर सरवर, सर पर गिरिवर, गिरि पर फूले कंज-पराग।
रुचिर कपोत वसत ता ऊपर ता ऊपर अमृत-फल लाग॥
फल पर पुहुप, पुहुप पर पल्लव, ता पर सुक, पिक, मृग-मद काग।
खंजन, धनुष, चंद्रमा ऊपर, ता ऊपर इक मनिधर नाग॥
अंग-अंग प्रति और-और छवि, उपमा ताकी करत न त्याग।
सूरदास प्रभु पियौ सुधारस मानौ अधरनि के वड़ भाग॥ [१४]

सूर के पदों में उत्प्रेक्षा अलंकार का भी सुन्दर निर्वाह हुआ है। कृष्ण के सौंदर्य-वर्णन में कवि ने उत्प्रेक्षाओं की झड़ी लगा दी है। गोपियों के विरह-वर्णन में भी इनसे विशेष सहायता ली गई है। विरहिणी गोपियों को प्रकृति के विभिन्न पदार्थ भाँति-भाँति से दुख देते हुए प्रतीत होते हैं। कृष्ण के सौंदर्य पर कवि की अनूठी उत्प्रेक्षाएँ देखिए—

मोहन वदन विलोकत अँखियनि उपजत है अनुराग।
तरनि ताप तलफत चकोर गति पिवत पियूष पराग॥
लोचन नलिन नए राजत रति पूरन मधुकर भाग।
मानहु अति आनन्द मिलैं मकरन्द पिवत रितु फाग॥
....

कुंचित केस मयूर चंद्रिका मंडल सुमन सुपाग।
मानहु मदन धनुष सर लीन्हे वरषत है वन वाग॥
अधर विंव तैं अरुन मनोहर मोहन मुरली-राग।
मानहु सुधा-पयोधि घेरि धन व्रज पर वरषन लाग॥
कुंडल मकर कपोलनि झलकत श्रम सीकर के दाग।
मानहु मीन मकर मिलि क्रीड़त सोभित सरद-तड़ाग॥ [१५]

विरह से व्याकुल गोपियों को उमड़ते-घुमड़ते वादल कामदेव के मदमाते हाथियों के समान प्रतीत होते हैं—

१३– वही २३८१। १४– वही २७२८। १५– वही २३९५।

देखियत चहुँ दिसि तैं घन घोरे।
मानौ मत्त मदन के हथियनि, वलि करि बंधन तोरे ।।
स्याम सुभग तन चुवत गंडमद, वरषत थोरे-थोरे।
रुकत न पवन महावतहू पै; मुरत न अंकुस मोरे ।।
मनौ निकसि वग-पंक्ति दंत, उर अवधि-सरोवर फोरे।
विनु वेला जल निकसि नयन जल कुच कंचुकि वँद बोरे ।।[१६]

सूरदास जी की उपमाएँ भी अनूठी हैं। इनमें सादृश्य एवं साधर्म्य का समुचित निर्वाह हुआ है। निम्नलिखित उदाहरण में गोपियों की दर्शन-साध की तुलना आक की रुई तथा धान के अंकुर से की गई है—

हरि-दरसन की साध मुई।
उड़ियै उड़ी फिरति नैननि सँग फर फूटैं ज्यौं आक-रुई ।।
....
सूखति सूर धान अंकुर-सी, विनु वर्षा ज्यौं मूल तुई ।।[१७]

यहाँ 'हरि दरसन की साध' उपमेय, 'आक-रुई' उपमान, 'उड़ी फिरति' धर्म तथा 'ज्यौं' वाचक शब्द है। अगली पंक्ति में साध की तुलना धान के अंकुर से की गई है। जिस प्रकार वर्षा के अभाव में धान का अंकुर सूखता चला जाता है; उसी प्रकार प्रियदर्शन के अभाव में गोपियों की दर्शन की लालसा शनैः शनैः विलीन होती जा रही है।

निम्नलिखित पद में मालोपमा के माध्यम से राधा के प्रति कृष्ण के अतिशय आकर्षण की सुंदर अभिव्यक्ति हुई है—

स्याम भए राधा वस ऐसैं।
चातक स्वाति, चकोर चंद ज्यौं, चक्रवाक रवि जैसैं ।।
नाद कुरंग, मीन जल की गति, ज्यौं तुनकैं वस छाया।
इकटक नैन अंग छवि मोहे, थकित भए पहि - जाया ।।
उठैं उठत वैठैं वैठत हैं, चलैं चलत सुधि नाहीं।
सूरदास वड़भागिनि राधा समुझि मनहिं मुसुकाहीं ।।[१८]

उपमा के क्षेत्र में सूरदास जी ने कुछ ऐसे प्रयोग किए हैं जिनके लिए नवीन नामकरण की आवश्यकता है। उदाहरणार्थ निम्नलिखित पद में हम न्यायोपमा अलंकार मान सकते हैं—

ऊधौ अव हम समुझ भई।
नंदनँदन के अंग-अंग-प्रति उपमा न्याय दई ।।
कुंतल कुटिल भँवर भामिनि वर, मालति भुरै लई।
तजत न गहरु कियौ तिन कपटी जानी निरस भई ।।
आनन इंदु विमुख संपुट तजि करषें तैं न नई।
निर्मोही नव नेह कुमुदिनी अंतहु हेम हई ।।
तन घन सजल सेइ निसि-वासर रटि रसना छिजई।
सूर विवेक हीन चातक मुख, बूँदौ तौ न सई ।।[१९]

१६– वही ३९२१। १७– वही २४७३। १८– वही २७५६। १९– वही ४५३५।

इसी प्रकार निम्नलिखित पद हीनोपमा अलंकार का उदाहरण माना जा सकता है—

उपमा नैन न एक रही ।
कविजन कहत कहत सब आए, सुधि करि नाहिं कही ।।
कहे चकोर विधु-मुख बिनु जीवत, भँवर नहीं उड़ि जात ।
हरि-मुख कमल कोप बिछुरे तें, ठाले कत ठहरात ।।
ऊधी बधिक व्याज ह्वै आए, मृग सम क्यों न पलात ।
भागि जाहिं बन सघन स्याम मैं, जहाँ न कोऊ घात ।।
खंजन मन-रंजन न होहिं ये कबहुँ नहीं अकुलात ।
पंख पसारि न होत चपल गति, हरि समीप मुकुलात ।।
प्रेम न होहिं कौन विधि कहिये, झूठे ही तनु आड़त ।
सूरदास मीनता कछू इक, जल भरि कबहुँ न छाँड़त ।।[२०]

निम्नलिखित पंक्तियों में क्रमालंकार की योजना देखते ही बनती है । बालकृष्ण की छवि का वर्णन करते हुए कवि कहता है—

भुज भुजंग, सरोज नैननि, वदन विधु जित लरनि ।
रहे बिवरन, सलिल, नभ, उपमा अपर दुरि डरनि ।। [२१]

इसी प्रकार गोपियाँ कृष्ण के विरह से पीड़ित होकर कहती हैं—

जैसे मीन कमल चातक कौ, ऐसैं दिन गए बीति ।
तरफत जरत पुकारत निसि-दिन नाहिंन ह्याँ कछु नीति ।।[२२]

निम्नलिखित पंक्तियों में संदेह की छटा दर्शनीय है—

देखि सखी अधरंनि की लाली ।
मनि मरकत तैं सुभग कलेवर, ऐसे हैं बनमाली ।।
....
किधौं वज्रकन लाल नगनि खँचि, तापर विद्रुम पाँति ।
किधौं सुभग बंधूक-कुसुम-तर झलकत जलकन-काँति ।।
किधौं अरुन अंबुज बिच बैठी, सुन्दरताई आइ ।
सूर अरुन अधरनि की सोभा, बरनत बरनि न जाइ ।। [२३]

निम्नलिखित उद्धरण में 'गिरिवरधर' शब्द के साभिप्राय प्रयोग के कारण परिकरांकुर अलंकार है—

घुमरि-घुमरि बरसत जल छाँड़त, उर लागत अँधियारे ।
बूड़त ब्रजहिं सूर को राखै, बिनु गिरिवरधर प्यारे ।।[२४]

सूरदास जी ने अपह्नुति अलंकार का भी सुन्दर प्रयोग किया है । उदाहरणार्थ निम्नलिखित पद प्रस्तुत है—

सिव न, अवध सुन्दरी, बधौ जिन ।
मुक्ता माँग अनंग गंग नहिं, नवसत साजे अर्थ स्याम घन ।।

२०– वही ४१९० । २१– वही ७२७ । २२– वही ४४५६ ।
२३– वही २४५० । २४– वही ३८५२ ।

भाल तिलक उडुपति न होइ यह, कवरि ग्रथित अहिपति न सहस फन।
नहिं बिभूति दधिसुत न कंठ जड़, यह मृगमद चंदन चर्चित तन ।।
नहिं गज-चर्म सु असित कंचुकी, देखि विचारि कहा नन्दी गन।
सूर सु हरि अव मिलहु कृपा करि, बरबस समर करत हठ हम सन ।।[२५]

निम्नलिखित पद में सूक्ष्म अलंकार का प्रयोग द्रष्टव्य है—

स्याम अचानक आइ गए री।
मैं बैठी गुरुजन बिच सजनी, देखत हीं मेरे नैन नए री ।।
तव इक बुद्धि करी मैं ऐसी, बेंदी सौं कर परस कियौ री।
आपु हँसे उत पाग मसकि हरि, अंतरजामी जानि लियौ री ।।
लै कर कमल अधर परसायौ, देखि हरषि उनि हृदय धर्‌यौ री।
ठाढ़े रहे द्वार अति हित करि तवही तैं मन चोरि गयौ री ।।
चरन छुए दोउ नैन लगाए, मैं अपनैं भुज अंक भर्‌यौ री।
सूरदास कछु दोष न मेरौ, उत गुरुजन इत हेत नयौ री ।।[२६]

सूर-साहित्य में प्रयुक्त कुछ अन्य अलंकारों के उदाहरण भी देखिए—

प्रतीप—

तेरौ वदन देखि उडुपति जु दुर्‌यौ।
दामिनि दुरी देखि दसननि छवि, ताटंकनि रवि चित जु हर्‌यौ ।।
दरपन मलिन कपोलनि सोभा, कीर नास भय वन पकर्‌यौ।
अहि वेनी मोह्यौ, कुच कलसनि, घट मौह्यौ अमृत जु भर्‌यौ ।।
ऐरावत थकि रह्यौ निरखि गति, कटि के भय मृगराज डर्‌यौ।
सूरदास-प्रभु नारि नागरी मनमोहन निज वस जु कर्‌यौ ।।[२७]

व्यतिरेक—

देखि री हरि के चंचल नैन।
खंजन-मीन-मृगज-चपलाई, नहिं पटतर इन सैन ।।
राजिव-दल, इन्दीवर सतदल, कमल कुसेसय जाति।
निसि मुद्रित प्रातहिं वै विकसित, ये विकसित दिनराति ।।[२८]

उल्लेख—

हरि प्रति-अंग नागरि निरखि।
दृष्टि रोमावली पर रहि, वनत नाहीं परखि ।।
कोउ कहति यह काम-संगति, कोउ कहति नहिं जोग।
कोउ कहति अलि-बाल पंगति, जुरी एक सँजोग ।।
कोउ कहति अहि काम पठयौ, डसै जिनि यह काहु।
स्याम रोमावली की छवि, सूर नाहिं निवाहु ।।[२९]

२५– वही २७३५। २६– वही २४९७। २७– वही ३३९५।
२८– वही २४३१। २९– वही १२५४।

अतिशयोक्ति—

निसिदिन बरसत नैन हमारे ।
सदा रहति पावस रितु हम पर, जब तैं स्याम सिधारे ॥
दृग खंजन न रहत निसि वासर, कर कपोल भए कारे ।
कंचुकि-पट सूखत नहिं कबहूँ, उर बिच बहत पनारे ॥[३०]

विभावना—

चरन-कमल बंदौं हरि राई ।
जाकी कृपा पंगु गिरि लंघै, अंधे कौं सब कछु दरसाई ॥
बहिरौ सुनै, गूँग पुनि बोलै, रंक चलै सिर छत्र धराई ।
सूरदास स्वामी करुनामय, बार-बार बंदौं तिहिं पाई ॥[३१]

अर्थांतरन्यास—

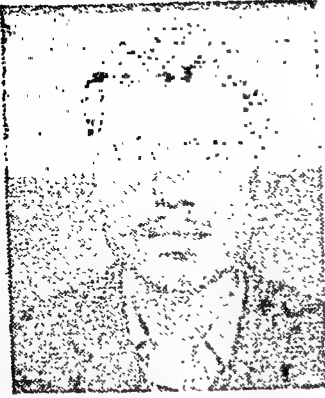
प्रीति करि काहू सुख न लह्यौ ।
प्रीति पतंग करी पावक सौं, आपुन प्रान दह्यौ ॥
अलिसुत प्रीति करी जल-सुत सौं संपुट माँझ गह्यौ ।
सारँग प्रीति करी जु नाद सौं, सन्मुख बान सह्यौ ॥[३२]

कहीं-कहीं तो सूरदास जी ने एक ही पद में अनेक अलंकारों की योजना एक साथ ही की है, यथा निम्नलिखित पद में अनुप्रास, उत्प्रेक्षा, प्रतीप तथा यथासंख्य अलंकार, सभी का प्रयोग हमारा ध्यान आकृष्ट करता है—

हरि जू की बाल छबि कहौं बरनि ।
सकल सुख की सींव, कोटि-मनोज-सोभा-हरनि ।
भुज भुजंग सरोज नैननि बदन बिधु जित लरनि ।
रहे बिवरन, सलिल, नभ, उपमा अपर दुर डरनि ।
मंजु मेचक मृदुल तनु, अनुहरत भूषन भरनि ।
मनहुँ सुभग सिंगार-सिसु तरु, फर्‌यौ अद्‌भुत फरनि ।
चलत-पद प्रतिबिंब मनि आँगन घुटुरुवन करनि ।
जलज-संपुट-सुभग-छवि भर लेति उर जनु धरनि ।[३३]

निष्कर्ष रूप में हम कह सकते हैं कि सूर-साहित्य में अलंकारों का प्रयोग सहज स्वाभाविक रूप में हुआ है। उनके रूपक, रूपकातिशयोक्तियाँ, उपमाएँ, उत्प्रेक्षाएँ अद्वितीय हैं। अलंकारों के प्रयोग से उनके काव्य में शोभा की वृद्धि हुई है। डॉ० हरवंशलाल शर्मा के शब्दों में, "उनके (सूरदास के) काव्य में अलंकारों के घटाटोप के दर्शन नहीं होते और वे अपने रूप-चित्रण में सर्वत्र संवेदनशील दीख पड़ते हैं। उन्होंने अलंकारों का प्रयोग विशेषकर सौंदर्य-बोध के लिए ही किया है।"[३४]

३०— वही ३८५४ । ३१— वही १ । ३२— वही ३९०६ ।
३३— वही ७२७ । ३४— सूर और उनका साहित्य, पृष्ठ २९७ ।



सूरदास का दृष्टिकूट काव्य

श्री चन्द्रप्रकाश आर्य

सूरदास जी हिन्दी साहित्य में वात्सल्य एवं शृंगार-वर्णन के लिए प्रसिद्ध हैं। उनके काव्य में भक्ति-भावना भी अत्यंत सुन्दर रूप में व्यक्त हुई है। सूर के पद जहाँ अपनी सरल अभिव्यक्ति एवं सरसता से जनसाधारण को मुग्ध करते रहे हैं, वहाँ उन्होंने कुछ ऐसे दृष्टिकूट पदों की भी रचना की है, जिनके अर्थसंधान में बड़े-बड़े विद्वानों की बुद्धि भी चकरा जाती है। 'सूरसागर' में ऐसे अनेक पद हैं, जिन्हें 'दृष्टिकूट' कहा जा सकता है। श्री चुन्नीलाल 'शेष' ने इस प्रकार के १०० पदों का संकलन 'सूर के सौ कूट' नामक पुस्तक में किया है। 'सूर के दृष्टिकूट', 'सूरदास के गूढ़ार्थ पद' आदि पुस्तकों में भी इसी प्रकार के पदों का संकलन किया गया है। श्री प्रभुदयाल मीतल ने स्वसंपादित 'साहित्य-लहरी' के परिशिष्ट ४ में सूरसागर के दृष्टिकूट पद शीर्षक से इस प्रकार के ९२ पदों की सूची अकारादि क्रम से दी है। 'साहित्य-लहरी' की रचना तो दृष्टिकूट पदों में ही हुई है। ये पद कृष्णलीला से संबंधित हैं। प्रस्तुत लेख में सूरदास जी द्वारा रचित दृष्टिकूट पदों पर संक्षेप में विचार किया जा रहा है।

'दृष्टिकूट' शब्द दो शब्दों के योग से बना है। दृष्टि शब्द का अर्थ है—देखने की शक्ति तथा कूट का अर्थ है—पर्वत, शिखर, छल, मिथ्या, गूढ़भेद आदि। इस प्रकार दृष्टिकूट का अर्थ 'दृष्टि के आगे पहाड़' अथवा 'दृष्टि को छलनेवाला' होता है। कुछ विद्वान् दृष्टिकूट के स्थान पर दृष्टकूट शब्द का भी प्रयोग करते हैं। दृष्ट का अर्थ है 'देखा हुआ', अतः दृष्टकूट का अर्थ हुआ 'देखा हुआ पहाड़' अथवा 'देखा हुआ छल'। 'हिंदी शब्दसागर' में 'दृष्टकूट', तथा 'दृष्टिकूट' दोनों शब्द दिए गए हैं तथा दृष्टकूट का अर्थ दिया गया है—(१) पहेली, (२) कोई ऐसी कविता, जिसका अर्थ केवल शब्द के वाचक अर्थ से न समझा जा सके वल्कि प्रसंग या रूढ़ अर्थों से जाना जाए।[1] प्रस्तुत लेख में दृष्टिकूट शब्द को स्वीकार किया गया है। श्री प्रभुदयाल मीतल ने दृष्टिकूट की परिभाषा इस प्रकार दी है—"श्लेष, यमकादि अलंकारों तथा अनेकार्थ-वाची विशिष्ट शब्दों के समावेश से जो काव्यवाचक अर्थ की अपेक्षा रूढ़ अथवा प्रसंग से समझा जावे, उसे दृष्टिकूट काव्य कहते हैं।"[2] डॉ० गोविंदराम शर्मा के अनुसार "कूट काव्य में अर्थ गूढ़ एवं प्रच्छन्न रहता है। साधारण पाठक के लिए उस अर्थ तक पहुँचना संभव नहीं होता। अर्थ में गूढ़ता एवं अस्पष्टता लाने के लिए कूटकाव्यगत शब्दों के प्रयोग में छल, कौशल अथवा चातुर्य की अपेक्षा रहती है।[3]

दृष्टिकूट की परंपरा अत्यंत प्राचीन काल से प्राप्त होती है। ऋग्वेद में दृष्टिकूट का आरंभिक रूप दिखाई पड़ता है। निम्नलिखित मंत्र में ऋषि कहते हैं—

१— हिन्दी शब्दसागर, खंड ५, पृष्ठ २३५०।
२— साहित्य-लहरी, भूमिका, पृष्ठ २।
३— सूर की काव्य-साधना, पृष्ठ ४२९।

दशेमं त्वष्टुर्जनयन्त गर्भमतन्द्रासो युवतयो विभृजय् ।
तिग्मानीकं स्वयशसं जनेषु विरोचमानं परिषीं नयन्ति ॥[4]

इसमें प्रथम पंक्ति का अर्थ है, "दस अथक कुमारियों ने त्वष्टा के इस बालक (अग्नि) का भरण-पोषण किया है ।" यहाँ दस कुमारियों से तात्पर्य हाथों की दस उँगलियों से है, जिनके द्वारा समिधाओं को रगड़ा जाता है । उपनिषदों में अनेक स्थलों पर कूटशैली के दर्शन होते हैं, यथा निम्नलिखित मंत्र में ब्रह्म का वर्णन कूटशैली में किया गया है—

ऊर्ध्वमूलोऽवाक् शाख एषोऽश्वत्थः सनातनः ।
तदेव शुक्लं तद् ब्रह्म तदेवामृतमश्नुते ॥[5]

महाभारत के विषय में प्रसिद्ध है कि जब महर्षि व्यास जी को महाभारत के लेखन के लिए कोई योग्य लिपिक नहीं मिला, तो उन्होंने इस कार्य के लिए गणेश जी से प्रार्थना की । गणेश जी ने यह कार्य इस शर्त पर स्वीकार किया कि मैं निरंतर लिखता रहूँगा । यदि आप बीच में रुके तो मेरा हाथ भी रुक जाएगा और मैं लेखन बंद कर दूँगा । व्यास जी ने उनकी शर्त स्वीकार करते हुए कहा कि जो कुछ भी आप लिखेंगे, अर्थ समझकर लिखेंगे । इस प्रकार महाभारत का लेखन आरंभ हुआ । व्यास जी को जहाँ विचारार्थ रुकने की आवश्यकता होती थी, वहाँ वे कूट श्लोक बोल देते थे, जिसे समझने के लिए गणेश जी को स्वयं रुकना पड़ता था । श्रीमद्भागवत में एक स्थान पर 'वाचः कूटं' शब्द का प्रयोग हुआ है[6] जो दृष्टिकूट शब्द का ही समानार्थक है ।

हिन्दी में सूर से पूर्व चंद, विद्यापति तथा कबीर के पदों में दृष्टिकूट शैली के दर्शन तो होते हैं, किन्तु वास्तव में हिन्दी में 'दृष्टिकूट' का पूर्ण विकास सूर में ही हुआ है । श्री चुन्नीलाल 'शेष' ने दृष्टिकूट के तीन भेद बताए हैं—

१– कथात्मक, २– आलंकारिक, ३– ध्वनि-परिवर्तक ।[7]

१– कथात्मक दृष्टिकूट वे हैं, जिनमें किसी कथा का आश्रय लिया जाता है । यह कथा पौराणिक हो सकती है अथवा लौकिक । सूरदास में दोनों प्रकार के कथात्मक दृष्टिकूट प्राप्त होते हैं । निम्नलिखित पद में दृष्टिकूट के माध्यम से सागर-मंथन की पौराणिक कथा की ओर संकेत किया गया है—

जब दधि-रिपु हरि हाथ लियौ ।
खगपति-अरि डर असुरनि संका, बासरपति आनन्द कियौ ॥
बिदुखि सिंधु सकुचत, सिव सोचत, गरलादिक किम जात पियौ ।
अति अनुराग संग कमला-तन, प्रफुलित अँग न समात हियौ ॥
एकनि दुख, एकनि सुख उपजत ऐसौ कौन विनोद कियौ ।
सूरदास प्रभु तुम्हरे गहत ही, एक-एक तैं होत बियौ ॥[8]

लोक-कथात्मक दृष्टिकूटों में प्रायः कवि-प्रसिद्धियों का आश्रय लिया गया है । उदाहरणार्थ निम्नलिखित पद में तद्गुण अलंकार के साथ-साथ हंस के मुक्ता चुगने तथा चकोर के अंगार चुगने के प्रयास का उल्लेख हुआ है—

४– ऋग्वेद १।१७५-२ ।
५– बृहदारण्यक उपनिषद् २।३-१ ।
६– श्रीमद्भागवत ६।५।१० । ७– सूर के सौ कूट, पृ० १६ । ८– सूरसागर ७६१ ।

राधे जलसुत कर जु धरे।
अतिहीं अरुन, अधिक छवि उपजत तजत हंस सगरे ॥
चुगन चकोर चले ह्वै सनमुख, झझके रहे खरे।
तब बिहँसी वृषभानु-नन्दिनी, दोऊ मिलि झगरे॥
रवि अरु ससि दोऊ एकै रथ, सनमुख आनि अरे।
सूरदास प्रभु कुंजविहारी, आनँद उमँगि भरे॥[9]

२८ आलंकारिक दृष्टिकूटों में कवि अलंकारों के माध्यम से गूढ़ भावों को प्रकट करता है। शब्दालंकार तथा अर्थालंकार दोनों में कुछ ऐसे अलंकार हैं, जिनमें अर्थ-गोपन की प्रधानता रहती है, यथा—यमक, श्लेष, वक्रोक्ति, प्रहेलिका तथा रूपकातिशयोक्ति, उत्प्रेक्षा, सूक्ष्म, युक्ति आदि। सूर के दृष्टिकूटों में इनका सफल चित्रण हुआ है। कुछ उदाहरण प्रस्तुत हैं—

यमक :

सारँग सारँग धरहि मिलावहु।
सारँग विनय करत सारँग सौं, सारँग दुख बिसरावहु ॥
सारँग समै दहति अति सारँग, सारँग तिनहिं दिखावहु।
सारँग-गति सारँग-धर जे हैं, सारँग जाइ मनावहु ॥
सारँग-चरन, सुभग कर सारँग, सारँग नाम बुलावहु।
सूरदास सारँग उपकारिनि, सारँग मरत जियावहु ॥[10]

प्रस्तुत पद में सारँग शब्द के भिन्न-भिन्न अर्थ हैं, यथा—सारँग=सखी, सारंगधर=कृष्ण, सारँग=आकाश, अनंत, सारँग=भगवान् विष्णु, सारँग=कामदेव, सारँग=रात्रि, सारँग=चन्द्रमा, सारँग=सर्व, सारँग=प्रेमपूर्वक, सारँग=कमल, सारँग=भ्रमर, सारँग=कुरंग (विगड़ी बात)। इनके आधार पर पद का भावार्थ इस प्रकार है—हे सखी, तू मुझे श्री कृष्ण से मिला दे। मैं तुझसे प्रार्थना करती हूँ कि तू मेरे काम के दुःख को विस्मृत करा दे। रात्रि के समय चंद्रमा अत्यधिक जलाता है। अतः तू मुझे श्री कृष्ण के दर्शन करा दे। श्रीकृष्ण सर्प जैसी चालवाले हैं, अर्थात् शीघ्र ही क्रुद्ध हो जाते हैं। उनके पास जाकर तू उन्हें प्रेमपूर्वक मना ला। उन कृष्ण के चरण तथा हाथ कमल के समान हैं, जो भ्रमर की भाँति (अनेक फूलों अर्थात् नायिकाओं का रस लेनेवाले) हैं, उन्हें बुला ला। हे उपकारिणी सखी, तू विगड़ी को बनानेवाली है, अतः अपनी सखी को जो मर रही है, जीवन-दान दिला दे।

श्लेष :

दधि-सुत जामे नंद दुवार।
निरखि नैन अरुझ्यौ मनमोहन, रटत देहु कर बारंबार ॥
दीरघ मोल कह्यौ व्यौपारी, रहे ठगे सब कौतुक हार।
कर ऊपर लै राखि रहे हरि, देत न मुक्ता परम सुढार ॥[11]

प्रस्तुत पद में साधारण अर्थ तो यही है कि नंद के द्वार पर दधिसुत अर्थात् मुक्ता (मोती) विक्रेता आए हैं और मनमोहन उन्हें देखकर उनके प्रति आकृष्ट होकर उन्हें लेने के लिए बार-बार रट लगाए हुए हैं। इसका गूढ़ार्थ है कि नंद के द्वार पर कुछ ऐसे व्यक्ति आए हुए हैं, जो मुक्ति दिलाने का दावा करते हैं

९– वही १८१०। १०– वही २७१५। ११– वही ७९१।

और उसके लिए योगसाधना, तप आदि का बड़ा मूल्य निर्धारित करते हैं, किंतु भगवान् कृष्ण अत्यंत साधारण उपायों से उस मुक्ति पर अपना अधिकार प्रकट करते हैं। इस अर्थ की पुष्टि दधिसुत शब्द में श्लेष (मुक्ता तथा मुक्ति) के कारण होती है।

वक्रोक्ति :

मानिनि बार बसन उघार।
संभु कोप दुआर आयौ आद कौ तन मार।
नागजा पति पिता पुर कौं जाहु कहतन बेग।
गेह द्रग औ रंग झख सुन रीत ताही नेग।
कहहु करहि सहाइ सुरपति चढ़त ब्रज पै फेर।
सूर उक्ती वक्र कर कर रही नीचै हेर।[12]

श्री कृष्ण मानिनी नायिका के द्वार पर पहुँचते हैं। उनकी ओर से सखी बार बसन (किवाड़) खोलने के लिए निवेदन करती है पर नायिका उनके नामों का विशेष अर्थ लगाकर उन्हें वक्रोक्तिपरक उत्तर देती है। सखी कहती है—तेरे द्वार पर हरि (शंभु=हर, कोप=रिस, दोनों के आदि अक्षरों के योग से 'हरि' शब्द बना है) आए हैं। नायिका उत्तर देती है—यदि हरि (वानर) हैं तो लंका (नागजा=नागपुत्री सुलोचना, उसका पति मेघनाद, उसका पिता रावण, उसका पुर=लंका) को जाओ। सखी पुनः कहती है, घनश्याम (गेह=घर, द्रग=नयन, रंग='श्याम' रंग, झख=मछली, इन सबके आदि अक्षरों से बना घनश्याम शब्द) आए हैं। उत्तर में नायिका कहती है, यदि घनश्याम (काले मेघ) हैं तो उनसे कहो कि वे ब्रज पर चढ़ाई करने में पुनः इंद्र की सहायता करें। इस प्रकार नायिका वक्र-उक्ति, टेढ़े वचन कह कर नीचे की ओर देख रही है। इसमें सूर ने वक्रोक्ति अलंकार का प्रयोग किया है।

प्रहेलिका :

देखो सखि अकथ रूप अतूथ।
एक अंबुज मध्य देखियत बीस दधि-सुत-जूथ।
एक सुक तहँ दोइ जलचर उभय अर्क अनूप।
पंच बिरचे एक ही ढिग कहौं कौन सरूप।
भई सिसुता माँहि सोभा करौ अर्थ विचारि।
सूर श्री गोपाल की छवि राखिए उर धारि।[13]

एक सखी दूसरी सखी से श्री कृष्ण के रूप का वर्णन करती हुई कहती है—हे सखि, एक अकथनीय-अपूर्व रूप देखो। एक कमल के मध्य बीस चंद्रमा (बीस नख) हैं। एक तोते (नासिका) के पास दो मछलियाँ (नेत्र) तथा दो अनुपम सूर्य (कर्ण फूल) हैं। एक ही स्थान पर पाँच कमल (एक मुख-कमल, दो कर-कमल तथा दो चरण-कमल) हैं। बताओ यह कौन स्वरूप है ? यह कृष्ण की बालछवि है। इसे हृदय में धारण करो।

रूपकातिशयोक्ति :

अद्‌भुत एक अनूपम बाग।
जुगल कमल पर गजवर क्रीड़त ता पर सिंह करत अनुराग।
हरि पर सरवर, सर पर गिरवर गिर पर फूले पद्म-पराग।

१२– साहित्यलहरी : संपादक प्रभुदयाल मीतल, पद ९। १३– सूरसागर, परिशिष्ट १, पद ९।

रुचिर कपोत बसत ता ऊपर, ता ऊपर अमृत फल लाग।
फल पर पुहुप, पुहुप पर पल्लव, ता पर सुक पिक मृगमद काग।
खंजन धनुप चन्द्रमा ऊपर ता ऊपर इक मनिधर नाग।
अंग-अंग प्रति और और छवि उपमा ताकौ करत न त्याग।
सूरदास प्रभु पियौ सुधा-रस मानौ अधरनि के बड़ भाग।[१४]

सूरदास जी का यह प्रसिद्ध पद है, जिसमें उन्होंने रूपकातिशयोक्ति के माध्यम से राधा के अद्वितीय सौंदर्य का वर्णन किया है। राधा को एक अनुपम वाटिका के रूप में चित्रित किया गया है जिसमें दो कमलों पर एक गजराज क्रीड़ा कर रहा है। चरण कमल हैं तथा चाल हाथी जैसी है। उस पर सिंह (कटि) अनुराग कर रहा है। सिंह पर सरोवर, सरोवर पर पर्वत तथा पर्वत पर परागयुक्त कमल फूले हैं। अर्थात् कटि पर सरोवरवत् नाभि है, नाभि पर उन्नत कुच हैं जो लालिमा युक्त हाथों से ढके हुए हैं। उसके ऊपर कपोत हैं तथा उसपर अमृत फल आम है (ग्रीवा पर चिबुक है)। आम पर पुष्प, पुष्प पर पल्लव, उस पर शुक, पिक तथा मृगमद काग है (चिबुक पर पुष्पवत् अधर, अधरों पर पल्लववत् ओष्ठ तथा ओष्ठ पर नासिका है, कोकिल के समान मधुर वाणी है तथा मस्तक पर कस्तूरी की वेंदी है)। उस पर खंजन पक्षी हैं, खंजन पर धनुप, धनुष पर चंद्रमा तथा चंद्रमा पर मणिधर नाग बैठा है (खंजन के समान नेत्रों पर धनुषवत् भौंहें, भौंहों पर मस्तक तथा मस्तक पर शीशफूलसहित वेणी है)।

युक्ति :

करि विपरीत भवन में धारा।
बैठी हुती अकेली सुंदर लिखित रूप सुत सुत सुत मारा।
दधि सुत अरि भख सुत सुभाव चल तहाँ उताइल आई।
देख ताहि सुर लिख कुवेर को वित्त तुरत समुझाई।
करत विंग ते विंग दूसरी जुक्त अलंकृत माँही।
'सूर' देख ग्वालिन की बातें को कत समुझ तहाँ ही।[१५]

इसका अर्थ इस प्रकार है—धारा की विपरीत अर्थात् राधा, भवन में अकेली बैठी हुई कामरूप कृष्ण का सुंदर चित्र बना रही थी। तभी वहाँ शीघ्रतापूर्वक एक सखी दधिसुत=चंद्रमा, उसका अरि=राहु, उसका भख=सूर्य, उसका सुत=कर्ण, उसका स्वभाव=दानी, उसका फारसी पर्याय सखी (अर्थात् सखी) आ पहुँची। उसे देखकर (राधा के चित्र के हाथों में) पुष्पों का धनुष (सूर=सुमन→फूल, कुवेर का वित्त=धन→धनु→धनुष) चित्रित कर दिया। इस प्रकार अलंकृत युक्ति से एक व्यंग्य से दूसरा व्यंग्य किया। इसमें अलंकृत युक्ति 'युक्ति अलंकार' है। इन ग्वालिनों की बातों को देखकर भला कौन क्या समझ सकता है।

'साहित्यलहरी' के सभी पद 'दृष्टिकूट' हैं जिनमें किसी न किसी अलंकार का निरूपण किया गया है। पद के अंत में कवि ने इसका स्पष्ट उल्लेख भी किया है। विस्तार-भय से यहाँ इनकी चर्चा नहीं की जा रही है। सहृदय जन अपह्नुति, पर्यायोक्ति, व्याजोक्ति, विशेषोक्ति, परिसंख्या, मुद्रा, मीलित आदि अलंकारों के लिए 'साहित्यलहरी' के क्रमशः ११, २८, २९, ३५, ५२ तथा ७० संख्यक पद देख सकते हैं।[१६]

ध्वनिपरिवर्तक दृष्टिकूट :

ध्वनिपरिवर्तक दृष्टिकूट वे हैं जिनमें निष्पन्न शब्द की ध्वनि में कुछ परिवर्तन करने से अर्थ निकलता है। उदाहरणार्थ दो पंक्तियाँ प्रस्तुत हैं—नखत वेद ग्रह जोरि अरध करि, सोइ बनत अब खात।[१७] अर्थात् नक्षत्र २७, वेद ४, ग्रह ९, इनका योग ४०, उसका आधा बीस='विष' खाती हैं।

१४– सूरसागर २७२८। १५– साहित्यलहरी ८७।
१६– साहित्यलहरी, सम्पादक एवं व्याख्याकार डॉ० प्रभुदयाल मीतल। १७– सूरसागर ४५९४।

इसी प्रकार "करि विपरीत भवन में धारा।"[१८] में 'धारा' शब्द में वर्ण-विपर्यय द्वारा 'राधा' शब्द कवि का अभिप्रेत है।

सूर के दृष्टिकूट पदों का मुख्य विषय अलंकार-निरूपण तथा नायक-नायिका-भेद-वर्णन है। विनय एवं बाललीला से संबद्ध तो इस प्रकार के केवल चार-पाँच ही पद प्राप्त होते हैं। सूरदास ने राधा-कृष्ण की केलिक्रीड़ा का वर्णन दृष्टिकूट के माध्यम से किया है। ये वर्णन जानबूझकर कवि ने इस रूप में प्रस्तुत किए हैं ताकि जनसाधारण इनके रहस्य को न समझ पाएँ। इनमें उन्हीं की पैठ संभव है, जो मर्मज्ञ हैं तथा जिन्होंने राधा-कृष्ण में स्वयं को पूर्णतः तन्मय कर लिया है।

दृष्टिकूट पदों में सूरदासजी का बुद्धि-वैभव, चमत्कारप्रियता एवं शब्द-क्रीड़ा देखते ही बनती है। अर्थवैचित्र्य की दृष्टि से उन्होंने इस प्रकार के शब्दों का संयोजन किया है कि उन्हें देखकर आश्चर्यचकित रह जाना पड़ता है। दृष्टिकूट-रचना की दृष्टि से हिन्दी का कोई भी कवि उनके समकक्ष नहीं ठहरता।

■

देखि सखि, पाँच कमल, द्वै संभु।
एक कमल ब्रज ऊपर राजत, निरखत नैन अचंभु॥
एक कमल प्यारी कर लीन्हे, कमल सुकोमल अंग।
जुगल कमल सुतकमल विचारत, प्रीति न कबहूँ भंग॥
पट जु कमल मुख सन्मुख चितवत, बहु विधि रंग तरंग।
तिन मैं तीनि सोम, वंसी वस तीन सु कस्यप अंग॥
जेइ कमल सनकादिक दुरलभ जिनहीं निकसी गंग।
तेई कमल सूर तित चितवत निपट निरंतर संग॥

सूरसागर ३०८४

■

१८– साहित्यलहरी ८७।



सूर की लोकमंगल-भावना

डॉक्टर भगवती प्रसाद सिंह

सूरदास कृष्ण की लोकरंजक लीलाओं के चिन्तन तथा गान में निरन्तर मग्न रहनेवाले भावसिद्ध भक्त थे। उन्होंने उपास्य के जिस स्वरूप को अपनी साधना का आधार बनाया था, वह बाल तथा किशोरावस्था की ब्रजलीलाओं तक ही सीमित था। यह दूसरी बात है कि भागवत के आधार पर कृष्ण-लीला-गान की प्रतिज्ञा का निर्वाह करने के लिए शुकदेवजी के आदर्श पर सूरसागर में उन्होंने उनकी लोकलीला से सम्बद्ध अन्य चरितों को भी स्थान दिया, किन्तु ऐसे प्रसंगों में उनकी वृत्ति गहराई से रमती नहीं दिखायी देती।

सूर ने कृष्ण के कैशोरलीला-वर्णन-प्रसंग में राधा तथा गोपियों के साथ उनके उन्मुक्त हास-विलास का जैसा चित्रण किया है, वह अनेक स्थलों पर मर्यादा को सीमा लाँघता प्रतीत होता है। कहीं-कहीं तो वे इनके अंकन में इतने विभोर हो गये हैं कि उन्हें इस बात का ध्यान ही नहीं रहा है कि पढ़ने-सुनने वालों पर उसका क्या प्रभाव पड़ेगा। वस्तुतः वे क्षण भक्त सूरदास के महाभाव में ऐकान्तिक भक्ति की परम गूढ़ स्थिति के हैं जिनमें साधक-साध्य से अद्वैतता स्थापित कर लेता है। इस ध्येयाकार वृत्ति में संसार का भान नहीं रहता, सत्-असत्, श्लील-अश्लील, विधि-निषेध की दुनिया पीछे छूट जाती है। माधुर्य-रस के भोक्ता वीतराग ईसाई, सूफी तथा निर्गुण-सगुणमार्गी वैष्णव भक्त कवियों की रचनाओं में इसके उदाहरण भरे पड़े हैं—भक्तों ने इसे 'दिव्य-शृंगार' अथवा 'उज्ज्वल-रस' की संज्ञा दी है। सूर इष्टदेव की रासलीला की अनिर्वचनीयता का गान करते थकना नहीं जानते। इस प्रकार की भाव-भक्ति से सम्पन्न भक्तों को वे लीलाबिहारी का नित्य परिकर मानते हैं।[१]

१— रास रसलीला गाइ सुनाऊँ।
यह जस कहै, सुनै मुख स्रवननि तिह चरननि सिर नाऊँ॥
कहा कहौं बक्ता स्रोता फल, इक रसना क्यौं गाऊँ।
अष्ट-सिद्धि नव-निधि सुख-सम्पति, लघुता करि दरसाऊँ॥
जो परतीति होइ हिरदै मैं, जग माया धिक देखै।
हरिजन दरस हरिहि सम बूझै अन्तर कपट न लेखै॥
धनि बक्ता, तेई धनि स्रोता, स्याम निकट हैं ताकैं।
सूर धन्य तिहि के पितु माता, भाव भगति है जाकैं॥ सूरसागर १७९६।

राधाकान्त द्वारा व्रज-निकुंजों में की गयी यह रासलीला ही उनका ध्येय तथा गेय है, यही उनकी जीवनव्यापी साधना का फल है और इसी का जन्मजन्मान्तर में अनन्यभाव से चिन्तन-मनन उनका अभीष्ट है।[२] भागवत का रासपंचाध्यायी प्रसंग इसी रस-मग्न अवस्था का प्रसाद है—"पिवत भागवतं रस-मालयं मुहुरहो रसिका भुवि भावुकाः" में भक्तों को उसी के निरन्तर पान का उपदेश दिया गया है। रसिक भक्त बिहारी ने उसी का प्रशस्तिगान करते हुए कहा है—

गिरि ते ऊँचे रसिक मन बूड़े जहाँ हजार।
वहै सदा पसु नरन को, प्रेम पयोधि पगार॥

कहने का तात्पर्य यह कि सूरके कतिपय शृंगारी पदोंको लोकमर्यादा-विरोधी घोषित करनेके पूर्व उनकी भक्ति-भावना तथा साधनात्मक स्थिति पर सहानुभूति तथा विवेकपूर्वक विचार करना न्यायसंगत होगा। व्यक्तिगत साधना की दृष्टि से भक्त द्वारा प्राप्त की जानेवाली यही चरम स्थिति है और व्यष्टि-मंगल की यही शास्त्रसम्मत तथा लोकसमादृत प्रेरणाभूमि है।

इस सम्बन्धमें ध्यान देनेकी बात यह है कि सूर माधुर्य-भक्ति-धारामें बहते हुए भी परकीया-प्रेम के लोकविरोधी स्वरूप से अवगत थे। इसलिए अन्य समकालीन कृष्णभक्तों की भाँति उन्होंने राधाको परकीया रूप में चित्रित न कर उनका विधिपूर्वक कृष्णसे विवाह कराया और इस प्रकार उनके स्वकीयात्व की प्रतिष्ठा की। गोपियों को परकीयात्वके लांछनसे मुक्त करने के लिए उन्हें पारमार्थिक रूपमें वेदकी ऋचाएँ[3] बताकर ही वे सन्तुष्ट नहीं हुए, उन्होंने कृष्ण के द्वारा उनके साथ रचाई गई लीला को एक ऐसी रहस्यपूर्ण घटनाके रूपमें अंकित किया जिसकी उनके कुटुम्बियों को भनक भी न मिली। लोकमर्यादाकी रक्षा का यह अपूर्व उपक्रम था।[४] इस व्यष्टि-मंगल के साथ ही उनकी समष्टि अथवा लोकमंगल-भावना पर भी विचार कर लेना समीचीन होगा।

२— मैं कैसैं रस रासहि गाऊँ।
श्रीराधिका स्याम की प्यारी कृपावास व्रज पाऊँ॥
आन देव सपनेहुँ न जानौं दंपति कौं सिर नाऊँ।
भजन-प्रताप चरन महिमा तैं गुरुकी कृपा दिखाऊँ॥
नव निकुंज बन-धाम-निकट इक आनँद- कुटी रचाऊँ।
सूर कहा विनती करि विनवै, जनम जनम यह ध्याऊँ॥ वही १७९२।

३— गोपी-पद-रज-महिमा विधि भृगु सों कही।
बरप सहस तप कियो तऊ मैं ना लही॥
....
व्रज सुन्दरि नहिं नारि, रिचा स्रुति की सब आहीं।
मैं अरु सिव पुनि सेप, लच्छमी तिन सम नाहीं॥ वही १७९३।

४— व्रजवासी सब सोवत पाए।
नंदसुवन मति ऐसी ठानी, इनि घर लोग जगाए॥
....
जो जैसे सो तैसे लागे अपनैं अपनैं काज।
सूर स्याम के चरित अगोचर, राखी कुल की लाज॥ वही १७८८।

विनय के पदों में सूर ने आराध्यदेवकी करुणाशीलता[5], शरणागतवत्सलता[6], आर्तक्षकता[7] आदि लोक-मंगलकारी गुणोंका मुक्तकंठ से गान किया है। वहाँ कृष्ण के गोपिकावल्लभ रूपको भुलाकर उनके लोक-रक्षक तथा लोकशिक्षक स्वरूपको अधिक महत्त्व दिया गया है।[8] जगन्नियंता भगवानका यही लोकपालक रूप सूर के लिए उनकी शरण में आनेका प्रेरक बना।[9] आराध्य श्रीनाथ के सारंगधर स्वरूपको महत्त्व देनेके पीछे सूर की लोकहित-कामना की प्रेरणा स्पष्ट झलकती है।[10] दशावतार-वन्दनाके प्रसंगमें भगवान्के वेदोद्धारक मत्स्य रूपका स्तवन करते हुए प्रकारान्तरसे लोकमर्यादा-स्थापनामें उनके द्वारा किये गये प्रयासोंका अभिनन्दन किया गया है।[11] मर्यादापुरुषोत्तम रामके चरितमें लोकमंगल-विधायक तत्त्वों की प्रचुरता देखकर सूरने अनेक स्थलोंपर उनके द्वारा लोकपीड़क राक्षसोंके संहारकी दिशामें किये गये वीर-दर्पपूर्ण कार्यों का

५— प्रगट होत भक्तनि के काजा। ब्रह्म कीट सम सबके राजा॥
जहँ जहँ गाढ़ परे तहँ आवैं। गरुड़ छाँड़ि ता सन्मुख धावैं॥ वही १५६९।

६— सरन गए को को न उबार्‌यौ।
जब जब भीर परी संतनि कौं, चक्र सुदरसन तहाँ सँभार्‌यौ।
....
नरहरि रूप धर्‌यौ करुनाकर, छिनक माँहि उर नखनि बिदार्‌यौ।
....
सूर स्याम बिनु और करै को, रंगभूमि में कंस पछार्‌यौ॥ वही १४।
× × ×
हरि सौं ठाकुर और न जन कौं।
संकट परैं तुरत उठि धावत, परम सुभट निज पन कौं। वही ९।

७— जब जब दीननि कठिन परी।
जानत हौं करुनामय जन कौं तब तब सुगम करी। वही ६।

८— वासुदेव की बड़ी बड़ाई।
जगत-पिता जगदीश जगत-गुरु निज भक्तनि की सहत ढिठाई। वही ३।

९— ऐसी को करी अरु निज भक्त काजैं।
जैसी जगदीस जिय धरी लाजैं॥ वही ५।
× × ×
स्याम गरीबनि हूँ के गाहक।
दीनानाथ हमारे ठाकुर साँचे प्रीति निवाहक।
....
सूरदास सठ, तातैं हरि भजि आरतके दुख दाहक॥ वही १९।

१०— श्रीनाथ सारँगधर कृपा करि दीन पर, डरत भवत्रास तैं राखि लीजै। वही १२०।

११— ऐसे को सकै करि बिनु मुरारी।
कहत ही ब्रह्म के वेद-उद्धरन-हित गए पाताल तन-मत्स्य धारी।
संखासुर मारि कै वेद उद्धारि कै आपदा चतुरमुख की निवारी।
सुरनि आकाश तैं पुहुप-बरषा करी, सूर सुनि सुजस कीरति उचारी। वही ४४४।

भावपूर्ण चित्रांकन किया है।[12] कृष्णावतार-लीलाका वर्णन करते हुए भी उनकी दृष्टिसे लोकपालक भगवान् का यह स्वरूप ओझल नहीं हुआ है। कंस द्वारा कृष्णको मारनेके निमित्त भेजे गये, अघासुर, बकासुर, शकटासुर, पूतना, केशी आदि नृशंस असुरोंका वध, व्रजको भस्मसात् करनेवाले दावानलका पान, इन्द्र-कोप-प्रसूत भीषण वर्षासे डूबते हुए व्रजकी रक्षाके लिए गोवर्धन-धारण आदि अलौकिक कृत्योंके उत्साहपूर्ण वर्णन के पीछे सूरकी जनसामान्यके प्रति प्रगाढ़ सहानुभूति लक्षित होती है।

लोक-जीवन की मुख्य धुरी समाज की परम्परया प्रतिष्ठित मर्यादा है। उसकी रक्षा से ही स्वस्थ सामाजिक आदर्शों की सृष्टि एवं पालन होता है। सूर इस तथ्य से पूर्णतया अवगत थे। इसलिए रास-लीला-वर्णन में, जो कृष्णचरित का सर्वाधिक आलोच्य प्रसंग रहा है, वे इसके कुशलतापूर्वक निर्वाह की ओर सतत सचेष्ट तथा सावधान दिखायी देते हैं। गोपियों को वेद-विहित आचार-पालन का उपदेश कितने स्पष्ट शब्दों में दिया गया है।[13] इसके उत्तर में सूर ने गोपिकाओं के मुख से जो कुछ कहलाया है, वह गीता के "सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज" के सर्वथा अनुकूल है। आगे चलकर तो सारे प्रसंग को दार्शनिक पुट देकर प्रतीक में परिणत कर दिया गया है।[14] इससे यह स्पष्ट है कि सूर ने व्रजांगनाओं के साथ कृष्ण की जिस रासलीला या निकुंजकेलि का वर्णन किया है, वह पुरुष-प्रकृति की शाश्वत लीला का ही प्रतिरूप है—सामान्य नायक-नायिका की उन्मुक्त विलास-क्रीड़ा नहीं। रागात्मिका भक्ति के सिद्धान्त के प्रतिपादक होते हुए भी सूर ने इस बात का बराबर ध्यान रखा कि सामान्य वैषयिक वृत्ति के जीव उनके शब्दों का मनमानी अर्थ लगाकर सामाजिक मर्यादा का उल्लंघन न करने लगें। कृष्ण-गोपी-तत्त्व की प्रतीकात्मक व्याख्या तथा वेदमार्ग-प्रतिपादन की योजना इसी उद्देश्य की पूर्ति के लिए की गयी प्रतीत होती है।

१२– आजु अति कोपे हैं रन राम।
....

धर अम्बर दिसि विदिसि बढ़े अति सायक किरन समान।
....

रघुपति रिस पावक प्रचंड अति, सीता-स्वास समीर।
रावन कुल अरु कुम्भकरन वन सकल सुभट रनधीर।
भए भस्म कछु बार न लागी ज्यों ज्वाला पट-चीर। वही ६०२।

१३– ईहि बिधि वेद-मारग सुनौ।
कपट तजि पति करौ पूजा, कहा तुम जिय गुनौ॥
कन्त मानहु भव तरौगी, और नाहिं उपाइ।
ताहि तजि क्यौं विपिन आईं, कहा पायौ आइ॥ वही १६३४।
× × ×
धिक् सो नारि पुरुष जो त्यागै, धिक् सो पति जो त्यागै जोइ॥
....

जुवती सेवा तऊ न त्यागै, जो पति करै कोटि अपकर्म। वही १६३३।

१४– प्रकृति पुरुष लय भई, जगत सब प्रकृति समाया।
रह्यौ एक वैकुंठ लोक जहँ त्रिभुवन राया॥
अछत अच्युत अविकार है, निराकार है जोइ।
आदि अन्त नहिं जानियत, आदि अन्त है सोइ॥ वही १७९३।

भक्ति-क्षेत्र में लोकमंगल की भावना की स्थापना एवं रक्षा के साथ ही सूर की अन्तःदृष्टि समाज की तत्कालीन स्थिति की ओर भी गयी थी। अतः एकांत साधना में मग्न रहते हुए भी एक सजग सांस्कृतिक प्रहरी के रूप में अपने चतुर्दिक् व्याप्त लोकजीवन की व्याधियों को पहचानकर उसके निदान तथा उपचार का उन्होंने यथासम्भव प्रयास किया था। 'भ्रमरगीत' की रचना उसी का प्रतिफल है।

बारहवीं शताब्दी के आस-पास बज्रयानी और सहजयानी बौद्ध सिद्धों तथा योगिनी कौलमत के अनुयायी शाक्त-साधकों के प्रभाव से, गोरखनाथ द्वारा प्रवर्तित सदाचारमूलक नाथपन्थ के अनुयायी योगी तांत्रिक एवं रसायन पद्धतियों के प्रचारक बनकर भोगपरक जीवन व्यतीत करने लगे थे। यद्यपि इस स्थिति में भी हठयोग अथवा कायायोग उनकी साधना का मूलाधार था, किंतु उसके द्वारा अर्जित शक्ति एवं प्रभाव का उपयोग वे वासना तृप्ति के साधन जुटाने में करते थे। स्त्री, जिसे तांत्रिक बौद्ध साधकों ने मुद्रा और शैव-शाक्तों ने योगिनी की संज्ञा प्रदान की थी, अध्यात्म-साधना का मुख्य अंग मानी जाती थी। इस योग-साधना का उद्देश्य अलौकिक शक्ति प्राप्त करना होता था। उनके चमत्कारों से आतंकित तथा अभिभूत भोली-भाली जनता अपना सर्वस्व अर्पित करने को बाध्य हो जाती थी। हिन्दी के संतमतानुयायी ज्ञानमार्गी कवियों को निर्गुण निराकार ब्रह्म की उपासना नाथपन्थी साधकों से रिक्थ के रूप में प्राप्त हुई थी। परम्परागत वैष्णव धर्म, तीर्थाटन, मूर्तिपूजा, भाव-प्रधान भक्ति-साधना आदि का उग्र विरोध उक्त दोनों पन्थों ने समान रूप से किया। इनकी दार्शनिक मान्यताएँ सूफी साधकों से बहुत कुछ मिलती-जुलती थीं—बहुत से योगी इस्लाम में दीक्षित भी हो गये थे। मध्यकालीन सूफी दरवेशों, फकीरों तथा नाथपन्थी योगियों के वैचारिक आदान-प्रदान के अनेक सन्दर्भ शेख फरीद ख्वाजा निजामुद्दीन औलिया तथा सैयद अशरफ जहाँगीर के जीवन-वृत्तों में मिलते हैं। भटिंडा के बाबारतन तथा किछौछा (फैजाबाद) के दरपननाथ और कमाल जोगी के धर्म-परिवर्तन के वृत्तान्त उपर्युक्त उपपत्ति के समर्थन में प्रस्तुत किये जा सकते हैं। इससे तत्कालीन हिन्दू समाज के आध्यात्मिक चिन्तन तथा धार्मिक जीवन में नाथपन्थियों द्वारा उत्पन्न अव्यवस्था एवं दिशाहीनता के वातावरण का अनुमान लगाया जा सकता है। उत्तरी भारत में स्वामी रामानन्द के प्रभाव से उद्भूत नवीन धार्मिक चेतना के प्रकाश में वैष्णव भक्तों ने योगियों और निर्गुणियों सन्तों द्वारा मुस्लिम विजय के पश्चात् राष्ट्र के सांस्कृतिक जीवन में व्याप्त अनास्था, वर्ग-विद्वेष, दम्भ तथा अलगाव को प्रोत्साहित करनेवाली प्रवृत्तियों को लक्षित किया। गोस्वामी तुलसीदास ने अपनी कृतियों में उनका खुलकर विरोध किया।[१५] इन कलजुगी सिद्धों और जोगियों द्वारा प्रवंचित जनता की स्थिति की चर्चा अनेक स्थलों पर गोस्वामीजी ने की है।[१६] ज्ञानमार्गी तथा प्रेममार्गी सन्तों की नवीन काव्य-विधाओं में अभिव्यक्त परम्परागत भागवतधर्म-विरोधी विचारधारा पर उनके व्यंग्यपूर्ण प्रहार बहुत ही सटीक हैं।[१७] अलख जगाने वाले योगियों के आचरण के प्रति एकाध स्थलों पर तो उनकी उग्रता साधुजनोचित सहिष्णुता को तिलांजलि देती हुई दिखायी देती है।[१८]

१५– गोरख जगायो जोग, भगति भगायो लोग,
निगम-नियोग ते सो केलि ही छरो सो है। कवितावली, उत्तर० ८४।

१६– असुभ वेष भूषन धरे भच्छाभच्छ जे खाहिं।
ते जोगी ते सिद्ध नर पूज्य ते कलिजुग माहिं॥ दोहावली ५५०।

१७– साखी सबदी दोहरा कहि किहनि उपखान।
भगति निरूपहिं भगत कलि निंदहिं बेद पुरान॥ वही ५५४।

१८– हम लखि लखहि हमार, लखि हम हमार के बीच।
तुलसी अलखहि का लखसि राम नाम जपु नीच॥ वही १९।

सूर ने इस चुनौती का उत्तर सीधे न देकर एक मनोरंजक माध्यम ढूँढ़ निकाला, और वह था भ्रमरगीत-प्रसंग। इसमें अपने दिल का सारा गुबार उन्होंने उद्धव-गोपी-संवाद के बहाने निकाला। भ्रमर नाथपन्थी योगी अथवा ज्ञानमार्गी निर्गुणिया सन्त का प्रतिनिधि बनाया गया और गोपियाँ श्रद्धालु सगुणोपासक भक्त की पक्षधर बनीं। उद्धव द्वारा दिये गये उपदेश में नाथपन्थी दर्शन ही नहीं, साधना भी पूरी तरह समाविष्ट है।[१९] इतना ही नहीं, गोपियों के प्रत्युत्तर में गोरखपन्थी साधकों के बाने का भी विवरण विशद रूप में मिलता है।[२०]

तुलसी और सूर, दोनोंकी दृष्टिमें यह कायायोग-प्रधान निवृत्तिपरक साधना जन-साधारणके लिए, विशेषरूपसे स्त्रियोंके लिए तो पूर्णतया अनाचरणीय थी। इसे वे भावयोग-पुरस्सर सगुण भक्तिमार्ग के विकासमें सर्वाधिक बाधक मानते थे। तुलसी द्वारा की गयी पंथाइयोंकी आलोचना का मुख्य कारण उनकी परम्परा विरोधी प्रवृत्ति ही थी।[२१] यही कारण था कि सूरने भी निर्गुण पंथको प्रकृत भारतीय भक्ति-साधानाका कंटक घोषित कर त्याज्य ठहराया।[२२] सूरका यह 'राजपन्थ' तुलसी के 'राजडगर'[२३] का ही पर्याय है और 'पन्थ' न होकर वह उस परम्परया प्रतिष्ठित सगुण-भक्ति मार्गका बोधक है जिसपर कोई भी साधक आँखमें पट्टी बाँधकर बेखटके किसी भी समय यात्रा कर सकता था।

१९– जाकै रूप बरन वपु नाहीं। नैन मूँदि चितवौ मन माहीं॥
हृदय कमल तैं जोति विराजै। अनहद नाद निरंतर बाजै॥
इड़ा पिंगला सुषमन नारी। सहज सुन्न मैं बसहिं मुरारी॥
माता-पिता न दारा भाई। जल थल घट-घट रह्यौ समाई॥
इहिं प्रकार भव दुस्तर तरिहौ। जोग पंथ क्रम-क्रम अनुसरिहौ॥ सूरसागर ४७११।

× × ×

एकै अलख अपार, आदि अविगत है सोई।
आदि निरंजन नाम, ताहि रीझै सब कोई॥
नैन नासिका अग्र है, तहाँ ब्रह्म को बास।
अबिनासी विनसै नहीं, सहज जोति परकास॥ वही ४७१२।

२०– हम तौ तबहिं तैं जोग लियौ।
जबही तैं मधुकर मधुबन कौं मोहन गौन कियौ॥
रहित सनेह सरोरुह सब तन श्रीखँड भसम चढ़ाए।
पहिरि मेखला चीर पुरातन, फिर फिर फेरि सियाए॥
श्रुति ताटंक मेलि मुद्रावलि, अवधि अधार अधारी।
....
भोग भुगति भूलैं नहिं भावत, भरी विरह बैराग।
गोरख सब्द पुकारत आरत रस रसना अनुराग॥ वही ४३११।

२१– श्रुति सम्मत हरिभक्ति पथ, संजुत विरति विवेक।
तेहिं न चलहिं नर मोहवस, कल्पहिं पंथ अनेक॥ रामचरितमानस ७।१०० ख।

२२– काहे कौं रोकत मारग सूधौ।
सुनहु मधुप निरगुन कंटक तैं राजपन्थ क्यौं रूँधौ॥ सूरसागर ४५०८।

२३– गुरु कह्यो रामभजन नीको मोहिं लगत राज-डगरो सो। विनय पत्रिका १७३।

इस प्रकार अध्यात्म-साधनाके क्षेत्रमें लोकहित-रक्षामें सतत सचेष्ट रहनेके साथ ही सूरने समँकालीन राजनीतिक तथा सामाजिक व्यवस्था द्वारा उत्पन्न स्थिति को भी निकटसे देखा-परखा था। सूर-सागर के द्वादश स्कन्धमें मुगल शासकों के अत्याचार, कृषकोंसे जबर्दस्ती अनाजकी वसूली, राजकर्मचारियों में व्याप्त घूसखोरी, अपराधियोंको छोड़कर वेगुनाह लोगोंको फँसाने के षड्यन्त्र, समाज के सभी वर्गोंमें बढ़ती हुई भोगलिप्सा आदि विषयक उल्लेखोंमें उनके करुणाविगलित संवेदनशील मानसका प्रतिविम्ब देखा जा सकता है।[२४]

सूरका ध्यान आकृष्ट करनेवाली एक और वात थी समकालीन समाजमें वढ़ती हुई विषमता अथवा छोटे-वड़े की भावना, जिसका मूलाधार थी हजारों वर्षोंसे वद्धमूल जातिप्रथा अथवा वर्ण-व्यवस्था। वाह्य चक्षु-हीन होते हुए भी उन्होंने अपने चतुर्दिक् व्याप्त इसके कुप्रभावोंका साक्षात्कार किया था। विशेष रूपसे विजेता मुसलमानोंमें प्रतिष्ठित जातीय एकता तथा सामाजिक भ्रातृभाव ने हिन्दू समाजके उक्त दोष को और उजागर कर दिया था, जिससे धर्म-परिवर्तन को खुला प्रोत्साहन मिल रहा था। वैष्णवाचार्यों ने इस संक्रामक रोग के शमनार्थ ही "वैष्णवाः पंचमो वर्णाः" की घोषणा कर जाति तथा वर्गके आधार पर व्यक्ति का मूल्यांकन न कर उसके निजी वैशिष्ट्यको महत्त्व देनेकी शिक्षा दी थी। सूर ने इस सुधार-वादी प्रवृत्तिका स्वागत किया था।[२५]

अतः सन्त मतानुसार उनकी मान्यता थी कि जाति और वर्ग के कृत्रिम घेरे मानव मस्तिष्क की सृष्टि हैं। भक्तवत्सल भगवान्की दृष्टिमें जन्म अथवा आर्थिक स्थिति के अनुसार कोई ऊँच-नीच या छोटा-वड़ा नहीं है, स्वजन होने से सभी समान हैं। सारांश यह है कि मुस्लिम विजयके पश्चात् उत्पन्न सांस्कृतिक संघर्ष के युग में समाज के परम्परागत नैतिक मूल्योंकी रक्षा के लिए सूर ने विघटनकारी वाह्य तथा अन्तः तत्त्वोंका अपनी सीमा तथा स्वरूपके अनुसार दृढ़तापूर्वक प्रतिरोध किया था।

साम्प्रदायिक आस्था से वँधे, मानसिक रुझानसे विवश और शारीरिक स्थितिसे लाचार प्रज्ञाचक्षु कवि से लोकदर्शन और लोकमंगल-साधनाकी इससे अधिक और क्या अपेक्षा की जा सकती है?

■

२४– कलि मैं नृप होइहैं अन्याई। कृषी अन्न लैहैं वरिआई॥
झूठे नर सौं लेहिं अँकोरि। लावैं साँचे नर कौ खोरि॥
....
मन इन्द्रिय वस करैं न लोग। ज्यौं त्यौं कीन्हौं चाहैं भोग॥ सूरसागर ४९३४।

२५– कह्यौ सुक श्रीभागवत-विचार।
जाति पाँति कोउ पूछत नाहीं श्रीपति कैं दरवार। वही २३।
× × ×
राम भक्तवत्सल निज वानौं।
जाति गोत कुल नाम गनत नहिं रंक होइ कै रानौं॥ वही ११।



सूरदास का काव्य : लोकजीवन के अनुभवों की रागात्मक परिणति

डॉक्टर वेदप्रकाश अमिताभ

अमर साहित्य अमरबेल की तरह हवा में टँगा हुआ नहीं होता, उसकी जड़ें जनजीवन या लोकजीवन की ठोस जमीन में बहुत गहरे धँसी होती हैं। लोकजीवन की पूँजी अक्षय है और प्रत्येक युग की उल्लेखनीय प्रतिभाएँ उसका अपने ढंग से अच्छा-बुरा उपयोग करती आयी हैं। साहित्यिक गतिरोध को तोड़ने में भी लोकजीवन की शक्ति बहुत कारगर साबित होती है। डॉ० नामवर सिंह के शब्दों में, "कविता में जब कवियों को नया मार्ग नहीं सूझता, नयी दिशाएँ मेघाच्छन्न दिखायी पड़ती हैं और पुरानी चहारदीवारी से निकलने का उपाय नहीं मिलता, तो लोकशक्ति ही मशाल लेकर आगे बढ़ती है····अंधकार को चीरती है, कुहरे को छाँटती है, मार्ग को प्रशस्त करती है और दम घुटते कवियों की संज्ञा में प्राणवायु का संचार करती है।" इस लोकशक्ति का उपयोग सिद्धों-नाथों के साहित्य से लेकर आज के जनवादी साहित्य तक बराबर होता रहा—कभी कम, कभी ज्यादह। मध्यकालीन भक्तिकाव्य में लोकचेतना का काव्यात्मक रचाव न केवल विशद है, अपितु मार्मिक भी। संतकाव्य में लोकजीवन की बहुत सी उक्तियाँ और अनुभूतियाँ किंचित् परिष्कृत रूप में आ गयी हैं। कहा जाता है, 'ढोला मारूरा दोहा' सदृश लोककाव्य की बहुत सी पंक्तियाँ तनिक हेरफेर से कबीर आदि की कविता में विद्यमान हैं। रामकाव्य और सूफीकाव्य की 'वस्तु' और काव्यरूप पर लोकजीवन की छाप बहुत स्पष्ट है। कृष्णभक्ति काव्य पर प्रायः यह आरोप चस्पाँ किया जाता है कि यह अंतर्मुखी और अलौकिक साधना पर केन्द्रित है, इसमें सामाजिक जवाबदेही और लोकोन्मुखी चेतना की कमी है। कृष्णकाव्य के सबसे महान् कवि सूर की कविता के संदर्भ में देखने पर यह स्पष्ट हुए बिना नहीं रहता कि इसमें लोकजीवन के अनुभवों की काव्यात्मक परिणति न केवल रागात्मक है, अपितु विश्वसनीय भी।

आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ने कृष्णलीला-वर्णन की दो परम्पराओं की चर्चा की है—भागवत महापुराण की परम्परा और गीत गोविन्द की परम्परा। सूरकाव्य में दोनों परम्पराओं का समन्वय माना जाता है। वास्तविकता यह है कि सूर की कविता में एक तीसरी परम्परा का, लोकजीवन में कृष्ण-लीला-वर्णन की परम्परा का विकास हुआ है। चूँकि पूर्ववर्ती कवियों ने इस परम्परा की प्रायः उपेक्षा की है, अतः सूरकाव्य में इस परम्परा का विकास आकस्मिक और नया लगता है। आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने यह लिख कर—"सूरसागर किसी चली आती हुई गीतिकाव्य-परम्परा का—चाहे वह मौखिक ही रही हो—पूर्ण विकास-सा प्रतीत होता है"—इसी लोक परम्परा की ओर संकेत किया लगता है। यह परम्परा 'पंडितों द्वारा प्रवर्तित काव्य-परम्परा' से भिन्न है। यह बात दीगर है कि शास्त्रीयता इसमें एकदम अनुपस्थित नहीं है। जिन कृष्णलीलाओं का सूर ने गायन किया है, वे

तीन प्रकार की कही गयी हैं—श्रवणमंगलम्, ध्यानमंगलम् और विश्वमंगलम्। प्राचीन भित्तिचित्रों और मूर्तियों से स्पष्ट है कि इतिहास के आरंभिक काल में गीता से संबंधित कृष्ण की लीलाएँ लोकप्रिय थीं, लेकिन कालांतर में गोवर्द्धनलीला, कालियदमन लीला, दानलीला आदि का महत्त्व बढ़ा। इनकी लोकप्रियता बढ़ने के कारणों में एक यह भी है कि ये कृष्ण के लोकहितकारी रूप को सामने लाती हैं। कृष्ण के हाथों वरुण, अग्नि, इन्द्र और ब्रह्मा आदि की पराजय लोक-देवता के हाथों वैदिक देवों की पराजय को व्यंजित करती है। डॉ० चन्द्रभान रावत के शब्दों में "कृष्ण ने दलदली भूमि को कृषि-योग्य बनाया। कालियदमन की लीला इसी का प्रतीक है। गोवर्द्धन धारण की लीला जहाँ वैदिक देव की पराजय का रूपक प्रस्तुत करती है, वहाँ इस लीला में वर्षाजन्य प्लावनों से व्रज की रक्षा का प्रतिनिधित्व भी है।" इन विश्वमंगलम् लीलाओं पर पद रच कर सूर ने लोक-चेतना को मुखर किया है।

कृष्णलीला-वर्णन में अनेक अवसरों पर सूर की कविता शिष्ट साहित्य के आभिजात्य की परिधि से बाहर चली जाती है। बाल-लीलाओं में अनेक स्थलों पर न केवल लोक-जीवन के संस्कारों और पर्वों का उल्लेख हुआ है, अपितु कथन-शैली भी एकदम लोकजीवन से उठा ली गयी है। कृष्णजन्म के बाद यशोदा का नाइन पर बिगड़ना स्वाभाविक है—'बेगहिं नार छेदि बालक कौ, जाति बयारि भराई।' इस अवसर पर ब्रजसुन्दरियों का उल्लास सोहर और बधावे के माध्यम से व्यक्त हुआ है—

बनि व्रज सुन्दरि चलीं सुगाइ बधावन रे।
कनक थार रोचक दधि तिलक बनावन रे।

सुहागन नारियों के पैरों में महावर लगाती नाइन की 'नेग की माँग' और कथनशैली अत्यन्त परिचित है—

नाइनि बोलहु नवरँगी (हो) ल्याउ महावर बेग।
लाख टका अरु झूमका (देहु) सारी, दाइ कौ नेग।

'सूरसागर' मे कुछ 'पलना गीत' भी हैं। ब्रज-लोकसाहित्य में 'पलना गीत' का कोई निश्चित छन्द नहीं है, अतः सूर के पलना-गीतों में भी छन्द-वैविध्य है। जिस प्रकार लोकगीतों में सामान्यतः 'सोने की थारी' होती है और उसमें 'जेवना' (व्यंजना) परोसे जाते हैं, उसी तरह पलना गीतों में पालना चन्दन का और डोरी रेशम की होती है। सूर ने इस लोक-भावना को अपने एक गीत में ज्यों का त्यों प्रस्तुत कर दिया है—

पालनौ अति सुन्दर गढ़ि ल्याउ रे बढ़ैया।
सीतल चंदन कटाउ, धरि खराद रंग लाउ
विविध चौकरी बनाउ, धाउ रे बनैया।
पँचरँग रेसम लगाउ हीरा मोतिनि मढ़ाउ
बहुविधि जरि करि जराउ ल्याउ रे जरैया।

वैवाहिक लोकाचार से सम्बद्ध काव्यरूप 'मंगल' भी सूरकाव्य में उपलब्ध है। राधा-कृष्ण, कृष्ण-रुक्मिणी और सुभद्रा-अर्जुन के विवाह-प्रसंगों पर लिखे गीतों की अन्तिम तान जनमन के हर्ष और मंगल पर टूटी है—'सूर जनमन भयौ अनंद' या 'सूरदास जनमंगल गाये।' कर्ण-छेदन, यज्ञोपवीत और ज्यौनार आदि से सम्बन्धित कई पद सूरसागर में हैं और लोक-सांस्कृतिक वातावरण की सृष्टि करते हैं।

उत्सवों और पर्वों पर जो लोक-उल्लास उमड़ता है, सूर ने उसे बहुत निकट से देखा और अनुभवा है। झूलन, होरी आदि के पदों में यह उल्लास बहुत कुछ सिमट आया है। सावन में झूला झूलने के

मधुर क्षण और आस पास का उद्दीपक वातावरण कई पदों में सजीव हुआ है। डॉ० हरगुलाल की एक टिप्पणी के अनुसार "सूरसागर में 'झूलन' के समस्त पदों की लय, शब्दावली, भाव और अनगढ़ सौन्दर्य लोकगीतों का सा है। पद की प्रथम पंक्ति उसकी टेक के रूप में लिखी गयी है। द्रुत विलंबित लय, भाव, भाषा, वातावरण एवं विषयवस्तु भी लोकगीत की सी है।" एक झूलन गीत की कुछ पंक्तियाँ—

तैसीयै दमकति दामिनी, तैसोइ अम्बर घोर।
तैसोइ रटत पपीहरा, तैसोइ बोलत मोर॥
....

कबहुँ रहसत, मचकि, लै लै एक एक सहेलि।
झकझोरि झमकति, डरति प्यारी, पिया अंकम मेलि॥

होरी के पद यद्यपि कल्याण, काफी, सारंग, बिलावल आदि रागों में निबद्ध हैं, लेकिन उनकी बनावट शास्त्रीय ढाँचे की अपेक्षा लोक-पद्धति के अधिक निकट है। होली सूर काव्य में इसलिए भी महत्त्वपूर्ण स्थान रखती है कि यह संयोग पक्ष की अन्तिम लीला है। गोप-गोपियों का उल्लास इसमें चरम को प्राप्त होता है। होली के अवसर पर कृष्ण के मथुरा-गमन की बात ब्रजवासियों को विदित होती है। गोपियाँ लोकगीत की शैली में कृष्ण से मथुरा जाने से पहले होली के रंग में रँग जाने का अनुरोध करते नहीं थकतीं—

कछु दिन ब्रज औरौ रहौ, हरि होरी है।
अब जिन मथुरा जाहु अहो, हरि होरी है॥
परब करौ घर आपनैं, हरि होरी है।
कुसल छेम निरवाहु, अहो हरि होरी है॥

कृष्णलीला में 'वेणु' का महत्त्वपूर्ण स्थान है। वेणु लोक-वाद्य है। कुछ कृष्ण भक्त आचार्यों और कवियों ने इसे ब्रह्म अथवा विराट् अथवा लोक के आह्वान का प्रतीक बना दिया है। आचार्य वल्लभ ने वेणु-गीत की व्याख्या करते हुए लिखा है कि ईश्वर के नामात्मक और रूपात्मक स्वरूपों में से नामात्मक स्वरूप का बोध इससे होता है। इस साम्प्रदायिक आवरण को उघारें तो वेणु का स्वर लोक का आह्वान है—एक से अनेक होने का, 'स्व' को त्याग 'पर' में विलीन होने का। इस लोक-आह्वान में बहुत शक्ति है, तभी तो गोपियाँ पति, परिवार आदि के सीमित घेरों को तोड़कर विश्वात्मा में एकाकार होने के लिए आकुल हो उठती हैं—

सुनहु हरि मुरली मधुर बजाई।
मोहे सुर नर नाग निरंतर ब्रज बनिता सब धाईं॥
× × × × × ×
मानत नाहिं और रिस पार्वति निकसीं नातौ तोरि।
जैसें जलप्रवाह भादौं कौ सो को सकै बहोरि॥

मुरली को लेकर सूर ने गोपियों की जिस मनःस्थिति को रेखांकित किया है, उसका केन्द्रीय भाव लोक की इस उक्ति का प्रतिपादन है कि 'काठ की सौत' भी बुरी होती है। गोपियों की यह वेदना साधारण नहीं है कि अनेक छिद्रों से युक्त मामूली बाँस की बाँसुरी कृष्ण के अधर-रस को निरन्तर लूटती रहती है, उन्हें त्रिभंगी मुद्रा में एक पैर पर खड़ा रखती है और नाना प्रकार से नाच नचाती है, दूसरी ओर सरवस समर्पण कर देने पर भी गोपियों को इस प्रकार का सामीप्य-सुख और अधिकार नहीं मिलता।

अतः वे इस निष्कर्ष पर पहुँचती हैं—

सखी री मुरली लीजै चोरि।
जिन गोपाल कीन्हें अपने वस प्रीति सबनि की तोरि ।।

सूर ने गोपियों की उपर्युक्त सौतिया डाह को लेकर अनेक मधुर पद रचे हैं। निश्चय ही कोई साम्प्रदायिक प्रेरणा इसके पीछे नहीं है। यह मनःस्थिति लोक-नारी की है जो सूर के द्वारा प्रकारान्तर से व्यक्त हुई है।

लोकोक्तियों में कमाये हुए या जिये हुए अनुभवजन्य सामूहिक सत्य निहित होते हैं। डॉ० वासुदेव शरण अग्रवाल के अनुसार लोकोक्तियाँ मानवी ज्ञान के घनीभूत रत्न हैं, जिन्हें वुद्धि और अनुभव की किरणों से फूटनेवाली ज्योति प्राप्त होती है। काव्य में लोकोक्तियों का समावेश न केवल अभिव्यंजना पद्धति को, अपितु विषय-वस्तु को भी यथार्थ और संप्रेषणीय बना देता है। सूरकाव्य की शक्ति का एक प्रमुख कारण यह भी है कि उसमें लोकोक्तियों की संपदा विखरी हुई है। कुछ उदाहरण पर्याप्त होंगे—

विलग जनि मानौ ऊधौ प्यारे।
वह मथुरा काजर की ओबरि जे आवैं ते कारे ।।

× × ×　　　　× × ×

लेवादेई बराबर को है कौन रंक को भूप।

× × ×　　　　× × ×

जाकौं मन मानत हैं जासौं सो तहई सुख मानै।

× × ×　　　　× × ×

कहा कहत मामी के आगे जानत नानी नानन।

ये सभी उक्तियाँ कहीं गोपियों की वेदना को गहराती हैं, कहीं उनके स्वाभिमान को व्यंजित करती हैं। इसके अतिरिक्त 'मधु दूहे की माखी', 'पानी की चुपरी' और 'जहीं व्याह तहँ गीत' जैसे प्रयोग घरेलू होने के साथ साथ यह व्यंजित करते हैं कि तत्कालीन नारियों (गोपियों) का संसार वहुत सीमित था। अप्रस्तुत विधान में भी लोक के अनुभवों को वतौर उपमान प्रस्तुत किया है। कृष्ण के प्रेम की वास्तविकता को उजागर करने के लिए गोपियों ने खटाई से कलई उतर जाने का अनुभव दुहराया है—'उघरि गयी प्रीति कलई सों, जैसे खाटी आमी।' इसी प्रकार 'दाख' छोड़कर 'कटुक निवौरी' खाने की मूर्खता न करने के पीछे लोकरुचि वहुत स्पष्ट है। गोपियों ने उद्धव की अपरिवर्तनीय प्रकृति का बोध इस तरह कराया है—

प्रकृति जो जाकै अंग परी।
स्वान पूँछ कोउ कोटिक लागै, सूधी कहुँ न करी ।।
जैसैं काग भच्छ नहिं छाँड़ै, जनमत जौन धरी।

'ज्यों करुई ककरी', 'फलनि माँझ ज्यों करुई तोमरि', 'मनो काटिवो घास' आदि अप्रस्तुत कृषि-प्रधान लोक संस्कृति से सूर के वहुत अच्छे परिचय के परिचायक हैं।

आखिर में उन लोक-विश्वासों की चर्चा की जा सकती है, जो सूरकाव्य में वहुत सहज रूप में आ गये हैं। यशोदा का मातृ हृदय अपने पुत्र को नजर लगने की आशंका से त्रस्त रहता है। अतः कभी माथे पर डिठौना लगाने का, कभी राई-नोन उतारने या गले में कठुला पहनाने का क्रम चलता रहता है— 'खेलन में कोउ दीठि लगाई, लै लै राई-लोन उतारति।' शकुन-अपशकुन का विचार भी लोक-विश्वास के अन्तर्गत आता है। कृष्ण के यमुना में कूदते ही नन्द-यशोदा अनेक अपशकुनों का सामना करते हैं।

भुजा और नेत्र फड़कने से सम्वद्ध शकुन-अपशकुन सूरकाव्य में एक से अधिक वार उल्लिखित हैं। काग का उड़ जाना किसी के आगमन का सूचक होता है; इस लोक-विश्वास का सूर ने गोपियों के विरह-प्रसंग में वहुत मार्मिक उपयोग किया है—

> तौ तू उड़ि न जाइ रे काग।
> जौ गुपाल गोकुल कौं आवैं, तौ ह्वैहैं वड़ भाग॥
> दधि ओदन भरि दोनौ दैहौं, अरु आँचल की पाग।

इन लोक-विश्वासों के चित्रण से यह सिद्ध होता है कि तत्कालीन लोक-जीवन की नब्ज को पकड़ने में सूर को सफलता मिली है। कहा जाता है कि उनके जीवन का अधिकांश परासौली में एकांतिक साधना में व्यतीत हुआ, तत्कालीन समाज से वे लगभग कटे रहे। लेकिन उनके पद इसके विपरीत यह सिद्ध करते हैं कि उनका जीवन लोक-जीवन से जुड़ा हुआ था। उन्होंने लोक की मानसिकता से न केवल सीधा साक्षात्कार किया था, अपितु उसे जिया भी था। कम से कम इस दृष्टि से विचार करने पर उनके जन्मांध होने की पुष्टि नहीं होती। किसी दिव्य दृष्टि के जरिए लोक-जीवन के विश्वास, आचार, संस्कार आदि से गंभीर परिचय संभव नहीं है। ये तो कवि के स्वानुभूत अनुभव होते हैं जो कविता में विश्वसनीयता और प्रामाणिकता की सृष्टि करते हैं। लोक-अनुभवों का विस्तार या तो वात्सल्य के पदों में है या भ्रमरगीत-प्रसंग में। कहने की आवश्यकता नहीं कि सूर-काव्य का उत्तमांश वात्सल्य और विरह के पदों में ही है।

सूर ने परोक्षतः लोक-जीवन (ब्रज-भूमि) की महत्ता सिद्ध की है। इस परिवेश में आभिजात्य महत्त्वहीन है और वैषम्य वर्जित—'अति अधिकार जनावत जातैं अधिक तुम्हारे हैं कछु गैयाँ'। यहाँ योग सरीखी पारलौकिक ठग विद्या के प्रचार और प्रसार की तनिक भी गुंजाइश नहीं—'जोग ठगौरी ब्रज न विकैहैं।' यहाँ मुक्ति काम्य नहीं—'मुकुति आनि मंदे में घेली'। कृष्ण नरेश हो जाने के वाद भी इसके जादुई आकर्षण से नहीं छूटते। इस आकर्षण के पीछे प्रधान गोपियों का कामाकर्षण नहीं, प्राथमिक आकर्षण की चीजें हैं—'हंस सुता की सुन्दर कगरी अरु कुंजन की छाँहीं।' मथुरा का वैभवपूर्ण नागर जीवन सूर के कृष्ण को वाँध नहीं पाता। उन्हें ब्रज-लोकजीवन की स्मृति निरंतर आंदोलित करती रहती है—

> यह मथुरा कंचन की नगरी मनि मुक्ताहल जाहीं।
> जवहिं सुरति आवत वा सुख की जिय उमगत तन नाहीं॥

सूर-काव्य में उद्धव और अक्रूर वुद्धि प्रधान नागर मानस के प्रतिनिधि हैं और गोपियाँ लोकमानस का प्रतिनिधित्व करती हैं। उद्धव आदि की पराजय लोक-मानस के प्रति सूर की अनुरक्ति को व्यंजित करती है। उनके काव्य की शक्ति का सवसे वड़ा 'तत्त्व' इस लोकमानस की काव्यात्मक अभिव्यक्ति है।

■



सूरसागर में लोकतत्त्व

डॉक्टर शम्भुशरण शुक्ल

'लोक' शब्द का अर्थ है 'देखनेवाला', अर्थात् वे सभी जो देखने का कार्य करते हैं, 'लोक' कहे जायेंगे। ऋग्वेद में लोक शब्द का प्रयोग अनेक अर्थों में किया गया है; यथा—जीव तथा स्थान[1] के रूप में, 'जन'[2] अर्थात् जनता के अर्थ में। 'जैमिनीय उपनिषद् ब्राह्मण' में कहा गया है कि प्रत्येक वस्तु में 'लोक' व्याप्त है।[3] इस प्रकार 'लोक' की व्यापकता बतायी गयी है। पाणिनि ने लोक की सत्ता को वेद की सत्ता से अलग स्वीकार किया है।[4] भगवद्गीता में लोक-संग्रह का अर्थ साधारण जनता का व्यवहार तथा आदर्श स्वीकार किया गया है।[5]

डॉ० हजारी प्रसाद द्विवेदी के अनुसार 'लोक' शब्द का अर्थ 'जनपद' या ग्राम नहीं, बल्कि नगरों और ग्रामों में फैली हुई वह समूची जनता है जिसके व्यावहारिक ज्ञान का आधार पोथियाँ नहीं हैं। ये लोग नगर के परिष्कृत, रुचि-सम्पन्न, सुसंस्कृत समझे जानेवाले लोगों की अपेक्षा सरल और अकृत्रिम जीवन के अभ्यस्त होते हैं और परिष्कृत रुचिवाले लोगों की समूची विलासिता और सुकुमारता को जिला रखने के लिए जो भी वस्तुएँ आवश्यक होती हैं, उनको उत्पन्न करते हैं।[6]

ऐसे लोग नगर में भी हो सकते हैं और ग्रामों में भी। इस प्रकार वे सभी लोग जिनके व्यावहारिक ज्ञान का आधार पोथियाँ नहीं हैं तथा जिनका जीवन अकृत्रिम है, 'लोक' संज्ञा से अभिहित किये जायेंगे।

अंग्रेजी में 'लोक' के लिए फोक (Folk) शब्द का प्रयोग होता है। 'फोक' शब्द के अर्थ हैं—लोक, राष्ट्र, जाति, सर्वसाधारण या वर्गविशेष। 'लोक' अथवा सर्वसाधारण की अपनी संस्कृति होती है, जिसे 'लोक-संस्कृति' अथवा लोक-वार्त्ता (Folk-lore) शब्दों से अभिहित किया गया है। सोफिया बर्न ने लोक-संस्कृति अथवा लोक-वार्त्ता के तीन विभाग किए हैं—

---

१ – नाभ्या आसीदंतरिक्षं शीर्ष्णो द्यौः समवर्तत।
पदभ्यां भूमिर्दिशः श्रोत्रात्तथा लोकां अकल्पयन्॥ पुरुषसूक्त १०/९०/१४।

२ – ऋग्वेद ३/५३/१२।

३ – बहु व्याहितो वा अयं बहुतो लोकः।
क एतद् अस्य पुनरीहतो अयात्॥ ३/२८।

४ – अष्टाध्यायी ६/१/१२२-१२३ सूत्र की वृत्ति।

५ – गीता ३/३, ३/२०, ३/२२, ३/२४।

६ – विचार और वितर्क– डॉ० हजारी प्रसाद द्विवेदी, पृ० २०५।

१. लोक-विश्वास और अन्ध-परम्पराएँ।
२. रीति-रिवाज तथा प्रथाएँ।
३. लोक-साहित्य।[७]

इस प्रकार लोक-विश्वास, अन्ध परम्पराएँ, रीति-रिवाज, प्रथाएँ तथा लोक साहित्य 'लोक-तत्त्व' कहे जायेंगे। किसी भी साहित्य में लोक-तत्त्वों की खोज का तात्पर्य लोक-वार्त्ता अथवा लोक-संस्कृति की खोज है।

सभ्यता के विकास के साथ-साथ ग्राम और नगर के भेद हुए। कृत्रिमता को 'सभ्यता' नाम दिया गया। परन्तु मानव अपने पुरखों से जहाँ जमीन-जायदाद, रुपया-पैसा दाय के रूप में प्राप्त करता है, वहीं आदिम प्रवृत्तियों तथा आदिम संस्कारों को भी प्राप्त करता है। कृत्रिम सभ्यता के आवरण में दवे-दवे कभी-कभी मनुष्य दाय रूप में प्राप्त उन आदिम संस्कारों को भी अभिव्यंजित करना चाहता है, उनमें रुचि लेता है। मनुष्य के ऐसे मानस को डॉ० सत्येन्द्र ने लोक-मानस कहा है।[८] इसे सहज अवचेतन भी कहा जाता है। लोक-मानस का उद्घाटन जिन विद्वानों ने किया, उनमें मैरेट, एम० लेवी, फ्रांज वोआज़ आदि प्रमुख हैं। डॉ० हजारी प्रसाद द्विवेदी ने इसी को 'लोक-चित्त' कहा है।[९] श्री हर्वर्ट रीड जैसे साहित्यशास्त्री ने भी ऐसे मानस की सत्ता की ओर संकेत किया है। उन्होंने इसे इन्हेरिटेड पैटर्न (Inherited Pattern) कहा है।[१०] इस प्रकार जिस साहित्य में 'लोक मानस' की अभिव्यक्ति हो, उसे हम लोक-साहित्य कहेंगे। अभिजात साहित्य की ही भाँति लोक-साहित्य के भी लोक-गीत, लोक-कथा, लोक-पहेलियाँ, लोकोक्तियाँ आदि विभाग होते हैं।

कृष्ण-भक्ति साहित्य के महाकवि भक्तशिरोमणि सूरदास को यदि हम लोक-कवि कहें तो कोई अत्युक्ति न होगी। अन्तर केवल इतना है कि लोक-कवि वेनाम होता है। स्वाभाविक धारा-प्रवाह से उसके हृदय में काव्य का उद्रेक होता है, और वह गाने लगता है। लोक-गीत अथवा लोक-कविता में स्वर-साधना प्रमुख है, शब्द-साधना गौण। साथ ही कवि के व्यक्तित्व का समाजीकरण भी आवश्यक है। लोककवि अपना काव्य लोक को समर्पित कर देता है। लोक-साहित्य लिखित नहीं होता। जहाँ तक सूर का सम्बन्ध है, उनको शास्त्र-ज्ञान ने कवि नहीं बनाया, काव्य उनके हृदय से स्वतः प्रवाहित हुआ। वे भगवान के समक्ष गा-गाकर, गिड़गिड़ाते हुए अपने पापों तथा प्रभु श्रीकृष्ण के बड़प्पन का वखान करते थे। इस प्रकार सेवक-सेव्य भाव से प्रभु की भक्ति करते थे। जब स्वामी वल्लभाचार्य जी से भेंट हुई तो उन्होंने कृष्ण-लीला कहने को प्रेरित किया और सूर सखारूप में कृष्ण-लीला गाने लगे। इस प्रकार लोक-कवि की तरह सूर भी गायक पहले हैं, कवि वाद में। उन्होंने भी स्वर-साधना पहले की, शब्द-साधना वाद में। सूर के पद भी केवल गाये जाते थे, लिखित नहीं थे। यही कारण है कि आज भी न जाने कितने पद सूर के पदों के रूप में सहृदयों, गायकों में लोक-प्रिय वने हुए हैं। सूर का व्रज-संस्कृति से अटूट सम्बन्ध था। यमुना के किनारे, कदम्ब वृक्ष के नीचे अन्धे सूर ने अन्तरात्मा में अपने कन्हैया की वाँसुरी सुनी थी, राधा की ता-थेई, ता-थेई में भाग लिया था। फलस्वरूप उन्होंने अपने काव्य में व्रज-लोक-संस्कृति की विस्तार से अभिव्यक्ति की। अतः सूर में लोक-तत्त्वों की प्राप्ति सहज तथा स्वाभाविक है।

---

७ — व्रज-लोकसाहित्यका अध्ययन— डॉ० सत्येन्द्र, पृ० ४-५।
८ — लोकसाहित्य-विज्ञान— डॉ० सत्येन्द्र, पृ० १७।
९ — विचार और वितर्क— डॉ० हजारी प्रसाद द्विवेदी, पृ० २१५।
१० — फॉर्म इन मॉडर्न पोइट्री, पृ० ३६-३७।

'सूर-सागर' की कथाओं में लोक-तत्त्व

लोक-कथाएँ कल्पना-मंडित, आश्चर्यजनक अतीत से सम्बन्धित होती हैं। उनमें अप्राकृतिक, अतिप्राकृतिक तथा अमानवीय तत्त्व होते हैं। पुराण-कथा इतिहास का विकृत अंश या प्राकृतिक घटना का प्रतीकवद्ध रूप अथवा मनोरंजक कथामात्र नहीं होती, उसका सम्बन्ध उन आदिकालीन घटनाओं से जोड़ा जा सकता है जो उसके माध्यम से जानी जाती हैं और जिनके सत्य होने में अथवा जिनकी वास्तविकता के वारे में कोई सन्देह नहीं किया जा सकता[११]।

जहाँतक 'सूर-सागर' में आयी कथाओं का सम्बन्व है, वे 'श्रीमद्भागवत' की कथाओं पर आश्रित हैं, परन्तु वे श्रीमद्भागवत का अनुवाद नहीं हैं। इन कथाओं के सम्वन्ध में विचार करते हुए डॉ० मुंशीराम शर्मा ने लिखा है—"सूर-सागर श्रीमद्भागवत की कथा के आधार पर लिखा गया है, परन्तु द्वादश स्कन्धों के विभाजन के अतिरिक्त कथावस्तु में यह पूर्णतया भागवत् का अनुसरण नहीं करता। सूरदास का उद्देश्य भी भागवत की कथा का अविकल अनुवाद करना नहीं जान पड़ता....भागवत में अनेक विषयों की जो विस्तृत समीक्षा दिखाई पड़ती है, सूर-सागर में उसका अभाव है।[१२]

'सूर-सागर' में शुक-जन्म की कथा में शुक शंकर जी के डर से प्राण लेकर वहाँ पहुँचा जहाँ व्यास जी की स्त्री थीं। उन्होंने शुक को वचाने के लिए अपना मुख खोल दिया। शुक 'तनु तजि' उसमें समा गया और वारह वर्ष तक गर्भ में रहा।[१३] इस कथा में कल्पना-मंडित देश-काल-पक्षी का नारी के मुख में प्रवेश करके वारह वर्ष तक गर्भ में रहना है। विना पुरुष-सम्पर्क के व्यास की स्त्री का गर्भवती होना अप्राकृतिक है। राजा पुरुरवा की कथा में स्त्री पुरुष वन जाती है, पुरुष स्त्री वन जाता है तथा दोनों रूपों में सन्तान को जन्म देता है। आज विज्ञान ने पुरुष को स्त्री वनाकर, स्त्री को पुरुष बनाकर अतीत में प्रचलित आश्चर्यजनक कल्पना को सत्य कर दिया है। परन्तु सुद्युम्न एक माह पुरुष रहेगा, एक माह स्त्री[१४], अभी विज्ञान इसे सम्भव नहीं कर पाया है। अतः इस कथा में यह प्रसंग पूर्णरूप से लोक-तात्त्विक है। इसी कथा में उर्वशी का अन्तर्धान हो जाना, राजा पुरुरवा का यज्ञ करके गन्धर्व-लोक में पहुँचना अतिप्राकृतिक तथा अमानवीय है।

भौमासुर-वध-कथा में श्रीकृष्ण द्वारा सोलह हजार कन्याओं से विवाह करना यदि सत्य मान भी लिया जाये, तो भी विविध रूप धारण[१५] करके सवकी इच्छा पूरी करना और दस-दस पुत्र तथा एक-एक पुत्री सभी से उत्पन्न करना आश्चर्यजनक तथा अति-प्राकृतिक है।

पुराण-कथाएँ सृष्टि-निर्माण, रात-दिन के रहस्य आदि आदिम मानव के मन में उठनेवाली जिज्ञासाओं, शंकाओं के स्पष्टीकरण होते हैं। 'सूर-सागर' में पुरुरवा की कथा सृष्टि-निर्माण के रहस्य को खोलती है। इसमें जो आश्चर्यजनक घटनाएँ हैं, हिन्दू जनता उनमें विश्वास करती है। सूर-सागर की अनेक कथाओं में इसी तरह विभिन्न लोक-तत्त्वों का समावेश हुआ है।

काव्य-रूप में लोक-तत्त्व

सूर ने ऐसे अनेक काव्य-रूपों का प्रयोग किया है जो लोक की सम्पत्ति हैं; यथा,— सोहर, हिंडोला, फाग, होली, रसिया, विरहा, सावन, प्रभाती, हेरी आदि। प्रभाती का एक पद है —

जागिए व्रज राज कुँवर कमल कुसुम फूले।
कुमुद-वृंद सँकुचित भए भृंग लता भूले॥[१६]

---

११ — मिथ्स ऑव मिड्ल इण्डिया— वेरियर एल्विन, इंट्रोडक्शन, पृ० ११-१२।

१२ — भारतीय साधना और सूर साहित्य— डॉ० मुंशीराम शर्मा, पृ० ५३।

१३ — सूरसागर (ना० प्र०) २२६। १४ — वही ४४६। १५ — वही ४८१२। १६ — वही ८२०।

निम्नलिखित सोहर भी कितना मनोहर है —

धनि-धनि नंद जसोमति, धनि जग पावन रे।
धनि हरि लियौ अवतार, सु धनि दिन आवन रे ॥[१७]

सूर ने वसन्त, हिंडोला तथा होली के तो शताधिक पद गाये हैं। होली के एक-दो उदाहरण देखें—

हो हो हो हो हो हो होरी।
खेलत अति सुख प्रीति प्रगट भई; उत हरि इतहिं राधिका गोरी ॥[१८]

× × ×   × × ×

कछु दिन ब्रज औरौ रहौ, हरि होरी है।
अब जिनि मथुरा जाहु, अहो हरि होरी है ॥[१९]

कीर्तन-शैली में रचे पदों में लोक-गीतों की मुख्य विशेषता—सामूहिक गान तत्त्व—स्वतः आ गयी है। इन पदों में सूर की भाषा भी लोकानुभूति का समर्थन करती है। ऐसे पद आकार में विशद हैं।

लोक-रीतियाँ

लोक-रीतियाँ वेद-रीतियों के बराबर महत्त्व तथा शक्ति रखती हैं। कोई भी संस्कार लोक-रीतियों के बिना पूरा नहीं हो सकता। सूर ने कृष्ण के जन्म, नामकरण, चूड़ाकर्म आदि संस्कारों में लोक-रीतियों की अभिव्यक्ति की है। कृष्ण-जन्म पर सखियों द्वारा सोहर के गीत गाये जाते हैं। काजल और रोली के योग से छठी का चौक बनाया जाता है।[२०] इस अवसर पर सूर ने 'चिहुरका' नाम का गीत भी रखा है। 'चिहुरका' गीतों में बच्चे की माँ को गालियाँ दी जाती है।[२१] वर्षगाँठ पर अक्षत और दूध-भात से गाँठ लगायी गयी है।[२२] रास-लीला में सूर ने विवाह का अवसर निकाल कर 'कंकन' और 'गाँठ खुलाई', दो लोकाचारों को दिखाया है।[२३] गौरा-पार्वती और महादेव लोक-जीवन के विशेष देवी देवता हैं। विवाह के अवसर पर सूर ने वधू द्वारा गौरी-पूजन कराया है।[२४] वधुओं ने गालियाँ गायी हैं[२५] तथा माँ ने पानी उतार कर पिया है।[२६] सूरसागर में इन सब लोक-रीतियों की अभिव्यक्ति यह सिद्ध करती है कि सूर का लोक-चेतना के प्रति गहरा लगाव था।

लोक-विश्वास

लोक-चेतना में अनेक प्रकार के विश्वास बिना तर्क की कसौटी पर कसे प्रचलित हैं। उनमें से एक विश्वास यह भी है कि यमराज-चतुर्दशी को दीप जलाने से मनुष्य अकाल-मृत्यु से बच जाता है। 'सूर-सागर' में यम-चतुर्दशी के दिन दीपोत्सव से सम्बन्धित एक पद भी है।[२७] लोक-जीवन में एक दूसरे को विश्वास दिलाने के लिए सौगन्ध खाने तथा सौगन्ध खिलाने का चलन है। सूर की सूक्ष्म दृष्टि से यह विश्वास भी ओझल न हो सका।[२८]

अन्धविश्वास, शकुन तथा अपशकुन

कौवे का बोल कर उड़ जाना, मार्ग में हरिणों के दर्शन होना, प्रातःकाल सर्वप्रथम किसी अच्छे

---

१७ – वही ६४६। १८ – वही ३४८६। १९ – वही ३५३२। २० – वही ६१८। २१ – वही ६४८। २२ – वही ७१३। २३ – वही १६९१। २४ – वही ४७९९। २५ – वही ४८०५। २६ – वही ४८०४। २७ – वही १४२७। २८ – वही ३३४४।

व्यक्ति का मुँह देखना आदि शुभ शकुन माने जाते हैं। सूर-सागर में इन शुभ शकुनों की कितने ही प्रसंगों में अभिव्यक्ति हुई हैं।[२९]

जब कृष्ण कालीदह में कूद जाते हैं, तो माता यशोदा के लिए अनेक अपशकुन होते हैं—

जसुमति चली रसोई भीतर, तबहिं ग्वालि इक छींकी।

....

आइ अंजिर निकसी नँदरानी, बहुरी दोष मिटाइ।
मंजारी आगे ह्वै आई, पुनि फिरि आँगन आइ॥[३०]

लोक-मानस जादू-टोना, भूत-प्रेत, जंत्र-मंत्र में विश्वास रखता है। कुछ जन-जातियों में तो बीमारियाँ तक जादू-टोना तथा जंत्र-मंत्र से ठीक की जाती हैं। मंत्र द्वारा सर्प काटे का इलाज लोक में अधिक प्रचलित है। कृष्ण भी साँप का जहर उतारने का मंत्र जानने का दावा करते हैं—

मैया एक मंत्र मोहिं आवै।
विषहर खाइ मरै जो कोऊ, मोसौं मरन न पावै॥[३१]

बच्चों को नजर से बचाने के लिए माताएँ आज भी काजल का टीका लगाती हैं। नजर लग जाने पर 'राई-लोन' उतार कर नजर झाड़ी जाती है। सूर सागर में दोनों बातों की अभिव्यक्ति मिलती है—

माई मेरिहि दीठि न लागै, तातैं मसि-बिन्दा दियो भ्रू पर।[३२]

× × × × × ×

खेलत मैं कोउ दीठि लगाई, लै-लै राई-लोन उतारति॥[३३]

लोक-पर्व, उत्सव तथा व्रत

लोक-पर्वों में सूर ने बसन्तोत्सव का बड़े उल्लास के साथ वर्णन किया है। होली से सम्बन्धित पदों में नृत्य के समावेश के साथ-साथ डफ, करताल, मृदंग आदि लोक-वाद्यों का भी प्रयोग किया गया है।[३४] लोक में स्त्रियों में विश्वास है कि देवी का व्रत रखने से उत्तम पति की प्राप्ति होती है। ब्रज-कुमारिकाओं ने श्रीकृष्ण को पतिरूप में प्राप्त करने के लिए देवी का व्रत तथा पूजन किया था।[३५] लोक में सम्पादित होनेवाले विभिन्न संस्कारों, उत्सवों, पर्वों तथा व्रतों में विभिन्न जातियों का योगदान रहता है, क्योंकि कोई विशेष लोकरीति अथवा पर्व का कोई विशेष कार्य किसी विशेष जाति की स्त्री अथवा पुरुष के द्वारा ही पूर्ण किया जाता है। इसीलिए 'सूर-सागर' में श्री कृष्ण की छठी के अवसर पर मालिन, नाइन आदि का समावेश हुआ है—

मालिनि बाँधै तोरना (रे), आँगन रोपैं केरि।

....

नाइनि बोलहु नवरंगी (हो), ल्याउ महावर बेग॥[३६]

लोक-परम्पराएँ

लोक-परम्परा में अतिथि को ५६ प्रकार के भोजन कराने की व्यवस्था है। डॉ० वासुदेवशरण अग्रवाल ने ५६ प्रकार के भोज्य पदार्थों की नामावली खोजने की चेष्टा की, परन्तु इसमें इन्हें विशेष सफलता नहीं मिली, फिर भी ५६ की संख्या तो रूढ़ हो चुकी है। सूर ने इस लोक-परम्परा का पालन

२९— वही ४०७१, ३५६३, २१००। ३०— वही ११५८। ३१— वही १३७४। ३२— वही ७१०। ३३— वही ८१८। ३४— वही ३४७४ से ३५३९ तक। ३५— वही १६९०। ३६— वही ६५८।

करते हुए विविध प्रकार के भोजनों का वर्णन किया है।[३७] 'सूर-सागर' में बारह आभरणों का वर्णन भी लोक-परम्परानुमोदित है।[३८] दौड़,[३९] आँख-मिचौनी,[४०] गेंद तड़ी[४१] जैसे लोक-प्रचलित खेलों के चित्र भी हैं।

मुहावरे, लोकोक्तियाँ तथा देशज शब्द

लोकानुभूति की तीव्र मर्मस्पर्शी एवं अत्यधिक प्रेषणीय अभिव्यक्ति के लिए यह आवश्यक है कि कवि लोक-चेतना की अभिव्यक्ति करनेवाले मुहावरे, सूक्तियाँ व देशज शब्द प्रयुक्त करे। सूर ने तत्कालीन समाज में प्रचलित मुहावरों, लोकोक्तियों तथा देशज शब्दों का इतने सुन्दर ढंग से प्रयोग किया है कि उनके कारण सूरसागर के अनेक पदों में लोक-मानस सहज और अनायास ही पूर्ण रूप से अभिव्यक्ति पा गया है। कुछ उदाहरण द्रष्टव्य हैं—

जोवन रूप दिवस दस ही कौ।[४२]

× × ×   × × ×

काकी भूख गयी मन लाडू।[४३]

× × ×   × × ×

भक्ति बिनु बैल-बिराने ह्वैहौ।[४४]

× × ×   × × ×

कहा कहत मासी के आगैं, जानत नानी नानन।[४५]

× × ×   × × ×

होत कहा अबके पछिताऐं, बहुत बेर बितई।[४६]

× × ×   × × ×

जिहि मधुकर अंबुज-रस चाख्यौ, क्यौं करील-फल भावै।[४७]

कुछ उदाहरण देशज शब्दों के देखें—करवर,[४८] झगुलि,[४९] ढाढ़ी[५०], कलेऊ[५१], गरी[५२], पिछौरी[५३], कामरी[५४], बघनहाँ (खा)[५५] आदि।

सूर लोक-कवि होने के कारण लोक-हृदय की प्रत्येक स्थिति को बहुत अच्छी तरह पहचानते थे। तभी तो लोक-पर्वों, उत्सवों पर हृदयंगत उल्लास को परखकर उन्होंने नवरात्रि देवी-पूजन के अवसर पर कलापूर्ण वेदी बनाने, दीपावली के अवसर पर चौक पूरने और अन्नकूट पर ऐपन के थापे बनाने की बात कही है।[५६]

सूर-सागर में लोक-मानस की अन्तरंगता है; लोकानुभूति की मार्मिक अभिव्यक्ति उसमें हुई है। ब्रज-संस्कृति का एक-एक पहलू, सूक्ष्म से सूक्ष्म रूप उसमें झलका है। अत्युक्ति न होगी यदि कहें कि सूर-सागर ब्रज की लोक-संस्कृति का दर्पण है, लोक-चेतना की उजागर छवि। सूरदास सच्चे अर्थों में लोक कवि हैं।

■

३७— वही१८३१। ३८— वही २०९३, २१५८। ३९— वही ८३१। ४०— वही ८५८। ४१— वही ११५१। ४२— वही ३२१०। ४३— वही ४४७९। ४४— वही ३३१। ४५— वही ४५६३। ४६— वही २९९। ४७— वही १६८। ४८— वही ६६९। ४९— वही ६५७। ५०— वही ६५३। ५१— वही ८२९। ५२— वही ८३०। ५३— वही ४६४। ५४— वही ३३२। ५५— वही ७६९। ५६— सूर-साहित्य-संदर्भ डॉ० हरगुलाल, पृ० १५२।

सूर का सौन्दर्य-बोध

डॉक्टर बच्चन सिंह

हिन्दी साहित्य के मध्यकाल का पूर्वार्द्ध कई दृष्टियों से जागरण का काल कहा जा सकता है। इस समय सारा देश, केरल से कश्मीर और असम से गुजरात तक, भक्ति-आन्दोलन से ओत-प्रोत था। इस आन्दोलन में ईश्वर के साथ-साथ मानवीय और जागतिक महत्त्व की ओर भी भक्तों की दृष्टि गई। शंकराचार्य के विरुद्ध दक्षिण में जो लहर उठी, वह धीरे-धीरे सारे देश में फैल गई। रामानुज, निंबार्क, मध्व और वल्लभाचार्य ने इस जीवन और जगत् को ईश्वर के साथ जोड़ा। इन आचार्यों की अवधारणाओं को उत्तर भारत के भक्तों ने अपनी रचनाओं द्वारा रसार्द्र और रमणीय बनाया। सौन्दर्य-बोध का सम्बन्ध कला और काव्य से होता है, शास्त्रीय सिद्धान्तों और अवधारणाओं से नहीं।

चौबीस अवतारों में श्री कृष्ण का चरित्र सबसे अधिक अन्तर्विरोधात्मक, विस्मयात्मक और सम्पूर्ण है। वे एक साथ ही अनन्य प्रेमी, अनासक्त योगी, योद्धा, दार्शनिक, कूटनीतिज्ञ, सब कुछ हैं। सम्भवतः इसीलिए उन्हें ईश्वर का पूर्णावतार माना गया है। राम मर्यादा-पुरुषोत्तम हैं तो कृष्ण लीला-पुरुषोत्तम। राम मर्यादाओं को बनानेवाले, उन्हें अपने जीवन में उतारनेवाले हैं, तो कृष्ण सड़ी मर्यादाओं को तोड़ कर नई तथा गत्यात्मक मर्यादाओं को निर्मित करनेवाले। यही कारण है कि शास्त्रीय मर्यादाओं से मुक्त श्रीकृष्ण का जीवन लोगों को जितना अच्छा और रमणीय लगा, उतना राम का नहीं। मात्रा और गुण, दोनों में कृष्ण-भक्ति का पलड़ा भारी पड़ता है।

भक्त कवियों ने कृष्ण के दो ही पक्षों को अपनी रचना का मुख्य विषय बनाया—बाल-लीला-पक्ष को और यौवन-लीला-पक्ष को। इन पक्षों पर लिखनेवाले भक्त कवियों में सूरदास अपने सौन्दर्य-बोध की अद्वितीयता और सहज तथा व्यंग्यात्मक संरचना में अद्वितीय हैं। मैं यहाँ पर बाललीला और यौवनलीला सम्बन्धी पदों को उद्धृत करके उनका पिष्ठपेषण नहीं करना चाहूँगा, क्योंकि ऐसा करना सूर के सौंदर्य-बोध के साथ अन्याय करना होगा।

सूर का सौन्दर्य-बोध कैसा था, इस प्रश्न का उत्तर उनकी जीवनी से दिया जा सकता था। पर उनका जीवन-चरित्र तो उनके विशाल सूर-सागर की अनन्त गहराइयों में डूबा हुआ है। अतः उनके सौन्दर्य की तलाश के लिए सागर-मंथन करना पड़ेगा। उनकी रचना के सौन्दर्य से ही उनके सौन्दर्य-बोध की पहचान की जा सकती है।

सौन्दर्य क्या है, उसकी विवेचना तो यहाँ सम्भव नहीं, किन्तु संक्षेप में इतना जान लेना चाहिए कि काव्य का सौन्दर्य शब्दों के सर्वोत्तम अनुक्रम में होता है, वक्रता में होता है, पद-बंध में होता है। इसी को

आजकल संरचना कहते हैं । संरचना के अलग-अलग घटक होते हैं । उन घटकों का समायोजन ही संरचना है । लेकिन काव्य में इतने ही से काम नहीं चलता । उसे अह्लादक भी होना चाहिए । आह्लादीकरण के अभाव में सम्पूर्ण समायोजन व्यर्थ चला जाएगा । आह्लादकत्व, विच्छित्ति, लालित्य, रमणीयता आदि के कारण काव्य, शास्त्रों से अलग हो जाता है ।

वालवर्णन के प्रसंग में यह बात बार-बार दुहराई जाती है कि बालसुलभ चेष्टाओं की जो स्वाभाविकता सूर में मिलती है, वह अन्यत्र दुर्लभ है । यही नहीं, इतना वैविध्य और प्रचुरता भी दूसरे कवि में नहीं मिलेगी । इन वर्णनों के सौन्दर्य को या तो स्वभावोक्ति कह दिया जाता है या छायावादी शब्दावली में इन्हें अद्वितीय, मार्मिक, अद्‌भुत आदि कह कर बल दिया जाता है । मार्मिक, अद्वितीय आदि सौन्दर्य की महत्ता का बोध कराते हैं, स्वयं सौन्दर्य का नहीं । मेरे विचार से काव्य में स्वभावोक्ति जैसी कोई चीज होती ही नहीं । स्वाभावोक्ति कविता हो ही नहीं सकती । काव्य-सौन्दर्य की बुनियादी शर्त है वक्र होना । सूरदास के जिन पदों पर स्वभावोक्ति का लेबुल चिपकाया गया है, वे वस्तुतः स्वभावोक्तियाँ नहीं हैं । उनकी वक्रता की ओर लोगों की दृष्टि नहीं गई है । एक उदाहरण लीजिए—

> कितिक बार मोहि दूध पियत भई, यह अजहूँ है छोटी ।
> तू जो कहति 'बल' की बेनी ज्यौं ह्वै है लाँबी मोटी ।
> काढ़त-गुहत-न्हवावत जैहै, नागिन सी भुइँ लोटी ।
> काँचौ दूध पिआवत पचि पचि देत न माखन रोटी ।

इसमें सन्देह नहीं कि सूर की दृष्टि बाल-स्वभाव पर टिकी हुई है । पर क्या कोई बालक इस प्रकार की शब्दावली में शिकवा कर सकता है । इस रचना में तीसरी और चौथी पंक्तियाँ विशेष महत्त्वपूर्ण हैं । काढ़त-गुहत-न्हवावत में एक विशेष प्रकार का क्रम है । नागिन-सी भुइ लोटी में जो गत्यात्मक चाक्षुष बिंब उपस्थित किया गया है, वह सम्पूर्ण रचना को रमणीय बना देता है । अन्तिम पंक्ति 'काँचो दूध पियावत पचि-पचि देत न माखन-रोटी' में कल्पना का पुट वास्तविक जगत को बालक्रीड़ा से भिन्न कलात्मक सौन्दर्य के धरातल पर ला खड़ा करता है ।

बालक्रीड़ा का एक दूसरा उदाहरण देखिए—

> बूझत स्याम कौन तू गोरी ।
> कहाँ रहति काकी तू बेटी, देखी नहीं कहूँ ब्रज खोरी ।
> काहे को हम ब्रज तन आवति, खेलत रहति आपनी पोरी ।
> सुनत रहत स्रवननि नँद ढोटा, करत फिरत माखन दधि चोरी ।
> तुम्हरो कहा चोरि हम लैहैं, खेलन चली संग मिलि जोरी ।
> सूरदास प्रभु रसिक-सिरोमनि, बातन भुरइ राधिका भोरी ॥

इस पद में दो व्यक्तियों के संवाद से सौन्दर्य-सृष्टि की गई है । टेक की पद दो विरोधी रंगों क लिए हुए है जिसे हम वर्ण-विन्यास-वक्रता का नाम दे सकते हैं । पहला शब्द "बूझत" कम अर्थवान नहीं है । इसकी जगह पर "पूछत" शब्द रखा जा सकता था । बूझत क्यों रखा गया है ? इसमें पूछना भी शामिल है और परिस्थितियों की तह में पैठकर उसे अपने अनुकूल भी बनाना है । इसमें भोलेपन और चतुराई के विरोध द्वारा सौन्दर्य-सर्जना की गई है ।

राधा-कृष्ण के मिलन, कुंज-लीला, रासलीला, वन-विहार आदि का सौन्दर्य अपने आप में अद्‌भुत और विलक्षण है । वियोग का लंबा अन्तराल आदमी को कितना बदल देता है, यह प्रभास-मिलन के समय की राधा को देखकर पता लगता है । कृष्ण के प्रेम में आकुल-व्याकुल, चंचल, शोख, बातूनी राधा कितनी

आत्मस्थ हो जाती है। प्रभास के मेले में रुक्मिणी को राधा-कृष्ण की जोड़ी देखने की गहरी आकांक्षा होती है। कृष्ण रुक्मिणी से राधा की ओर संकेत करते हुए कहते हैं—

मनसा सुमिरन, रूप ध्यान उर, दृष्टि न इत-उत मोरी।
वह लखि जुवति वृंद मैं ठाढ़ी, नील वसन तन गोरी ॥

गहरी उदासी और प्रेम की गंभीर व्यथा अपने मौन में कितनी मुखर वन पड़ी है। अब राधा कृष्ण का नाम लेकर इधर-उधर दौड़ती नहीं फिरतीं, उन्हें देखने के लिए जगह-जगह भटकती नहीं फिरतीं। सब कुछ उनकी आत्मा में लय हो गया है। राधा की लयमान अवस्था का एस्थेटिक सौन्दर्य तभी समझा जा सकता है जब इस प्रसंग को चंचल, शोख और चकित हरिणी-प्रेक्षणा राधा के संदर्भ में देखा जाए। कृष्ण सामने खड़े हैं। उनको देखकर राधा का प्रेम-सिन्धु अपनी मर्यादाओं को तोड़कर उमड़ सकता था। पर राधा प्रेम की अन्तर्यात्रा में अन्तःस्थ हो गई हैं, वे अपनी दृष्टि को इधर-उधर नहीं दौड़ातीं। छोटे-छोटे प्रसंगों, अनुभावों, संचारियों आदि का महत्त्वपूर्ण योग देखते ही बनता है।

वियोग दशा के चित्रण में तो सूर का कोई प्रतिद्वन्द्वी नहीं है। सूरदास की विषय-वस्तु बहुत सीमित है। ऐसी स्थिति में वे प्रसंगों की नई उद्‌भावना करते हैं। इन्हीं के भीतर वे वियोग की नाना अर्थ-छवियों को चित्रित करते हैं। काव्य-शास्त्र में जिन तैंतीस संचारियों का उल्लेख किया गया है, उन से आगे बढ़ पता नहीं कितनी और मनोदशाओं को सूर ने चुना है। मनोवैज्ञानिकों के अध्ययन का यह अच्छा खासा विषय है। उपालम्भ का यह एक प्रसिद्ध उदाहरण देखिए—

बरु ये बदराऊ बरसन आए।
अपनी अवधि जानि, नँदनन्दन, गरजि गगन घन छाए ॥
सुनियत हैं सुरलोक बसत सखि, सेवक सदा पराए।
चातक कुल की पीर जानि कै, तेउ तहाँ तैं धाए ॥
द्रुम किए हरित, हरषि बेली मिलीं, दादुर मृतक जिवाए।
छाए निविड़ नीर तृन जहँ-तहँ पंछिन हूँ अति भाए ॥
समुझति नहीं चूक सखि अपनी बहुतै दिन हरि लाए।
सूरदास स्वामी करुनामय मधुवन बसि बिसराए ॥

आचार्य शुक्ल ने इस पर संक्षिप्त टिप्पणी करते हुए लिखा है— "बदराऊ" के 'ऊ' और 'बरु' में कैसी व्यंजना है। बादल तक, जो जड़ समझे जाते हैं, आश्रितों के दुःख से द्रवीभूत होकर आते हैं। पर इतने से ही उपालंभ की सौन्दर्य-चेतना नहीं उभर पाती। नँदनंदन संबोधन की व्यंजना बादलों के संदर्भ में कितनी गहरी हो जाती है। एक बादल हैं जो अपने समय पर आ जाते हैं, आ ही नहीं जाते, अपने आने की घोषणा भी 'गरज' कर कर जाते हैं और एक तुम हो। 'सुनियत हैं सुरलोक बसत' में दूरी का भाव निहित है। वे स्वतंत्र भी नहीं हैं, इन्द्र के सेवक हैं, फिर भी वादाखिलाफी नहीं करते। परतंत्र होकर इतनी लम्बी दूरी को पार कर वे अपने समय पर चातक-कुल की पीड़ा हरने आ जाते हैं और कृष्ण कुल चार कोस की दूरी पर रहते हैं। यही नहीं वे परम स्वतन्त्र भी हैं। फिर भी वे वृन्दावन नहीं आ पाते। अन्तिम पंक्ति 'मधुवन बसि बिसराये' तो दो संस्कृतियों की टकराहट का जीवंत दृश्य प्रस्तुत कर देती है। वृन्दावन ग्राम्य संस्कृति का प्रतिनिधित्व करता है तो 'मधुवन' नागरिक संस्कृति का। नागर-संस्कृति के व्यक्ति के लिए स्वाभाविक है कि वह ग्राम्य संस्कृति की उपेक्षा कर दे। आधुनिक युग का प्रसिद्ध संरचनावादी लेवी स्त्रोत भाषा पर विचार करते हुए संस्कृति पर विचार करना भी जरूरी समझता है। 'करुणामय' होकर भी करुणा

न करना विचित्र विडंबना है। सूरदास के वियोग-वर्णन में विरोधों और विडंबनाओं के आधार पर कला-सौन्दर्य का जो चित्रण किया गया है, वह अपनी प्रतीकात्मकता और व्यंजना में अद्वितीय बन गया है।

सूर की सौंन्दर्य-चेतना के मूल में उन टटके बिम्बों और प्रतीकों का बहुत महत्त्व है जो ग्राम्य जीवन से लिए गये हैं। वे बिम्ब और प्रतीक मन के भीतर धँस कर एक अछूते परिवेश और संवेदना की सृष्टि करते हैं।

हमारैं हरि हारिल की लकरी।
मन क्रम वचन नंदनंदन उर यह दृढ़ करि पकरी।।
जागत, सोवत, स्वप्न, दिवस निसि कान्ह-कान्ह जकरी।
सुनत जोग लागत है ऐसौ ज्यौं करुई ककरी।।
सुतौ व्याधि हमकौं लै आए देखी सुनी न करी।
यह तौ सूर तिनहिं लै सौंपो जिनके मन चकरी।।

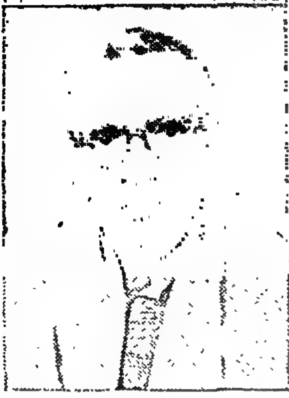
हारिल एक थके माँदे पक्षी का द्योतक है। इस निराशा की अवस्था में भी गोपियों का एकमात्र सहारा श्री कृष्ण है। 'करुई ककरी' और 'वकरी', दोनों ही ग्राम्य परिवेश से लिए गए हैं। 'वकरी' को चाहे नागरिक परिवेश का मान लिया जाय पर कड़वी ककड़ी तो गाँव को ही प्रतिबिम्बित करती है। योग गोपियों को कड़वी ककड़ी लगता है जिसे थूकने के अलावा कोई विकल्प नहीं है। 'चकरी' एक विचित्र विरोध सामने ले आता है। इससे 'चकरी' की चंचलता नहीं, गोपियों के मन की स्थिरता उपस्थापित होती है। इसी को गोपियों ने एक दूसरे संदर्भ में 'ऊधो मन नाहीं दस बीस' कहकर अभिव्यक्त किया है। कहना न होगा कि सूर की सौन्दर्य चेतना उनके पदों में अनुस्यूत विरोध और व्यंग्य के विधान में निहित है। इस चेतना की संरचना को, उसके सौन्दर्य को तबतक विश्लेषित नहीं किया जा सकता जब तक इसकी तह में न पैठा जाए। तह में पैठने का मतलब है संरचना की अपनी विरोधताओं के अतिरिक्त उसकी सामाजिक सांस्कृतिक छवियों को भी उकेरित करना। इस दृष्टि से सूर का अध्ययन अभी शेष है।

■

पाछैं ही चितवत मेरे लोचन, आगे परत न पायँ।
मन लै चली माधुरी मूरति, कहा करौं ब्रज जायँ।।
पवन न भई पताका अंबर, भई न रथ के अंग।
धूरि न भई चरन लपटाती, जातीं, उहँ लौं संग।।
ठाढ़ी कहा, करौ मेरी सजनी, जिहि विधि मिलहिं गुपाल।
सूरदास प्रभु पठै मधुपुरी, मुरझि परीं ब्रजबाल।।

सूरसागर ३६१७

■



मध्यकालीन वैष्णव चेतना और सूरदास

डॉक्टर कृष्ण बिहारी मिश्र

मध्यकालीन भारतीय मानस बाहरी-भीतरी नाना प्रकार के दबावों के कारण उद्वेलित-उन्मथित था। मज़हब और मज़हबी राजनीति ने मनुष्य की सहज आस्था पर निर्मम प्रहार किया था। स्वाभाविक संसार-आकर्षण से रिक्त होकर लोग एक ओर भोगवाद से जुड़ रहे थे, दूसरी ओर वैराग्य वृत्ति की आड़ में पलायनवृत्ति प्रबल हो रही थी। प्रशासन की रोशनी लोक-मंगल से विमुख हो गयी थी। संत संसार-विरति की प्रेरणा दे रहे थे, वैराग्य का राग अलाप रहे थे। इस प्रकार अपेक्षित प्रकाश के अभाव में मध्यकालीन लोक-मानस निरन्तर धूमायित हो रहा था। दिशाहारा दशा मनुष्य की नियति बनती जा रही थी। राजनीतिक और साम्प्रदायिक असहिष्णुता ने अनेक सांस्कृतिक दरारें पैदा कर दी थीं जिससे मनुष्य की विकास-यात्रा अवरुद्ध हो गयी थी। यह विवेक कमजोर हो गया था कि कुण्ठा मनुष्य को मांगल्य-विच्छिन्न कर देती है, विकलांग और दुखी बना देती है। कुण्ठा जाति की हो, धर्म की हो, पंडिताई-पौरुष या राजसत्ता की हो, मनुष्य को सत्य से विलग करती है, असहज, असहिष्णु, कर्कश और अन्ततः दुखी बनाती है– यह सांस्कृतिक प्रतीति मज़हबी अंधड़ और राजनीतिक असहिष्णुता के भार से म्लान पड़ गयी थी। लगभग इसी समय वैष्णव चेतना लोक-मंगल का उद्देश्य लेकर आविर्भूत हुई। भागवत-धर्म यद्यपि भारत के लिए नया नहीं था और अवतारों की कल्पना भी अतीत-परिचित कल्पना थी, किन्तु दाक्षिणात्य आचार्यों की प्रेरणा से नये सन्दर्भ में नयी अर्थवत्ता से सम्पन्न होकर जो भागवत चेतना पैदा हुई, उसकी ही अपेक्षा थी संस्कृति-श्लथ मध्यकालीन भारत को। ऊपरी तौर पर वैष्णव संत भिन्न-भिन्न सम्प्रदायों से जुड़े थे, किन्तु विभिन्न सम्प्रदायों से जुड़ी वैष्णव चेतना सम्प्रदायातीत चेतना थी जिसका एकांत लक्ष्य था मनुष्य का कल्याण। वैष्णव कवियों ने अपने प्रातिभ चक्षु से मनुष्य की विपथगामी यात्रा देखी। उन्होंने देखा कि कल्पवृक्ष काटकर लोग मूसल-हल बना रहे हैं; कामधेनु को छोड़कर बकरी के दूध के लिए तरस रहे हैं; गंगाजल के निकट रहते हुए तृषा-तृप्ति के लिए कूप खोदने के आयोजन में लगे हैं; कर्त्तव्य-विमुख होकर विलास-नद में डुबकी लगा रहे हैं; दृश्यमान लोक की शोभाश्री से वितृष्ण होकर अदृश्य लोक की ओर धावन कर रहे हैं; चरम सत्ता की महत्ता से अपरिचित होकर राजसत्ता के सामने नमित होकर गर्वोद्धत हो रहे हैं। ऐसे ही 'धमधूसर' और 'दुर्मति' लोगों की भीड़ के सामने वैष्णव चेतना का उदय हुआ था। उस चेतना का आधार था भूत-दया, करुणा और मनुष्य जाति के प्रति अटूट आस्था। परा सत्ता मानवी काया में अवतरित होकर ही उनका आराध्य बनी थी। निःसन्देह राजनीतिक दबावों, सामाजिक विकृतियों और मज़हबी कठमुल्लापन से जिस सघन अंधकार का जन्म हुआ था, उसे पराजित करनेवाली आस्था-ज्योति की रचना मध्यकालीन भक्त कवियों ने अपनी लोक-साधना द्वारा की। वस्तुतः मध्यकाल का भक्ति-आन्दोलन, जिसकी लहर सम्पूर्ण देश में समान उल्लास से गत्वर थी, शक्ति-जागरण का एक सशक्त माध्यम था जिसने खंडित आस्था की पुनर्प्रतिष्ठा की; मानुष-तन और संसार-सौन्दर्य की महत्ता का

उद्घाटन किया; भोगवाद और निषेध-मार्ग का रचनात्मक विरोध किया; अपरा छंद में परा राग को उतारने-गाने की कला का आविष्कार किया।

भक्ति का आधार है आस्था। आस्था शक्ति का लक्षण है, दैन्य का नहीं। दैन्य-भाव और दास्य-भाव भक्तों का सामान्य भाव प्रतीत होता है, किन्तु सचाई यह है कि लोक-मानस में पैठी दीनता, हीनता और अनास्था के उच्छेद के लिए, अर्थात् आस्था की पुनर्प्रतिष्ठा और शक्ति के जागरण के लिए, संतों और भक्तों ने जिस महत् शक्ति से अपने को जोड़ा और जिस लोकोत्तर सत्ता को लोक-धरातल पर उतारकर जीवन के यथार्थ से युक्त कर उसके प्रति भक्ति प्रकट की, वह शक्ति सामान्य राजसत्ता से ऊँची थी, और इस प्रकार स्पष्ट ही मध्यकालीन भारतीय वैष्णव-भक्तों, संतों और सूफी फ़क़ीरों ने अपनी वाणी-साधना द्वारा अपने समय की राजसत्ता का अतिक्रम किया। उनका माथा राजकीय वैभव और सामन्ती आभिजात्य-आतंक के सामने नमित न होकर उस परा सत्ता के प्रति नमित था जो अपरा लोक से विधायक रूप में जुड़ी थी। वैष्णव चेतना की यह क्रांति-भूमिका है कि उसके पुरस्कर्ता ने अपनी वाणी को राजाओं और सामंतों के अभिनन्दन-स्तवन में नहीं, बल्कि महत् सत्ता की चर्चा में नियोजित किया। ऊपर-ऊपर से विचार करने पर भक्तों की उक्त क्रांति-चेतना-भूमिका का सही मूल्यांकन नहीं हो पाता और इसे बहुत हल्के ढंग से दैन्य और समर्पण मान लिया जाता है। उक्त धारणा के चलते ही सूर और तुलसी की वैष्णव चेतना के मूल में स्थित समाज-संसक्त शुद्ध मानवीय दृष्टि और क्रान्ति-चेतना प्रकाश में नहीं आ पाती। महाकवि सूरदास के दीक्षागुरु महाप्रभु वल्लभाचार्य ने पहली ही भेंट में सूरदास के दैन्य-भाव का विरोध किया था। स्पष्ट संकेत दिया था उन्होंने कि सूर्य कुहासा की नहीं, प्रकाश की वर्षा करता है; वैष्णव चेतना दैन्य-भाव से नहीं, लीला-गान से उल्लसित होती है। महाप्रभु वल्लभाचार्य की उक्त प्रथम प्रेरणा ही महाकवि सूरदास का वास्तविक गुरु-मंत्र बनी और उनकी साधना-सरणि पूर्णतः परिवर्तित हो गयी। विषाद और वैराग्य ही उनका आदि भाव था। गुरु-प्रेरणा से जिस राह से उन्होंने नयी यात्रा शुरू की, उसके द्वारा उन्होंने वैराग्य और औदास्य-भाव से आक्रांत लोक-मानस में प्रवृत्ति-प्रेरणा और लीला-चेतना को जन्म दिया।

महाकवि सूर ने कृष्ण के जीवन के उषा और पूर्व मध्याह्न काल को अपने काव्य का उपजीव्य बनाया। भागवत् कल्पना को धरती की धूल पर उतार कर सांसारिक कुरूपता को, जो विलास और वैराग्य के रूप में पैदा होकर जीवन के वास्तविक आकर्षण को कमजोर बना रही थी, सूरदास ने सौन्दर्य और उल्लास से सम्पृक्त किया। सूर की कविता का स्वर भोग-भूख और सौन्दर्य-निषेध के विरोध का स्वर है। यह सच है कि कबीर की भाँति उन्होंने सामाजिक कुरीतियों पर निर्मम चोट नहीं की और न तुलसी की तरह सम्पूर्ण जीवन को अपनी कविता का उपजीव्य ही बनाया, किन्तु उनकी कविता में तत्कालीन समाज-दशा की विसंगतियों और कुरीतियों का प्रामाणिक चित्र है और "श्रृंगार और वात्सल्य के क्षेत्र में जहाँ तक इनकी दृष्टि पहुँची, वहाँ तक और किसी कवि की नहीं। इन दोनों क्षेत्रों में तो इस महाकवि ने मानो औरों के लिए कुछ छोड़ा ही नहीं।" तुलसी की महत्ता के घोर हिमायती आचार्य पं० रामचन्द्र शुक्ल ने सूर की अप्रतिम शक्ति का उल्लेख करते हुए लिखा है कि "सूर की बड़ी भारी विशेषता है नवीन प्रसंगों की उद्भावना। प्रसंगोद्भावना करनेवाली ऐसी प्रतिभा हम तुलसी में भी नहीं पाते।" भ्रमरगीत में सूर की प्रतिभा उत्कर्ष पर है। भ्रमरगीत में उद्धव-गोपी-संवाद के माध्यम से प्रेम की विभिन्न दशाओं का चित्रण है। यहाँ अत्यन्त सजग प्रतिभा से महाकवि ने ज्ञानमार्गी उद्धव को गोपियों की वाक्-चातुरी से प्रेममार्गी बना दिया है। सच्चे प्रेम की यह पहचान है कि संयोग-अवस्था की अपेक्षा वियोग अवस्था में उसकी प्रगाढ़ता बढ़ जाती है। प्रेम ज्ञान से अनुशासित नहीं होता। उद्धव नाना युक्तियों द्वारा निर्गुण की महिमा प्रतिपादित करते हैं और गोपियों की प्रेमोक्तियाँ उनकी सारी उक्तियों को खंडित कर देती हैं। स्मरणीय है, गोपियाँ उद्धव से प्रेम नहीं, तर्क करती हैं; ज्ञान-मार्ग का युक्तियों से ही विरोध

करती हैं और प्रेम में अविचलित रहती हैं। निर्गुण का वे सीधा विरोध नहीं करतीं। उनके लिए तो, जैसा कि सूर-साहित्य के अधिकारी विद्वान् आचार्य नन्द दुलारे वाजपेयी ने कहा है, कृष्ण भी एक प्रकार से निर्गुण ही हो गये थे, क्योंकि न तो वे मथुरा से लौटते थे और न गोपियों की खोज-खबर ही लेते थे। गोपियों का वास्तविक विरोध तो प्रेम-विरोधी बातों से था।

सूर प्रेम और लीला के गायक थे। सूर के उपास्य श्रीकृष्ण लालित्य के अवतार थे। उसी लालित्य का अंश ललिता में था, राधा में था, तमाम गोपियों में था। लीलाभाव, जो प्रयोजनातीत होता है, सूर का एकान्त लक्ष्य था। मगर इस लक्ष्य के मूल में एक महत् प्रयोजन भी था—युग-प्रवाह के प्रतिरोध का प्रयोजन। अधर्म को धर्म के नाम पर लोगों पर थोपा जा रहा था, जीवन-विमुख करनेवाली बातें ज्ञान के नाम पर रहस्यात्मक ढंग से चलायी जा रही थीं, शासन-व्यवस्था में सुख-व्यवस्था अदृश्य थी। इस प्रकार दृश्यमान जगत पर अदृश्य बातों का प्रभाव जमाने की एक योजनाबद्ध कोशिश चल रही थी। इस कोशिश के विरोध में सूर ने गोपियों के माध्यम से यह प्रश्न उठाया कि—

निरगुन कौन देस को बासी ?
मधुकर कहि समुझाइ सौंह दै, बूझति साँच, न हाँसी ॥

× × × × × ×

रेख न रूप, वरन जाके नहिं ताकों हमैं बतावत।
अपनी कहौ, दरस ऐसो कौ तुम कबहूँ हौ पावत ॥

सूर अदृश्य की तुलना में दृश्यमान को और ज्ञान की तुलना में प्रेम को श्रेष्ठ मानते हैं, यद्यपि उसके चलते नाना प्रकार के कष्ट झेलने की लाचारी बनी रहती है। वियुक्त होते हुए भी गोपियों के लिए कृष्ण निर्गुण नहीं हैं, क्योंकि उनके प्रेम का आनन्द गोपियों को मिल चुका है। प्रेम-पीड़ा भी प्रेम का एक स्वाद है और निर्गुण गोपियों के लिए स्वादहीन है। गोपियों ने अन्ततः उद्धव को अपनी दृढ़ मनोदशा बतायी, "सूर स्याम एते अवगुन में निर्गुन तें अति स्वाद।" इस प्रकार सूर ने घोषणा की कि संसार विधाता की लीला है और इस लीला का आनन्द ही सर्वोत्कृष्ट आनंद है।



ऊधौ कहि सति भाइ न्याइ तुम्हरैं मुख साँचै !
जोग प्रेम रस कथा कहौ कंचन की काँचै ॥
जाके पहिरैं हूजिए, साँचौ ताकौ नेम।
मधुप हमारी सौं कहौ, जोग भलौ कै प्रेम ॥
प्रेम प्रेम तैं होइ प्रेम तैं पारहि जइयै।
प्रेम बँध्यौ संसार प्रेम परमारथ लइयै ॥
साँचौ निहचै प्रेम कौ, जीवन मुक्ति रसाल।
एकै निहचै प्रेम कौ, जबै मिलैं गोपाल ॥

सूरसागर ४७१२





महाकवि सूरदास की काव्यमयी उपासना

श्री सन्हैयालाल ओझा

हृदय की शुद्ध भाव-भूमि को ही यदि काव्य का प्रकृष्टतम आधार माना जाए, तो सूरदास अवतक के हिन्दी साहित्य के सर्वश्रेष्ठ कवि कहे जा सकते हैं। उनके निकट यदि कोई पहुँच पाया है तो महाकवि तुलसीदास, किन्तु तत्कालीन सामाजिक मूल्यों की चेतना और मर्यादा-बोध ने उनके आधार को गहराई की तुलना में विस्तार ही अधिक दिया है।

दोनों ही वैष्णव कवि थे, यद्यपि एक के आराध्य कृष्ण थे और दूसरे के राम। दोनों ने ही अपनी काव्य-प्रतिभा को अपने आराध्य की भक्ति में सर्वतोभावेन निवेदित किया है। उनके लिए काव्य साधन मात्र रहा, चरम लक्ष्य भक्ति ही थी—वैष्णवजन की भक्ति। यह वैष्णव भक्ति-भावना वस्तुतः दक्षिण से तमिल भाषी आलवार-भक्तों द्वारा ग्यारहवीं शती से सोलहवीं शती तक प्रचारित हुई थी, यद्यपि वैष्णव-धर्म की जड़ें ठेठ वेदकाल तक पहुँची हुई थीं। आलवारों की भक्ति-साधना से प्रभावित दक्षिण के चार आचार्यों ने—श्री रामानुजाचार्य, श्री मध्वाचार्य, श्री निम्बार्काचार्य और श्री वल्लभाचार्य ने—क्रमशः विशिष्टाद्वैत, द्वैत, द्वैताद्वैत और शुद्धाद्वैत मतों का प्रचार किया। उस अनिर्वचनीय शाश्वत सत्ता के निखिल ऐश्वर्य, माधुर्य, आनन्द और सौंदर्य से मण्डित सगुण-साकार रूप की स्थापना की गई। रामानुजाचार्य की परम्परा में श्री रामानन्द के शिष्य तुलसीदास ने राम-उपासना के द्वारा अपनी भक्ति भावना को सार्थक किया। इसके पहले महाप्रभु वल्लभाचार्य की पुष्टिमार्गीय दीक्षा में महाकवि सूरदास व्रजभूमि में अपने उपास्य कृष्ण की माधुर्य लीला में अपनी काव्यांजलि अर्पित करने लग गए थे। व्रज की सारी भूमि सूर की काव्य-स्रोतस्विनी में पूरी तरह निमज्जित थी।

सूरदास प्रारम्भ में विनय के पद गाया करते थे। उनकी भक्ति दास्य-भाव की थी, "प्रभु हौं सब पतितनि कौ टीको।" किन्तु जब महाप्रभु वल्लभाचार्य से भेंट होने पर उन्होंने विनय के पद सुनाए तो महाप्रभु ने कहा, "सूर होकर ऐसे घिघियाते क्यों हो?" सूरदास के कहने पर कि "महाराज, हौं तो समुझत नाहीं", महाप्रभु ने अपने सम्प्रदाय के अनुसार दीक्षा देकर पुष्टि-मार्ग का मर्म समझाया और भगवान् की लीला सुनाई। चौरासी वैष्णवन की वार्ता के अनुसार "तातें सूरदासजी को नवधा-भक्ति सिद्ध भई। तब सूरदास जी ने भगवत लीला वर्णन करी। अनुक्रमणिका तैं सम्पूर्ण लीला फुरी....और ताही समय श्री महाप्रभुन के सन्निधान पद कियो। —चकई री चलु चरन-सरोवर जहाँ न प्रेम वियोग।"

भक्ति मार्ग के प्रवर्त्तन के पूर्व उस अनिर्वचनीय शाश्वत सत्ता की आराधना निर्गुण निराकार के रूप में की जाती थी, जिसका संविधान उपनिषदों से लेकर पतंजलि के योगसूत्र कर चुके थे। किन्तु इसके

मूल में एक दुर्बोध्य दार्शनिक संवृत्ति थी जिसे पाना जन-साधारण के लिए सहज न था। ब्रह्म, जीव और जगत को लेकर दार्शनिकों में जो सैद्धान्तिक निरूपण के लिए प्रतिद्वन्द्विता चल रही थी, उससे मन को पूर्ण आश्वस्ति न मिलने पर दक्षिण से उठी हुई सगुणोपासना पर सहज ही दृष्टि जाना स्वाभाविक था। दक्षिण से आए हुए इन आचार्यों ने सम्यकरूप से ब्रह्म और जीव के बीच एक बुद्धिगम्य और हृदयरंजक संबंध स्थापित करके सहज ही लोकमानस को जीत लिया। उन्होंने प्राचीन निर्गुणोपासना का निरादर नहीं किया। उसे भी उन्होंने मान्यता दी, और भक्ति को भी दो रूपों में स्वीकार किया, जिसमें एक को नाम दिया वैधी, और दूसरी को रागानुगा। जैसे निर्गुण ब्रह्म सर्वत्र विद्यमान सर्वगत है, वैसे ही सगुण-स्वरूप भी ऐश्वर्य-माधुर्य-आनन्द-सौंदर्य आदि गुणों से समन्वित होकर नाना रूपों में सर्वत्र क्रीड़ा किया करता है।

महाप्रभु वल्लभाचार्य के सम्प्रदाय का नाम शुद्धाद्वैत सम्प्रदाय है, जिसके अनुसार ब्रह्म और जीव एक ही वस्तु हैं, दो नहीं; किन्तु उस तरह एक नहीं, जैसा कि शंकराचार्य प्रतिपादित करते हैं। जैसे चिनगारी अग्नि का ही रूप है उसी तरह जीव भी उस परब्रह्म ही का एक अंश और तद्रूप है। यह मायात्मक जगत मिथ्या नहीं, प्रत्युत उसी का एक अंश है, और माया स्वयं परब्रह्म की इच्छा से उससे ही विभक्त हुई एक शक्ति है। माया के अधीन जीव को परमेश्वर की इच्छा के बिना मोक्ष-ज्ञान नहीं प्राप्त हो सकता, अतः परमेश्वर की इच्छा या उनका अनुग्रह ही जीव की मुक्ति का मुख्य साधन है। परमेश्वर के इस अनुग्रह को इस सम्प्रदाय में पुष्टि या पोषण कहा जाता है, अतः इसे पुष्टि-मार्ग भी कहते हैं। श्रीमद्भागवत में उल्लेख है, 'पोषणं तदनुग्रहः'। उसी तरह कठोपनिषद में कहा गया है—

> नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यः न मेधया न बहुनाश्रुतेन।
> यमेवैष वृणुते तेन लभ्यः तस्यैष आत्मा विवृणुते तनूं स्वाम् ॥

अर्थात्, यह आत्मतत्त्व न प्रवचन से, न बुद्धि से, न बहुत श्रवण से ही प्राप्त होता है। जिसे वह स्वयं स्वीकार करता है, वही इसे प्राप्त करता है। उसके लिए यह आत्मतत्त्व अपना सत्यस्वरूप उद्घाटित कर देता है। और मुक्ति? भगवान श्रीकृष्ण का सायुज्य ही तो मुक्ति है। अतः पतिरूप या स्वामीरूप से ही कृष्ण का आराधन जीव के लिए आवश्यक है। गोपियों के अनन्य प्रेम का यही रहस्य है। प्रेम में उत्कटता स्वकीय के प्रति उतनी तीव्र नहीं होती जितनी परकीय के प्रति होती है। इसीलिए गोपियों का प्रेम परकीया प्रेम है। उनका प्रेम इतना उत्कट और संक्रामक है कि योग का उपदेश देने के लिए आए हुए उद्धव

> सुनि गोपिनि कौ प्रेम नेम ऊधौ कौ भूल्यौ।
> गावत गुन गोपाल फिरत कुंजनि मैं फूल्यौ ॥
> छिन गोपिन के पग परैं धन्य तुम्हारौ नेम।
> धाइ धाइ द्रुम भेटईं ऊधौ छाके प्रेम ॥

जीव को यह तन्मयता तभी प्राप्त हो सकती है जब उसका आराध्य समस्त ऐश्वर्य, माधुर्य और सौंदर्य से पूर्ण तथा निखिलानन्द-सन्दोह हो। श्रीकृष्ण ऐसे ही अवतार हैं। वल्लभाचार्य के अनुसार ब्रह्म के समान जगत भी ब्रह्मकर्तृक होने से नित्य और ब्रह्म से अभिन्न है। वे ब्रह्म को कारण और जगत को कार्य, तथा जिस तरह चन्दन एक स्थान में रहकर भी सर्वत्र अपनी सुगन्धि फैलाता है, उसी तरह इस जीव और जगत को ब्रह्ममय समझते थे। पुष्टि-मार्ग के अनुसार जीव जब समस्त जगत को कृष्णमय समझ कर उनके प्रेम में तन्मय हो जाता है, तभी उसकी आराधना सिद्ध होती है। भगवान तब सहज ही प्रसन्न होकर उसे मुक्त करते हैं। इस योग की समस्त साधना भगवद्विषयक निरुपाधि प्रेम ही है, और यह

प्रेम भगवान के अनुग्रह से जब प्राप्त होता है, तो और किसी साधना की अपेक्षा नहीं रह जाती। इसमें अन्य किसी यत्न या योग्यता की अपेक्षा नहीं है। फलप्राप्ति में बाधक सब धर्मों का परित्याग ही पुष्टि-मार्ग का सूत्र है। पुष्टि-मार्ग भावों का आतिशय्य है। इस मार्ग में भगवान स्वयं जीव का वरण करते हैं। तभी तो सूरदास कह सके हैं—

वाहँ छुड़ाए जात हो निवल जानि कै मोहि।
हिरदै तें जब जाहुगे सवल वदौंगौं तोहि॥

रागानुगा भक्ति के श्रवण, कीर्त्तन, स्मरण, चरणसेवन, अर्चन, वंदन, दास्य, सख्य एवं आत्म-निवेदन, ये नवधा सोपान हैं। रस-प्रक्रिया में रागानुगा की शांत, दास्य, सख्य, वात्सल्य और शृङ्गार, ये पाँच स्थितियाँ मानी गई हैं, जिनमें क्रमशः विकास और प्रगाढ़ता देखी जा सकती है, और जिनकी चरम परिणति माधुर्य भाव में होती है। कहना न होगा कि इनमें से प्रत्येक स्थिति में क्रमागत उसके पूर्व की सभी स्थितियाँ विद्यमान रहती हैं। 'माधुर्य' भाव में शांत, दास्य, सख्य, वात्सल्य और शृङ्गार, सभी भाव विद्यमान हैं। महाप्रभु वल्लभाचार्य ने नवधा भक्ति का पर्यवसान शुद्ध प्रेमानुगा भक्ति में प्रतिपादित किया है। सूरदास ने प्रेमानुगा भक्ति के जितने भी आयाम हो सकते हैं, उन सभी में पद-रचना की है। समस्त सूर-सागर व्रजवासियों के श्रीकृष्ण-सम्बन्धी प्रेम-रस से भरा हुआ महासागर है जिसमें मातृ-हृदय के वात्सल्य रस की धारा, पिता के सुख की रस-धारा, सखाओं के सहवास की रस-धारा, प्रियतमा गोपियों के कृष्णमय संयोग-वियोग का विपुल विस्तार और प्रगाढ़ वेग की धारा कितने उदग्र और उद्दाम वेग से प्रवाहित हो रही है। शुद्ध प्रेमाभक्ति में अन्य साधन, वैराग्य-ज्ञान-योग-तपादि सब, निष्प्रयोजन हो जाते हैं। इसमें विशुद्ध प्रेम फल भी है और साधन भी। इस मार्ग में विधि-विधानों का किंचित् भी महत्त्व नहीं है, उनका महत्त्व वैधी भक्ति तक ही सीमित है।

श्रृंगार का स्थाई भाव 'रति' माना गया है। भक्तिशास्त्र में भगवद्विषयक रति ही भक्ति-श्रृंगार का स्थायी भाव है। अपने से छोटों के लिए जो अनुग्रह के पात्र हैं, यह रति 'प्रीति' कहलाती है, और बराबरीवालों के लिए 'सख्य'। गुरुजनों की जो भगवान के प्रति 'रति' होती है उसे 'वात्सल्य' की संज्ञा दी गई है, और भगवान श्रीकृष्ण और प्रियतमा गोपियों के बीच जो रतिभाव है उसको 'प्रियता' या 'मधुरा' के नाम से अभिहित किया जाता है। भारत की अंतरंग (ईसॉटरिक) धर्म साधनाओं में इस मधुर भाव की लम्बी और प्रौढ़ परंपरा है। बौद्ध धर्म की महायान या वज्रयान शाखा में गुह्य साधना से लेकर तंत्रवा-दियों के पंचमकार, कौलमत, सहजिया साधना, नित्य-वृन्दावन आदि क्रमागत भक्ति आंदोलन इसके प्रमाण हैं। पुष्टिमार्ग में दीक्षित महाकवि सूरदास की माधुर्य-भाव की भक्ति-रचना भारतीय परंपरा की ही एक उच्चतम मनःस्थिति पर प्रतिस्थापित प्रतिष्ठित कड़ी है।

प्रेमानुगा भक्ति में प्रेम ही साधन है और प्रेम ही सिद्धि भी। यह केवल इष्ट की सेवा से ही संभव है। देवार्चना के दो ही प्रकार हैं, पूजा और सेवा। पूजा में फल और साधन पृथक्-पृथक् हो जाते हैं, अतः पुष्टिमार्ग में भगवान कृष्ण की सेवा का ही महत्त्व है। श्रीकृष्ण-विग्रह की परिचर्या ही सेवा कहलाती है। यह सेवा दो प्रकार की बताई गई है: नाम-सेवा और स्वरूप-सेवा। स्वरूप-सेवा के तनुजा, वित्तजा और मानसी, ऐसे तीन भेद होते हैं। वित्तजा-सेवा के अंतर्गत बड़े वैभवयुक्त पूजा-विधान, विशाल समारोह, असंख्य प्रकार के व्यंजनों के नैवेद्य आदि का विधान है, जिन्हें नाथद्वारा, काँकरोली आदि तीर्थस्थलों में सहज ही देखा जा सकता है। मधुरोपासना में अष्टयाम-सेवा मुख्यतम अंग है। इन तीर्थस्थलों में अब भी मंगल आरती से लेकर शयन तक की विभिन्न लीलाओं की पूजा होती है। इसे ही अष्टयाम कहा जाता है। इनमें पाँच काल होते हैं: भगवान का निद्रा-त्याग, स्नान और श्रृंगार, भिन्न-भिन्न समयों की लीला, भोजन

और शयन। इन सभी अवसरों पर कीर्त्तन के लिए महाकवि सूरदास के अनेकानेक पद मिल जाते हैं। भगवान श्रीकृष्ण को जगाए जानेवाले गीतों की ही संख्या पचासों है, और उतने ही पद उनके जागने के बाद के हैं। कृष्ण को जगाने के लिए सूरदास ने सम्बोधन के पद ही नहीं कहे, उन प्रसंगों में लीला और मधुर-भाव का भी अनुभव किया है। माँ यशोदा अपने लाल को जगाने आई है, किन्तु सोए हुए कृष्ण की छवि, भोलापन, निरीहता आदि देखकर ठगी-सी रह जाती है, उन्हें सोते रहने देने का मोह होता है। साथ आई व्रजवाला से यशोदा कहती हैं—

नाहिंनै जगाइ सकति सुनि सुबात सजनो।
अपनैं जान अजहुँ कान्ह मानत हैं रजनी॥
जब जब हौं निकट जाति रहति लगि लोभा।
तन की गति बिसरि जाति निरखत मुख-सोभा॥

बहुत जगाने पर भी कृष्ण जब नहीं जागते, तो वह कहती है—

कौन परी मेंरे लालहिं बानि।
प्रात समय जागन की विरियाँ सोवत है पीताम्बर तानि॥

लगता है, कृष्ण जाग तो गए हैं, पर बहाना किए सोए हुए हैं। यशोदा को एक युक्ति सूझती है। कृष्ण को मुरली बहुत प्यारी है न। वे कहती हैं—

तुम मोहन जीवन-धन मेरे, मुरली नैंकु सुनावहु कानि।
यह सुनि स्रवन उठे नँद नंदन, बंसी निज माँग्यौ मृदु बानि।

इसी तरह कलेवा, स्नान, शृंगार, अर्चन-भोजन आदि प्रत्येक प्रसंग पर लीलाधाम श्रीकृष्ण की लीला का सूरदास तन्मय होकर दर्शन करते हैं और गुणगान करते हैं।

महाकवि को अपने आराध्य की समस्त लीलाओं की प्रतीति अपने अन्तर्चक्षुओं से सहज ही हो जाती थी, और तत्काल वे तदनुरूप पद-रचना कर कृष्ण को अर्पित कर देते थे। कहते हैं, एक बार जब सूरदास नवनीतप्रिय के दर्शन के लिए गोकुल आए, तो गोस्वामीजी के पुत्रों ने उनकी परीक्षा लेनी चाही। ग्रीष्म ऋतु थी, अतः नवनीतप्रिय को वस्त्र न पहना कर केवल आभूषणों से शृंगार कर दिया। जैसे ही दर्शन के लिए पट खुले, महाकवि ने विग्रह के दर्शन अन्तर्मन में कर लिए। इस अद्भुत स्वरूप को देखकर वे भाव-विभोर हो उठे और उन्होंने पद गाया—

देखे री हरि नंगम-नंगा।
जलसुत भूषण अंग बिराजत, वसनहीन छवि उठत तरंगा।

इस तरह यद्यपि दिनचर्या के प्रत्येक प्रसंग पर सूरदास के सहस्रों मन-मुग्धकारी पद मिलते हैं, किंतु उनकी सर्वोत्कृष्ट प्रतिभा प्रकाश में आई है बाललीला के लोकोत्तर माधुर्य से पगे हुए पदों में। कृष्ण सखाओं के साथ खेलने गये। खेल-खेल में हार गए। लाड़ले तो थे ही, और अपने सामाजिक बड़प्पन की चेतना भी थी। अकड़ गए, पर सखा वृन्द ही कहाँ छोड़नेवाले थे? बोले—"खेलत मैं को काको गुसैयाँ? ....बरबस ही कत करत रिसैयाँ? ....रुहटि करै तासौं को खेलै...."। और सब इधर-उधर बैठ गये। लेकिन कृष्ण तो खेलना चाहते थे, इसलिए "दाउँ दियौ करि नंद दुहैया।"

बलदेव अबतक तटस्थ थे, पर दूसरी बार फिर कृष्ण अकड़े, तो बलदेव बिगड़ गये—

बीचहि बोलि उठे हलधर तब याके माइ न बाप।
हारि-जीत कछु नैंकु न जानत लरिकनि लावत पाप।
आपुनि हारि सखनि सौं झगरत यह कहि दियौ पठाइ।

और कृष्ण ने माँ के पास आ जड़ दी शिकायत बलदाऊ की—

मैया मोहिं दाऊ बहुत खिझायौ।
मोसौं कहत मोल कौ लीन्हौ तू जसुमति कब जायौ ?
....
तू मोहीं कौं मारन सीखी, दाउहिं कबहुँ न खीझै।

यशोदा समझाती हैं, सौगन्ध खाती हैं—"सुनहु कान्ह बलभद्र चबाई जनमत ही कौ धूत। सूरस्याम मोहिं गोधन की सौं, हौं जननी तू पूत।।" लेकिन कृष्ण रूठ गये सो रूठ गये—

खेलन अब मेरी जाइ बलैया।
जबहिं मोहिं देखत लरिकनि संग तबहिं खिझत बलभैया।।

मधुर भाव की पूर्ण अभिव्यक्ति सूर-काव्य में तब होती है जब कृष्ण का गोपियों से सम्पर्क होता है। माखन-चोरी के प्रसंग में तो ब्रज-नारियों में सहज क्रीड़ा और वात्सल्य का भाव ही दिखाई देता है—"हरि के बाल चरित अनूप। निरखि रहीं ब्रजनारि इकटक अंग-अंग प्रतिरूप।।" और जब

गए स्याम तिहिं ग्वालिनि कैं घर।
देख्यौ द्वार नहीं कोउ, इत-उत चितै, चले तब भीतर।
हरि आवत गोपी जब जान्यौ आपुन रही छपाइ।
सूने सदन मथनियाँ कैं ढिग बैठि रहे अरगाई।
माखन भरी कमोरी देखत लै लै लागे खान।
चितै रहे मनि-खंभ-छाँह तन, तासौं करत सयान।
प्रथम आजु मैं चोरी आयौ भलौ बन्यौ है संग।
आपु खात, प्रतिबिंब खवावत, गिरत, कहत, का रंग ?
सुनि सुनि बात स्याम के मुख की उमँगि हँसी ब्रजनारी।
सूरदास प्रभु निरखि ग्वालि-मुख तब भजि चले मुरारी।

और फिर गोपियों द्वारा यशोदा को उलाहनें—"जसुदा कहलौं कीजै कानि। दिन-प्रति कैसे सही परति है दूध-दही की हानि।" लेकिन शीघ्र ही ये उलाहने रंग बदलते हैं। गोपी कहती है—

मैं दधि मथति आपने मंदिर गए तहाँ इहिं भाँति।
मोसौं कह्यौ बात सुन मेरी मैं सुनि कै मुसकाति।
बाहँ पकरि चोली गहि फारी, भरि लीन्हीं अँकवारि।
कहत न बनै सकुच की बातैं, देखौ हृदय उधारि।

कृष्ण उलटा आरोप लगाते हैं—

झूठेहि मोहिं लगावति ग्वारि।
खेलत तैं मोहिं बोलि लियौ इहिं दोउ भुज धरि दीन्हौ अँकवारि।
मेरे कर अपने उर धारति, आपुन ही चोली धरि फारि।
माखन आपुहिं मोहिं खवायौ मैं धौं कब दीन्हीं है डारि।

किन्तु सही माने में रति भाव का उदय तो राधा-कृष्ण के मिलाप से ही प्रारंभ होता है। जब "खेलत हरि निकसे ब्रज-खोरी", तो "औचक ही देखी तहँ राधा, नैन बिसाल भाल दिए रोरी।" और तब यह वार्तालाप

चलता है दोनों के मध्य—

पूछत स्याम 'कौन तू गौरी ?
कहाँ रहति, काकी है बेटी, देखी नहीं कहूँ ब्रज-खोरी।'
'काहे कौ हम ब्रज-तन आवति, खेलति रहति आपनी पौरी।
सुनत रहति स्रवननि नँद-ढोटा करत फिरत माखन-दधि चोरी।'
'तुम्हरो कहा चोरि हम लैहैं ? खेलन चलौ संग मिलि जोरी।'
सूरदास प्रभु रसिक सिरोमनि बातनि भुरइ राधिका भोरी।

यह राधिका भोरी, जब नन्द कृष्ण को उसके साथ खेलने छोड़ जाते हैं, तो कहती है—

नंद बबा को बात सुनौ हरि।
मोहिं छाँड़ि जो कहूँ जाहुगै, ल्याऊँगी तुमकौं धरि।

शीघ्र ही यह पूर्वराग पुष्टराग और परकीय-भावना के अनुकूल छद्म से भी भर जाता है—

नीवी ललित गही जदुराइ।
जबहिं सरोज धरचो श्रीफल पर तब जसुमति गई आइ॥
ततछन रुदन करत मनमोहन मन मैं बुधि उपजाइ।
'देखौ ढीठि देत नहिं माता, राख्यौ गेंद चुराइ'॥
तब वृषभानु-सुता हँसि बोली, 'हम पै नाहिं कन्हाइ।
काहे कौं झकझोरत नोखे, चलहु न ! देउँ बताइ।'॥

दोनों की किशोर 'रति' के अद्भुत चित्र उकेरे हैं सूरदास ने। यह कहना निरी धृष्टता होगी कि सूर-काव्य मिलन के ऐसे स्थलों पर अश्लील हो गया है। पुष्टिमार्ग में भक्त अपने आराध्य को स्वकीया, परकीया, दोनों भावों से भजता है। हृदय की सभी उद्दाम मनोवृत्तियों को आराध्य के प्रति निवेदित किए बिना तल्लीनता की चरम सिद्धि कैसे मिले ? विधि-निषेध का वहाँ क्या मूल्य है ? जीव और ब्रह्म के बीच जो एक दूरी है, उसको विषयों की उदग्रता के बिना कैसे पाटा जा सकता है ? अध्यात्म के इस गुह्य रहस्य को समझे बिना सूर काव्य के साथ न तो न्याय ही किया जा सकता है, और न उसकी समस्त अर्थवत्ता, उसका अप्रतिम सौष्ठव ही हृदयंगम किया जा सकता है। यह भी ध्यान में रखने योग्य तथ्य है कि आज से पाँच शताब्दी पूर्व समाज में विधि-निषेधों का यह रूप न था जो आज हमें प्राप्त होता है। मध्ययुग के मन्दिरों में प्राप्त युगनद्ध मूर्तियाँ क्या प्रमाणित करती हैं ? इतना होने पर भी, सूर के वर्णन कहीं पर भी उत्तेजना या आवेश नहीं पैदा करते, जैसा कि उनके परवर्ती रीति-कवियों की कविता में दिखाई देता है। सूर का शृङ्गार-वर्णन हृदय में सात्विक भाव ही जागृत करता है। इस मर्म को समझने के लिए इस महामिलन को, गोपियों के बाद के महाविरह को ध्यान में रखकर ही अनुभव किया जा सकता है। यह भक्ति का ही एक अंग है। शृंगार श्रीकृष्ण की अष्टयाम सेवा का अंग ही है, किन्तु विरह ? उसे जीव की ब्रह्म से विरह-भावना के अतिरिक्त कुछ समझा नहीं जा सकता। चीर-हरण, रास आदि लीलाओं को इसी प्रसंग में देखा जाना चाहिए। गोपियाँ मन से कृष्ण को पति के रूप में ही चाहती हैं, इसीलिए

अति तप करति घोष-कुमारि।
कृष्ण पति हम तुरत पावैं काम-आतुर नारि॥

जब स्नान करने के लिए अपने वस्त्रालंकार आदि तट पर रखकर गोपियाँ यमुना में प्रवेश करती हैं, तो "आपु कदम चढ़ि देखत स्याम।" और सोचते हैं—"वर्ष भर व्रत नेम-संजम, स्रम कियौ मोहिं काज।

कैसे हूँ मोहि भजै कोऊ, मोहि बिरद की लाज।" और "कृपानाथ कृपाल भए तब, जानि जन की पीर। सूर प्रभु अनुमान कीन्हौं 'हरौं इनके चीर'।" और गोपियाँ जब यमुना से निकलीं, तो

जलतैं निकसि आइ तट देख्यौ, भूषन चीर तहाँ कछु नाहिं।
इत-उत देखि चकित भईं सुन्दरि, सकुचि गईं फिरि जल ही माहिं॥
नाभि प्रजंत नीर मैं ठाढ़ी थर-थर अँग काँपति सुकुमारि।
को लै गयौ बसन आभूषन सूर स्याम उर प्रीति बिचारि॥

बहुत चिरौरी की गोपियों ने कृष्ण की अपने वस्त्र लौटाने के लिए, तो उस ब्रह्म ने जीव से कहा, "लाज ओट यह दूरि करौ।" और तब यह जानकर कि

दृढ़ व्रत कियौ मेरैं हेत।
धन्य धनि कह्यो नंद नंदन, जाहु सबै निकेत॥
करौं पूरन काम तुम्हरौ, सरद रास रमाइ।

शरद में रास रमाने के अपने वादे को पूर्ण करने के लिए ही

सरद निसि देखि हरि हरप पायौ।
विपिन वृन्दारमन, सुभग फूले सुमन, रास रुचि स्यास के मनहि आयौ॥

और 'परम रमनीक जमुना-पुलिन' पर जाकर

अधर धरि वेनु सुललित बजाई।
नाम लै लै सकल गोप कन्यानि कै सबनि कै स्रवन वह धुनि समाई॥
× × ×   × × ×
सुनत वन वेनु धुनि चली नारी।
लोक लज्जा निदरि भवन तजि सुंदरि मिलीं वन जाइ कै वन-विहारी॥

उस रास का वर्णन कैसे किया जाए?

रास-रस-रीति नहिं वरनि आवै।
कहाँ वैसी बुद्धि, कहाँ वह मन लहौं, कहाँ यह चित्त जिय भ्रम भुलावै॥

रति-भाव की आत्यंतिक गंभीरता विरह में ही प्राप्त होती है। जीव और ब्रह्म का प्रकट नाता विरह का ही है। रास-रस पीकर गोपियों को गर्व हुआ—"कहै भामिनी कंत सौं मोहि कंध चढ़ावहु। नृत्य करत अति भ्रम भयौ, ता भ्रमहि मिटावहु।" —"तिया वाल सुनि गर्व के पिय मन मुसकाने।" —"मैं अविगत, अज, अकल हौं, यह मरम न पायौ। भाव वस्य सब पै रहौं, निगमनि यह गायौ। एक प्रान द्वै देह हैं, द्विविधा नाइ यामैं। गर्व कियौ नर देह तैं, मैं रहौं न तामैं। सूरज प्रभु अंतर भए, सँग तैं तजि प्यारी। जहँ की तहँ ठाढ़ी रही वह घोष कुमारी।" —बहुत रुदन और वेदना के बाद जब घोष कुमारी और अन्य गोपियों को बोध हुआ—"मैं अपने मन गरब बढ़ायौ। यहै कह्यौ पिय कंध चढ़ौंगी, तब मैं भेद न पायौ।"—"अबकैं जो कैसेहु मिलौं, पलक न त्यागौं साथ। हृदय-माँझ पिय घर करौं, नैननि बैठक देउँ। सूरदास प्रभु सँग मिलौं, बहुरि रास-रस लेउँ।" तो "अन्तर तैं हरि प्रकट भए। रहत प्रेम के बस्य कन्हाई, जुवतिनि कौं मिलि हर्ष दए।"

सूरदास की दान-लीला भी अद्भुत है। वैदग्ध्य-युक्त संवाद, गाली-गलौज— 'कहा कहत तू नंद-ढुटौना?' — 'तुम हौ बड़ी बजारिनि।'—'कान्ह अब लँगराई हौं जानी।'—' अरी यह ढीठ कन्हाई।' —'नंद-महर की कानि करति हौं, न तु करती मेहमानी। अब लौं सह्यो तुम्हारी ढीठौं तुम यह कहत डरानी। सूर स्याम कछु करत न बनिहै, नृप पावै कहुँ जानी।' —और फिर जोर-जबर्दस्ती—

'दधि-मटकी हरि छीनि लई।
हार छोरि चोली-बंद तोर्यौ जोवन के बल ढीठि भई ॥

श्याम जब प्रकट रूप से अपने दान की याचना करने लगे तो घबराकर—

स्यामहिं वोलि लियौ ढिग प्यारी।
ऐसी वात प्रकट कहुँ कहियत, सखिनि माँझ कत लाजनि मारी ?

तब श्याम को कहना पड़ा—"झूठी वात कहा मैं जानौं। जो मोकौं जैसेहि भजैं री, ताकौं तैसेहि मानौं।" सो यदि गोपियों ने कृष्ण को कामी होकर चाहा तो कृष्ण क्यों न कामी होकर उनके निकट प्रस्तुत होते ? इसीलिए तो गोपियाँ भी कहती हैं—"को जाने हरि चरित तुम्हारे। अजहूँ दान नहीं तुम पायौ, मन हरि लिये हमारे ॥" तथ्य तो यह है

ब्रह्म जिनहिं यह आयसु दीन्हौ।
तिन तिन संग जनम लियौ परगट सखी सखा करि कीन्हौ ॥
गोपी-ग्वाल कान्ह द्वै नाहीं, ये कहुँ नैंकु न न्यारे।
जहाँ जहाँ अवतार धरत हरि, ये नहिं नैंकु विसारे ॥
एकै देह वहुत करि राखे गोपी ग्वाल मुरारी।
यह सुख देखि सूर के प्रभु कौं थकित अमर-सँग नारी ॥

कृष्ण के ब्रज छोड़ कर मथुरा जा वसने पर

तव तैं मिटे सव आनंद।
या ब्रज के सव भोग संपदा, लै जु गए नँद नंद ॥
विह्वल भई जसोदा डोलति दुखित नंद उपनंद।
धेनु नहीं पय स्रवतिं रुचिर मुख चरतिं नहीं तृन-कंद ॥
विसम वियोग दहत उर सजनी, वाढ़ि रहे दुख-दंद।

और देवकी के प्रति यशोदा के इस संदेश से किस माँ का कलेजा नहीं हिल जाता है ?

सँदेसौ देवकी सौं कहियौ।
हौं तो धाइ तिहारे सुत की, मया करत ही रहियौ ॥
जदपि टेव तुम जानतिं उनकी, तऊ मोहिं कहि आवै।
प्रात होत मेरे लाल लड़ैतैंहि माखन रोटी भावै ॥
तेल उवटनो अरु तातो जल ताहि देखि भजि जाते।
जोइ जोइ माँगत सोइ सोइ देती क्रम-क्रम करिकै न्हाते ॥
सूर पथिक सुनि मोहिं रैनि दिन बढ्यौ रहति उर सोच।
मेरो अलक लड़ैतो मोहन ह्वै है करत सँकोच ॥

उनके विरह में 'देखियति कालिन्दी अति कारी।'—'मदन गुपाल बिना या ब्रज की सवै वात वदली।' 'ब्रज मैं वै उनहार नहीं। ब्रज सब गोप रहे, हरि बिनहीं स्वाद न दूध-दही।' गोपियों के लिए तो अव

पिय-विनु नागिन कारी रात।
जो कहु जामिनि उवति जुन्हैया, डसि उलटी ह्वै जात ॥
जंत्र न फुरत मंत्र नहिं लागत, प्रीति सिराती जात।
सूर स्याम बिनु विकल बिरहिनी, मुरि मुरि लहरैं खात ॥

नागिन किसी को काट लेती है तो कहते हैं कि उसे भी विष चढ़ता है और वह उसका शमन उलटी हो लोट-पोट कर करती है। नागिन के उलटी होने पर उसका पेट सफेद दिखाई देता है, जैसे काली रात में सफेद चांदनी। मानो यह काली रात की नागिन, विरहिणी को डस कर उलट गई है।

विरह व्यथा का मर्म तो उद्धव के व्रज-आगमन पर प्रकट होता है। सूरदास का भ्रमर-गीत एक अप्रतिम विरह-काव्य है। भ्रमर को लक्ष्य कर उद्धव के प्रति गोपियों ने जो कुछ व्यक्त किया है, उसकी तुलना अन्यत्र कहीं नहीं मिलती। उसमें भी गोपियों ने निर्गुण ब्रह्म को कहीं अस्वीकार नहीं किया, तर्क की अपेक्षा भावना की गंभीरता से उन्होंने यही स्पष्ट किया—

> जोग जुगति हम कछू न जानैं ना कछु ब्रह्मज्ञानी।
> नव किसोर मोहन मृदु मूरति तासौं मन उरझानौ॥
> भली करी तुम आए ऊधौ, देखौ दसा बिचारी।
> कोउ उपाइ मिलाइ सूर प्रभु आरति हरौ हमारी॥

या 'हमकौं हरिकी कथा सुनाउ' या फिर 'ऊधौ व्रज की दसा विचारौ। ता पाछे यह सिद्धि आपनी, जोग कथा विस्तारौ।' और सुनो ऊधौ, तुम्हारी यह 'जोग ठगौरी' व्रज में नहीं विकेगी। 'मूरी के पातन के बदलैं को मुक्ताहल दैहै ? दाख छाँड़ि कै कटुक निवौरी को अपने मुख खैहै ?····गुन करि मोही सूर सांवरै, को निरगुन निरवैहै ?'

और ऊधौ को विदा करते समय—

> कहियौ जसुमति को आसीस।
> जहाँ रहौ तहँ नंद लाड़िलौ जीवौ कोटि वरीस॥
> मुरली दई, दोहनी घृत भरि, ऊधौ धरि लइ सीस।
> यह तो घृत उनही सुरभिनि कौ जे प्यारी जगदीस॥

मथुरा पहुँचकर उद्धव को कृष्ण के प्रति कहना पड़ा—

> फिरि व्रज वसौ नंद कुमार।
> हरि तिहारे विरह राधा, भई तन जरि छार॥

स्वयं उद्धव की स्थिति ऐसी हो गई है कि

> माधौ जू जोग को वोध वह्यौ।
> स्याम सुमुख विधु-वचन-सुधा रस सो पुनि कछु न कह्यौ॥
> नव-नव भाव तरंग महोदधि, सखि लोचन उमह्यौ।
> जो तुम कह्यौ ज्ञान कौ मारग पानी ह्वै सु वह्यौ॥
> सकल सिंगार हार रस सरवस, व्रज नवनीत लह्यौ।
> छूँछै भांडे पर्यौ न पावै लिखि तुम दियौ मह्यौ॥
> मोंहि आचरज एक पै लागत तुम पै जात सह्यौ।
> सूर स्याम सुनि सखा सयानौ, लै भुज वीच गह्यौ॥

सूर-काव्य का माहात्म्य समझने के लिए महाप्रभु वल्लभाचार्य की शुद्धाद्वैतवादी दार्शनिक-पीठिका को समझना बहुत आवश्यक है। महात्मा सूरदास कवि से भी बढ़कर एक भक्त थे। उन्होंने अपना सम्पूर्ण व्यक्तित्व कृष्णार्पण कर दिया था। उन्होंने काव्य-रचना कवि-कर्म की सिद्धि के लिए नहीं, सेवा-कर्म

के एक आवश्यक अंग की पूर्त्ति के लिए की। अष्टयाम-सेवा में प्रत्येक प्रसंग पर कीर्त्तन की अपेक्षा है, और कीर्त्तन नवधा भक्ति का एक अंग है। इसीलिए सूरदास ने प्रायः पद ही रचे हैं, और वे भी संगीत की विभिन्न राग-रागिनियों में गेय। काव्य के गुण उनमें अशेष हैं, पर वे अनायास आ गये हैं। उन्होंने कृष्ण के लौकिक स्वरूप और लौकिक लीलाओं का गुणगान किया है। तो क्या सूर के हृदय में लोकैषणा शेष रह गई थी, जिसके उदात्तीकरण के लिए उन्होंने ये लीलाएँ गाईं? आज का मनोविज्ञान शायद इस दिशा की ओर इंगित करे। वहुतेरे सूर की जीवनी के साथ विल्वमंगल की वेश्यासक्ति की कथा भी वड़े रस के साथ जोड़ते हैं, और सूर के प्रेम की उदग्रता को उस आसक्ति का ही उदात्तीकरण दिखाना चाहते हैं। सूर के दीक्षागुरु महाप्रभु वल्लभाचार्य ने उस परब्रह्म ही को परम लीलामय सच्चिदानन्द-स्वरूप प्रतिपादित किया था। उनके मत से ब्रह्म (कृष्ण) ही कर्त्ता है और ब्रह्म (कृष्ण) ही भोक्ता है। यह जगत ब्रह्ममय ही तो है। इस जगत का अच्छा-बुरा, सभी तो कृष्णमय है। ब्रह्म रूप से वे कृष्ण हैं, तो जीवरूप से गोप-गोपियाँ भी तो वही कृष्ण हैं। वह आसक्ति, रमण, विहार, चीरहरण, रास—जो कर्ता है, वही भोक्ता भी है। दोनों में भेद कहाँ है? सव सद्वृत्तियों के आधार यदि कृष्ण हैं, तो असद्वृत्तियों के आधार भी तो कृष्ण ही हैं। कृष्ण को लेकर सूर के लिए लौकिक-अलौकिक का कोई भेद कहाँ है? उनके लिए लोक-परलोक, आचार-विचार, धर्म-कर्म और जगत् के सम्वन्ध, सभी कुछ तो कृष्णमय हैं। वे लोकाचार की शिक्षा या लोक-मर्यादा के सूत्र परिभाषित करने नहीं बैठे थे। अतः उन्हें इन पैमानों से नापना उचित न होगा।

सूर जैसे भक्त कवि, अपने समस्त 'स्व' को कृष्णार्पण करके ही पद-रचना करते थे। वह अन्तर्मन की ऐसी ऊँची और दिव्य स्थिति होती कि कविता स्वतः स्फूर्त होती थी। वह एक अद्भुत दिव्य समाधि की अवस्था होती, जिसमें वाह्य लौकिक-लीलाओं के आयाम परब्रह्म के दिव्य व्यापारों का संकेत करते होते। देखिए—

> जव मोहन कर गही मथानी।
> परसत कर दधि-माट नेति, चित उदधि, सैल वासुकि भय मानी।

क्या यह सहज ही ब्रह्म के दिव्य चिरंतन दधि-मन्थन का संकेत नहीं देता? यह महाकवि सूरदास जैसे श्रेष्ठ भक्त कवि ही की प्रतिभा है कि इस जगत में और जागतिक व्यापारों में हम उस अलौकिक दिव्य के दर्शन करने की क्षमता पाते हैं। इस युग की मूर्धन्य कवयित्री महादेवी वर्मा ने सच ही कहा है कि सूर ने हिन्दू समाज में प्रत्येक वालक को कृष्ण के रूप में और प्रत्येक माता को यशोदा के रूप में देखने और अनुभव करने की दिव्य-दृष्टि दी है, और यह देन कोई सामान्य देन नहीं है।

कृष्ण की आसक्ति सारे व्रज का केन्द्र हो गई है। यशोदा और नन्द की आँखों के वे तारे हैं, ग्वाल-वालों के अन्यतम सखा, गोपियों और वृषभानु कुमारी के हृदयेश्वर, सूरदास के स्वामी—व्रजवल्लभ लीला-निकेतन भगवान कृष्ण के विना व्रज की कल्पना ही नहीं की जा सकती। किन्तु क्या यह आसक्ति उस लीलाधाम को भी कहीं वाँध सकी? वह तो एक सहज लीला थी, कौतुक था भगवान का, परब्रह्म का, जीव को अपने परम लक्ष्य, सायुज्य-धाम प्राप्त करने के लिए प्रेरित करने का। कृष्ण के जीवन का जितना भाग एक दुर्निवार आसक्ति के प्रभा-मण्डल से आपूर्य रहा, उतनी ही तीव्र अनासक्ति भी कृष्ण ने जीवन में अभिव्यक्त की। जन्म उन्होंने वसुदेव के यहाँ देवकी के गर्भ में लिया, किन्तु गर्भ की समस्त आसक्ति का परित्याग कर नंद और यशोदा के आँगन की शोभा वने। गोकुल-वृन्दावन में वालकेलि की, गोपियों के चीरहरण कर उनके साथ रास रचा, राधा की अप्रतिम भक्ति और प्रणय का लक्ष्य वने, किन्तु एक वार

गोकुल छोड़ा तो पीछे मुँह मोड़ कर नहीं देखा । मथुरा का राज्य जीता, पर उसका लाभ दिया उग्रसेन को। और फिर जरासन्ध के आक्रमणों से कुल-रक्षा के लिए मथुरा का त्याग कर द्वारका बसाई तो फिर मथुरा का नाम नहीं लिया । महाभारत के बाद अपने ही मदान्ध कृष्णवंश का नाश भी उन्होंने उसी अनासक्त भाव से देखा । प्रारम्भिक जीवन की वह अभेद्य-आसक्ति उनके उत्तर जीवन की अनासक्ति के साथ मिल कर जिस लोकोत्तर चरित्र की सृष्टि करती है, उसे सामान्य जगत के लौकिक पैमानों से कैसे समझा जा सकता है?

ऊपर भक्ति के पाँच रूप बताए गए हैं । गौड़ीय सम्प्रदाय के प्रतिष्ठित आचार्य रूप गोस्वामी ने अपने ग्रन्थ 'उज्ज्वल नीलमणि' में इन्हें गिनाया है, शान्त-प्रीति-प्रेय-वत्सल-माधुर्य । माधुर्य को ही उन्होंने उज्ज्वल-रस कहकर भी अभिहित किया और इसीमें शृंगार का पूर्ण अन्तर्भाव माना है । महाकवि सूरदास की समस्त रचनाएँ शृंगार-रस की अथच माधुर्य भाव या मधुर रस की रचनाएँ हैं । राधा-कृष्ण का आधार लेकर मध्ययुग के परवर्ती अनेक कवियों ने शृङ्गार-रस की रचनाएँ की हैं, किन्तु वे सूरदास की पावन-भक्ति-भावना को कहीं नहीं छू पाते । उनके काव्य में राधा-कृष्ण का केवल नाम मात्र है । यद्यपि सूर ने भी षड्ऋतु-वर्णन और नख-शिख-वर्णन की परम्परा कहीं-कहीं निभाई है, किन्तु उनके वर्णन सदा हृदय में एक सात्विक भावमयी भक्ति का ही उद्रेक करते हैं । उन्होंने अपने आराध्य का शृङ्गार-वर्णन करने के पूर्व भगवदनुग्रह की अग्नि से हृदय को समस्त वासना को जलाकर अपने अन्तर्मन को शुद्ध कर लिया था । इसके अतिरिक्त संयोग शृंगार के वर्णन का उनका एकमात्र लक्ष्य कृष्ण के अलौकिक माधुर्य और लीलाओं का गुणगान करना ही था, इसकी सहज प्रतीति उनके विरह-काव्य में इतनी स्पष्ट हुई है कि वह अनायास पाठकों के हृदय को स्पर्श कर स्वर्ण बना देती है । एक महान काव्य की यही कसौटी है । उनके दीक्षागुरु महाप्रभु वल्लभाचार्य ने परम-माधुर्यमय लीलाधाम श्रीकृष्ण को और उनके आसपास समस्त चराचर को माधुर्यमय ही तो देखा था —

गोपी मधुरा, लीला मधुरा, युक्तं मधुरं, भुक्तं मधुरम् ।
दृष्टं मधुरं, शिष्टं मधुरं, मधुराधिपतेदखिलं मधुरम् ॥



श्री वल्लभ सौं मंत्र लै, सागर रच्यौ अपार ।
सूर सिद्ध कवि नै कियौ, हरि लीला विस्तार ॥



महाकवि सूरदास का राम-काव्य

डॉक्टर लक्ष्मीनारायण दुबे

महाकवि सूरदास का राम-काव्य उसी प्रकार उपेक्षित रहा है जिस प्रकार तुलसी का कृष्ण-काव्य। सूर के राम-काव्य विषयक छंदों को 'रामचरितावली' नाम दिया गया है। अपने राम-कथा विषयक दृष्टिकोण को सूरदास ने 'सूर-सारावली' में स्पष्ट किया है—

सतकोटी रामायन कीनी, तऊ न पायौ पार।
कहि बसिष्ठ मुनि रामचंद्रसौं रामायन उच्चार॥
कागभुसुंड गरुड़ सूँ भाष्यौ, रामचरित अवतार।
सकल वेद अरु सास्त्र कह्यौ है, रामचंद्र जस-सार॥
कछु संछेप 'सूर' अव वरनत, लघुमति दुरवल वाल।
यह रसना पावनके कारन, मेटन भव-जंजाल॥[1]

ऐसा अनुमान है कि महाप्रभु वल्लभाचार्य के सत्संग में आने के पूर्व सूरदास ने राम के प्रति अपनी दास्य भक्ति को अभिव्यक्ति दी थी और आचार्य से दीक्षित होने के पश्चात् कृष्ण-लीला-गान में वे मधुर भावों के अभिव्यंजक बन गये।

सूरदास का मौलिक दृष्टिकोण यह है कि वे राम और कृष्ण में कोई अन्तर नहीं मानते। यही स्थिति सीता और राधा के सम्बन्ध में भी है। सूरदास ने एक पद में राम तथा कृष्ण की युगपत् स्तुति की है। इसकी संगति महाप्रभु वल्लभाचार्य के सिद्धान्त से बैठायी जा सकती है, क्योंकि ब्रह्म के मर्यादा रूप और रसेश्वर रूप के प्रतिनिधि स्वरूप मर्यादापुरुषोत्तम भगवान् राम और योगिराज श्रीकृष्ण की एकात्मकता यहाँ भली-भाँति प्रदर्शित है—

जय माधव गोविंद मुकुन्द हरि, कृपासिंधु कल्याण कंस अरि।
प्रनतपाल केसव कमलापति, कृष्ण कमल-लोचन अनन्य गति॥
रामचन्द्र राजीव नैनवर, शरन साधु श्रीपति सारँगधर।
खर-दूषन-त्रिशिरा-शिर खण्डन, चरन चिह्न दण्डक भुवमण्डन॥
रघुपति प्रवल पिनाक विभंजन, जगहित जनकसुता मनरंजन।
गोकुलपति गिरिधर-गुन-सागर, गोपी रमन रास रतिनागर॥
करुनामय कवि कुल हितकारी, वाल-विरोध-कपट मृगहारी।

१– सूर ग्रंथावली (अ० भा० वि० प०)–सूर-सारावली १५५-१५७।

सीता में ऐश्वर्य का प्राधान्य है और राधा में प्रेम का, परन्तु दोनों में मौलिक भेद होते हुए भी सूरदास सीता और राधा में कोई पार्थक्य नहीं स्वीकार करते—

समुझि री नाहिन नई सगाई।
सुनि राधिके तोहिं माधौ सौं, प्रीति सदा चलि आई।
....
सिंधु मथ्यौ, सागर-वल वाँध्यौ, रिपु रन जीति मिलाई।
अब सो त्रिभुवन-नाथ नेह-वस, वन वाँसुरी वजाई ॥[2]

सूर कृष्ण को चुनौती देते हैं परन्तु राम से उद्धार-कल्याण के लिए अनुनय-विनय करते हैं। इसका मूल कारण यह है कि राम-कथा सिर्फ दास्य-भाव के अन्तर्गत ही आ सकती है, सख्य भाव के नहीं। सूरदास के राम रावण-वध के बाद सीता को देखकर लज्जा का अनुभव करते हैं, परन्तु सूर के कृष्ण का रूप-सौन्दर्य किसी कुल-मर्यादा की लक्ष्मण-रेखा में बँधता नहीं। ऐसा बताया जाता है कि सन् १५१० में सूरदास की वल्लभाचार्य से भेंट हुई थी। उस समय सूर की उम्र लगभग ३२ वर्ष की थी। तब वे दास्य भाव के पद तथा राम-कथा के छन्द गा चुके रहे होंगे। पुष्टिमार्ग का जलयान तो बाद में गतिशील हुआ।

इन्हीं मूल बिन्दुओं को चिंतन में रखकर हम सूर के राम-काव्य के साथ पूर्ण न्याय कर सकते हैं।

प्रेरणा-स्रोत—श्रीराम और श्रीकृष्ण दोनों ही श्रीविष्णु के अवतार थे। सूर ने श्रीराम की गाथा को श्रीमद्भागवत से ग्रहण किया था। सूर के युग में ब्रज-क्षेत्र में राम-कथा का पर्याप्त प्रचार-प्रसार और सम्मान था। अपनी युगीन चेतना से भक्त कवि किस प्रकार अछूता रह सकता था? उन्होंने अपने युग-धर्म से सीधे नाता जोड़ते हुए राम-कथा को गृहीत कर लिया। इसी प्रकार तुलसी ने 'कृष्ण-गीतावली' लिखी। दोनों एक दूसरे के पूरक थे।

सूरदास (सन् १४७८–१५८०) तुलसीदास (सन् १५३२–१६२३) से लगभग ४६ वर्ष बड़े थे। सूर के स्वर्गवास के समय तुलसी की आयु लगभग ४८ वर्ष की थी। दोनों के मिलने की सम्भावना प्रतीत होती है। वेणीमाधवदासकृत 'मूल गोसाईंचरित' में यह प्रसङ्ग है कि संवत् १६१६ में गोकुलनाथ के द्वारा भेजे गये सूरदास तुलसी से मिले थे और उन्हें अपना 'सागर' दिखलाया था। यदि यह घटना सत्य हो, तो इससे भी सूर के राम-काव्य की पूर्णता का मार्ग तुलसी द्वारा प्रशस्त होता दिखायी पड़ता है। सूर की गोपिकाओं ने भी एक स्थान पर स्वीकार किया है कि मर्यादा-निर्वाह की दृष्टि से कृष्ण की तुलना में राम अधिक प्रशंसनीय हैं—

हरिसौं भलो सो पति सीता को।
वन-वन खोजत फिरे वंधु सँग, कियौ सिंधु वीता को॥
रावन मारचौ, लंका जारी, मुख देख्यौ सीता को॥
दूत हाथ उन्हें लिखि न पठायौ, निगम ज्ञान गीता को।
अव यौं कहा परेखौ कीजै, कुवजा के मीता को।
जैसें चढ़त सवै सुधि भूली, ज्यौं पीता चीता को॥
कीन्हीं कृपा जोग लिखि पठयौ, निरखि पत्र री ताको।
सूरदास प्रेम कह जाने, लोभी नवनीता को॥

२—सूरसागर ३४३४।

श्रीराम सूर के इष्टदेव नहीं बन सके, फिर भी सूर का राम-काव्य भाव-पक्ष तथा शिल्प-पक्ष, दोनों ही दृष्टियों से उत्कृष्ट तथा प्रभावाभिव्यञ्जक है।

रामकाव्य का स्वरूप—महाकवि सूरदास ने अपनी निम्नलिखित दो कृतियों में राम-कथा को स्थान दिया है—

(क) सूरसागर। (ख) सूर सारावली।

श्रीमद्भागवत के नवम स्कन्ध के दशम अध्याय में राम के अवतार से लेकर उनके राजसिंहासनारूढ़ होने तक के आख्यान को कुल पचपन श्लोकों में बाँध दिया गया है। सूर ने इसी का अनुकरण एवं पल्लवन किया है।

'सूरसागर' (काशी नागरी प्रचारिणी सभा) के प्रथम खण्ड के नवम स्कन्ध के अन्तर्गत रामकथा मिलती है। यह पद संख्या ४५९ से शुरू होकर ६१६ तक व्याप्त है। इसी के साथ नवम स्कन्ध की प्रायः परिसमाप्ति भी होती है। महाकवि ने कुल मिलाकर राम-कथा को १५८ पद दिये हैं। 'रामावतार' से कथा का श्रीगणेश इस प्रकार होता है—

हरि हरि, हरि हरि, सुमिरन करौ। हरि-चरनारविंद उर धरौ।
जय अरु विजय पारषद दोइ। विप्र-सराप असुर भए सोइ।
एक वराह-रूप धरि मार्‌यौ। इक नरसिंह-रूप संहार्‌यौ।
रावन-कुंभकरन सोइ भए। राम जनम तिनकैं हित लए।
दसरथ नृपति अजोध्या-राव। ताकैं गृह कियौ आविर्भाव।
नृप सौं ज्यौं सुकदेव सुनायौ। सूरदास त्यौंही कहि गायौ।[3]

इसकी इतिश्री इस प्रकार होती है—

विनती किहिं विधि प्रभुहिं सुनाऊँ ?
महाराज रघुवीर धीर कौं समय न कबहूँ पाऊँ।
जाम रहत जामिनि के बीतैं, तिहिं औसर उठि धाऊँ।
सकुच होत सुकुमार नींद में कैसैं प्रभुहिं जगाऊँ।
दिनकर-किरनि-उदित, ब्रह्मादिक-रुद्रादिक इक ठाऊँ।
अगनित भीर अमर-मुनिगन की, तिहिं तैं ठौर न पाऊँ।
उठत सभा दिन मधि, सैनापति-भीर देखी, फिरि आऊँ।
न्हात-खात सुख करत साहिबी, कैसैं करि अनखाऊँ।
रजनी-मुख आवत गुन-गावत, नारद तुंबुर नाऊँ।
एक उपाउ करौ कमलापति, कहौ तौ कहि समुझाऊँ।
तुमहीं कहौ कृपानिधि रघुपति, किहिं गिनती मैं आऊँ ?
पतित-उधारन नाम सूर प्रभु, यह रुक्का पहुँचाऊँ॥[4]

बालकाण्ड में रामावतार, श्रीराम-जन्म, शरक्रीड़ा, विश्वामित्र-यज्ञरक्षा, अहिल्योद्धार, धनुष-भंग, दशरथ का जनकपुर-आगमन, कंकण-मोचन, धनुष-भंग, पाणिग्रहण, दशरथ-विदा, परशुराम-मिलाप और

३– सूरसागर ४५९। ४– सूरसागर ६१६।

अवधपुरी-प्रवेश के प्रसङ्ग हैं। कुल पन्द्रह पर्व हैं। राग-रागिनियों में विलावल, कान्हरौ, सारङ्ग, आसावरी आदि में पद लिखे गये हैं।

अयोध्याकाण्ड में राम-वन-गमन, कैकेयी-वचन श्रीराम के प्रति, दशरथ-विलाप, श्रीराम-वचन जानकी के प्रति, जानकी-वचन श्रीराम के प्रति, श्रीरामवचन लक्ष्मण के प्रति, लक्ष्मण का उत्तर, महाराज दशरथ का पश्चात्ताप, राम-वन-गमन, लक्ष्मण-केवट-संवाद, केवट-विनय, पुरवधू-प्रश्न, दशरथ-तनु-त्याग, कौशल्या-विलाप, भरत-आगमन, भरत-वचन माता के प्रति, महाराज दशरथ की अंत्येष्टि, भरत का चित्रकूट गमन, श्रीराम-भरत-संवाद, रामोपदेश भरत-प्रति और भरत-विदा के प्रसङ्ग हैं। कुल छव्वीस पद हैं। राग-रागिनियों में सारङ्ग, कान्हरौ, गूजरी, केदारौ, नट, मारू, रामकली, गौरी आदि के पद मिलते हैं।

अरण्यकाण्ड में सूर्पणखा-नासिकोच्छेदन, खर-दूपण-वध, सीता-हरण, सीता का अशोक-वन-वास, राम-विलाप, गृद्ध-उद्धार, गृद्ध-हरिपद-प्राप्ति और शवरी-उद्धार के प्रसङ्ग हैं। कुल वारह पद हैं। राग-रागिनियों में सारंग, केदारौ, मारू आदि के पद मिलते हैं।

किष्किधाकाण्ड में सुग्रीव-मिलन, हनुमान-राम-संवाद, वालि-वध, सुग्रीव की राज्य-प्राप्ति, सीता-शोध और सम्पाति-वानर-संवाद के कुल छः पद हैं। राग-रागिनियों में सारङ्ग तथा मारू के पद मिलते हैं।

सुन्दरकाण्ड में निशिचरी - वचन जानकी के प्रति, निशिचरी-रावण-संवाद, रावण-वचन सीता के प्रति, त्रिजटा-सीता-संवाद, त्रिजटा-स्वप्न, हनुमान-सीता-मिलन, हनुमानकृत सीता-समाधान, सीता-सन्देश श्रीराम के प्रति, सीता-परितोष, अशोक-वन उजाड़ना, हनुमान-रावण-संवाद, लंकादहन, सीता का चूड़ामणि-प्रदान, हनुमान-प्रत्यागमन और हनुमान-राम-संवाद के पद मिलते हैं। कुल वत्तीस पद हैं। राग-रागिनियों में केदारौ, धनाश्री, मारू, कान्हरौ, सारङ्ग, मल्हार के पद हैं।

लंकाकाण्ड में सिंधु-तट-वास, हनुमन्त-वचन, विभीषण-रावण-संवाद, राम-प्रतिज्ञा, रावण-मन्दोदरी-संवाद, राम-सागर-संवाद, सेतु-वंधन, जलनिधि-तरण, मन्दोदरी-वचन रावण के प्रति, रावण-वचन मन्दोदरी के प्रति, अंगद-दूतत्व, अंगद कथित श्रीराम-सन्देश, लक्ष्मण-वचन, लक्ष्मण-युद्धगमन, मन्दोदरी-वचन रावण के प्रति, कुम्भकर्ण-रावण-संवाद, हनुमान-वचन श्रीराम के प्रति और राम-दर्शन के पद हैं। कुल पद ६७ हैं। राग-रागिनियों में मारू, केदारौ, सारङ्ग, धनाश्री, टोड़ी, सोरठ, वसन्त, विलावल और असावरी के पद हैं। उत्तरकांड नहीं मिलता। इसके अतिरिक्त 'सूरसागर' के और ९८ पदों में राम की चर्चा प्रत्यक्ष-परोक्ष रूप में मिल जाती है। कई स्थानों पर सूर ने कृष्ण के स्थान पर राम का ही नाम लिखा है क्योंकि वे दोनों में कोई अन्तर नहीं करते, परन्तु तुलसी ने कहीं राम के स्थान पर कृष्ण नहीं लिखा है।

इस प्रकार सूरदास ने राम-कथा के पारंपरिक स्वरूप को ग्रहण किया है। वे तुलसी के समान विस्तार तथा सर्वांगीणता में नहीं गए, क्योंकि राम-कथा उनका अभीष्ट नहीं। वे सूत्र तथा संकेत से अपना काम चला ले गये हैं।

सूरदास ने राम-काव्य में मौलिकता और नवीन प्रसंगोद्भावनाओं का भी परिचय नहीं दिया। वे कहीं भी परिवर्तन नहीं करते। चरित्रांकन की ओर भी वे विशेष ध्यान नहीं देते। कथावस्तु में शृंखला तथा क्रमवद्धता के होते हुए भी हम उसे प्रवन्धात्मकता के अन्तर्गत नहीं रख सकते। सूरदास ने मुक्तकों के माध्यम से ही राम-कथा को चरितार्थ किया है।

'सूर-सारावली' में राम-कथा छन्द १४० से शुरू होती है—

रघु के वंस चतुर-चूड़ामनि, पुरुषोत्तम अवतार।
दसरथ के गृह जन्म लियौ हरि, रूप-रासि सुकुमार ॥[5]

उसकी समाप्ति छन्द ३१६ में होती है—

'सूर' समुद की बूँद भई यह, कवि वरनन कह वारि।
कहत चरित रघुनाथ, सरस्वति बौरी मति अनुसारि ॥
अपने धाम पठाय दिए तव, पुरवासी सब लोग।
जै-जै-जै श्रीराम कल्पतरु, प्रगट अयोध्या भोग ॥[6]

इस प्रकार सूरदास ने 'सारावली' में रामकथा को कुल २०६ छन्द दिये हैं। धनुष-भंग-प्रसंग २०६-२८ तक के छन्दों में तथा वनवास-प्रसंग २४१-४७ तक के छन्दों में हैं। श्रीकृष्णावतार को ५०३ छन्द दिये गये हैं।

सूर की राम-कथा का सम्यक् मूल्यांकन करते हुए डॉ० ब्रजेश्वर वर्मा ने लिखा है कि राम-कथा सम्बन्धी सूरदास के जितने पद मिलते हैं, उन्हें देखकर स्पष्ट हो जाता है कि राम की कथा पूर्वाधार के अनुरूप कहना उनका अभीष्ट नहीं है। कथा के जिन स्थलों पर उनकी पद-रचना मिलती है, वे स्थल कथानक की दृष्टि से उसके प्रधान अंग नहीं कहे जा सकते। उन्होंने भावों को चुना और उस चुनाव में अपनी व्यक्तिगत भावानुभूति के ही आधार पर निर्णय किया। इन पदों में ऐसे भी थोड़े से पद मिलते हैं, जिनमें कथा के इतिवृत्त को मिलाने का प्रयत्न जान पड़ता हैं, क्योंकि उनमें भावोत्कर्ष का अभाव और इतिवृत्तात्मकता की प्रचुरता है। वस्तुतः इस प्रकार के पद प्रायः मार्मिक अभिव्यंजना वाले पदों के संदर्भों को भरने के लिए लिखे गये जान पड़ते हैं।

भावुकतापूर्ण मार्मिक स्थल—आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के मतानुसार गोस्वामी तुलसीदास ने राम का अयोध्या-त्याग, पथिकरूप में वन-गमन, चित्रकूट में राम तथा भरत का मिलन, शबरी का आतिथ्य, लक्ष्मण को शक्ति लगने पर राम का करुण विलाप और भरत की प्रतीक्षा को अत्यन्त मर्मस्पर्शी रूप में चित्रित किया है। डॉ० ब्रजेश्वर वर्मा की दृष्टि में सूरदासरचित राम-काव्य के निम्नलिखित प्रसंग भावपूर्ण एवं मर्मस्पर्शी हैं—रामजन्म, बालकेलि, धनुभँग, केवट-प्रसङ्ग, पुरवधू-प्रश्न, भरत-भक्ति, सीताहरण पर रामविलाप, हनुमान द्वारा सीता की खोज, हनुमान-सीता-सम्वाद, रावण-मन्दोदरी-संवाद, लक्ष्मण को शक्ति लगने पर राम-विलाप, हनुमान का संजीवनी लाना, सीता की (अग्नि) परीक्षा और राम का अयोध्या-प्रवेश। एक दो प्रसङ्गों की चर्चा से यह प्रकरण भास्वर हो जायेगा। केवट प्रसंग में सूर कहते हैं—

नौका हौं नाहीं लै आऊँ।
प्रगट प्रताप चरन कौ देखौं, ताहि कहो पुनि पाऊँ ?
कृपासिंधु पै केवट आयौ, कम्पत करत सो बात।
चरन परसि पाषान उड़त है, कत बैरी उड़ि जात ?
जो यह वधू होइ काहू की, दाऊ सरूप धरे।
छूटै देह, जाइ सरिता तजि, पग सौं परस करे।
मेरी सकल जीविका यामें, रघुपति मुक्त न कीजै।
सूरजदास चढ़ौ प्रभु पाछैं, रेनु पखारन दीजै।

५— सू० ग्रन्था०—सूर-सारावली १४०। ६— वही ३१५-३१६।

इसी को तुलसी 'कवितावली' में पूर्ण मार्मिकता तथा सरसता के साथ प्रस्तुत करते हैं—

रावरे दोष न पायन को, पगधूरि को भूरि प्रभाउ महा है।
पाहन तें बन बाहन काठ को, कोमल है जल खाइ रहा है।
पावन पायँ पखारि कै नाव चढ़ाइहौं, आयसु होत कहा है ?
तुलसी सुनि केवट के बर बैन, हँसे प्रभु जानकी ओर हहा हैं।[७]

सूरदास की सीता 'अभिधा' से काम लेती है—

कौन बरन तुम देवर सखि री, कौन तिहारौ नाथ ?
कटिलट पट पीताम्बर काछे, धारे धनु तूनीर।
गौर बरन मेरे देवर सखि, पिय मम स्याम सरीर॥

परन्तु तुलसी की सीता 'कवितावली' में चतुराई से उत्तर देती हुई व्यंजना का वैभव निखारती है—

पूछति ग्रामवधू सिय सों, कहौ साँवरे से, सखि रावरे को हैं ?
× × ×
सुनि सुन्दर बैन सुधारस साने, सयानी है जानकी जानी भली।
तिरछे करि नैन दै सैन तिन्हैं, समुझाइ कछू मुसुकाइ चली।[८]

सूरदास की सीता अधिक स्पष्ट और तथ्यवादिनी है। उसमें तुलसी की मर्याद का रंग नहीं दिखायी देता। सूरदास ने मार्मिक स्थलों के अंकन में भावोद्रेक तथा सहृदयता से काम लिया है। सूर की वियोगव्यथा की अनुभूति तुलसी से अधिक गहरी थी। इसलिए उनकी सीता मर्यादावादी सीता की लक्ष्मण-रेखा का उल्लंघन करती हुई गोपिकाओं के से विरह-विदीर्ण हृदय से यहाँ तक कह जाती है—

सुनु कपि वै रघुनाथ नहीं ?
जिन रघुनाथ पिनाक पिता-गृह तोर्‌यौ निमिष महीं।
जिन रघुनाथ फेरि भृगुपति-गति डारी काटि तहीं।
जिन रघुनाथ-हाथ खर-दूषन-प्रान हरे सरहीं।
कै रघुनाथ तज्यौ प्रन अपनौ, जोगिनि दसा गही ?
कै रघुनाथ दुखित कानन, कै नृप भए रघुकुलहीं।
कै रघुनाथ अतुल वल राच्छस दसकंधर डरहीं ?
छाँड़ी नारि विचारि पवन-सुत लंक वाग वसहीं !
कै हौं कुटिल, कुचील, कुलच्छनि, तजी कंत तवहीं।
सूरदास स्वामी सौ कहियौ अव विरमाहिं नहीं।[९]

इस प्रकार की वात तो माइकेल मधुसूदन दत्त की सीता ही कह सकती थी। सूर के पास वियोगिनी सीता को पहचानने वाला अधिक संवेदनशील तथा स्पंदनशील हृदय था।

सूर ने गार्हस्थ्य-दाम्पत्य-जीवन की और मातृ-प्रेम की भी सुन्दर छवियाँ अंकित की हैं।

चरित्र-चित्रण—सूरदास के पास राम-काव्य के पात्रों के चरित्रांकन के लिए न तो अवकाश ही था, न प्रावधान ही। यह उनका अभीष्ट भी नहीं था। उन्होंने कतिपय सूक्ष्म तथा महीन रेखाएँ ही प्रस्तुत की हैं।

७— कवितावली २।७।   ८— वही २।२१-२२।   ९— सूरसागर ५३५।

सूर ने राम के करुण और कोमल भावों को अधिक उद्घाटित किया है। उनमें मर्यादाशीलता, सुन्दरता, कर्त्तव्यनिष्ठा और परदुःखकातरता है। उनके माध्यम से सूर ने अपनी राष्ट्रीयता को अभिव्यक्त किया है—

> हमारी जन्मभूमि यह गाउँ !
> सुनहु सखा सुग्रीव-विभीषन, अवनि अजोध्या नाउँ।
> देखत वन-उपवन-सरिता-सर, परम मनोहर ठाउँ।
> अपनी प्रकृति लिए बोलत हौं, सुरपुर मैं न रहाउँ।
> ह्याँ के वासी अवलोकत हौं, आनँद उर न समाउँ।
> सूरदास जौ विधि न सँकोचै, तौ वैकुण्ठ न जाउँ।[१०]

तुलसी की सीता जगतमाता हैं। यह स्थिति सूर की सीता की नहीं हैं। वह अपने वन-गमन का कारण स्पष्ट बता देती है—

> सासु की सौति सुहागिन सों सखि, अतिही पिय की प्यारी।
> अपने सुत को राज दिवायौ, हमको देश निकारी ॥

सूर की सीता और तुलसी की सीता में जमीन-आसमान का अन्तर है। वह तुलसी की गरिमा को प्राप्त नहीं कर पायी।

डॉ० रामनिरंजन पाण्डेय ने लिखा है कि सूरदासजी के भरत का जीवन और अस्तित्व तुलसी के भरत के समान ही राममय है। गोस्वामी जी को अपने भरत को प्रस्तुत करने के लिए 'मानस' में पर्याप्त स्थान और विस्तार मिला है। गोस्वामी जी के भरत तो विश्व में दुर्लभ हैं। सूर के लक्ष्मण शेष के अवतार हैं। सूरदास ने अपनी भक्ति हनुमान के माध्यम से प्रकट की है। सूर की यशोदा और कौशल्या में कोई अन्तर नहीं। वे राम की अपेक्षा लक्ष्मण को अधिक चाहती हैं। सूरदास का "वात्सल्य का कोना-कोना झाँकनेवाला" रूप यशोदा में प्रस्फुटित हुआ है—

> बैठी जननि करति सगुनौती।
> लछिमन-राम मिलैं अब मोकौं, दोउ अमोलक मोती।
> इतनी कहत, सुकाग उहाँ तैं हरी डार उड़ि बैठ्यौ।
> अंचल गाँठि दई, दुख भाज्यौ, सुख जु आनि उर पैठ्यौ।
> जब लौं हौं जीवौं जीवन भर सदा नाम तव जपिहौं।
> दधि-ओदन दोना भरि दैहौं, अरु भाइनि मैं थपिहौं।
> अब कैं जौ परचौ करि पावौं अरु देखौं भरि आँखि।
> सूरदास सोने कैं पानी मढ़ौं चोंच अरु पाँखि ॥[११]

सूर ने सुमित्रा के चरित्र को महिमा-मण्डित किया है। उसमें निर्भीकता तथा सहयोगिता है। रावण हृदय से राम का भक्त है। वह मुक्ति का अभिलाषी है। सूर के चरित्र वस्तुतः सामान्य से असामान्य बनते दिखाई देते हैं।

'सूरसागर' में श्रीकृष्ण और श्रीराम के आख्यान का अनुपात पच्चीस तथा एक का है। 'सारावली' में इसकी स्थिति पाँच तथा एक के बराबर दिखाई देती है।

१०– सूरसागर ६०९। ११– सूरसागर ६०८।

'सूरसागर' में श्रीकृष्ण का शृङ्गार-वर्णन विस्तार से मिलता है, वही स्थिति 'सारावली' में श्रीराम की है। कहीं-कहीं 'सारावली' के राम के रूप-सौन्दर्य-वर्णन में 'सूरसागर' की राधा का वर्णन सम्मिश्रित हो गया है। दोनों के उदाहरण द्रष्टव्य हैं। 'सारावली' में सूर राम के विषय में कहते हैं—

अलकावलि-मुक्तावलि गूँथी, डोर सुरंग बिराजै।
मानो सुरसरि धार सरस्वति, जमुना मध्य बिराजै॥

सूरसागर में श्रीकृष्ण के विषय में भी यही बात कही गई है—

स्याम अलकनि सुबीच, मोती द्रुति गंगा।
मानहु है झलमलात सम्भु सीस गंगा॥

'सूर-सारावली' में धनुष-भंग के अन्तर्गत सीता की चिन्ता के तीन छन्द द्रष्टव्य हैं—

सीता कहत सहेलिन सौं पुनि, यही कहत रघुनन्द।
तब उन कह्यौ सकल सुखसागर, सो ये परमानन्द।
बार बार जिय सोच करत है, विधि सौं वचन उचारि।
मन-क्रम-बचन यहै वर दीजै, माँगत, गोद पसारि।
एक बार सुरदेवी पूजत, भयौ दरस सखि मोहिं।
ता दिन तैं छिन कल न परत है, सत्य कहत हौं तोहि।[१२]

'सूर-सागर' में यह प्रसंग अधिक सटीक, युक्तियुक्त और सरस है—

चितै रघुनाथ-बदन की ओर।
रघुपति सौं अब नेम हमारौ, विधि सौं करति निहोर।
यह अति दुसह पिनाक पिता-प्रन, राघव-बयस किसोर।
इन पै दीरघ धनुष चढ़ै क्यौं, सखि यह संसय मोर।
सिय-अंदेस जानि सूरज-प्रभु, लियौ करज की कोर।
टूटत धनु नृप लुके जहाँ-तहँ, ज्यौं तारागन भोर॥[१३]

'सूर-सारावली' में कतिपय प्रसंग छोड़ भी दिये गये हैं, जो कि 'सूरसागर' में उपलब्ध हैं, यथा, दशरथ-तन-त्याग, कौशल्या-विलाप, भरत-आगमन, माता के प्रति भरत-वचन, महाराज दशरथ की अंत्येष्टि इत्यादि। ये सभी प्रसंग मर्मस्पर्शी हैं।

राम-काव्य की दृष्टि से 'सूरसागर' का राम-काव्य 'सूर-सारावली' से अधिक श्रेष्ठ और विशद है।

प्रदेय एवं समाहार—नवम स्कन्ध के अतिरिक्त सूरदास ने अन्यत्र भी भगवान् राम का भक्ति-पूर्वक स्मरण किया है। सूर ने उनके भव्य आदर्श तथा मर्यादा-मण्डित रूप की सदैव रक्षा की है। संयोग और वियोग पक्ष को कुशलतापूर्वक चित्रित किया है। उन्होंने वियोग की समस्त सम्भाव्य अन्तर्दशाओं का वर्णन किया है।

सूरदास का रामकाव्य गीतिकाव्य की दृष्टि से उपस्थित किया गया है। इस दृष्टि से उसकी तुलना तुलसी के 'मानस' से न होकर 'गीतावली' से की जा सकती है जो कि राग-रागिनियों पर आधृत है। सूर के समस्त पद गेय तथा शास्त्रीय हैं, परन्तु लंकाकाण्ड के कतिपय पद अतीव प्रदीर्घ हो गये हैं और कहीं-कहीं पुनरावृत्ति सी लगती है। सूर ने अलंकारों का सुमधुर और समुचित प्रयोग किया है। उनकी

१२— सूर-सारावली २१९—२२१।   १३— सूरसागर ४६७।

ब्रजभाषा परिमार्जित और मधुर है। उनका मानवीय संवेदनशील और संवेदनावाला पक्ष कहीं-कहीं अनायास उद्घाटित हो गया है। सीता की अग्नि-परीक्षा के समय हनुमान का अश्रुपात सूरदास की करुणार्द्र मनःस्थिति का सूचक है—

लछिमन, रचौ हुतासन भाई।
यह सुनि हनूमान दुख पायौ, मोपै लख्यौ न जाई।
आसन एक हुतासन वैठी, ज्यौं कुन्दन-अरुनाई।
जैसैं रवि इक पल घन भीतर विनु मारुत दुरि जाई।
लै उछंग उपसंग हुतासन, "निहकलंक रघुराई"!
लई विमान चढ़ाइ जानकी, कोटि मदन छवि छाई।
दसरथ कह्यौ देवहू भाष्यौ, व्योम विमान टिकाई।
सिया राम लै चले अवध कौ, सूरदास वलि जाई।[१४]

वियोगिनी सीता और ममतामयी कौशल्या को परखने का जो भावसिक्त हृदय सूरदास के पास था, वह अन्यत्र दुर्लभ है।

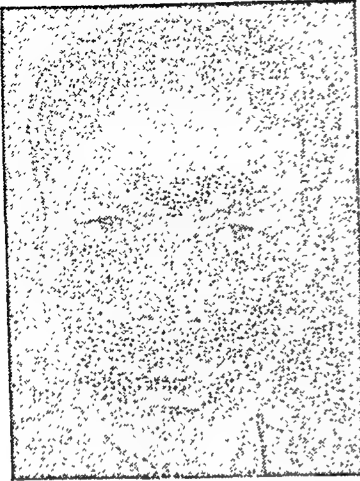
गोस्वामी तुलसीदास से मैथिली शरण गुप्त तक चली आ रही हिन्दी की राम-काव्य-परम्परा को सूरदास के भावात्मक चित्रों का प्रदेय अप्रतिम है। उन्होंने ऐतिहासिक दृष्टि से तुलसी के पूर्व राम-काव्य की सर्जना की। उनके दृश्यों में माधुर्य और सौन्दर्य की संश्लिष्ट योजना मिलती है। सूर हिन्दी राम-काव्य के अविस्मरणीय गायक हैं। सूर का राम-काव्य हमें उत्साह, सद्भाव और सत्कर्म की परम पावनी प्रेरणा प्रदान करता है।

■

अति सुख कौसिल्या उठि धाई।
उदित वदन मन मुदित सदन तैं, आरति साजि सुमित्रा ल्याई।
जनु सुरभी वन वसति वच्छ विनु, वरवस पसुपति की वहराई।
चली साँझ समुहाइ स्रवत थन, उमँगि मिलन जननी दोउ आई।
दधि-फल-दूव कनक-कोपर भरि, साजत सौंज विचित्र वनाई।
अमी-वचन सुनि होत कुलाहल, देवनि दिवि दुंदुभी वजाई।
वरन-वरन पट परत पाँवड़े, वीथिनि सकल सुगंध सिंचाई।
पुलकित रोम, हरष-गदगद स्वर, जुवतिनि मंगल-गाथा गाई।
निज मंदिर मैं आनि तिलक दै, द्विज-गन मुदित असीस सुनाई।
सिया-सहित सुख वसौ इहाँ तुम, सूरदास नित उठि वलि जाई।
सूरसागर ६१३

■

१४— सूरसागर ६०६।



सूरदास : कालजयी कवि

डॉक्टर विजय शुक्ल

पूर्व मध्य-युग की राजनीतिक चेतना में जिस प्रकार की साम्राज्यवादी निरंकुश शासन-प्रणाली चल रही थी, उसकी दिशा भारतीय जीवन-मूल्यों से भिन्न थी। कबीर और उनके अनुयायियों ने निराकार ब्रह्म की उपासना को योग से सम्बद्ध करके समाज को भौतिक लिप्सा और नैतिक मूल्यों के सम्भावित विघटन से मुक्त किया। कबीर की व्यक्ति-साधना सामाजिक चेतना व जागृति से जुड़ी हुई है। उनके दृष्टिकोण निरंकुश शासकों की नीति से सर्वथा अलग-थलग हैं। इसी प्रकार सूफियों की अलौकिक प्रेम-व्यंजना का भी कोई प्रत्यक्ष सरोकार समकालीन शासन-व्यवस्था से नहीं है। मैं यह मानता हूँ कि सूफी कवियों की निर्गुणवादी अलौकिक प्रेम-व्यंजना के प्रस्तुत भौतिक कथा-विधान की रूपक-योजना में काल्पनिक जीवन-मूल्यों की प्रधानता होने के कारण ही एक नयी प्रतिक्रिया का जन्म होता है, एक नये अध्याय की शुरुआत होती है, और वह है, वल्लभाचार्य द्वारा प्रवर्तित दार्शनिक स्थापनाओं की पृष्ठभूमि पर सूरदास व अष्टछाप के अन्य कवियों का श्रीकृष्ण-भक्ति सम्बन्धी मधुरोपासनामय काव्य-सर्जन। वल्लभाचार्य और अन्य कवियों का आविर्भाव भी उसी समय होता है जब कि सूफी कवियों व पीरों का प्रभाव स्थापित हो चुका था। उल्लेखनीय है कि कबीर के पंथ-अनुयायियों का भी प्रभाव पूर्ण रूप से रहा। मैं श्रीकृष्ण-भक्त कवियों की काव्य-धारा को निर्गुण ब्रह्म सम्बन्धी मान्यताओं के अतिशय बढ़ते हुए प्रभाव को समाप्त करने का विकल्प मानता हूँ। श्रीकृष्ण-भक्ति के सन्दर्भ में लौकिक व सगुण लीलाप्रधान उपासना-पद्धति द्वारा एक नये संगीतप्रधान युग का आरम्भ होता है। श्रीकृष्ण-भक्ति के अमर गायकों का भी समाज व व्यक्ति से सम्बन्ध रहा, न कि साम्राज्यवादी शासन से।

पूर्व मध्य-काल जिसे भक्तिकाल कहा गया, वस्तुतः काव्य-क्षेत्र में निर्गुणवाद व सगुणवाद के बीच खण्डन-मण्डन की प्रक्रिया से ही क्रमशः विकसित होता रहा। निर्गुणवाद की प्रतिष्ठा से दार्शनिक चिंतकों को संभवतः यह खतरा प्रतीत हुआ कि कहीं निराधार व निरालंब साधनात्मक मूल्यों व अलौकिक प्रेम की कथाओं की फैंटेसी द्वारा समाज में पौराणिक अवतारी पुरुषों की अध्यात्म-चेतना से सम्पन्न अनुभूति-परक विराट् जीवन-मूल्यों का अंत न हो जाये। सर्वप्रथम वल्लभाचार्य के दार्शनिक चिंतन में ब्रह्मत्व-बोध के लिए श्रीकृष्ण की सगुण-रूप-चेतना को हम मूर्तिमान हुआ देखते हैं। वल्वभाचार्य के अनुसार श्रीकृष्ण और ब्रह्म समानार्थक हैं। श्रीकृष्ण माया से रहित निर्लिप्त, तटस्थ ब्रह्म हैं, साथ ही वे ब्रह्म होने के कारण पुरुषोत्तम व आनन्द-स्वरूप हैं। श्रीकृष्ण-ब्रह्म से ही गोपी-जीव की सृष्टि होती है। वल्लभाचार्य ने गोपी-जीवों के लिए ही पुष्टि-मार्ग का प्रतिमान निर्धारित किया जिसका अर्थ व आशय है—अनुग्रह। गोपी-जीव

श्रीकृष्ण-ब्रह्म की कृपा व अनुग्रह के कारण अभिधामूलक माया से मुक्ति पा जाता है। श्रीकृष्ण ब्रह्म होने के कारण ही नित्य व निरंतर हैं। श्रीकृष्ण की सगुण लीला स्थूल आंगिक नृत्य द्वारा भाव-सम्प्रेषित करने के कारण रस-प्रधान और सूक्ष्म आध्यात्मिक अर्थ देने में समर्थ होने के कारण रहस्य-प्रधान है। अतएव रस और रहस्य, दोनों के समन्वय में, रास-ब्रह्म व जीव की अभेद अद्वैत स्थितियों तक पहुँचाने में समर्थ है। गोपी-जीव ब्रह्म की इस सगुण-लीला-प्रधान रास में सहभागी होकर अपने अस्तित्व को विलीन कर देता है। ऐसे महान् दार्शनिक चिंतक वल्लभाचार्य के दार्शनिक चिंतन से अभिभूत होकर सूरदास ने पद-रचनाएँ कीं। इसलिए उनके पद सगुण लीला के गान हैं।

सूरसागर, साहित्यलहरी, सूरसारावली—सूरदास की ये तीन प्रमुख रचनाएँ हैं। सूरसागर में अनेक प्रासंगिक कथाओं से प्रभावित पद-रचनाएँ हैं, जिन्हें विद्वान् स्वतंत्र रचनाओं के रूप में स्वीकारते हैं। जैसे मान-लीला, गोवर्द्धन-लीला, भ्रमरगीत, नाग-लीला, दान-लीला आदि। शोधांतर्गत अनेक विद्वानों ने अनेक स्थापनाएँ तत्संबंध में की हैं, किंतु उन्हें प्रस्तुत करना मेरा अभीष्ट नहीं है। इतना कथन पर्याप्त है कि सूरदास ने अपने पदों में श्रीकृष्ण को ही केन्द्र-बिंदु पर स्थित रखा है। अन्य चरित्रों का उल्लेख श्रीकृष्ण के अवतारी ब्रह्म-स्वरूप को उजागर करने के लिए पूरक समझा जाना चाहिये। सूरदास की कृष्णमयता जितनी वर्णित आंगिक चपलता में स्थूल है, रसमय है, उतनी ही परोक्ष में स्थित ब्रह्मत्व के अलौकिकता-बोध में भी पूर्ण है और आनंदावस्था तक पहुँचाने में समर्थ है। आंगिक क्रियाओं में अनुभूति का संवेग श्रीकृष्ण व गोपियों के परस्पर प्रेमपरक आदान-प्रदान में है। बाल-क्रीड़ाओं में मैं उन्हें पूर्णतः शृंगार-रस प्रधान कवि मानता हूँ और आचार्य रामचन्द्र शुक्ल की उस मान्यता का पोषक हूँ जिसके अनुसार शृंगार-रस के स्थायी भाव रति के तीन प्रकारों में सूरदास के काव्य को वर्गीकृत किया गया है—भगवद्विषयक रति, दाम्पत्य रति व वात्सल्य रति।

सूरदास वस्तुतः श्रीकृष्ण के प्रेमासक्तिवश अंधे थे। उन्हें श्रीकृष्ण के अलावा इस सम्पूर्ण सृष्टि-रचना में कुछ नहीं दिखा। यही कारण है कि श्रीकृष्ण के बाल-जीवन के पदों में अनुभूति की प्रधानता है। नंद-यशोदा या गोपियों के साथ श्रीकृष्ण के बाल-क्षण की मनोवैज्ञानिकता के सहारे सूरदास अपने अनुभव व समय की गहरी पैठ ले सके हैं जो मनुष्य-जाति की शाश्वत सम्पत्ति है। श्रीकृष्ण की बाल-क्रीड़ाएँ आम आदमी के हृदय-मन को स्पर्श तो करती हैं, किंतु भक्त-पाठक को उनकी क्रीड़ाओं के बिम्बों में ब्रह्मत्व की अलौकिक अनिर्वचनीय सत्ता का भी यथार्थ दर्शन होता है। श्रीकृष्ण गोपियों के मध्य प्रेम व राग का जो पवित्र संबंध सूरदास के पदों में मिलता है, वह निर्विकार है। वसुदेव व देवकी को ही वात्सल्य अथवा प्रेम रखने व करने का एकाधिकार रहा है, ऐसा नहीं है, बल्कि नंद-यशोदा से भी इतना ही वात्सल्य प्रकट करने का आनंद प्राप्त होता है और आगे बढ़कर वात्सल्य के स्थान पर ब्रज-गोपियों के प्रणय में श्रीकृष्ण के मधुर व्यक्तित्व के आकर्षण को और अधिक विस्तार के साथ समझा जा सकता है। श्रीकृष्ण के प्रति गोपियों का व्यक्त भाव समष्टि की चेतना को अभिव्यंजित करता है, क्योंकि गोपी-भाव प्रत्येक मनुष्य का भाव है। सूरदास के पदों में उक्त प्रकट काव्य-मूल्य उनके आत्म-विस्तार की प्रक्रिया है।

सूरदास की आत्म-समर्पित भावनाओं का अभिव्यंजन अपनी जीव-सत्ता के अस्तित्व को श्रीकृष्ण-आराध्य में विलीन करने हेतु किया गया है। वे अपने अहं को विसर्जित करते हुए श्रीकृष्ण की संपूर्णता का विदग्ध गान करते हैं। उनकी भक्ति-भावना (व्यक्तिमूलक होकर भी) का साधारणीकरण हुआ है। कवि के रूप में दास्य, सख्य, वात्सल्य, माधुर्य भाव का उन्होंने आश्रय लिया है। अपने गुरु वल्लभाचार्य के प्रति उन्होंने अपनी भक्ति प्रकट की है क्योंकि श्रीकृष्ण-ब्रह्म की प्राप्ति हेतु पुष्टि-मार्ग पर अग्रसर करने के लिए गुरु ने उनका पथ-प्रदर्शन किया है।

सूरदास ने श्रीकृष्ण-ब्रह्म के स्वरूप चिंतन में सगुण साधन व निर्गुण साध्य दोनों को समन्वित किया है। इसका सहज सुन्दर उदाहरण भ्रमर-गीत के पदों में मिलता है। निर्गुणवाद संबंधी समस्त चिंताओं व मान्यताओं का खण्डन इसी कथा-प्रसंग में है। उद्धव के संदेशवाहक रूप में गोपियों के सम्मुख उनकी उपस्थिति में हुए वाद-विवाद में सूरदास के भक्त की चेतना गोपियों के माध्यम से व्यक्त होती है। गोपियों के आंतरिक प्रेम की वियोगजन्य पीड़ा भी वस्तुतः कवि की अपनी ही पीड़ा है जो मनुष्य-जीव की चेतना को आहत करती है। निर्गुण-साधना की प्रक्रिया के प्रति अविश्वास और सगुण उपासना-पद्धति के प्रति आस्था का यह स्तर हिंदी काव्य में सूरदास के पूर्व और उनके बाद भी नहीं मिलता। गोपियों के भाव मनोविज्ञान से हटकर नहीं हैं। भ्रमरगीत एक उपालम्भ काव्य है। यह सूरदास को भक्त कवि के रूप में अमर बनाए हुए है। मानवीय अनुभूति से सम्पन्न होने के कारण गोपियों का श्रीकृष्ण के लिए प्रियतम-भाव संपूर्ण मनुष्य-जाति में सगुण-भक्ति-उपासना के निमित्त आस्था बनाए हुए है।

सूरदास श्रीकृष्ण की सगुण लीला का पद-गायन कर जीवन के कोमलतम भावना-प्रधान पक्ष के प्रस्तुतीकरण द्वारा आज की यांत्रिक सभ्यता के प्रभाव में जीनेवाले मनुष्य की चेतना को प्रभावित एवं संवेदित करते हैं।

■

ऊधौ जोग कहा है कीजतु।
ओढ़ियत है कि बिछैयत है, किधौं खैयत है किधौं पीजत ॥
कीधौं कछू खिलौना सुंदर, की कछु भूषन नीकौ।
हमरे नंदनँदन जो चहियतु, मोहन जीवन जी कौ ॥
तुम जु कहत हरि निगुन निरंतर, निगम नेति है रीति।
प्रगट रूप की रासि मनोहर, क्यौं छांड़े परतीति ॥
गाइ चरावन गए घोष तैं, अबहीं है फिरि आवत।
सोई सूर सहाइ हमारे, बेनु रसाल बजावत ॥

सूरसागर ४५८३

■



शाश्वत भावों के कवि सूरदास

श्री नर नारायण राय

कालजयी कृतियाँ वे ही होती हैं जो जीवन के बाह्याधारों को भेद कर मानव-प्रकृति के अंतर्भूत भावों का अन्वेषण करती हैं और भावात्मक सम्बन्ध स्थापित कर कृति को जन-मन से जोड़ती हैं। कालिदास का यक्ष आज भी जीवित है तो केवल इसलिए कि प्रेम के राशिभूत स्वरूप को उसने उसी शाश्वत भाव में भोगा था। शकुन्तला और दुष्यंत के प्रेम-संबंधों की कथा अगर आज भी दुहरायी जाती है तो केवल इसलिए कि यह मानवीय स्वभाव की नितान्त स्वाभाविक और राग-विरागात्मक प्रस्तुति है। तुलसीदास का मानस अगर आज हर घर की गीता है तो केवल इसलिए कि तुलसीदास के राम मर्यादा पुरुषोत्तम होकर भी उन्हीं राग-विरागात्मक संबंधों को जीते और भोगते हैं जो किसी भी सामान्य व्यक्ति की विभूति या वेदना है। सूरदास के पद अगर लोक में गाये-सुने जाते हैं तो इसलिए कि इन पदों में भी उन्हीं शाश्वत भावों की अभिव्यक्ति है जिसे प्रस्तर युग से आज तक मानव-हृदय अनुभव करता आया है। इसलिए हर गीत उसे अपना लगता है और हर गीत उसे आत्माभिव्यक्ति के धरातल पर छूता है। सामान्य जन और कवियों में मूलभूत अन्तर यह है कि एक सामान्य व्यक्ति के रूप में कवि जो अनुभव करता है उसे वह भाषिक और काव्यात्मक अभिव्यक्ति भी दे सकता है, जबकि सामान्य भावुक-हृदय अभिव्यक्ति की व्याकुलता अनुभव करके भी उपयुक्त माध्यम के अभाव में मौन रह जाता है। संप्रेषण की यह शक्ति ही कवि और उसकी कविता को विशिष्ट बनाती है, यद्यपि संप्रेषित अनुभव-खण्ड अनुभूति के धरातल पर सामान्य होते हैं और संप्रेषित होने की स्थिति में विशिष्ट प्रतीत होने लगते हैं।

महाकवि सूरदास शाश्वत भावों के कवि हैं। उनके पदों में नवरस की खोज उतना महत्त्व नहीं रखती जितना महत्त्व उनकी भक्ति-भावना। भक्त का हृदय भावुक होता है, कवि का भी। अगर एक भक्त कवि हो, तो भाव की प्रधानता सहज ही हो जाती है। भक्त और कवि होने के अतिरिक्त सूरदास अंधे थे और अंधों की भावन-शक्ति किसी सामान्य या विशिष्ट व्यक्ति से भी अधिक प्रखर होती है। इसीलिए सूर के पदों में गहरी संवेदना के साथ भावों की प्रचुर भंगिमाएँ भी हैं। भावों की यह विपुलता, विभिन्नता, गम्भीरता और प्रखरता हिन्दी के किसी भी महान् कवि में कम ही प्राप्त होगी। सूरदास भावों में जीते थे और भावमूर्ति गढ़ते थे। सूरदास ने राधा के रूप में, यशोदा के रूप में जिस भावमूर्ति का निर्माण किया है, कम-से-कम हिन्दी साहित्य में तो वह अद्वितीय है ही।

प्रेम एक शाश्वत भाव है। प्रेम का वर्णन भी प्रायः सभी कवियों ने किया है। अधिकांश कवियों के वर्णन में प्रेम का स्वरूप नर-नारी के यौनाकर्षण से जुड़ा रहता है। शरीर-संबंधों से ऊपर उठकर आत्मा

के धरातल पर प्रेम की खोज, और उसे पाने का प्रयास, अथवा कवियों द्वारा ऐसे उदात्त प्रेम का निरूपण जहाँ संपूर्ण विश्व प्रेममय हो उठा हो, विरल है। पुरुष के भीतर भी एक पुरुष होता है, नारी के भीतर भी एक नारी होती है। पुरुष के भीतर का वह पुरुष और नारी के भीतर की वह नारी ही वस्तुतः शाश्वत नर-नारी हैं। एक दूसरे को प्रेम करने के रूप में शाश्वत नारी शाश्वत पुरुष को और शाश्वत पुरुष शाश्वत नारी को खोज रहे होते हैं। पर कहाँ-कहाँ यह खोज पूरी होती है? कितने नर-नारी अपने भीतर के नर या नारी को ही पहचान पाते हैं? लेकिन जिसने सूरदास की राधा और सूरदास के कृष्ण को जाना है, पहचाना है, वे यह समझते हैं कि राधा के मन में कृष्ण की चाह और कृष्ण के मन में राधा की कांक्षा शाश्वत पुरुष और स्त्री की एक दूसरे की पहचान है। इसीलिए यहाँ शरीर गौण है, एक दूसरे तक पहुँचने का माध्यम। प्रेम-संबंध को देह से ऊपर उठाकर आत्मा से जोड़ने का श्रेय सूरदास का प्राप्य नहीं है क्या? नर-नारी के प्रेम को देहाकर्षण के माध्यम से आत्मा तक ले जाने का जो उदात्त प्रयास राधा-कृष्ण के प्रेम-निरूपण में है, अन्यत्र दुर्लभ है। यह तो प्रेम का प्रचलित पक्ष है, लौकिक स्वरूप। लेकिन सूरदास की दृष्टि में प्रेम केवल नर-नारी-संबंधों का ही कारण नहीं, विश्व के संपूर्ण संबंधों का आधार है। इसलिए सूर की दृष्टि (अंधे होने पर भी प्रज्ञाचक्षु होने के कारण, एक निश्चित जीवन-दर्शन रखने के कारण जो 'दृष्टि' है) में प्रेम व्यापक भाव है, विराट् है, विश्व है।

सूरदास मूलतः प्रेम के कवि हैं। प्रेम की उनकी कल्पना विराट् है। उन्हें व्रज की धरती से प्रेम है, व्रज की कुंजगलियों से प्रेम है, व्रजवासियों से प्रेम है, राधा और कृष्ण से प्रेम है, और तो और, उन्हें राधा और कृष्ण के एक दूसरे के प्रति प्रेम से भी प्रेम है। व्रज के लता-पता, धेनु और धूल से भी उन्हें प्रेम है। ग्वाल-बाल, नन्दलाल, यमुना का तट और राधा का हठ—सब उन्हें समान रूप से प्रिय है। प्रेम की इस व्यापक अनुभूति ने उनके मन से जड़ और चेतन का भेद मिटा दिया है। इसी अभेद स्थिति में वे प्रेम को स्वीकार भी करते हैं। यशोदा और कृष्ण का प्रेम इसी विराट् प्रेम का ही एक स्वरूप है, राधा और कृष्ण का प्रेम दूसरा, ग्वाल-बालों का कृष्ण के साथ प्रेम तीसरा स्वरूप है, रुक्मिणी एवं अन्य रानियों का कृष्ण के साथ प्रेम चौथा स्वरूप है, गोपियों और व्रजवासियों का कृष्ण के साथ प्रेम पाँचवाँ स्वरूप। यह तो एक स्थूल वर्गीकरण है। जिज्ञासु अध्येता न जाने ऐसे कितने प्रसंगों का अन्वेषण कर सकेंगे। भक्त सूरदास का एक भक्त के रूप में ब्रह्म-स्वरूप कृष्ण के प्रति जो भक्ति-भाव प्रकट हुआ है, सूरदास के अध्येताओं की राय में वह भी प्रेमा भक्ति है। प्रेम के उस उदात्त और विराट् स्वरूप की कल्पना की जाये जहाँ लोक से लोकोत्तर को जोड़नेवाली भक्ति केवल भाव-रूप प्रेम में ही सन्निहित हो। यह प्रेम ही है जो भाव से भक्ति में, शरीर से भक्ति में, और अनुभव से अभिव्यक्ति में फैला हुआ है। सूरदास के समस्त पदों में से केवल प्रेम-भाव को निकाल दिया जाये, तो जो शेष बचेगा, वह नश्वर मानव शरीर की तरह सवा पाँच आने मूल्य का होगा।

भाव की कितनी गंभीर और व्यापक अनुभूति सूरदास में थी, इसे किसी एक प्रसंग की अति संक्षिप्त चर्चा से संकेत रूप में समझा जा सकता है। इस प्रयोजन के लिए हम लगभग सर्वविदित प्रसंग ही लेते हैं—राधा और कृष्ण के प्रेम का प्रसंग। सूरदास राधा और कृष्ण के प्रेम का प्रारंभ बालपन से ही दिखाते हैं और इस प्रकार अचानक ही व्रज की किसी गली में मिल गयी राधा के साथ कृष्ण का सुदीर्घ प्रेम-संबंध स्थापित करते हैं। प्रारंभ में खेल के प्रिय साथी के रूप में मिले राधा और कृष्ण। एक दूसरे को धीरे-धीरे खूब अच्छी तरह जाना और समझा। खेल के साथी के रूप में स्थापित उनका यह प्रेम-संबंध अनवरत संसर्ग से प्रगाढ़ होता गया। फिर वे किशोर हुए। यौवन के संकेतों को उन्होंने समझा। तदनुरूप न केवल उनकी चेष्टाएँ बदल गयीं—एक दूसरे के प्रति मनोभावों में भी परिवर्तन आया। अब वे अपने शरीर को भी

पहचानने लगे, इसलिए एक दूसरे के शरीर को भी जानने-समझने लगे। अब उन्हें केवल साथ-साथ खेलने वाला सुख व्यर्थ और देह से देह के मिलन की उत्तेजना सार्थक लगने लगी। प्रणय की यह लीला उसी भाँति चलती है जिस भाँति हर समाज में, हर देश में, हर युवा-युवती चलाते हैं। फिर विधिवशात् वियोग होता है। वियोग की तीव्रता की अनुभूति भी इस प्रेमी-युगल को वैसी ही होती है जैसी किसी सामान्य प्रेमी-युगल को होती है। केवल शरीर का प्रेम दिखाना सूरदास का अभीष्ट नहीं था, इसलिए राधा और कृष्ण एक दूसरे की तृप्ति और संतोष में ही अपने प्रेम की सार्थकता मानते हैं। उनका प्रेम एक-दूसरे से कुछ माँगता नहीं, अपना सब कुछ बाँटता ही है। प्रभास क्षेत्र में एक बार दोनों की भेंट होती भी है तो वहाँ भी कृष्ण इतना ही कहते हैं कि "मुझमें और तुममें अंतर ही क्या है ?" और अंतर था भी क्या ? दोनों की आत्मा ने एक दूसरे को पा लिया था—और कुछ पाना शेष ही क्या रह गया था। शेष था तो शरीर—जिसे कालान्तर में नष्ट होना था और हुआ भी। लेकिन राधा और कृष्ण अपने प्रेम में, अपनी आत्मा में आज भी जीवित हैं और सिर्फ इस प्रेम की कथाभर कहने से सूरदास भी अमर हो गए हैं।

राधा-कृष्ण की यह कथा वस्तुतः मनुष्य जाति की मूल प्रकृति की कथा है। सूरदास की इस उद्भावना की सार्थकता इसमें है कि अर्थ की कई परतें इसके साथ जुड़ी हैं। एक ओर राधा कृष्ण का यह शाश्वत प्रेम-भाव एक कवि की सूक्ष्मानुभूतियों की काव्यात्मक प्रस्तुति के लिए व्यापक आधार देता है, दूसरी ओर वही दार्शनिकों के लिए जीव-ब्रह्म सम्बन्ध को समझने-समझाने में सहायक होता है, आलोचकों के लिए राधा-कृष्ण के भीतर के शाश्वत स्त्री-पुरुष संबन्धों के अन्वेषण की संभावनाएँ प्रदान करता है और जो इन बारीकियों में न भी जाना चाहें, उन्हें एक प्रेमी-युगल की अमर प्रणय-गाथा सुनाता है। शृंगार रस के प्रतिमानों पर सूरदास का यह संयोग शृंगार या विप्रलंभ शृंगार एकदम पूर्ण है, 'संयोग में सोलहों आना संयोग और वियोग में सोलहों आना वियोग'। सूरदास की विलक्षणता इसमें है कि लौकिक जीवन के प्रसंगों में उन्होंने अपनी भावन-प्रतिभा से अलौकिकता भर दी है, लोकोत्तर चेतना की ज्योति जगा दी है। राधा और कृष्ण का 'संयोग' या 'वियोग' पक्ष लौकिक धरातल पर तो पूर्णतः संयोग और वियोग है ही, व्याख्या की अपनी संभावनाओं के कारण यह प्रसंग जो इतर व्यंजनाएँ देता है—अन्य प्रेमकाव्यों में वही बड़ा क्षीण पक्ष होता है। सूर के राधा और कृष्ण को अन्य लोग चाहे जिस भाव से देखें, वे अपनी भावना के अनुकूल सभी प्रसंगों की व्याख्या कर लेंगे, लेकिन सूरदास जो व्याख्या प्रस्तुत करना चाहते हैं वह वस्तुतः शाश्वत मनोभावों की अभिव्यक्ति है। बुद्धि-तत्त्व की क्रमशः होती जा रही प्रबलता और सभ्यता-संस्कृति के क्रमशः होते जा रहे विकास ने मानव जाति के शाश्वत भावों पर एक आवरण सा डाल दिया है। प्रेमी-प्रेमिका के रूप में आदम और हव्वा ने भी अपनी भूमिका निभाई थी, उनके बाद की पीढ़ियों ने भी। पर वहाँ तक कृत्रिम कुछ भी नहीं था, बनावटीपन नहीं था—जीवन की स्वाभाविकता सूरदास के समय तक नष्ट नहीं हुई थी, यद्यपि शाश्वत भावों को एक आवरण दिया जा चुका था। इसीलिए राधा ने कृष्ण के प्रति जब प्रेम का पहले पहल अनुभव किया, तो जो स्वाभाविक अनुभव उसमें प्रकृतिवश जगने थे, जगे, लेकिन इसके साथ ही जगा वह भाव जो इस प्रेम की गोपनीयता चाहता था, एक आवरण चाहता था। सूरदास शीघ्र ही इस आवरण को भेद कर राधा और कृष्ण के प्रेम को उन्मुक्त कर देते हैं और उनके प्रेम के रूप में एक ऐसे शाश्वत भाव की कल्पना प्रस्तुत करते हैं जहाँ व्यक्ति व्यक्तित्व और व्यक्तिगत को खो कर केवल भाव होता है, राधा श्याममयी हो जाती है और श्याम राधामय, दोनों अलग अलग होकर भी एक दूसरे में समाविष्ट और अभिन्न और एक होकर भी अलग-अलग। यह ब्रह्म और जीव का रूपक हो या प्रेम के उदात्त स्वरूप का निरूपण या आत्मा द्वारा आत्मा की पूर्ण खोज, जो कुछ भी हो, पर है अपने आप में एक शाश्वत भाव। इसी तलाश में तो सभी

हैं, पर इस राह पर चलनेवाले कितने हैं और कृतकाम होनेवाले कितने ? इसीलिए राधा और कृष्ण भी तो एक हैं। वर्तमान काल में विश्व के अन्य अत्यधिक समृद्ध और प्रगतिशील देशों ने बुद्धि का नियंत्रण स्वीकार कर लिया है, भाव उनसे पीछे छूटता जा रहा है। भारत भावनाओं का देश है, इसलिए सूरदास को भारत में ही उत्पन्न होना था। राजा जनक ने विदेह होकर आत्मा को आत्मा या परमात्मा से यहीं जोड़ा था। इतिहास दुहराता है। देह से ऊपर उठनेवाले बहुतेरे अन्य भारतीय ऋषि-मुनि हुए और उन्होंने जीवन के शाश्वत भाव की पहचान की। भक्त कवि सूरदास इसी पहचान के साक्षी हैं। प्रमाण है राधा और कृष्ण, राग और विराग की साक्षात् प्रतिमूर्ति। भावों का मूर्तरूप–श्वेत-श्याम, राधा-श्याम।

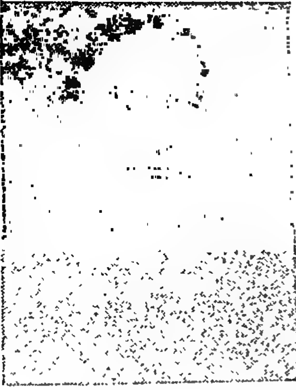
शाश्वत भाव वह भाव है जिसका स्वरूप अक्षुण्ण बना रहता है। सूरदास ने जिस विराट् प्रेम की कल्पना प्रस्तुत की है, वह आज तक उसी प्रकार बनी हुई है, इसलिए सूर का प्रेम-भाव शाश्वत भाव है। सूरदास ने राधा और कृष्ण के माध्यम से जिस प्रेम-भाव को अभिव्यक्ति दी है, वह उनसे पूर्व और उनके समय भी विद्यमान था, इसलिए उनका वह प्रेम भाव शाश्वत है। मध्ययुग के पूर्व और पश्चात् राधा और कृष्ण की युगल मूर्ति के न जाने कितने विविध रूपों में अवतार हुए, इसलिए राधा-कृष्ण का यह प्रेम-भाव शाश्वत है। एक प्रेमी युगल के रूप में राधा और कृष्ण जिन अनुभवों से होकर गुजरे हैं, वह भी मानवीय प्रकृति का एक सनातन रूप है, इसलिए भी सूर द्वारा प्रस्तुत प्रेम-भाव का निरूपण शाश्वत है। सैकड़ों वर्ष बीत जाने पर भी सूरदास के पदों का शाश्वत भाव अपनी ताजगी से जन-मन को आज भी मुग्ध किए है, ठीक उसी तरह जिस तरह कभी कृष्ण की मुरली के वश में सारा व्रज और जग-जग था। अब न रही वह मुरली, न उसकी वह तान सुनायी पड़ती है, न रहे राधा और कृष्ण, न रहे सूरदास—पर उन सबका गुणगान सुनायी पड़ता है।

■

राधा स्याम स्याम राधा रँग।
पिय प्यारी कौं हिरदै राखत, प्यारी रहति सदा हरि कैं सँग॥
नागरि नैन चकोर बदन ससि, पिय मधुकर अंबुज सुंदरिमुख।
चाहत अरस परस ऐसैं करि, हरि नागरि, नागरि नागर सुख॥
सुख दुख सोचि रहति मन ही मन, तब जानत तन कौ यह कारन।
सुनहु सूर कुलकानि जानि, दुख सुख दोऊ फल करत विचारन॥

सूरसागर २६४०

■



सूरदास का गीत-काव्य

डॉक्टर नगेन्द्र चौरसिया

गीत, कविता का एक ऐसा रूप है जो छंदोबद्ध, संगीतमय, सहज एवं भावात्मक होने के कारण, प्राचीन काल से ही जनजीवन में स्थापित एवं लोकप्रिय रहा है। इसमें लय, स्वर, तुक तथा गायन के अन्य तत्त्वों का ध्यान इसीलिए रखा जाता है (और आज भी कुछ परिवर्तनों के साथ उसकी अनिवार्यता समझी जाती है) कि उसका संगीत तथा व्यक्त भावों का प्रभाव लोगों में अधिक समय तक बना रहे। छंदोबद्ध एवं रागाश्रित गीतों (जिन्हें गीति एवं पद से भी संज्ञायित किया जाता है) की रचना मध्यकालीन संगीतप्रिय संत भक्त कवियों ने अधिक की। इन भक्त कवियों में सूरदास का नाम पहले लिया जाता है जिन्होंने गीत में साहित्यिक भाषा, कला एवं भावानुकूल संगीत का प्रयोग किया।

सूरदास संगीत के प्रकांड पंडित थे। इसका प्रमाण उनके गीत हैं जिनमें शास्त्रीय संगीत की परम्परागत राग-रागिनियों की उत्तम परियोजना के साथ-साथ लोकधुनों पर निर्मित कुछ नये रागों का भी प्रयोग हुआ है। अगर देखा जाये तो गीत-काव्य की परम्परा में, वस्तु तथा गीत-रचना-विधान की दृष्टि से विद्यापति के बाद दूसरे कवि सूरदास ही हैं जिनके गीतों में गहरी भक्ति भावना के साथ कवित्व, भाव और रस घुल मिल गये हैं। साथ ही भावों के अनुरूप कला, संगीत तथा रचना कौशल है। इसलिए इनके गीत साहित्यिक एवं कलात्मक हैं। सच तो यह है कि कृष्ण-काव्य-परम्परा के जिन गीत कवियों ने गीत के नैसर्गिक स्वरूप को उभारा और सँवारा है, उनमें राधा-कृष्ण-लीला के अमर गायक, ब्रजभाषा के संवेदनशील कवि सूरदास का नाम सबसे पहले लिया जायेगा।

भाषा की दृष्टि से विचार करें तो सूरदास के गीतों में ब्रजभाषा के ठेठ शब्दों के साथ तत्सम और तद्भव शब्द सहज रूप में प्रयुक्त हुए हैं। भावों, रसों और अवस्थाओं को व्यक्त करने के लिए विभिन्न पदावलियों का औचित्यपूर्ण प्रयोग उनके काव्यशास्त्र के ज्ञान का प्रमाण है। इस प्रकार यह मानना पड़ता है कि सूरदास के गीतों में व्यावहारिक संगीत का उचित प्रयोग होने के कारण श्रोता विभोर हो जाते हैं और भाषा, शिल्प, छन्द, अलंकार और रस से परिपूर्ण होने के कारण गीत सजीव हो उठते हैं।

गीत-काव्य की दृष्टि से सूरदास की प्रमुख कृति 'सूरसागर' है। इसके प्रायः सभी गीत गेय हैं। लेकिन गीत काव्य की कसौटी[१] पर इस ग्रन्थ के बहुत से गीत खरे नहीं उतरते। ये वे गीत हैं जिनमें इतिवृत्तात्मकता है और जो गीत-काव्यात्मक रूप के विधान में बाधा उपस्थित करते हैं। गीत मूल रूप से आत्माभिव्यक्तिप्रधान, एक अखण्ड अनुभूतिवाला और आकार में छोटा काव्य-रूप माना गया है। उसमें

१— निजी अनुभूति की अभिव्यक्ति, अन्तःकरण की प्रेरणा, भावुकता, एक ही भाव, विशेष प्रभाव छोड़ने की क्षमता, छोटा आकार, संगीतात्मकता, कोमल कांत (मधुर) शब्दों का प्रयोग, तुक, रस-सृष्टि की क्षमता तथा छन्दों का प्रयोग, ये गीत के तत्त्व हैं।

जब कथा-सूत्र जुड़ जाता है तो उसकी प्रभावोत्पादकता कम हो जाती है, और गीत पक्ष दब जाता है। इस दृष्टि से देखें तो इनके बहुत से गीत ऐसे हैं जिनमें संगीत की रागबद्धता होते हुए भी, छन्दों की प्रधानता होने के कारण गीत का अपेक्षित प्रभाव नहीं हो पाया है– जैसे यह गीत, जिसमें चौपाई की अन्तिम पंक्तियों के भाव को हरिगीतिका के शुरू में दोहराकर विषम लयात्मक छन्द का एक साथ प्रयोग किया गया है–

मिलि मन दै सुख आसन बैसे। चितवनि वारि किये सब तैसे।
ता परि पानि-ग्रहन विधि कीन्हीं। तब मंडप भ्रमि भाँवरि दीन्हीं॥
तब देत भाँवरि कुंज मंडप, प्रीति ग्रंथि हियैं परी।
अति रुचिर परम पवित्र राका, निकट वृंदा सुभ घरी॥
गाए जु गीत पुनीत बहुविधि, वेद-रुचि-सुन्दर-ध्वनी।
श्री नंद-सुत वृषभानु-तनया रास मैं जोरी बनी॥[२]

उक्त गीत में छन्द के साथ इतिवृत्तात्मकता है। फिर भी भाव, भाषा, कला और संगीत के संमिश्रण के कारण इन रचनाओं को भी गीत काव्य में रखा जाता है।

उक्त चर्चा के आधार पर सूरदास के गीतों को भाव, कला, रूप और प्रभाव की दृष्टि से कुछ प्रमुख शीर्षकों में विभक्त किया जा सकता है। वे हैं– गीत (शुद्ध गीत), कला गीत (कलात्मक गीत), लोक गीतों से प्रभावित गीत, छंद-प्रधान गीत, दृष्टिकूट गीत तथा अन्य गीत।

गीत अथवा शुद्ध गीत, सूरदास की आत्मनिवेदनपरक रचनाओं में मिलते हैं, जिनमें सहजता और गेयत्व है। ऐसे गीतों में सूरदास ने अपने आराध्य कृष्ण की भक्तवत्सलता तथा उनकी दिव्य एवं अलौकिक शक्ति की अभिव्यक्ति की है। इस तरह के गीतों में ये कहीं भी कलात्मकता के प्रति आग्रही नहीं दीख पड़ते। जैसे—

कीन्हौं कोप इन्द्र बरषारितु, लीला लाल गोवर्धनधारी।
राखी लाज समाज माहिं जब, नाथ-नाथ द्रौपदी पुकारी।
तीनि लोक के ताप निवारन, सूर स्याम सेवक सुखकारी।[3]

अथवा,

मेरी कौन गति ब्रजनाथ ?
भजन विमुखऽरु सरन नाहीं, फिरत विषयनि साथ।
हौं पतित, अपराध-पूरन, भरयौ कर्म-विकार।
काम क्रोधऽरु लोभ चितवौं, नाथ तुमहिं बिसार।
उचित अपनी कृपा करिहौ, तबै तौ बनि जाइ।
सोइ करहु जिहिं चरन सेवै सूर जूठनि खाइ॥[४]

यद्यपि उक्त गीतों में शिल्प साधारण है, मगर कवि की भक्ति-भावना और उसके आत्म-बोध के कारण ये गीत हो गये हैं।

कलात्मक अथवा कला-गीतों में सूरदास की मौलिकता मिलती है। जहाँ कृष्ण-लीला के अवसरों पर वे भावविभोर होकर गाते हैं, वहाँ उनकी कला सहज ही व्यक्त होने लगती है। वात्सल्य और मधुर लीलाओं के वर्णन में जब वे तन्मय होते हैं, तो उनकी अनुभूति सहज स्तर पर गीत-सृष्टि के लिए सक्रिय

२– सूरसागर १६९०। ३– वही ३०। ४– वही १२६।

हो उठती है। ऐसे गीतों में अनुभूति की निरंतरता और प्रभावान्विति है, रस-सृष्टि करने की क्षमता है। कल्पना, आनुप्रासिक शब्दावली और नाद-सौन्दर्य का संमिलन गीत को प्रभावशाली बना देता है। व्यंजना-शक्ति के द्वारा यह चमत्कारिक प्रयोग द्रष्टव्य है—

किधौं घन गरजत नहिं उन देसनि।
किधौं हरि हरषि इन्द्र हठि बरजे, दादुर खाये सेषनि॥
किधौं उहिं देस बगनि मग छाँड़े धरनि न बूँद प्रवेसनि।
चातक मोर कोकिला उहिं बन बधिकनि बधे विसेषनि॥
किधौं उहिं देस बाल नहिं झूलति गावति सखिन सुदेसनि।
सूरदास प्रभु पथिक न चलहीं कासौं कहौं सँदेसनि॥[५]

इसमें व्यंजना शक्ति के द्वारा गोपी की विरह-व्यथा और मिलन की व्यग्रता की अत्यन्त सुन्दर और कलात्मक अभिव्यक्ति है।

लोकगीतों से प्रभावित गीतों में लोकजीवन और लोकमानस की सहज एवं सरस अभिव्यक्ति है। भाषा की सहजता एवं लोकानुभूति ऐसे ही गीतों में है। सोहर, कीर्तन, लोरी, कजरी, रसिया तथा प्रभाती आदि गीतों में लोकधुनों के साथ उसके शिल्पों को सजाकर जहाँ वे भावों को व्यक्त करते हैं, वहाँ गीत पूरी तरह से कलात्मक होकर एक दूसरा भाव और प्रभाव विकसित करते हैं। साथ ही शब्दों के द्वारा उस क्षेत्रविशेष की सामाजिक चेतना, संस्कार, लोक-व्यवहार, तथा आचरण आदि को भी व्यक्त करते हैं—

कछु दिन ब्रज औरो रहौ, हरि, होरी है।
अब जिनि मथुरा जाहु, अहो हरि होरी है॥[६]

छन्द-गीतों में सूरदास ने वर्णवृत्त और मात्रावृत्तों के छन्दों को अधिक महत्त्व दिया है, जिनमें अनुष्टुप के अलावा सभी लघु-गुरु के विशिष्ट क्रम पर चलते हैं। वर्णवृत्त की रचनाएँ मात्रिक छन्दों की तुलना में कम हैं। इन्होंने अनेक तरह के छन्दों का प्रयोग किया है, जिनमें सममात्रिक, अर्द्ध-सममात्रिक, मिश्र के अलावा वर्णिक मुक्तक एवं दण्डक दोनों हैं। इसके अतिरिक्त प्रचलित छन्दों में वर्णगत और मात्रागत परिवर्तन कर इन्होंने कुछ नये छन्द भी निर्मित किये हैं। यहाँ सभी छन्दों का उल्लेख तो संभव नहीं है, लेकिन पुष्टि के लिए बहु प्रचलित 'सार' और 'सरसी' छन्द का प्रयोग इस गीत में देखिये—

भुजा पकरि ठाढ़े हरि कीन्हे।
बाहँ मरोरि जाहुगे कैसें, मैं तुम नीकैं चीन्हे।
माखन चोरी करत रहे तुम, अब भए मन के चोर।
सुनत रही मन चोरत हैं हरि, प्रगट लियौ मन मोर।[७]

सूरदास ने भावानुकूल छन्दों का प्रयोग कर यह प्रमाणित किया है कि वे मात्र राग-रागिनियों के गेय गीतों के ही कवि नहीं हैं, बल्कि छन्द योजना में भी सिद्धहस्त हैं।

दृष्टिकूट गीतों में सूरदास ने अपने ज्ञान के साथ आध्यात्मिक पहुँच को भी स्पष्ट किया है। श्लेष, यमक आदि बहु अर्थ देनेवाले अलंकारों के द्वारा शब्दों को अनेकार्थी बनाकर अर्थ को गूढ़ बना दिया है। इससे उनके शब्द-ज्ञान और अलंकार-ज्ञान का भी परिचय मिलता है। दृष्टिकूट गीतों में अभिव्यक्ति के लिए कथात्मक, आलंकारिक तथा ध्वनि-परिवर्तन-संकेतों का आश्रय लिया है। जैसे सागर-मंथन की पौराणिक कथा के द्वारा देव के सम्बन्ध में कुछ कहने की अनिवार्यता—

५— वही ३९२८। ६— वही ३५३२। ७— वही २५५०।

जब दधि-रिपु हरि हाथ लियौ ।
खगपति-अरि डर असुरनि संका बासरपति आनन्द कियौ ।
बिदुखि सिंधु सकुचत, सिव सोचत, गरलादिक किमि जात पियौ ।[८]

अथवा हंस के मुक्ता चुगने तथा चकोर के अंगार चुगने की लोककथा के द्वारा राधा को सांत्वना –

राधे जल सुत कर जु धरे ।
अतिहीं अरुन, अधिक छवि उपजत, तजत हंस सगरे ।
चुगन चकोर चले ह्वै सनमुख, झझके रहे खरे ।[९]

दृष्टिकूटों में उनकी आलंकारिक और चमत्कारिक वृत्ति अधिक है । ऐसे गीतों में गीत की वह सहजता एवं संवेदनात्मकता नहीं है, जो हृदय को छू लेती है । आलंकारिक गीतों के उदाहरण दृष्टिकूटवाले गीत में मिलते हैं ।

अन्य गीतों में इनके वे गीत लिये जा सकते हैं जो शुद्ध रूप से शास्त्रीय संगीत पर आधारित हैं । इस तरह के गीतों में गायन, वादन और नृत्य-संगीत के तीनों विधानों का संयोग बहुत आकर्षक और उच्चकोटि का है । साथ ही इनमें रस और भाव के अनुकूल रागों का चयन भी हुआ है जिससे गीत हृदयग्राही हो गये हैं, जैसे, भोर होने पर भोर के अनुरागमय वातावरण का वर्णन करते हुए ब्रजराज को जगाने के लिए 'राग बिलावल' में यह गीत –

जागिये, ब्रजराज कुँवर कमल कुसुम फूले ।
कुमुद वृंद सकुचित भए, भृङ्ग लता भूले ।
तमचुर खग-रोर सुनहु, बोलत बनराई ।
राँभति गो खरिकनि मैं बछरा हित धाई ।
बिधु मलीन रवि प्रकास, गावत नर-नारी ।
सूर-स्याम प्रात उठो, अंबुज कर धारी ।[१०]

अथवा, बालक कृष्ण के रूठने का रागकेदार में प्रसिद्ध गीत –

मैया, मैं तो चन्द्र-खिलौना लैहौं ।
जैहौं लोटि धरनि पर अबहीं, तेरी गोद न ऐहौं ।[११]

अतः सूरदास की रचनाओं में हर तरह के गीत हैं, जिनमें अनुभूति है, उसके अनुरूप शिल्प है । संगीत का सहज लय-विधान है । काव्य के धरातल पर छन्द, रस और अलंकार हैं । सौन्दर्य की वृद्धि के लिए भाषागत गुण और सहज स्वाभाविक कल्पना है । इन गुणों के कारण ही सूरदास तथा उनके जैसे अन्य कवि जिन्होंने समय के अनुसार जन-भावनाओं से जुड़कर रचनाएँ कीं, आज भी जीवित हैं और अनंत काल तक जीवित रहेंगे ।



८– वही ७६१ । ९– वही १८१० । १०– वही ८२० । ११– वही ८११ ।



महाकवि सूरदास

श्री श्रीनिवास त्रिपाठी

'महाकवि' शब्द किसी पारिभाषिक अर्थ में प्रयुक्त नहीं होता। कवियों की गणना में जिसे वैशिष्ट्य के कारण प्राथमिकता प्राप्त होती हैं, वही महाकवि हो जाता है। यहाँ वैशिष्ट्य का विचार करने के पूर्व हमें यह देखना है कि 'कवि' शब्द का व्युत्पत्तिगत अर्थ क्या है और किन अर्थों में यह रूढ़ है तथा प्रकृत अर्थ अभिधेय है या लक्ष्य या व्यंग्य।

कवि शब्द की व्युत्पत्ति दो रूपों में सम्भव है—(क) कव् + इ और (ख) कु + इ। 'कव्' धातु के अर्थ हैं—जानना, ग्रथन करना, वर्णन करना तथा चलना। इस तरह 'कवि' शब्द के व्युत्पत्तिगत अर्थ हैं—सब कुछ जाननेवाला, श्लोकों का ग्रथन करनेवाला, वर्ण्य वस्तु का वर्णन कर सकनेवाला तथा सर्वत्र जा सकनेवाला। 'कु' धातु के अर्थ हैं—बोलना, कहना और कथन को नियंत्रित करना। ऐसे 'कवि' के अर्थ होते हैं—उत्कृष्ट वक्ता, लेखक और कथन को संयत रखनेवाला।

अमरकोश[१] के अनुसार कवि शब्द विद्वान् के रूप में रूढ़ है। मनुस्मृति[२] से भी यह समर्थित है। महाभारत के अनुसार शुक्राचार्य के अर्थ में यह रूढ़ है।[३] भागवत में ब्रह्मा को आदि कवि कहा गया है।[४] भोज प्रबन्ध के अनुसार प्रथम कवि ब्रह्मा, द्वितीय कवि वाल्मीकि और तृतीय कवि व्यास हैं।[५] रघुवंश[६] के अनुसार उत्कृष्ट काव्यकर्ता होने पर ही कोई कवि हो सकता है, सामान्य तुकबन्दी करनेवाला कवि नहीं है। महाभारत के विष्णुसहस्र नाम अंश के अनुसार कवि नाम है विष्णु का।[७] लगाम को भी कवि कहा जाता है।[८] कवि शब्द का प्रयोग ईश्वर[९] के अर्थ में भी हुआ है और साधारण तुकबन्दी करनेवाले

१– विद्वान् विपश्चिद् वेदज्ञ....संख्यावान् पण्डितः कविः। (कविः।)— अमरकोश २।७५।

२– मनुस्मृति २।१५१

३– भृगोः पुत्रः कविर्विद्वान शुक्रः कवि सुतोग्रहः। — महाभारत १।६६।४२।

४– तेने ब्रह्म हृदा य आदिकवये, मुह्यन्ति यत् सूरयः। — भागवत १।१।१।

५– एकोऽभून्नलिनात् परस्तु पुलिनद वल्मीकतश्चापरः। — भोजप्रबंध।

६– मन्दः कवियशः प्रार्थी गमिष्याम्युपहास्यताम्। — रघुवंश १।३।

७– वेदोवेदविदव्यंगो वेदांगो वेदवित् कविः। — महाभारत १३।१४९।२७।

८– अश्वमुखे शब्दायमानत्वात्। — शब्द कल्पद्रुम।

९– कविं पुराणमनुशासितारमणोरणीयास मनुस्यरेद्यः इत्यादि।

व्यक्ति के अर्थ में भी। अतीत और अनागत का प्रत्यक्ष द्रष्टा[१०] ऋषि कवि कहलाता है और भृगुनन्दन शुक्राचार्य का नाम भी कवि है।[११] 'कविर्मनीषी परिभूः स्वयंभू'—इस उक्ति में कवि को 'मनस्वी, पराभूत करनेवाला और आत्म-प्रतिभा से उत्पन्न', कहा गया है। अंग्रेजी की उक्ति 'पोएट्स् आर बॉर्न नॉट मेड' भी लगभग इसी भाव का समर्थन करती है। कोशों में से ढूँढ़कर खींचतान कर शब्दों को लानेवाले सात सवारों में नाम लिखानेवाले कवियों की संख्या नगण्य नहीं है। उधर वाणी को वश में रखनेवाले कवियों की संख्या किसी भी भाषा के साहित्य में अनामिका के पोरों तक ही पहुँच पाती है। ऐसे ही कवियों को महाकवि की अभिधा से मण्डित किया जाता है। अन्य श्रेणी के कवियों के लिए कवि शब्द का प्रयोग होता है। सूरदास ने कहा है—

यह महिमा येई पै जानैं।
× × ×   × × ×
कवि सों कहा वरनि यह जाई।
सूर स्याम रस-रास-रीति सुख विनु देखैं आवै क्यों गाई॥

यहाँ सूरदास ने 'कवि' का प्रयोग महाकवियों को समेट कर कविमात्र के लिए किया है।

अब परीक्षण करके सूरदास के काव्य के महत्त्व को आँकने का प्रयास किया जाये। ऐतिहासिक दृष्टि से सूरदास का जन्म आज से पाँच सौ वर्ष पूर्व हुआ था संवत् १५३५ में। इसके पहले चार वेदों के रचयिता ब्रह्मा, आदिकवि कहलानेवाले वाल्मीकि तथा महाभारत और अठारह पुराणों के रचयिता वेदव्यास जैसे महाकवि हो चुके हैं। कालिदास, भारवि, माघ, श्रीहर्ष जैसे प्रतिभासम्पन्न कवि भी हो चुके हैं। हिन्दी में चन्दवरदायी, कबीर, जायसी आदि यशस्वी कवि हो चुके हैं। फिर भी सूरदास का महत्त्व अभूतपूर्व है। वेदव्यास को छोड़कर और किसी ने इतने अधिक पदों की रचना नहीं की। सूर के मुक्तक गेय पदों का एक भी पद रसहीन नहीं है, किसी भी पद का कोई भी शब्द व्यर्थ नहीं है। उपमानों, रूपकों, उत्प्रेक्षाओं तथा युक्तियों की कल्पनाएँ अत्यन्त ऊँची हैं। सूरदास ने अनुप्रासमंडित अर्थगुंफित गेय पदों में लालित्य के साथ कथानक की क्रमवद्धता को मुक्तकों में ग्रथित करके भावपक्ष को अपूर्वता प्रदान की है।

अपूर्वता

कवि की अपूर्वता इसलिए नहीं होती कि उसने कोई नया आविष्कार किया है, वल्कि इसलिए कि वह पूर्वोक्त तथ्य को भी ग्रथन-गौरव से नव्यता और भव्यता प्रदान करता है। संस्कृत के आचार्यों ने कहा है—

स एव पद-विन्यासस्ता एवार्थ विभूतयः।
तथापि नव्यं भवति काव्यं ग्रथनगौरवात्॥

नव्यता

सूरदास ने श्रीकृष्ण के पुरातन चरित को अपनी प्रतिभा से नया रूप प्रदान किया। वात्सल्य भाव और मधुर भाव का इतना अधिक और इतना उत्तम चित्रण पहली बार किया गया है। यह नवीनता आज भी अक्षुण्ण बनी हुई है। राष्ट्रीय धारा, छायावाद, प्रयोगवाद, प्रगतिवाद, नयी कविता, अकविता आदि नूतनतर धाराओं के आने के बाद भी सूर के काव्य की नव्यता ताजी है। उसमें गोते लगानेवाले को हर बार नया रत्न उपलब्ध होता है, चाहे रत्नाकर के गोताखोरों को हरबार नये रत्न भले ही न मिलें। यह नव्यता

१०– कविस्तु क्रान्तदर्शीस्यात्।
११– शुक्रो दैत्यगुरुः काव्यः उशनाभार्गवः कविः।

परिणाम है सूर के काव्य में निहित सौन्दर्य का। कहा गया है—"क्षणे क्षणे यन्नवतामुपैति तदेव रूपं रमणीयतायाः।"

सौन्दर्य

सूरदास के सौन्दर्य को सहृदय व्यक्ति अपने अन्तश्चक्षु से निहारता रह जाता है और आत्मविस्मृति की अवस्था में पहुँच जाता है। सूरदास के काव्य का सौन्दर्य शब्द में या अर्थ में या गुम्फन शैली में है या किसी अन्य वस्तु में, यह विचारने पर ध्वन्यालोक की वह उक्ति सामने आ जाती है जिसमें प्रतीयमान वस्तु को या काव्य के सौन्दर्य को शब्दादि से भिन्न बताते हुए कहा गया है कि वह उसी तरह "अलग है जिस तरह सुन्दरियों में लावण्य उनके अंग-प्रत्यंग से भिन्न और स्वतंत्र रहता है। ध्वनिकार कहते हैं—

प्रतीयमानं पुनरन्य देव, वस्त्वस्ति वाणीषु महाकवीनाम्।
·······विभाति लावण्यमिवांगनासु॥

यह रमणीयता अंगों से भिन्न स्वतंत्र भी होती है, किन्तु अंग-प्रत्यंग का भी अपना सौन्दर्य रहता ही है जो इसे सर्वांगसुन्दर बनाता है। सूरदास की रचनाओं में भी सौन्दर्य की यही स्थिति है। उपयुक्त शब्दों का सटीक प्रयोग, उनकी झंकृति तथा शब्दालंकारों की योजना शब्द-सौन्दर्य के प्रमाण हैं। "देखिअत कालिन्दी अति कारी" में 'क' का छेकानुप्रास, "गोपी, गाय, गोसुत दुख बिसरयौ" में 'ग' का वृत्यनुप्रास स्पष्ट है। उसी तरह लाक्षणिक अर्थ, व्यंजना का प्रयोग तथा अर्थालंकारों की योजना अर्थगत सौन्दर्य के सबूत है। "मुख पर चन्द्र डारौं वारि" में लक्षणा, "उरमें माखन चोर गड़े, अब कैसेहुँ निकसत नहिं ऊधौ तिरछे ह्वै जु अड़े" में व्यंजना द्रष्टव्य है। किन्तु वास्तविक सौन्दर्य उस ध्वनि में है जो रस या भाव के रूप में काव्य की आत्मा है। यह आत्मा आवरण में रहती है।

आवरण

रस या ध्वनि फिर भी पहेली की तरह अतिशय निगूढ़ नहीं होती। कंचुक में सुन्दरता से आवृत कुच की तरह विहित होती हुई भी अविहित रहती है। सूरदास के काव्य में यह झीना आवरण सर्वत्र सौन्दर्यवर्द्धक है। उदाहरणार्थ दो पंक्तियों का परीक्षण किया जा सकता है—

सखि री नंद नंदन देखु।
···· ····
स्वातिसुत माला विराजत स्यामतन यों माइ।
मनौ गंगा गौरि डर हर लियो कण्ठ लगाइ॥

यहाँ कृष्ण के बाल्यकालीन नृत्य का चित्रण है। शिशु डमरू बजाकर नाच रहा है। ग्वालिन को लगता है कि शंकर नाच रहे हैं। शिशु के गले में मोतियों की माला है। लगता है कि शिव ने आज गंगा को सिर से उतारकर गले लगा लिया है। कारण भी व्यक्त है। पार्वती के रूप के सामने गंगा लज्जा से पानी-पानी हो रही थी, तब तो उसे सिर पर रखा था, किन्तु वहाँ भी वह भय से काँप रही है। भयत्रस्त व्यक्ति को गले से लगा लेने पर भय दूर हो जाता है। शायद शिव को भी अब पार्वती की फटकार सुनने का डर न रहा। वे अब नहीं कहेंगी कि इसे सिर चढ़ा रखा है। सूर की यह कल्पना गोपियों के मन में ही नहीं, कामदेव के मन में भी डाली गयी है और उसे भी शिव के इस रूप से भयत्रस्त बतलाया गया है।

सूरदास अपने हृदय में इस श्याम-शिव को बसाना चाहते हैं। फिर तो हृदय में काम के जाने का डर भी नहीं रहेगा।

ये ध्वनियाँ व्यक्त होती हैं इस पद से, किन्तु सीधी बात इतनी ही है कि कृष्ण मोतियों की माला पहनकर नाच रहे हैं।

कल्पना

सूर के काव्य के सौन्दर्य का एक कारण उनकी ऊँची उदात्त कल्पना है। अप्रस्तुत की स्थापना, परिस्थितियों की नवीन उद्‌भावना, शैली और प्रस्तुतीकरण के कौशल में भी नवीनता की उद्‌भावना सूरदास की कल्पना-शक्ति का स्पष्ट परिचायक है। उपर्युक्त उदाहरण में कृष्ण के रूप में शिव की कल्पना द्रष्टव्य है।

कनक भूमि पर कर पग छाया यह उपमा इक राजति।
करि करि प्रतिपद प्रतिमनि वसुधा, कमल वैठकी साजति ॥

यहाँ बालक के हाथ-पैर के प्रतिविम्बों पर कमलों की वैठकी की कल्पना की गयी है। ऐसी उत्तमोत्तम कल्पनाएँ सूरसागर में भरी पड़ी हैं।

अर्थगौरव

सूरदास ने पदों में स्फुटता से अर्थ को व्यक्त किया है, किन्तु ऐसा कहीं नहीं है कि अर्थ-गौरव में व्याघात पड़े। इनके इस अर्थ-गांभीर्य को देखकर भारवि के शब्दों में कहना पड़ता है—"स्फुटता न पदैरणकृता न च न प्रोज्झितमर्थ-गौरवम्।" ऊपर के उद्धरणों में भी अर्थ की स्फुटता के साथ अर्थगौरव की स्पष्ट झाँकी मिलती है। एक पंक्ति उदाहरणार्थ और ले ली जाये—

अति मलीन वृषभानुकुमारी।
हरि स्रमजल भीज्यौ उर अंचल तिहिं लालच न धुवावति सारी ॥

यहाँ स्रम-जल के स्थान पर 'स्वेद विन्दु' आदि नहीं कहकर अर्थ में गम्भीरता लायी गयी है। फिर भी संयोग श्रृंगार का भाव स्पष्ट है। कहीं-कहीं दृष्टकूटों में अर्थ समझना कठिन अवश्य है, किन्तु ये भी शोभा-वर्द्धक हैं। महाभारत में भी दृष्टकूट हैं। माघ ने भी चित्र-काव्य को अपने महाकाव्य में स्थान दिया है।

पद-लालित्य

वनिता के पदविन्यास से झंकृत नूपुर जिस तरह श्रोता को एक बार वरवस आकृष्ट कर लेते हैं, उसी तरह कविता का पद-विन्यास भी अपने लालित्य के कारण अर्थ न समझनेवाले को भी एक बार आकृष्ट कर लेता है। ऐसा पद-लालित्य सूरदास के पदों में सर्वत्र उपलब्ध है। एक उदाहरण लें—

कंदुक केलि करति सुकुमारी।
अति सूछम कटि तट आड़े जिमि, विसद नितंब पयोधर भारी।
अंचल चंचल फटी कंचुकी, विलुलित वर कुच सही उघारी ॥

आयतन

काव्य-सौन्दर्य या सौष्ठव ही नहीं, सूरदास के काव्य का आयतन भी विशाल है। सूर-सारावली के छन्द संख्या ११० में सूर विरचित एक लाख पदों की सूचना मिलती है। वहाँ कहा गया है—

श्री बल्लभ गुरु तत्व सुनायौ लीला भेद बतायौ।
ता दिन तें हरि लीला गाई, एक लक्ष पद-बन्द।
ताकौ सार सूर सारावलि गावत अति आनन्द।

यहाँ स्पष्ट प्रतीत होता है कि सूरसागर एक लाख पदों में रचा गया था और वह फुटकर पदों का संग्रह नहीं, वल्कि हरि-लीला का गायक प्रवन्ध-काव्य है।

सूरदास के ग्रंथों की संख्या सूर-सागर, साहित्य-लहरी, और सूर-सारावली तक ही सीमित नहीं है। इनके अतिरिक्त सूर-सागर-सार, सूर-रामायण, सूर-सतक, वाल-लीला, मान-लीला, दान-लीला आदि २६ ग्रन्थ सूरदास के रचे हुए माने जाते हैं।

मम्मट की कसौटी

मम्मट के अनुसार कवि की महत्ता तीन वातों पर[१२] अवलम्बित होती है—

क – शक्ति या प्रतिभा।

ख – निपुणता (लोक, शास्त्र, काव्य आदि के मन्थन से प्राप्त अनुभूति)।

ग – अभ्यास (काव्यज्ञ लोगों की शिक्षा या प्रेरणा से किया हुआ वार-वार का अभ्यास)।

इन तीनों दृष्टियों से सूरदास महाकवि सिद्ध होते हैं।

प्रतिभा

सूरदास एक अद्भुत प्रतिभा लेकर अवतीर्ण हुए थे। वाह्यचक्षुहीन होकर भी अपने दिव्य चक्षु से सूर ने जो देखा, वह साधारण प्रतिभावाले व्यक्ति के लिए असम्भव था। मानव-हृदय के प्रत्येक स्पन्दन का सजीव चित्र, प्रकृति का मनोज्ञ चित्रण, गीतात्मकता का मान-दण्ड-स्थापन, रूप-रंग आदि गुणों का चित्रण, चलना आदि कार्यों का सूक्ष्म विवेचन, शृंगार आदि विभिन्न रसों का सुन्दरतम सन्निवेश, प्रबन्धात्मकता की गेय मुक्तकों में सज्जा— ये सभी गुण एक कवि में उपलब्ध हों, यह अद्भुत प्रतिभाका स्पष्ट प्रकाश है। सूरदास एक साथ कवि, दार्शनिक, भक्त और चिन्तक हैं। कहा जाता है कि नरतनु मिलना कठिन है; उसमें भी विद्या का होना और विद्वत्ता के साथ कवित्व का आना दुर्लभ से दुर्लभतर है। फिर शक्ति का होना तो अत्यन्त दुर्लभ है—

> नरत्वं दुर्लभं लोके, विद्या तत्र सुदुर्लभा।
> कवित्वं दुर्लभं तत्र, शक्तिस्तत्रापि दुर्लभा॥

सूरदास में यह प्रतिभा जन्मजात है और अर्जित भी।

निपुणता

दुनिया को, शास्त्रों को और इतिहास आदि को गौर से देखकर निपुणता अर्जित की जाती है। सूरदास ने विश्व के विभिन्न परिवर्तनों का तथा मानव-हृदय के प्रत्येक स्पन्दन का गम्भीर अध्ययन किया था। यह अनुभूतिजन्य निपुणता परिलक्षित होती है सूर के प्रभात-वर्णन में, संयोग तथा विप्रलम्भ शृंगारों के चित्रण में, वर्षा-वर्णन, होली के चित्रण एवं वाल-वर्णन आदि में। प्रातः काल भौंरों का पुष्प पर वैठने से कतराना, मुर्गे का वोलना, रँभाती हुई गाय का वथान पर जाना, लोगों का प्रभाती गान करना, ये सभी सूर के अनुभूत चित्र हैं। कुछ नमूने देखे जायें—

प्रभात-वर्णन–

> जागिए ब्रजराज कुँवर, कमल कुसुम फूले।
> कुमुद वृन्द सकुचित भए, भृंग लता भूले॥
> तमचुर खग रोर सुनहु वोलत बनराई।
> राँभति गो खरिकनि महँ, वछरा हित धाई॥

१२– शक्तिर्निपुणता लोक-शास्त्र-काव्याद्यवेक्षणात्।
काव्यज्ञ शिक्षयाभ्यास इति हेतुस्तदुद्भवे॥ – काव्य-प्रकाश

विधु मलीन रवि प्रकास, गावत नर नारी।
सूर, स्याम! प्रात उठौ अम्बुज कर धारी॥

होली-वर्णन–

नँद-नंदन वृषभानु किसोरी मोहन राधा खेलत होरी।
श्री वृन्दावन अतिहि उजागर वरन-वरन नव दम्पति भोरी॥
एकनि कर है अगरु कुमकुमा, एकनि कर केसर लै घोरी।
एक अर्थ सौं भाव दिखावति नाचत तरुनि वाल, वृध भोरी॥

वर्षा-वर्णन–

गगन उठी घटा कारी तामैं बग पंगति अति न्यारी।
सुरधनु की छवि रुचिर देखियत बरन वरन रँग धारी॥
वीच-वीच दामिनि कौंधति है, मानौ चंचल नारी।
दुरि-दुरि जाति वहुरि फिरि आवति विकल मदन की जारी॥

वसन्त-वर्णन–

वेगि चलौ, वलि कुँअरि सयानी।
समय वसंत विपिन रथ, हय, गय, मदन सुभट नृप फौज पलानी॥
चहुँ दिसि चाँदनि निसा चूम चलि मनौ धवल घर धूरि उड़ानी॥
सोरह कला छपाकर की छवि, सोभित सीस छत्र सिर तानी॥
....
कुसुम सरासन अधिक विराजत, कठिन मान गढ़ अति अभिमानी।
सूरदास प्रभु की है यह गति, करहु सहाइ राधिका रानी॥

यहाँ मानिनी राधा को मनाती हुई सखी समझा रही है कि वसन्त का समय है। राजा कामदेव ने कृष्ण पर पूरी सेना के साथ चढ़ाई कर दी है। राधिका ही सहायता कर सकती है कृष्ण की क्योंकि वह भी रानी है (शायद रूप के साम्राज्य की)। कामदेव की सेना के रूप में वसन्त का यह मधुर चित्र अंकित किया गया है।

शास्त्रज्ञता–

सूरदास ने चक्षुविहीन होने पर भी शास्त्रों का गहन अध्ययन और मन्थन किया था। उनकी रचनाओं में विभिन्न शास्त्रों का ज्ञान प्रत्यक्ष दीखता है। कहीं कहीं तो प्रसंग-प्राप्त विषय को तत्सम्वन्धी शास्त्र के ज्ञान के विना समझना भी कठिन हो जाता है, खास कर दृष्टकूट के पदों में। संगीत-शास्त्र का ज्ञान उनकी प्रत्येक कविता में स्पष्ट है। सारंग, गौरी, विलावल, रामकली, मलार, नट, आसावरी, अहीरी, कान्हरौ, मारू आदि विभिन्न रागों में इनके गीत भरे पड़े हैं।

सूरदास नृत्य कला के भी मर्मज्ञ हैं। गर्दन मोड़ना, कमर टेढ़ी करना आदि मुद्राएँ स्पष्ट चित्रित हैं। ताल देने, संगति करने की झाँकियाँ भी सूर के पदों में सुलभ हैं। मुरली ने कृष्ण को नचा रखा है नाना भाँति से। गोपियाँ कहती हैं—

मुरली तऊ गोपलहिं भावति।
सुनि री सखी जदपि नँदनंदन नाना भाँति नचावति॥

स्वयं सूरदास भी नाचते हैं जीवन-लीला में। तभी तो कहते हैं—

अव मैं नाच्यौ वहुत गोपाल।

काम क्रोध को पहिरि चोलना कंठ विषय की माल॥

रासलीला के प्रसंग में आये हुए कुछ पदों के शीर्षक हैं—

– नृत्यत स्याम नाना रंग।

– गति-सुगंध नृत्यति ब्रजनारि।

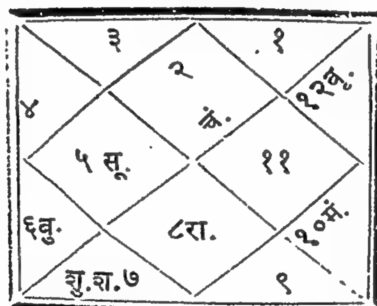
– नृत्यत अंग-अभूषन वाजत।

– उघटत स्याम नृत्यति नारि।

ज्योतिष शास्त्र में भी सूरदास निष्णात थे। किस ग्रह का कौन सा रंग होता है, किसके साथ किसका रहना अच्छा है, किसके लिए कौन-सा रत्न निर्धारित है—ये सभी वातें सूरदास को ज्ञात हैं। वालक कृष्ण के मुखमण्डल पर लटकती हुई मणियों के चित्रण की एक झाँकी इसे स्पष्ट करती है—"नील सेत पर पीत लालमनि लटकन भाल लुनाई। सनि गुरु-असुर देव गुरु मिलि मनौ भौम सहित समुदाई॥" कृष्ण ने गोपियों का मन चुरा लिया है, इस वात को सूरदास की गोपियाँ ज्योतिष की शब्दावली में व्यक्त करती हैं—"मघ पंचक लै गयौ साँवरे।" अर्थात्, 'मघा' से पाँचवाँ नक्षत्र जो भी होता है, उसे कृष्ण ले गये हैं। मघा, पूर्वा, उत्तरा, हस्त, चित्रा—इस क्रम से मघा के वाद पाँचवाँ नक्षत्र है चित्रा। ध्वनि-साम्य के कारण चित्रा को चित्तका पर्यायवाची माना है।

कृष्ण के नामकरण के दिन गर्ग मुनि आते हैं और शिशु की जन्म-कुण्डली तैयार करके उसका फल वताते हैं। उनके अनुसार श्री कृष्ण के जन्म के समय 'विभावन' नामक संवत् था, अष्टमी तिथि, वुधवार, रोहिणी नक्षत्र, हर्षण योग और वृष लग्न था[१३]। वर्णित फलों के अनुसार जन्मकुण्डली का निम्नांकित स्वरूप वनता है—

श्रीकृष्ण की जन्म-कुण्डली : सूरदास के अनुसार



१३– संवत सरस विभावन, भादौं, आठैं तिथि, वुधवार।
कृष्न पच्छ, रोहिनी, अर्द्ध निसि, हर्षन जोग उदार।
वृष है लग्न, उच्च के निसिपति, तनहिं वहुत सुख पैहैं।
चौथें सिंह रासि के दिनकर, जीति सकल महि लैहैं।
पचएं वुध कन्या कौ जौ है, पुत्रनि वहुत वढ़ैहैं।
छठएं सुक्र तुला के सनि जुत, सत्रु रहन नहिं पैहैं।
ऊँच नीच जुवती वहु करिहैं, सतएं राहु परे हैं।
भाग्य-भवन मैं मकर महो-सुत, वहु ऐस्वर्य वढ़ैहैं।
लाभ-भवन मैं मीन वृहस्पति, नवनिधि घर मैं ऐहैं।
कर्म-भवन के ईस सनीचर, स्याम वरन तन ह्वैहैं। सूरसागर ७०४

पुराणों के प्रसंग तो सर्वत्र आते ही रहते हैं जिनकी अन्तर्कथाओं के माध्यम से ही अर्थ-बोध होता है। आधार प्रायः श्रीमद्भागवत पुराण का रहता है। फिर भी ब्रह्मवैवर्तपुराण और गर्ग संहिता आदि से भी प्रचुर सामग्री ली गयी है। स्वयं राधा का नाम तक भागवत में नहीं है, पर वह सूरदास की रचना में नायिका है।

नाना शास्त्रों का ज्ञान तो है ही सूरदास को, खेल कूद तथा आमोद-प्रमोद के विविध रूपों का भी अच्छा ज्ञान है। कृष्ण गेंद खोज रहे हैं। इसकी एक झांकी है—

ग्वालिनि तैं मोरी गेंद चुराई।
खेलत आन परी पलका बिच अँगिया माँझ दुराई॥
भुज पकरत गोरी अँगिया टटोवत छूअत छतिया पराई।
सूरदास मोहिं यहै अचम्भो एक गई द्वै पाई॥

खेल के कुछ पदों के शीर्षक हैं—

- खेलत स्याम ग्वालनि संग।
- मैया मोहिं दाऊ बहुत खिझायौ।
- खेलन अब मोरि जात बलैया।
- खेलन को हरि दूरि गयौ री।
- खेलत मैं को काकौ गुसैयाँ।

वेदान्त दर्शन का ज्ञान तो सूर काव्य की रीढ़ है। जीव को अविद्या से मुक्त करने का प्रयास प्रायः सर्वत्र है। एक रूपक में अविद्या को गाय बताया गया है। उसे हांकने के लिए गोपाल से प्रार्थना की गयी है—

माधौ नैंकु हटकौ गाइ।
भ्रमत निसि-बासर अपथ-पथ अगह गहि नहिं जाइ।
छुधित अति न अघात कबहूँ निगम-द्रुम दलि खाइ।
अष्टदस घट नीर अँचवति तृषा तऊ न बुझाइ।

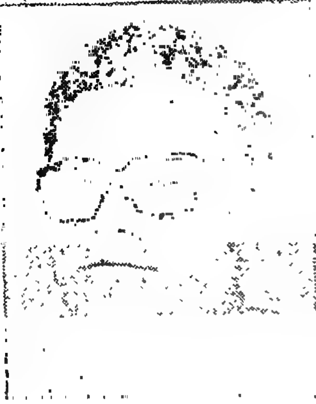
अभ्यास

शक्ति और नैपुण्य के साथ-साथ सफल कवि के लिए शास्त्रज्ञ से प्राप्त शिक्षा का अभ्यास भी आवश्यक होता है। सूरदास ने यह अभ्यास भी सही रूप में किया था। उन्होंने स्पष्ट स्वीकार किया है कि गुरु ने ज्ञान का प्रकाश दिया और मैंने अपने अभ्यास से अपनी सिद्धि प्राप्त की —

अपुनपौ आपुन ही मैं पायौ।
सब्दहिं सब्द भयौ उजियारौ सतगुरु भेद बतायौ।

इस प्रकार मम्मट के मानदण्ड के अनुसार सूरदास खरे महाकवि सिद्ध होते हैं।

●



महाकवि सूरदास और उनका काव्योपादान श्रीकृष्ण

श्री वासुदेव पोद्दार

हिन्दी साहित्य के इतिहास की दो महान् उपलब्धियों के रूप में महाकवि सूरदास और तुलसीदास का स्थान अन्यतम है। संस्कृत साहित्य के इतिहास में जो स्थान वाल्मीकि और वेदव्यास का है, हिन्दी साहित्य में वही स्थान महाकवि सूरदास और तुलसीदास का है। भारतीय संस्कृति के विशाल चक्रवाल की कल्पना जिस तरह राम और कृष्ण के बिना असम्भव है, उसी प्रकार हिन्दी साहित्य की वृहत्तम परि-रेखा का अनुमान भी सूरदास और तुलसीदास के बिना असम्भव है। तुलसीदास का काव्योपादान राम है, सूर का श्रीकृष्ण। सूर तक आते-आते श्रीकृष्ण भारतीय संस्कृति के सर्वोच्च नायक बन चुके थे। सम्पूर्ण भारतीय वाङ्मय, उत्तर से दक्षिण तक, श्रीकृष्ण की चर्चा में प्रवृत्त हो चुका था। भारतीय दर्शन के प्रमाण और प्रमेय श्रीकृष्ण को सर्वत्र खोजते हुए वेद और वेदान्त के चूड़ाल का स्पर्श कर रहे थे। अद्वैत-वेदान्त का सर्वोच्च उद्घोष अद्वैत-सिद्धिकार आचार्य मधुसूदन के शब्दों में "कृष्णात् परं किमपि तत्त्वमहं न जाने" था। पंचरात्र आगमों की परम्परा श्रीकृष्ण को ढूँढ़ती हुई सम्पूर्ण वेदार्थ को आत्मसात् करती जा रही थी। समस्त संगीत, सम्पूर्ण काव्य, सारी कलाएँ उस समय कृष्णमय हो रही थीं। सूरदास के समय भागवतम् की मर्यादा सर्वोच्चि थी। उस समय भारवर्ष के दार्शनिक वेदार्थ के विनिश्चय हेतु भागवतम् का प्रामाणिक आश्रय ले रहे थे। उपनिषद्, ब्रह्मसूत्र और गीता के अर्थान्वय को समझने में भागवतम् चतुर्थ प्रस्थान का कार्य कर रहा था। अद्वैतवाद से लेकर शुद्धाद्वैत और उससे भी आगे अचिन्त्य भेदाभेद तक भागवतम् निर्विवाद रूप से सर्वमान्य हो चुका था। महाकवि सूरदास इसी भागवतम् का सबसे बड़ा महामेघ है। भागवतम् का विशाल रसार्णव महाकवि सूरदास के रूप में मेघायित हो उठा। महाकवि जयदेव का मेघमेदुर आकाश वृन्दावन के सघन केलि-निकुंजों तक सीमित है, पर सूरदास का मेघमेदुर आकाश गोकुल, वृन्दावन की परिसीमा तक नित्य होते हुए भी सम्पूर्ण उत्तरापथ का मेघमेदुर आकाश है।

महाकवि सूरदास का श्रीकृष्ण जितना प्रतापघन और ज्ञानघन है—उससे कहीं व्यापक वह प्रेमघन और सौन्दर्यघन है। वेद-प्रतिपादित श्रीकृष्ण जहाँ यज्ञवराह की विराटता में निमग्न है, वहाँ वेदान्त का कृष्ण ज्ञानघन है, पर भारतीय काव्य का श्रीकृष्ण प्रेमघन है, सौन्दर्यघन है। इसी सौन्दर्यघन की आराधना में भारतीय साहित्य का रस शताब्दियों तक प्रवाहित होता रहा।

महाकवि सूरदास का परम भागवत् श्रीकृष्ण अनन्य-सामान्य है। आज तक विश्व के इतिहास में किसी भी शिशु की हत्या के इतने प्रयत्न न हुए। महाराजा कंस की सम्पूर्ण शक्ति शिशु को नष्ट करने पर तुली थी। पूतना, केशी, तृणावर्त, कर्मक़साई, श्रीधर-पण्डित, सब छोटे से कृष्ण को कुचल देने के

लिए आये, मथुरा के नगरद्वार पर कुवलयापीड़ हाथी को स्वतन्त्र छोड़ दिया गया। चाणूर और मुष्टिक जैसे मल्ल इसका अंग उच्छेद करने के लिए कंस के विशाल अखाड़े में खड़े थे। भारतीय इतिहास का यह सबसे बड़ा महापुरुष पता नहीं कितना सौभाग्यशाली था—इसके मातृ-गर्भ में आते ही इसके माता-पिता को कारावास के भीतर यंत्रित कर दिया गया। इसका जन्म जेल के भीतर हुआ। उस समय आकाश से बिजलियाँ गिर रही थीं, धारा-सम्पात हो रहा था। बड़ी सावधानी के साथ कृष्ण को गोकुल लाया गया। कंस की भेजी हुई पूतना इसे जहर पिलाने आई थी। काक, शकट, तृणावर्त आदि असुर शिशु कृष्ण पर प्रहार कर रहे थे। नन्द सुरक्षा की दृष्टि से इसे लेकर गोवर्धन के उपांत भाग वृन्दावन में चले आये, जहाँ यमुना की स्निग्ध वनस्पति थी। पर कंस शान्त न था—यमुना के भीतर उसने नाग के दह का निर्माण कर दिया। असुरों के प्रहार यहाँ गोकुल की अपेक्षा अधिक उग्र थे। श्रीकृष्ण की जितनी लीलाएँ हैं, वे असामान्य एवं अलौकिक हैं और उन सबसे अलौकिक हैं सूर के श्रीकृष्ण की वे लीलाएँ जहाँ शिशु श्रीकृष्ण कहीं पालने के भीतर रो रहा है, कहीं यशोदा के अत्यधिक बुलाने पर भी घुटनों के बल दौड़ता हुआ और अधिक दूर चला जाता है। माखन की चोरियाँ, चीर-हरण आदि लीलाएँ हमारे लिए जितनी अलौकिक बन जाती हैं, श्रीकृष्ण के लिए उतनी ही सहज हो जाती हैं। रस की जो पराकाष्ठा लोक-सम्भव नहीं, वही श्रीकृष्ण के भीतर महारास बनकर प्रकट हो गई। रास शब्द रस शब्द से निष्पन्न होता है। ब्रह्मा के चौर्य की लीला में समाया हुआ श्रीकृष्ण विज्ञानमय वेद-पुरुष है, देवराज इन्द्र पर विजय प्राप्त करता हुआ गोवर्धनधारी कृष्ण पुराण-पुरुष है, महारास के भीतर समाया हुआ कृष्ण पुरुषोत्तम कृष्ण है। महारास के महामण्डल में घूमता हुआ कृष्ण जितनी शंकाओं से घिरता है, उतना ही उसके उत्तम पुरुष का पुरुषोत्तम स्वरूप स्पष्ट होता है।

उसके एक भाग में सम्पूर्ण वृन्दावन-सहित महारास समाहित है। 'क्लिं' का विश्वजयी कामबीज उसके अधरों से वंशी के भीतर जब विस्तृत होता है, तो सम्पूर्ण प्रकृति के गुणों में विपर्यय उपस्थित हो जाता है—

> अस्पन्दनं गतिमतां पुलकस्तरूणां
> निर्योगपाशकृतलक्षणयोर्विचित्रम्।[1]

वह पांचजन्य सम्पन्न हृषिकेश की अपेक्षा वंशीधर या मुरलीधर श्रीकृष्ण के रूप में अधिक प्रसिद्ध है। भारतवर्ष के पुराणों की सम्पूर्ण परम्परा, चाहे वह वैष्णव हो या शैव या शाक्त, श्रीकृष्ण को कामदेव के पिता के रूप में स्वीकार करती है। श्रीकृष्ण विष्णु के पूर्णावतार हैं, भगवान् प्रद्युम्न कामदेव के अवतार हैं। वैष्णवों का चतुर्व्यूह सिद्धान्त बलराम, प्रद्युम्न और अनिरुद्ध के बिना सम्पूर्ण नहीं। महा-रास के समय काम श्रीकृष्ण के अंग-सौष्ठव में ही विलीन था—प्रद्युम्न रुक्मिणी-सम्भूत हैं। जो स्वयं काम का जनक है—उसके समीप यौनाचार का शंका-प्रसंग अस्वाभाविक नहीं—स्वयं परीक्षित का यह प्रश्न और शुक का उत्तर ही इसका प्रमाण है—

> धर्मव्यतिक्रमो दृष्ट ईश्वराणां च साहसम्।
> तेजीयसां न दोषाय वह्नेः सर्वभुजो यथा॥[2]

श्रीकृष्ण ने व्रज में किसी भी प्रद्युम्न को उत्पन्न नहीं किया। राधा-सहित सारी गोपिकाएँ कृष्ण के इस सुखद भार से नित्य मुक्त थीं। शंकाओं के इस कलुष के लिए भागवतम् का यह महावाक्य ही प्रमाण रूप में पर्याप्त है—"रेमे रमेशोव्रजसुन्दरीभिर्यथाभकः स्वप्रतिबिम्वविभ्रमः।"[3]

१– भागवतम् १०।२१।१९। २– वही १०।३३।३०। ३– वही १०।३३।१७।

महाकवि सूरदास ने श्रीकृष्ण के अनन्त रूपों को देखा था, उन्हें संगीत की सर्वश्रेष्ठ वीणा के सर्वोच्च स्वर-मण्डल पर बाँधा था। सूर प्रत्येक पद में अपने नाम और हृदय के साथ श्रीकृष्ण से जुड़े हैं। जीवन की समग्रता, विभेद, विरोध संगीत के स्वर-समुच्चय में काव्य की विराट् एकता में पर्यवसित होते हैं। सूर कहीं भी जड़ और अचल नहीं, उनके भीतर विलीन स्वर-समुद्र प्रतिक्षण उत्ताल है। समग्र जीवन का प्रवाह सुनियोजित प्रतीकबद्धता को धारण कर लेता है जहाँ स्वयं श्रीकृष्ण बिम्ब हैं और उनके सम्पूर्ण लीला-परिकर का प्रतिबिम्ब यह लीला-जगत्।

सूरदास का कृष्ण महाभारत के श्रीकृष्ण की तरह मात्र दार्शनिकों का ही श्रीकृष्ण नहीं है—वह महाकवि के द्वारा सर्वाधिक जन-सुलभ बना दिया गया है। कृष्ण-जन्म के समय सूर ने निम्नवर्ग की 'नाइन' को अपनी कविता में बुलाकर 'अपने हरि' के जन्म का नेग उसे दिलाया है, तुलसीदास की शबरी से भी अधिक सहज होकर यहाँ यह नाइन महाकवि की वाणी में प्रवेश करती है—"नाइन बोलहु नवरंगी (हो) ल्याउ महावर बेग।"[४] इसी प्रकार मालिनी, सुनार, दाई, खाती, सभी बड़ी सहजता के साथ सूर के इस बालप्रभु के पास चले जाते हैं।

भक्त सूर का कवि उस कृष्ण की बात करता है जो पालने में सोया है, और कवि उसे बराबर अनेक प्रकार से झुलाने का अनुरोध करता है—

> कन्हैया हालरु रै।
> गढ़ि गुढ़ि ल्यायौ बाढ़ई, धरनी पर डोलाइ, थलिहालरु रै॥[५]

पूतनाघाती शिशु श्रीकृष्ण को गोद में लेती हुई यशोदा किस तरह विभोर हो उठती है—वात्सल्य का यह क्षण सूर की कविता में झूमता हुआ विश्व के साहित्य का सर्वाधिक स्थायी क्षण बन जाता है—

> जसुमति विकल भई, छिन कल ना।
> लेहु उठाइ पूतना उरतैं मेरौ सुभग साँवरौ ललना॥[६]

सूर की कविता के भीतर समाए हुए शिशु श्रीकृष्ण का शकट-भंजन भी कितना असाधारण है। पद-अंगुष्ठ को मुँह में लेने का कार्य शिव और ब्रह्मा के भीतर भी प्रलय की स्तम्भित कर देनेवाली स्मृति को पुनः नया बना देता है—

> कर पग गहि, अँगुठा मुख मेलत।
> प्रभु पौढ़े पालनै अकेले, हरषि-हरषि अपनै रँग खेलत॥
> सिव सोचत, विधि बुद्धि बिचारत, बट बाढ़्यौ सागर जल झेलत॥[७]

क्योंकि पद-अंगुष्ठ को मुँह में लेते ही यह सम्पूर्ण प्रकृति प्रलय की मुद्रा में चली आती है—

> उछरत सिन्धु, धराधर काँपत, कमठपीठ अकुलाइ।
> सेष सहसफन डोलन लागे हरि पीवत जब पाइ॥[८]

यहीं तक क्यों, सूरदास का कृष्ण जब पालने में सोता है, तब वे गोकुल से लेकर ब्रह्मलोक शिवलोक और विष्णुलोक की स्थिति एक पद में ही प्रकट कर देते हैं—

४— सूर-ग्रन्थावली ४३। ५— वही ५०। ६— वही ५७।
७— वही ६६। ८— वही ६७।

जसुंदा मदन गुपाल सोवावै ।
देखि सयन-गति त्रिभुवन कम्पै, ईस विरंचि भ्रमावै ॥ [९]

सूरदास ने भागवतम् के श्रीकृष्ण के सम्पूर्ण स्वरूप को देखा था। दसवीं शती के पश्चात् का भारतीय दर्शन भागवतम् से अनुप्राणित होकर ही आगे बढ़ता है। भागवतम् का ज्ञानघन श्रीकृष्ण जिस तरह भारतीय दर्शन का प्रधान प्रतिपाद्य रहा, उसी तरह भारतीय साहित्य की लोकधारा और संस्कृत धारा भागवतम् के प्रेमघन और सौन्दर्यघन विग्रह को अपना प्रधान काव्योपादान बनाकर आगे बढ़ती है। चाहे महाकवि जयदेव हों, चाहे लीलाशुक या कर्णपूर या सूरदास सहित रीति काल एवं बंगला, असमिया से लेकर अन्य भारतीय भाषाओं का काव्य-प्रवाह, वह सौन्दर्यघन श्रीकृष्ण को ही प्रधान आधार बनाकर अपनी सिसृक्षा को अभिव्यक्त करता है। सूरदास ने श्रीकृष्ण के सम्पूर्ण लीला स्वरूप को देखा था। वे दास्य से सख्य और इससे भी परे उस महाभाव-संवलित श्रीकृष्ण को देखते हैं जो राधा के समक्ष परकीय रति चिह्न से अंकित खड़ा है—

पिय-छवि निरखि हँसति तिय भारी।
कहाँ महाउर पाग रँगाई, यह सोभा इक न्यारी॥
अरुन नैन अलसात देखियत, पलक पीक लपटानी।
अधर दसन छत, अंजन राजत, बन्धुक पै अलि मानौ॥
हृदै रुचिर मोतिनि की माला, नख-रेखा तिहिं तीरै।
बिनु-गुन माल, सूरके स्वामी कुंकुम स्याम सरीरे॥ [१०]

सूरदास कृष्ण के अनन्त लीला-जगत् की अनन्त क्रीड़ाओं में खोये हुए हैं। उन्होंने विश्व का कौन-सा सुख नहीं लूटा! भादों के जल-प्रवाह की तरह उन्होंने गोपियों को श्रीकृष्ण के लिए दौड़ते हुए देखा था—

मानति नहीं, और रिस पावति, निकसी नातौ तोरि।
जैसे जल-प्रवाह भादो कौ सो को सकै बहोरि॥ [११]

मादनाख्य भाव से लेकर विपरीत रति तक सभी कुछ महाकवि सूरदास ने जाना था, गाया था।

सूरदास का श्रीकृष्ण जहाँ एक ओर पञ्चरात्र आगमों का प्रतिपाद्य कृष्ण है, वहाँ वह सम्प्रदाय परम्परा में सहज विशुद्ध ज्ञान-संवेद्य भी है। शुद्धाद्वैत की दृष्टि से यह सम्पूर्ण विश्व उसका अविकृत परिणाम है। गोवर्द्धन, प्रदेशवासी सूरदास श्रीकृष्ण के समक्ष एक ढाढ़ी के रूप में जाते हैं—वह ढाढ़ी जो नन्दरानी यशोदा के पास जाकर लाला को देखेगा, फिर नाचेगा, गायेगा। बेचारे ढाढ़ी को क्या चाहिए! वह तो दानमान का भूखा है—

ढाढ़ी दान-मान के भाई।
नन्द उदार भए पहिरावत, बहुत भली बनि आई॥ [१२]

× × ×

हौं तो तुम्हरे घर कौ ढाढ़ी, नाउँ सुनैं सचु पाऊँ।
गिरि गोवर्धन वास हमारौ, घर तजि अनत न जाऊँ॥ [१३]

महाकवि ने यहाँ दोहरा अभिनय किया है—वे प्रथम बार नन्द के ढाढ़ी बन कर उपस्थित होते हैं, दूसरी बार वृषभानु के। यह ढाढ़ी 'लाला' के छोटे से झुंगलिए का लोभी है। महाकवि सूरदास के

९– वही ६८। १०– वही ३३०८। ११– वही १२५६। १२– वही ४१।
१३– वही ४०।

शब्दों की बुनावट से वना हुआ यह झुगलिया कितना सुन्दर है, यह तो महाकवि के एक-एक शब्द के विन्यास से ही स्पष्ट होता है—

> नंद-उदौ सुनि आयौ हो, वृषभान कौ जगा।
> देवै कौं वड़ौ महर, देत न लावै गहर, लाल की बधाई पाऊँ लाल कौ झगा ॥
> प्रफुलित ह्वै कै आनि, दीनी है जसोदा रानि, झीनीयै झगुलि, तामैं कंचनतगा।
> नाचै फूल्यौ अँगनाइ, सूर वकसीस पाइ, माथैकै चढ़ाइ लीनौ लालकौ झगा ॥[१४]

यह अनोखा ढाढ़ी नाचता हुआ उस झुगलिए को माथे पर चढ़ा लेता है। गोकुल में अपने प्रभु के आगमन के क्षणों का आनन्द लेता है—"आजु हौ बधायौ वाजे नंद गोप-राइकै। जदुकुल-जादौराइ जनमैं हैं आइकै ॥[१५]

यह आनन्द सहस्रधारा होकर फैलता चला जा रहा है, लगता है, सम्पूर्ण प्रकृति श्रीकृष्ण की सेवा में फलती, फूलती और झूमती चली जा रही है—"फूली फिरे धेनु धाम, फूली गोपी अंग-अंग, फूले फरे तरवर आनँद लहर के।"[१६]

महाकवि सूरदास के ज्ञानघन कृष्ण का लोक भी कितना विलक्षण है—

> चलि सखि, तिहिं सरोवर जाहिं।
> जिहिं सरोवर कमल-कमला, रवि-विना विकसाहिं ॥
> हंस उज्वल पंख निर्मल, अंग मलि मलि न्हाहिं।
> मुवित मुक्ता अनगिने फल, तहाँ चुनि चुनि खाहिं ॥[१७]

महाकवि सूरदास का यह लीला-परिकर अनन्त है। सूर ज्ञानी भक्त हैं। वहुत सम्भव है दीक्षा के पूर्व वे अद्वैतवादी रहे हों। अद्वैतवाद का भक्ति से कहीं विरोध नहीं, इसके प्रमाण आचार्य मधुसूदन सरस्वती और आचार्य अप्पय दीक्षितेन्द्र हैं। आचार्य वल्लभ के दर्शन में दोक्षित होने के पश्चात् ये अद्वैतवाद से हटकर शुद्धाद्वैत की ओर उन्मुख हो गए। वैसे महाकवि वाद-विवाद के प्रति आग्रहशील भी नहीं होते। सूर का यह कृष्णाद्वैत आचार्य वल्लभ की कृपा से श्रीकृष्ण के अनन्त लीला-परिकर में वदल गया, जहाँ अनन्त सौन्दर्य है, अनन्त माधृर्य है। माधुर्य भाव का भारतीय वाङ्मय में श्रीकृष्ण से वड़ा अन्य कोई उपादान कारण नहीं है। इस माधुर्य के सामान्याधिकरण में ऐश्वर्य भी उतना ही सीमातीत होकर समाहित है। वंशी के रन्ध्र-पीड़न के साथ ही सम्पूर्ण माधुर्य ऐश्वर्य शक्ति के ऊपर आनन्द के समुद्र की तरह फैल जाता है। इसी आनन्द-अम्वुधि का पान करने के लिए वड़े-वड़े वाताम्ब-भक्षी महर्षि पक्षी वनकर वृन्दावन की प्रवाल-पल्लवित द्रुम-भुजा पर आकर बैठ गये थे—

> प्रायो वताम्ब विहगा मुनयो वनेऽस्मिन्
> कृष्णेक्षितं तदुदितं कलवेणुगीतम्।
> आरुह्य ये द्रुमभुजान् रुचिर प्रवालान्
> शृण्वन्त्यमीलितदृशो विगतान्यवाचः ॥[१८]

ऐश्वर्य-शक्ति का जहाँ तक प्रश्न है, यह वंशी पांचजन्य में वदल जाती है, जिसके भयंकर निध्वान से महाभारत का सम्पूर्ण आकाश व्यावृत होता चला जाता है। पर माधुर्य की वात सर्वथा भिन्न है। एक ही माधुर्यभाव जव स्वकीया और परकीया के भेदोपभेद की मर्य्यादाओं में प्रवेश करता है, वह असा-

१४— वही ४२। १५— वही ३४। १६— वही ३७। १७— वही ४। १८— भागवत १०।२१।१४।

धारण हो उठता है। व्रजवनिताओं का 'औपपत्य' एक असाधारण भाव है जो मात्र व्रजदेवीगण तक ही सीमित है।

श्रीकृष्ण के माधुर्य भाव की चिन्मयी मूर्ति होते हुए भी ये गोपिकाएँ नित्य परकीया रूप से प्रतिष्ठित हैं। गोपियों की गहनतम वेदना का महासमुद्र परकीयात्व के रूप में ही व्यापक है। समाज की मर्य्यादाओं से परे पहुँच कर ये अपनी माधुर्यरूपा स्वरूप-शक्ति में एकरस हो रही थीं। स्वकीय में स्वकीयत्व का पुनः प्रत्यारोपण लीलाजगत में अधिष्ठानगत कोई अर्थवैचित्र्य नहीं रखता। इस पूर्णावतार की सारी लीलाएँ स्वतंत्र मानी गई हैं, सामान्य प्राणियों की तरह कर्म-परतन्त्र नहीं। श्रीकृष्ण में परस्पर विरुद्ध गुणों का युगपत सम्मिलन था। यहाँ तक कि अधिष्ठानगत इस अर्थ-वैचित्र्य की कूर्म पुराण ने "रक्तान्त लोचन श्याम वर्ण" के रूप में चर्चा की है। वह अणु होते हुए भी व्यापक हैं, स्थूल होते हुए भी अस्थूल हैं, अवर्ण होते हुए भी रक्तान्तलोचन श्याम वर्ण हैं। श्रीकृष्ण की ये स्थूल क्रीड़ाएँ इसीलिए सुवोध होते हुए भी अचिन्त्य वन गईं। नन्हा सा कृष्ण दौड़ रहा है, हाथों से अनाज गिरता जा रहा है। जो स्वयं विश्व के सम्पूर्ण कर्मों का फल गुण और कर्मों के फल-विभाग के अनुसार देता है, वह आज अपनी शिशु-सुलभ चपलता के कारण एक सामान्य फल वेचनेवाली से फल खरीदने के लिए दौड़ रहा है—

क्रीणीहि भोः फलानीतिश्रुत्वा सत्वरमच्युतः।
फलार्थी धान्यमादाय ययौ सर्वफलप्रदः॥[१९]

फल खरीदने की यह सामान्य सी स्थूल लीला भागवतम् के काव्य-गगन में पूर्वोत्तर मीमांसा का ऊहापोह वनती हुई दर्शन के तत्त्व-द्रष्टा के लिए काव्य की अचिन्त्य पंक्तियाँ वन जाती है। श्रीकृष्ण इस सगुण विश्व की संरचना, उसकी सौन्दर्य-सृष्टि एवं ध्वंस अपने अप्राकृत शरीर से ही करता है। कृष्ण की एक-एक लीला पर दार्शनिकों ने बड़ी गम्भीरता के साथ सोचा है। महाकवि सूरदास ने अपने पदों में इसके रस-रहस्य को गाया है, उसे काव्य के रस-रज्जु से बाँधा है। राधा कृष्ण-वियोग में निकुञ्ज में खड़ी कितनी कोमल और विह्वल हो उठती है—

राधे ! कत निकुंज ठढ़ि रोवति।
मंद सुजोति मुखारविंद की, चकित चहूँ दिसि जोवति॥
द्रुम-साखा-अवलंवि, वेलि गहिं, नखसों भूमि खनोवति।
मुकुलित कच घन-तन-कि ओट ह्वै, अँसुवनि चीर निचोवति॥
सूरदास-प्रभु तजी गरवतैं, भई प्रेम-गति गोवति॥[२०]

कृष्ण के वियोग में व्रजवनिताओं के नयन सावन भादो वन जाते हैं—

निसि-दिन वरसत नैन हमारे।
सदा रहति वरषा रितु हम पै, जवतैं स्याम सिधारे॥[२१]

श्रीकृष्ण का यह महान ढाढ़ी सूरदास गर्भान्ध था। वैष्णव सम्प्रदाय की प्राचीन श्रुतियाँ इन्हें "सिलपट्ट" अन्धा कहती हैं। महाकवि के मस्तक का यह भाग शिलापट्ट की तरह सपाट था—वहाँ नेत्रों का कोई रन्ध्राकार सूचक चिह्न भी नहीं था। इस अन्धे असहाय और अशक्त महाकवि ने श्रीकृष्ण को अपने काव्य का उपादान वनाया। वैसे तो सामान्य नियम है, समर्थ से जुड़ने पर व्यक्ति अशक्त नहीं रहता। इस दृष्टि से सूरदास न अशक्त हैं, न दीन-हीन और न न्यूनांग ही। सर्वाधिक शक्ति-सम्पन्न और

१९– स्कन्दपुराण १०।११।१०। २०– सू० ग्रं० १३४८। २१– वही ३२३३।

महान द्रष्टा हैं सूरदास, सबसे अधिक देखा है सूर ने। विश्व के प्रथम गर्भान्ध कवि दीर्घतमस थे—ये ऋग्वेद के प्रथम मण्डल के १६४ वें सूक्त के महान् द्रष्टा हैं—आश्चर्य है, गर्भान्ध होते हुए भी इन्होंने सूर्य को अपने काव्य का उपादान चुना। द्वितीय गर्भान्ध महाकवि इलियड और ओडिसी के महान् प्रणेता होमर हैं। महाकवि मिल्टन प्रौढ़ावस्था में अन्धे हो गये थे। पैराडाइज लॉस्ट के निर्माण के पूर्व महाकवि के नेत्रों की ज्योति समाप्त हो चुकी थी। इन अन्धे और बहरे महान् स्रष्टाओं का मनोविज्ञान असाधारण है। नवीं सिम्फनी के महान स्रष्टा विथोवन जन्म से ही वज्रवधिर थे। तुलनात्मक साहित्य के अध्येता की दृष्टि से देखा जाय तो महाकवि सूरदास का स्थान इस पंक्ति में अन्यतम है। सूर ने अपने सम्पूर्ण श्रवण-गोचरत्व और त्वक्-गोचरत्व को दृष्टि-गोचरत्व में बदल दिया था। अविकृत परिणामवाद के उच्चतम शिखर पर दीक्षित व्यक्ति के लिए यह असहज और अगम्य नहीं। वैसे भारतीय दर्शन की दृष्टि से सूरदास और तुलसीदास या शंकराचार्य या वल्लभाचार्य जैसे पुरुषों में पूर्व जन्म के दृष्टिबोध की स्मृति को स्वीकार कर लेना असंगत न होगा। श्रीकृष्ण का सन्दर्भ तो सूर के लिए असाधारण है। उसके प्रत्येक रोम-कूप में इन्द्रिय गोलक उत्पन्न हो जाते हैं। यह रहस्य महाकवि ने एक सखी के कथनोपकथन के व्यपदेश से इस प्रकार स्पष्ट किया है—

> सुन्दर बोलत आवत बैन।
> ना जानौं तिहिं समय सखी री ! सब तन स्रवन कि नैन ?
> रोम रोम मैं सब्द सुरतिकौ, नख-सिखलौं चख ऐन।[२२]

सूर के लिए कुछ भी अगम्य नहीं। यमुना के अजयतट का महाकवि सूरदास करुणा की महती वीणा का स्पर्श करता हुआ तमसातट के आदि कवि के बहुत पास चला आता है। तमसा और यमुना के तट की स्पृहा का यह अकुंठित इतिहास महाकवि तुलसी और सूरदास तक के युग का सांस्कृतिक इतिहास है। लगता है, भारतवर्ष का सम्पूर्ण आकाश ही इन ऊँचाइयों पर उतर कर द्विफाल-बद्ध हो गया है। यमुना के अजय तट का अमर कवि सूरदास हिन्दी साहित्य का ही नहीं विश्व साहित्य का अन्यतम महाकवि है।



> माधौ मोहिं करौ वृन्दावन-रेनु।
> जिहिं चरननि डोलत नँद-नंदन, दिन प्रति बन-बन चारत धेनु।
> कहा भयौ यह देव-देह धरि, अरु ऊँचैं पद पाऐं ऐनु।
> सब जीवनि लै उदर माँझ प्रभु महा प्रलय-जल करत हौ सैनु।
> हम तैं धन्य सदा वै तृन-द्रुम, बालक बच्छ बिषानऽरु बेनु।
> सूर स्याम जिनकैं सँग डोलत, हँसि बोलत, मथि पीवत फेनु।
> सूरसागर ११०७

२२– वही १५७५।



सूर का वात्सल्य-चित्रण

डॉक्टर सोम शेखर सोम

सूरदास का वात्सल्य-चित्रण केवल भारतीय साहित्य में ही नहीं, समस्त विश्व-साहित्य में अनुपमेय है। सूरदास ने अपनी मधुर कोमल भावनाओं को वत्सलता से सींच कर वात्सल्य को रसता प्रदान की है। डॉ० हरवंशलाल शर्मा के शब्दों में "यदि मनोवैज्ञानिक दृष्टि से देखा जाये तो वात्सल्य-भक्ति अन्य सब प्रकार की भक्तियों से उच्च प्रतीत होगी, क्योंकि वात्सल्य-भाव में किसी प्रकार के स्वार्थ की गन्ध तक नहीं होती। अतएव इसे हम निष्काम भक्ति का पोषक कह सकते हैं।" सूर ने माता का शुद्ध एवं पवित्र हृदय पाया था। उनमें ममतामयी माता तथा वात्सल्यमय पिता की आत्मा थी। इसीलिए वे यशोदा के मातृ-हृदय में पैठ कर उसकी भाव-तरंगों को स्वरों में बाँध सके।

श्रृंगार, करुण, वीभत्स, रौद्र, वीर, हास्य, भयानक, अद्‌भुत और शान्त, इन नौ रसों की भाँति वात्सल्य रस भी अपना अलग तथा विशेष अस्तित्व रखता है। पहले वात्सल्य रस की स्वतन्त्र सत्ता नहीं थी। उसे श्रृंगार का एक अंग माना जाता था। कारण यह था कि श्रृंगार का स्थायी भाव 'रति' दोनों में समान है, मात्र आलम्वन-भेद है। परन्तु वाद के साहित्याचार्यों ने वात्सल्य-रस की पृथक् सत्ता स्थापित कर उसे महत्त्व प्रदान किया। आचार्य विनय मोहन शर्मा के मत से "वात्सल्य का आलम्वन पुत्र ही नहीं, पुत्री भी हो सकती है, यद्यपि पुत्र के प्रति ही वात्सल्य भाव की साहित्य में अधिक अभिव्यक्ति हुई है। पुत्र-पुत्री आश्रय के हों या किसी के भी हों, ज्यों ही वे आश्रय के हृदय के साथ वात्सल्य-भाव में एकाकार हो जाते हैं, आलम्वन वन जाते हैं।" एक ही वात में यह स्वीकार किया जा सकता है कि किसी वालक व वालिका की वाल-क्रीड़ाओं का रसपाक वात्सल्य रस के अंतर्गत होता है। इस तरह वात्सल्य के भी दो भेद हैं—संयोग वात्सल्य और वियोग वात्सल्य।

सूरदास संयोग वात्सल्य तथा वियोग-वात्सल्य के सिद्धहस्त कवि थे। उन्होंने कृष्ण की वाल-लीलाओं को वड़ी सूक्ष्म दृष्टि से देखा था। इनके वाल-लीलाओं से सम्वन्धित पदों को पढ़ने से ऐसा प्रतीत होता है कि वे कृष्ण की छाया वनकर कृष्ण के पीछे-पीछे रहा करते थे। इसलिए कृष्ण की वाल-क्रीड़ाओं का चित्रोपम शैली में सहज स्वाभाविक वर्णन करना उनके लिए संभव हो सका।

सूर ने कृष्ण का रूप वड़ी सूक्ष्म दृष्टि से आँका है। सखी कहती है—

> सखी री, सुन्दरता कौ रंग।
> छिन-छिन माँह परति छवि औरे, कमल नैन के अंग।

यशोदा अपने कृष्ण के रूप-रंग को देखकर कभी संतृप्त होती ही नहीं । बालक जैसा भी हो, माँ को वह सूर्य और चन्द्र के समान सुन्दर लगता है । "कहाँ लौं बरनौं सुन्दरताई"—यशोदा अपने पुत्र के सौन्दर्य का वर्णन करते थकती ही नहीं । श्रीकृष्ण किलकारी मारते हुए घुटनों के वल चल रहे हैं । नंदजी के मणिजटित सोने के आँगन में श्रीकृष्ण अपने मुख की परछाँई देखकर उसे पकड़ने को दौड़ते हैं । सूर ने इस दृश्य का वड़े ही चित्ताकर्षक एवं मार्मिक ढंग से चित्र खींचा है—

किलकत कान्ह घुटुरुवनि आवत ।
मनिमय कनक नंद कैं आँगन बिंब पकरिबैं धावत ॥
कवहुँ निरखि हरि आपु छाँह कौं कर सौं पकरन चाहत ।
किलकि हँसत राजत द्वै दँतियाँ पुनि-पुनि तिहि अवगाहत ॥
....
वालदसा-सुख निरखि जशोदा पुनि-पुनि नंद बुलावति ।
अँचरा तर लैं ढाँकि सूर के प्रभु कौं दूध पियावति ॥

इस पद की अन्तिम पंक्तियों में कवि सूर ने माता के हृदय की वत्सलतामयी उमंग का बड़ा ही मनोवैज्ञानिक चित्र प्रस्तुत किया है । वाललीला के सुख को देखकर यशोदा बार-बार नंद को बुलाती हैं और स्वयं मातृ-भाव से भरकर श्रीकृष्ण को आँचल से ढक दूध पिलाने लगती हैं ।

यशोदा कृष्ण को पालने में झुला रही हैं । प्यार से पुचकारती हैं और जो मन में आता है, वह गाती हैं । सूर के शब्दों में

जसोदा हरि पालने झुलावै ।
हलरावै दुलराइ मल्हावै जोइ सोइ कछु गावै ॥
मेरे लाल कौं आउ निंदरिया काहैं न आनि सुवावै ।
तू काहैं नहिं वेगिहिं आवै तोकौं कान्ह बुलावै ॥
कवहुँ पलक हरि मूँदि लेत हैं कवहुँ अधर फरकावै ।
सोवत जानि मौन ह्वै कै रहि करि करि सैन वतावै ॥
इहि अंतर अकुलाइ उठे हरि जसुमति मधुरै गावै ।
जो सुख 'सूर' अमर मुनि दुरलभ, सो नँद भामिनि पावै ॥

नंदभामिनी यशोदा का मातृत्व सार्थक है । कारण ,जो सुख देवताओं तथा मुनियों के लिए भी दुर्लभ है, वह सुख यशोदा माता को सहज लभ्य है ।

यशोदा कृष्ण को चलना सिखा रही हैं । जव कृष्ण डगमगाते हुए पैरों से चलने की चेष्टा करते है, तो वे उनके हाथों में अपना हाथ पकड़ा देती हैं—

सिखवत चलन जसोदा मैया ।
अरवराइ कर पानि गहावत डगमगाइ धरनी धरै पैया ॥
कवहुँक सुन्दर वदन विलोकति उर आनँद भरि लेति वलैया ।
कवहुँक वलकौं टेरि वुलावति इहि आँगन खेलौ दोउ भैया ॥

हर माता पिता को उस दिन अत्यानन्द मिलता है जिस दिन उनका वच्चा 'माँ', 'वावा' कह कर पुकारने लगता है । मोहन भी अव इतने वड़े हो गये हैं कि वे माँ को 'माँ' कहकर पुकारने लगे हैं । उसी

तरह अपने पिता नंद जी को 'बाबा' और अपने बड़े भाई बलराम को 'भैया' कहने लगे हैं। वे बाहर निकल जाते हैं, तो यशोदा ऊँचे चढ़कर जोर-जोर से पुकारती हैं—कहीं दूर मत जाना, किसी की गाय मार देगी—

कहन लागे मोहन मैया मैया।
पिता नंद सों बाबा अरु हलधर सों भैया भैया।।
ऊँचे चढ़ि चढ़ि कहति जसोदा लै-लै नाम कन्हैया।
दूरि कहूँ जिनि जाहु लला रे मारैगी काहू की गैया।।

बच्चे दूध से भागते हैं, तो माँ कोई लालच देकर उन्हें दूध पीने के लिए राजी करती है। यशोदा भी यही करती हैं। कृष्ण को शौक है—उनकी वेणी जल्दी से बढ़ जाये। यशोदा कहती हैं—बढ़ जायेगी, बलदेव की वेणी जैसी लम्बी-मोटी हो जायेगी, पर दूध पियोगे तब। लेकिन चोटी तो बढ़ती नहीं। कृष्ण शिकायत करते हैं—

मैया कबहिं बढ़ैगी चोटी।
किती बार मोहिं दूध पियत भई यह अजहूँ है छोटी।।
तू जो कहति बल की बेनी ज्यों ह्वैहै लाँबी मोटी।
काढ़त गुहत न्हवावत पोंछत नागिन सी भुइँ लोटी।।

इस पद में कृष्ण अपनी प्यारी माता यशोदा से जो तर्क करते हैं, वह कितना मधुर और संगत है।

अक्सर परिवार में यह देखा जाता है कि बच्चों को चिढ़ाने के लिए यह कह देते हैं कि उसे मोल लिया है। वह इस परिवार का लड़का नहीं है। वह लावारिस है। उसके माँ-बाप का कोई पता-वता नहीं, आदि। इसी तरह बलराम कृष्ण को काफी चिढ़ाते हैं। इसकी शिकायत कृष्ण अपनी माता यशोदा जी से स्वाभाविक क्षोभ के साथ करते हैं—

मैया मोहिं दाऊ बहुत खिझायौ।
मोसौं कहत मोल कौ लीनो तोहि जसुमति कब जायौ।।
कहा करौं इहि रिस के मारैं खेलन हौं नहिं जात।
पुनि पुनि कहत कौन है माता को है तेरौ तात।।
गोरे नंद जसोदा गोरी तू कत स्यामल गात।
चुटकी दै दै ग्वाल नचावत हँसत सबै मुसकात।।
तू मोही कौं मारन सीखी दाउहिं कबहुँ न खीझै।
मोहन मुख रिस की ये बातैं जसुमति सुनि-सुनि रीझै।।

तब माता यशोदा को गाय की सौगन्ध खाकर यह कहना पड़ता है कि—

सुनहु कान्ह, बलभद्र चबाई जनमत ही कौ धूत।
सूर स्याम मोहि गोधन की सौं हौं माता तू पूत।।

इन पंक्तियों में बालोचित क्रोध तथा मातृ-हृदय का मनोज्ञ चित्रण किया गया है। इतनी स्वाभाविकता अन्यत्र दुर्लभ है।

कृष्ण की दधि-माखन-चोरी का प्रसंग अत्यन्त मनोरम है। एक बार ऐसा होता है कि माखन-चोरी की शिकायत यशोदा के पास दर्ज हो जाती है। वे कृष्ण को पकड़कर दण्ड देना चाहती हैं। हाथ में साँटी है। इस पर श्रीकृष्ण माता से कहते हैं—

मैया ! मैं नहिं माखन खायौ ।
ख्याल परे ये सखा सबै मिलि मेरे मुख लपटायौ ।।
देखि तुहीं सींके पर भाजन ऊँचे धरि लटकायौ ।
तुहीं निरखि नान्हें कर अपने मैं कैसे करि पायौ ।।
मुख दधि पोंछि बुद्धि इक कीन्हीं दोना पीठि दुरायौ ।
डारि साँटि मुसकाइ जसोदा सुत कौ कंठ लगायौ ।।

ऐसी कौन माता है जो शिशु की इस अबोध चतुरता पर न्यौछावर न हो जाये। यशोदा साँटी डाल देती हैं, कृष्ण को गले लगा लेती हैं।

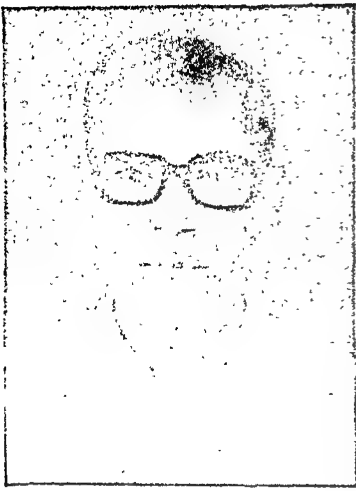
सूरदास के वात्सल्य-वर्णन की ओर इंगित करते हुए आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी लिखते हैं—"तीन वर्ष बीतते ही बीतते कृष्ण आरंभ करते हैं चोरी, घर के भीतर नहीं, बाहर, समाज में चोरी, गोपियों के घर-घर में माखन और दही की चोरी और उत्पात। चोरी सामाजिक धारणा में एक अपराध है, पाप है। और गोपियों को रोज-रोज तंग करना भी कोई सदाचार नहीं। पर ग्राम के वातावरण और गोपियों की मनःस्थिति में बालक कृष्ण की यह मूर्ति पाप-पुण्य-निर्लिप्त दीख पड़ती है। चोरी करते हुए भी वे गोपियों के मोद के हेतु बनते हैं और अपने उत्पातों द्वारा उनके प्रेम के अधिक निकट पहुँचते हैं। पाप-पुण्य-निर्लिप्त इस शुद्धाद्वैत की प्रतिष्ठा बिना चोरी किये कैसे होती ? अकर्म के भीतर से पवित्र मनोभावना का यह प्रसार एक रहस्य की सृष्टि करता है। यह रहस्य प्रकृत काव्य-वर्णन का अंग बनकर आया है, यही सूरदास की विशेषता है। भक्ति-काव्य का यह कौशल ध्यान देने योग्य है।"

कृष्ण यशोदा के जीवन-धन हैं। इतनी कोमल है उनकी भावना कि सोते हुए कृष्ण को जगाने में भी वे एक बार हिचकती हैं—लाल की नींद खुल जायेगी। कृष्ण गोवर्धन धारण करते हैं, तो "जननि जसोदा कर लै चापति अति स्रम होत कन्हैया।" कृष्ण का हाथ थक गया होगा ! कैसा निर्मल मातृत्व है। उनका हृदय कृष्णमय है, सारा जीवन कृष्णमय है, कृष्ण के लिए है। और कृष्ण जब मथुरा चले जाते हैं, तो उनका मातृत्व कातर हो उठता है—"गए न प्रान सूर ता अवसर ....."। अब तो "भूमि मसान बिदित यह गोकुल मनहु धाइ कै खाइ।" आकुल हृदय से वे नन्द से कहती हैं—"सूल होत नवनीत देखि मेरे मोहन के मुख जोग।"

माखन है, किन्तु खानेवाला नहीं। पता नहीं लाल मथुरा में क्या खाता होगा, कैसे रहता होगा। हर माँ की यह चिन्ता होती है अपने पुत्र के लिए—पुत्र के सुख के अनिश्चय की कल्पना उसे विकल किये रहती है। यशोदा पथिक से देवकी के नाम सँदेशा भिजवाती हैं—

सँदेसौ देवकी सौं कहियौ ।
हौं तो धाई तिहारे सुत की मया करत ही रहियौ ।।
जदपि टेव तुम जानति उनकी तऊ मोहिं कहि आवै ।
प्रात होत मेरे लाल लड़ैतैं माखन रोटी भावै ।।
तेल उबटनौ अरु तातौ जल ताहि देखि भजि जाते ।
जोइ जोइ माँगत सोइ सोइ देती क्रम क्रम करि कै न्हाते ।।
सूर पथिक सुनि मोहिं रैनि दिन बढ़्यौ रहत उर सोच ।
मेरौ अलक लड़ैतौ मोहन ह्वै है करत सँकोच ।।

सूरदास ने यशोदा के कृष्ण-विरह की बड़ी मार्मिक व्यंजना की है। उसमें वात्सल्य की अतल गहराई है। यह निस्सन्देह कहा जा सकता है कि वात्सल्य रस का जितना सरस, मनोहारी, मनोवैज्ञानिक परिपाक सूर ने किया है, उतना कोई अन्य कवि नहीं कर सका।



सूर के संदर्भ में
माधुर्य : एक अनुचिंतन

डॉक्टर कमला प्रसाद द्विवेदी

काव्य और भक्ति पक्ष में माधुर्य का क्षेत्र बहुत व्यापक बताया गया है। सीधे सादे अर्थ में, मधुर का भाव माधुर्य है– "मधुरस्य भावः माधुर्यम्"। कोई कहता है कि माधुर्य वह है जिससे अन्तःकरण आनन्द से द्रवीभूत हो जाये, तो किसी के मत में सभी अवस्थाओं में पाई जानेवाली रमणीयता माधुर्य है– "सर्वावस्थाविशेषेषु माधुर्यं रमणीयता।" भक्तिशास्त्र में 'उज्ज्वल नीलमणि' के अनुसार शरीर के किसी अनिर्वचनीय रूपविशेष का नाम माधुर्य है। काव्यशास्त्र के आचार्य मम्मट ने स्पष्ट रूप से आह्लादकत्व को माधुर्य भाव बताते हुए उसे श्रृंगार रस का उपकारक माना है– "आह्लादकत्वं माधुर्यं श्रृंगारे द्रुतिकारकम्।"

मधुर अथवा माधुर्य की व्याख्या में प्रस्तुत सभी मत-मतान्तरों का संकेत मुख्यतः श्रृङ्गार की ओर है जिसका मुख्य भाव रति या प्रेम है। भारतीय काव्यशास्त्र एवं भक्तिशास्त्र में माधुर्य की तीन रूपों में मान्यता है– श्रृङ्गार रस के एक भाव के रूप में, गुण के रूप में और मधुर रस के स्थायी भाव के रूप में, किन्तु तीनों मिलकर एक ऐसा तीर्थराज बना देते हैं जिसके आगे मात्र भक्ति-गंगा ही दिखाई देती है।

काव्य-शास्त्रियों ने मधुर को रस की कोटि का न मानकर माधुर्य को श्रृङ्गार रस का एक भाव बताया। काव्य में ओज, प्रसाद और माधुर्य, तीन गुण कहे गये हैं जिनमें माधुर्य का क्षेत्र श्रृङ्गार, करुण और शान्त है। भक्ति शास्त्र में मधुर को स्वतन्त्र और पूर्णरूप से रस माना है। आचार्य रूप गोस्वामी भक्ति के सन्दर्भ में मधुर रस का विवेचन करते हुए कहते हैं कि आत्मोचित विभावों से मधुरा रति जब सज्जनों के हृदय में पुष्ट होती है, तो उसे मधुर रस कहते हैं—

आत्मोचित विभावाद्यैः पुष्टिं नीता सतां हृदि।
मधुराख्या भवेद्भक्ति रसोऽसौ मधुरा रतिः।

इस प्रकार हम देखते हैं कि लौकिक पक्ष में श्रृङ्गार रस का मधुर भाव पारमार्थिक पक्ष में भक्ति के माध्यम से साक्षात् रसरूप में प्रतिष्ठित होता है। लोकपक्ष में जो प्रेम पति या उपपति भाव से किया जाता है, भक्ति पक्ष में उसका अवलम्बन व्यक्ति न होकर ईश्वर या उसका रूप होता है। यही कारण है कि श्रेष्ठ कवियों और भक्तों ने इसे अपनी वाणी और अन्तस् का विषय बनाया। सूरदास भक्त पहले हैं, कवि बाद में। यद्यपि उनका काव्य भक्ति का अनुगामी है, किन्तु भक्ति या काव्य में से किसी भी कसौटी पर कसने से वह खरा उतरता है। सूरदास की श्रेष्ठता का कारण नन्द-यशोदा, राधा कृष्ण और गोपियों के प्रेम का वात्सल्य और श्रृङ्गार रस के माध्यम से प्रस्तुतीकरण था। यह कहना अप्रासंगिक न होगा कि

वात्सल्य रस का अन्तर्भाव श्रृङ्गार रस के अन्तर्गत ही हो जाता है। पूर्ववर्त्ती आचार्यों ने वात्सल्य रस को स्वतंत्र रस की मान्यता नहीं दी थी। आचार्य हेमचन्द्र और सोमेश्वर ने श्रृङ्गार रस के अन्तर्गत ही इसका समावेश कर दिया। बाद में आचार्य भोज ने इसे आम की तरह मधुर बताकर स्वतंत्र रस माना। इतना साम्य तो स्पष्ट है कि श्रृङ्गार रस की तरह ही वात्सल्य में भी संयोग और वियोग पक्ष होते हैं, अतः माधुर्य भाव के पल्लवित होने का एक उत्कृष्ट क्षेत्र वात्सल्य भी है जिसे विकसित करने में सूर सबसे आगे हैं।

भगवान की बाल एवं प्रेम लीलाओं के वर्णन में सूर की तल्लीनता के कारण यह आक्षेप किया जाता है कि उन्होंने भगवान के लोक-रंजक स्वरूप के वर्णन में रुचि दिखाई और लोक-रक्षक स्वरूप की उपेक्षा की। इस प्रसंग में लोग गोस्वामी तुलसीदास से उनकी तुलना करने लगते हैं, किन्तु वास्तविकता यह है कि सूरदास इस लोक-रक्षक स्वरूप से न तो अनभिज्ञ थे, न इसके वर्णन में अक्षम और न इस स्वरूप के विरोधी। उन्हें ऐसा दाय ही मिला था जो तुलसी के दाय से भिन्न था। उनके साहित्यिक दाय के मुख्य दो स्रोत थे—

१– श्रीमद्भागवत पुराण और २– वल्लभ सम्प्रदाय।

इनसे उन्हें जो कुछ मिला, उसे उन्होंने नये-नये रूपों में पल्लवित किया।

सगुणोपासना में मधुरा भक्ति का सबसे अधिक विकसित स्वरूप भागवत में मिलता है। उपनिषदों के अनुसार परब्रह्म ने पत्नी रूप में स्वयं को विभक्त किया– "एकाकी नारमत आत्मानद्वैधा व्यभजत्। पतिश्च पत्नी चाभवत।" अर्थात्, एकाकी रमण न कर सका। अतः स्वयं को दो भागों में विभक्त किया। पति और पत्नी के रूप में हो गया। "स वै नैव रेमे। तस्मादेकाकी न रमते। स द्वितीयमैच्छत्।" अर्थात्, वह (परमात्मा) रमण न कर सका। क्योंकि अकेले रमण नहीं हो सकता, इसलिए उसने दूसरे की इच्छा की।

माधुर्य भाव का विस्तृत स्वरूप हमें भागवत पुराण में मिलता है। राधा-कृष्ण का स्वरूप ब्रह्म का ही द्वैधा रूप है जो पुष्टि-मार्ग और उसके अनुयायी सूरदास को उत्तराधिकार में मिला था। सूर-सागर का अधिकांश भाग इसी 'युगल-स्वरूप' की लीलाओं से भरा पड़ा है। मृत्यु के अन्तिम क्षणों तक यह स्वरूप सूरदास के हृदय-पटल पर अंकित रहा। कहते हैं, उनके अन्तकाल में भक्तों ने पूछा कि सूर, तुम्हारी वृत्ति इस समय कहाँ है, तो उन्होंने 'युगल-रूप' में अपनी वृत्ति बतायी।

सूरदास में भागवत का अनुसरण इतना अधिक है कि कुछ लोग सूर के पदों को भागवत का अनुवाद तक कह देते हैं। भागवत में भगवान की मधुर विभूतियों का प्राधान्य है। ऐश्वर्य, पराक्रम, शील आदि लोक-रक्षक प्रसंगों को गौण रखा गया है। सूर-साहित्य पर इसका प्रभाव स्पष्ट है। इसी प्रसंग को लेकर भागवत की प्रशंसा में आचार्य रामचन्द्र शुक्ल कहते हैं– "·····भागवत ने कृष्ण की वह मधुर मूर्ति सामने रखी जो प्यार करने योग्य हुई– उस ढंग का प्यार जिस ढंग के प्यार की प्रेरणा से माता-पिता अपने बच्चे को दुलारते-पुचकारते हैं, उस ढंग का प्यार जिस ढंग के प्यार की उमंग में प्रेमिका अपने प्रियतम का ललककर आलिंगन करती है। भागवत ने भगवान को प्यार करने के लिए भक्तों के बीच खड़ा कर दिया।"

भागवत के माधुर्य भाव ने बूढ़ी भक्ति को जवान बना दिया और सूरसागर का माधुर्य यदि बहुत अंशों में भागवत से भी बढ़कर है, तो इसमें सन्देह नहीं कि सूर की माधुर्य भावना ने भक्ति को चिरयौवन प्रदान किया।

सूर की माधुर्य-माला में भागवत की कथा-वस्तु प्रसून के रूप में थी, सूत्र रूप में था उनके गुरु वल्लभाचार्य का पुष्टिमार्गीय सिद्धान्त, जिसमें ये सारे प्रसून पिरोये गये। इसके अतिरिक्त इसमें न जाने और कितने रंग-बिरंगे पल्लव-पुष्प सँजोये गये जो सूर के अपने मानस-उद्यान के थे।

सूरदास ने वल्लभाचार्य से दीक्षा ग्रहण की थी। वल्लभ जी का मार्ग शुद्धाद्वैत पुष्टिमार्ग था। उनका मत था कि जीव ब्रह्म का ही एक अंश है। उसमें ब्रह्म अणु की भाँति इस तरह विद्यमान है जिस तरह सुगन्ध समग्रभाव से वस्तु में भिनी रहती है। लीला-वपुधारी सगुण ब्रह्म माया-रहित शुद्ध है। वह इस लोक में भी पूर्णब्रह्म के रूप में उपास्य है। सगुण सम्प्रदाय की चार प्रकार की मुक्तियों के अतिरिक्त उन्होंने स्वरूपानन्द की पाँचवीं मुक्ति भी बताई जिसमें जीव और ब्रह्म एकाकार हो जाते हैं और उनका अलग अस्तित्व नहीं रह जाता। इस अवस्था में जीव इस लोक में ही जीवन्मुक्त हो जाता है। उसे अलग से किसी मुक्ति की आवश्यकता नहीं। इसका साधन माधुर्य-भाव का प्रेम है जो बहुत कठिन है और विरले लोगों को ही प्राप्त होता है। केवल पुष्टि द्वारा ही यह सम्भव है और भगवान की कृपा ही पुष्टि है—"पोषणं तदनुग्रहः।" अतः पुष्टिमार्ग का साध्य एकमात्र कृष्ण का अनुग्रह है। स्वरूपानन्द द्वारा जीव सद्योमुक्ति प्राप्त कर सकता है। यह पुरुषार्थ द्वारा सम्भव नहीं। ईश्वर की कृपा से मनुष्य के प्रारब्धों का भी शमन हो जाता है। गुरु परम्परा के इस दाय ने भी सूर के मार्ग को तुलसी के मार्ग से पृथक् कर दिया।

माधुर्य के काव्य अथवा भक्ति क्षेत्र में सूर अकेले नहीं हैं। माधुर्य-भाव देश-विदेश के अनेक कवियों और भक्तों की रचनाओं का आधार रहा है किन्तु सूर की कतिपय अपनी विशेषताएँ हैं जिनके कारण वे सबसे पृथक् और विशेष सिद्ध होते हैं।

सूरदास का माधुर्य सूफियों और कैथोलिक ईसाइयों की भाँति रहस्यवाद से सना हुआ माधुर्य भाव नहीं था। कैथोलिक ईसाइयों ने ईश्वर को स्वर्गिक दूल्हा (हिवेनली ब्राइडग्रूम) माना है। सूफियों ने आशिक और माशूक की कल्पना की है। भारत में भी कितने निर्गुणवादी थे जिन्होंने प्रियतम के रूप में अलख जगाया है। कबीर का 'राम रमैया' भी अशरीरी था, किन्तु सूर का ब्रह्म इसी लोक में प्राकृत नरलीला करनेवाला था। यदि वह त्रिगुणातीत भी था, तो भी सूर की सगुणभावना में कोई बाधा न थी। इसीलिए सूर की गोपियाँ कहती हैं—"सूर इते पै गारि कहाँ है जौ पै त्रिगुनातीत।"

माधुर्य भाव के सगुण और निर्गुण उपासकों ने अपने को प्रियतमा या दुलहन के रूप में रखकर परमात्मा से सम्बन्ध जोड़ा। कबीर की आत्मारूपी दुलहन ने अपार खुशियाँ मनाईं। मीरा ने तो गिरिधर नागर को पति के रूप में वरण ही कर लिया था। सखी-भाव में स्त्री को कौन कहे, पुरुष को भी प्रिया के रूप में आना पड़ता है। एक सूर ही ऐसे हैं जिन्होंने भगवान की अपरिमित लीला में स्वयं को पात्र नहीं बनाया।

स्वयं पात्र बनने के लिए सूर के पास पर्याप्त अवसर था। रासलीला में विष्णु के वरदान से श्रुतियाँ और राम के वरदान से अरण्यवासी मुनि गोपीरूप में सम्मिलित थे। वृहद् वामन पुराण के अनुसार भक्त आसुरी और शिवजी ने भी गोपीरूप धारण कर रास में प्रवेश किया। उस रासलीला में जिसमें दो चार नहीं अपितु सोलह सहस्र गोपियाँ थीं, क्या सूर अपना नाता एक गोपी के रूप में नहीं जोड़ सकते थे? परन्तु नहीं सूर ने तटस्थ रहकर दर्शक-भाव से आनन्द लिया। भक्त के रूप में उन्होंने वही परमानन्द प्राप्त किया जो गोपियों को मिला था। सूर का आनन्द रस-रूप में आरोपित था और यही उन्हें अभीष्ट था। कृष्ण के संयोग में जब गोपियाँ आनन्दमग्न होती थीं, तब सूर का हृदय भी तन्मय हो जाता था और वियोग में जब गोपियाँ छटपटाती थीं, तब सूर का मन भी इष्ट के वियोग में व्याकुल हो जाता था।

सूर ने भगवान कृष्ण की जिन लीलाओं में अपना मन गला दिया, वे आज भी अपनी संप्रेषणीयता की तीव्रता से रसिकों का हृदय द्रवित कर देती हैं। ये आज भी अपने क्षेत्र में अनूप हैं। इन लीलाओं में बाल लीला और रासलीला प्रमुख हैं। बाल-माधुर्य के वर्णन में सूर ने मातृ-हृदय की अनुभूतियों का कोई कोना शेष नहीं छोड़ा। इसी प्रकार संयोग और वियोग की जिस पराकाष्ठा तक सूर की गोपियाँ पहुँच जाती हैं, उसकी दूसरा कोई कल्पना भी नहीं कर सकता। दोनों के उदाहरण लें। कृष्ण के संयोग-सुख में गोपियाँ दही का नाम ही भूल जाती हैं और दही की जगह कृष्ण का नाम बेचने लगती हैं—"गोरस को निज नाम भुलायौ। लेहु लेहु कोऊ गोपालहिं, गलिनि गलिनि यह सोर लगायौ॥" जितना ऊँचा प्रेम, उतना ही ऊँचा मान भी होता है। केलि के समय आलिंगन-पाश में बद्ध होने पर भी राधा कृष्ण की छाती पर पड़ी मोतियों की माला में अपना प्रतिबिम्ब देखकर सौत समझ कर मान कर बैठती हैं—

आलिंगन दै अधर दसन खँडि, कर गहि चिबुक उठावत।
नासा सौं नासा लै जोरत, नैंन नैंन परसावत॥
इहि अंतर प्यारी उर निरख्यौ, झझकि भई तब न्यारी।
सूर स्याम मोकौं दिखरावत, उर ल्याए धरि प्यारी॥

गोपियों का विरह भ्रमरगीत के उपालम्भ-काव्य में भरा पड़ा है। गोपियों के पास प्रेम के अवलम्ब के सिवा दूसरा चारा नहीं। उन्हें उनका कृष्ण ब्रज में ही और उसी रूप में चाहिए। वे चार कोस की दूरी पर मथुरा में बसे कृष्ण के पास स्वयं नहीं जा सकतीं। उन्हें अपने प्रेम की शक्ति पर विश्वास है। उनका प्रेम कृष्ण-सखा उद्धव के ज्ञान-रंग को उड़ाकर उनपर प्रेम-रंग चढ़ा देता है। यह प्रेम अपरिमेय है। सूर द्वारा इसका चित्रण अद्वितीय है। सूर की परम्परा में भी कोई इससे आगे न जा सका। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने इसे ही लक्ष्य कर कहा है—"आचार्यों की छाप लगी आठ वीणाएँ श्रीकृष्ण की प्रेम-लीला का कीर्तन करने उठीं, जिनमें सबसे ऊँची, सुरीली और मधुर झनकार अंधे कवि सूरदास की वीणा की थी।"

वस्तुतः ब्रज गोलोक है। भगवान कृष्ण रस हैं। रस की शक्ति राधा है। भावना के कवि और भक्त सूर ने इस लोकोत्तर रस के माधुर्य को अपने हृदय-घट से भर-भर कर इतना विशाल सागर लहरा दिया है जिसका मधुर नाद किसको श्रवण-गोचर नहीं हो रहा। यदि नहीं, तो वह बधिर है, जड़ है, मन्दभाग्य है।

■

भुजा पकरि ठाढ़े हरि कीन्हे।
बाँह मरोरि जाहुगे कैसें, मैं तुम नीकैं चीन्हे॥
माखन चोरी करत रहे तुम, अब भए मन के चोर।
सुनत रही मन चोरत हैं हरि, प्रगट लियौ मन मोर॥
ऐसे ढीठ भए तुम डोलत, निदरे ब्रज की नारि।
'सूर' स्याम मोहूँ निदरौगे, देहुँ प्रेम की गारि॥
सूरसागर २५५०

सूरसागर

डॉक्टर सत्येन्द्र

सूर-सागर सूर के मानस-रत्नों का सागर है, किन्तु उसका भी एक आधार रहा है। वह आधार मुख्यतः 'भागवत' है। स्वयं 'सूर' ने यह कई स्थानों पर स्पष्ट स्वीकार किया है। उदाहरणार्थ स्कंध १, पद २२५ में यह स्वीकृति है :

व्यास कहे सुकदेव सौं द्वादस स्कंध बनाइ।
सूरदास सोई कहे पद भाषा करि गाइ॥

फिर भी 'भागवत' और 'सूर-सागर' की तुलना से यही विदित होता है कि "सूर-सागर के द्वादश स्कन्धों की भागवत के द्वादश स्कन्धों से वस्तुतः आकार में ही विषमता नहीं है, अनुमान में भी उनमें कोई समानता नहीं दिखाई देती। कथा-वस्तु के विवेचन से यह और भी स्पष्ट हो जाता है कि किसी अर्थ में सूर-सागर भागवत का अनुवाद नहीं कहा जा सकता और न सम्पूर्ण भागवत की यथातथ्य कथा कहना ही कवि का उद्देश्य जान पड़ता है।"[1]

अतः विषय की दृष्टि से 'सूर-सागर' के तीन विभाग किये जा सकते हैं—

१. विनयादि।

२. भागवतादि के आधार पर अन्य पौराणिक कथाओं का स्वतन्त्र वर्णन।

३. कृष्णलीला। इस कृष्णलीला में ही कवि ने 'भागवत' से स्वतन्त्र कई नई उद्भावनाएँ की हैं; जैसे—"राधाकृष्ण-मिलन, पनघट का प्रस्ताव, दान-लीला, खण्डिता-समय, मान-लीला, वसन्त और फाग की हिंडोल-लीला।"[2] अनन्य भक्ति की प्रधानता, राधा का महत्त्व, गोपिकाओं का स्वरूप भी सूर ने अपनी प्रतिभा से नये रूप में प्रस्तुत किया है। इसमें सन्देह नहीं है कि इस कवि का मुख्य लक्ष्य सूर-सागर में 'कृष्णलीला वर्णन' है। यही दशम स्कन्ध का विषय है।

'सूर-सागर' के विषय का विस्तृत परिचय 'सूर-सौरभ' के आधार पर संक्षिप्त करके दिया जा सकता है।[3] वह इस प्रकार है :

प्रथम स्कन्ध—इसमें भक्ति की सरस व्याख्या उपलब्ध होती है। विनय एवं भक्ति के पदों की ही प्रधानता है। विनय और भक्ति-सम्बन्धी पदों के अतिरिक्त इस स्कन्ध में श्रीमद्भागवत के निर्माण का प्रयोजन, शुकदेव की उत्पत्ति, व्यास अवतार, महाभारत की कथा का संक्षिप्त परिचय, सूत शौनक संवाद, भीष्म की प्रतिज्ञा, भीष्म का देह-त्याग, श्रीकृष्ण-द्वारिका-गमन, युधिष्ठिर का वैराग्य, पाण्डवों का हिमालय-गमन, परीक्षित का जन्म, ऋषि का शाप, कलियुग को दण्ड देना आदि प्रसंगों का भी भागवत के प्रथम स्कन्ध के अनुसार वर्णन है।

१– सूरदास : व्रजेश्वर वर्मा—पृ० १०३-१०४।

२– सूरदास : व्रजेश्वर वर्मा, पृष्ठ १०६।

३– सूर-सौरभ (तृतीय भाग) : प्रो० मुंशीराम शर्मा, पृष्ठ १४-२०।

द्वितीय स्कन्ध—श्रीमद्भागवत के द्वितीय स्कन्ध की कथा के अनुसार इसमें भी सृष्टि की उत्पत्ति, विराट् पुरुष, चौबीस अवतार, ब्रह्मा की उत्पत्ति, चार श्लोक आदि का वर्णन है। इसके अतिरिक्त इस स्कन्ध के प्रारम्भ में भक्ति-महिमा, सत्संग-महिमा, भक्ति-साधन, आत्म-ज्ञान तथा भगवान् की विराट् रूप में आरती का वर्णन है।

तृतीय स्कन्ध—इसमें भागवत के तृतीय स्कन्ध के अनुसार उद्धव-विदुर-सम्वाद, विदुर को मैत्रेय से भगवान् के बताये हुए ज्ञान की प्राप्ति, सप्तर्षि और चार मनुष्यों की उत्पत्ति, देवासुर-जन्म, वाराह-अवतार, कर्दम-देवहूति का विवाह, कपिल मुनि का अवतार, देवहूति का कपिल से भक्ति सम्बन्धी प्रश्न, भक्ति-महिमा और देवहूति की हरि-पद-प्राप्ति आदि कथाओं का वर्णन है।

चतुर्थ स्कन्ध—यज्ञपुरुष-अवतार, पार्वती-विवाह, ध्रुव-कथा, पृथु-अवतार तथा पुरंजन-आख्यान का वर्णन पाया जाता है।

पंचम स्कन्ध—में ऋषभदेव-अवतार, जड़ भरत की कथा तथा उनका रहूगणों के साथ सम्वाद वर्णित हुआ है।

षष्ठ स्कन्ध—में भागवत के आधार पर अजामिल-उद्धार की कथा, इन्द्र द्वारा बृहस्पति का अपमान, वृत्रासुर का वध, इन्द्र का सिंहासन से च्युत होना, गुरु की महिमा तथा गुरु कृपा से इन्द्र की पुनः सिंहासन-प्राप्ति आदि का वर्णन है।

सप्तम स्कन्ध—में भागवत के आधार पर नृसिंह अवतार का वर्णन किया गया है। परन्तु श्री भगवान् द्वारा शिव की सहायता और नारद की उत्पत्ति की कथाएँ भागवत के इस स्कन्ध में नहीं मिलतीं।

अष्टम स्कन्ध—में गजेन्द्र-मोक्ष, कूर्मावतार, समुद्र-मंथन, विष्णु का मोहिनी रूप धारण करना, वामनावतार तथा मत्स्यावतार का वर्णन है।

नवम स्कन्ध—में श्रीमद्भागवत के नवम स्कन्ध की कथाओं के आधार पर राजा पुरुरवा और उर्वशी का उपाख्यान, च्यवन ऋषि की कथा, हलधर-विवाह, राजा अम्बरीष और सौभरि ऋषि के उपाख्यान, भगीरथ द्वारा गंगा का आनयन, परशुराम-अवतार तथा श्री रामावतार का वर्णन किया गया है। सूर-सागर के इस स्कन्ध में गौतम-अहिल्या का तथा इन्द्र को शाप देने का भी वर्णन है जो भागवत के नवम स्कन्ध में नहीं है। सूर को भगवान् कृष्ण का रूप अधिक प्रिय है। वैसे ही जैसे तुलसी को राम का। पर सूर ने राम-चरित्र का भी हृदय-हारी चरित्र-चित्रण किया है। राम के बाल-रूप-वर्णन में तो, अपनी प्रवृत्ति के अनुकूल, वे तल्लीन हो गए हैं। सीता का विरह-वर्णन भी अद्वितीय है।

दशम स्कन्ध पूर्वार्द्ध—सूर की समस्त कीर्ति का आधार यही स्कन्ध है। सूर के कवित्व की कोमलता, कमनीयता और कला, भगवद्भक्ति, भावुकता और भव्यता, वैलक्षण्य, विलास, व्यंग्य, और विदग्धता, सबका स्रोत यही तो है, जहाँ से भिन्न-भिन्न भाव-धाराएँ फूट-फूटकर सूर-सागर में समाविष्ट होती हैं और उसके नाम को चरितार्थ करती हैं। इस स्कन्ध के पदों की संख्या अन्य सब स्कन्धों के पदों की सम्मिलित संख्या के पाँच गुने से भी अधिक है। भागवत में भी यही स्कन्ध सबसे बड़ा है। इसमें भगवान् कृष्ण की जन्म-लीला, मथुरा से गोकुल आना, छटी, पूतना-वध, शकटासुर और तृणावर्त का वध, नामकरण, अन्नप्राशन, वर्षगाँठ, कर्ण-छेदन, घुटनों के बल चलना, बाल-वेश, चन्द्र-प्रस्ताव, कलेवा, माटी खाना, माखन-चोरी, गो-दोहन, वत्स-बक-अघासुर वध, ब्रह्मा द्वारा गोवत्स-हरण, राधाकृष्ण का प्रथम साक्षात्, क्रीड़ा, राधा का श्याम के घर जाना, श्याम का राधा के घर जाना, गो-चारण, धेनुक-वध, कालिय-दमन, दावानल-पान, प्रलम्ब-वध, मुरली, चीर-हरण, पनघट, गोवर्धन-पूजा, दान-लीला, नेत्र-वर्णन, रास-लीला, राधाकृष्ण का विवाह, मान-लीला, हिंडोल-लीला, वृषभ-केशी-भौमासुर-वध, होरी-लीला,

श्रीकृष्ण का अक्रूर के साथ मथुरा जाना, मुष्टिक चाणूर-वध, कंस-वध, उग्रसेन को सिंहासनासीन करना, वसुदेव-देवकी के दर्शन करना, यज्ञोपवीत, कृष्ण का कुब्जा के घर जाना आदि अतीव मनोहर और हृदयाकर्षक प्रसंगों का वर्णन है इसमें सूर की जितनी रुचि रमी है उतनी अन्यत्र नहीं। प्रेम ही सूर का प्रधान क्षेत्र था, और उसके सभी रूपों का जितना विस्तृत और सुन्दर वर्णन सूर-सागर में है उतना और कहीं नहीं।

दशम स्कन्ध उत्तरार्द्ध—दशम स्कन्ध के उत्तरार्द्ध में जरासंध से युद्ध, द्वारिका-निर्माण, कालयवन-दहन, मुचकुन्द का उद्धार, द्वारिका-प्रवेश, रुक्मिणी-हरण, प्रद्युम्न-विवाह, उषा-अनिरुद्ध-विवाह, नृगराज का उद्धार, बलराम का व्रज-गमन, सांब-विवाह, कृष्ण का हस्तिनापुर जाना, जरासंध-वध, शिशुपाल-वध, शाल्व का द्वारिका पर आक्रमण, शाल्व-वध, दन्त-वक्र और वल्वल का वध, सुदामा-दारिद्र्य-भंजन, कुरुक्षेत्र में आगमन और नन्द-यशोदा तथा गोपियों से मिलन, वेद-स्तुति, नारद-स्तुति, सुभद्रा-अर्जुन का विवाह, भस्मासुर-वध, भृगु-परीक्षा आदि विषयों का वर्णन है, जो भागवत के ही अनुसार है।

एकादश स्कन्ध—इसमें श्रीकृष्ण का उद्धव को बदरिकाश्रम भेजने का, नारायणावतार तथा हंसावतार का वर्णन है।

द्वादश स्कन्ध—इसमें बौद्धावतार, कल्कि-अवतार तथा राजा परीक्षित और जनमेजय की कथाएँ हैं। अवतारों का वर्णव भागवत के एकादश स्कन्ध के अनुसार है।

सूरदास का जन्म वैशाख शुक्ल ५ मंगलवार संवत् १५३५ अथवा सन् १४७८ ई० में हुआ। मृत्यु सं० १६४० के लगभग हुई[४], सन् १५८३ ई० में। १०५ वर्ष के इस काल में भारतीय इतिहास की एक शताब्दी व्यतीत हुई और एक नहीं कई परिवर्तन इस काल में हमें दिखाई पड़ते हैं—सूरदास का समय अकबर के राज्य-काल तक आता है। उससे पूर्व की एक शताब्दी बहुत धार्मिक हलचलों और ऐतिहासिक उथल-पुथलों की थी। समस्त युग सामन्तवादी था। छोटे-छोटे राज्य, छोटे-छोटे सामन्त। प्रत्येक राज्य और प्रत्येक सामन्त की अपनी अलग आन-बान-शान। इनमें परस्पर भी युद्ध होते थे, और अब तक, अकबर से पूर्व तक, विदेशी माने जाने वाले दिल्ली के मुसलमानी शासकों से भी युद्ध होते थे। छुट-पुट मुसलमानी राज्य दक्षिण में भी स्थापित हो गए थे। इनमें भी इस युग की सामन्तवादिनी भावना थी। दिल्ली की केन्द्रीय शक्ति मुसलमानी शासन-स्थापन के बाद एक बादशाह के बाद दूसरे के हाथों में प्रायः इतनी जल्दी-जल्दी गई थी, और राजकीय लड़ाइयाँ जहाँ-तहाँ आए दिन इतनी अधिक होती रहती थीं कि साधारण जन न तो उनमें रस ही पाता था, न बल। राजा-बादशाहों के लिए भी यह उचित ही था कि वे प्रजा को पीड़ित न करें—आए दिन यदि प्रजा का विनाश होगा तो राजा के हाथ क्या लगेगा। फलतः प्रजा को भी युद्धों से वैराग्य था, युद्धों से नहीं राजनीति से भी। वे अपने कार्य में व्यस्त रहते, जो भी राजा होता उसे कर देकर अपनी शान्ति वे खरीदते रहे। इस काल की राजनीति-विषयक साधारण जन की भावना वही थी जो मन्थरा ने विरक्त होकर कैकेयी के समक्ष प्रकट की थी :

> कोउ नृप होउ हमहिं का हानी।
> चेरि छाँड़ि अब होब कि रानी॥

राजनीति से विरक्त जनता अपने व्यवहारों में ही मग्न नहीं होती गई, अपने व्यसनों में भी डूबी। व्यसन था धर्म, और यह व्यसन इस युग में जीवन और व्यवहार का मुख्याधार बन गया था। राज्य और राजनीति से विरक्त मन के लिए ही धर्म आधार नहीं था, वह तो राज्य और राजनीति से भी गहराई के साथ चिपक गया था। राज्य और राजनीति से चिपके इसी धर्म का अत्याचार प्रजा और जनता को भोगना पड़ता रहा था, और इस धार्मिक अत्याचार का कोई-न-कोई प्रभाव सूरदास जी ने भी अनुभव

४– सूर-निर्णय, पृष्ठ १०४।

किया ही होगा। यदि इस युग की राजनीति और राज्य धर्म के आवरण से युक्त न होते तो इस काल का ही नहीं, भारत के इतिहास का ही रूप कुछ भिन्न होता, किन्तु ऐसा नहीं हो सका। इसी कारण साधारण जन राजनीति से विरक्त ही नहीं हुआ, विमुख भी हो चला। 'दिल्लीश्वरो वा जगदीश्वरो वा' का नारा बुलन्द भी हुआ, पर वह जम नहीं सका। इसी कारण साधारण जन को अपनी अभाव-पूर्ति के लिए, अपनी राज्य-भक्ति की भावना की तुष्टि के लिए अपने मनोनुकूल राजा की आवश्यकता प्रतीत हुई।

भारतीय प्रजा क्या चाहती थी ? वह चाहती थी अपने लिए राजा, क्योंकि वह राजा में विश्वास करती थी—राजतन्त्र में पली थी, राजतन्त्र का वह युग था।

ऐसा राजा जो उनका प्रतिपालन करे—राजा की सत्ता का इस युग में यही तो प्रधान धर्म था।

ऐसा राजा, जो उन्हें कल्याण का मार्ग बताये—अन्यथा विदेशी मुसलमान शासक भी राजा थे ही, उन्हें यह भी राज्य-भक्ति प्रदान करता।

ऐसा राजा, जिसका पार्थिव वैभव भी महान् हो—राज-कोप का सत्ता के वैभव से इस सामन्तवादी युग में गठ-जोड़ा था।

ऐसा राजा, जो धर्म की धुरी को भी धारण करने वाला हो, क्योंकि मुसलमानी शासन ने धर्म और राजा को मिला दिया था।

ऐसा राजा, जो भगवान् का अंश ही न हो, उनका अवतार ही हो—राजा में भगवान् का अंश होता है, यह तो भारत में वद्धमूल धारणा थी ही, किन्तु इस धारणा से तो वे मुसलमान-शासक को भी अपनी भेंट देते ही थे, पर भगवान् के उस अंश पर अश्रद्धा जो हो रही थी तो भगवान् का अवतार ही उनकी तुष्टि कर सकता था।

राजा ऐसा भी हो जो उनका गुरु हो सके—इस युग में सन्त मत के द्वारा गुरु का महत्त्व बहुत बढ़ा हुआ था—'निगुरा' व्यक्ति हीन दृष्टि से देखा जाता था। कबीर को भी इसी भावना के आगे हारकर गुरु करना पड़ा था।

महाप्रभु वल्लभाचार्य की प्रतिभा ने और गोसाईं विट्ठलनाथ की व्यावहारिक बुद्धि ने इन समस्त आवश्यकताओं की पूर्ति का एक मूर्त रूप 'पुष्टिमार्ग' में खड़ा कर दिया।

महाप्रभु और गोसाईं तथा उनके पुत्र भगवान् के अवतार ही नहीं स्वयं भगवान् हुए।[५] इनके द्वारा त्रिविध भगवान् का सम्वन्व प्रस्तुत हुआ—

१—मूल भगवान्—स्वयं कृष्ण।

२—विग्रह भगवान्—कृष्ण जी की विविध मूर्तियाँ।

३—गुरु भगवान्—वल्लभाचार्यजी तथा गोसाईं जी।[६]

५– "हरि गुण एक रूप नृप जान"। विट्ठलनाथजी के जन्म के समय सूरदास ने यह पद गाया—

श्री वल्लभ दीजै मोहि बधाई।
श्री लक्ष्मन सुत द्विज के राजा, कीजै कहा बड़ाई।
बहुरि कृष्ण अवतार लियौ है, सदन तुम्हारे आई।
कोटि-कोटि कलि जीव उधारन, प्रगटे श्री जदुराई।
चिरजीवौ अक्काजी कौ सुत, श्री विट्ठल सुखदाई।
गिरिधरलाल कौ ढाढ़ी कहावें, 'सूरदास' बलि जाई।

६– सूरदास ने सेवा-विधि का उल्लेख जिस पद में किया है, उसमें इस एकसूत्रता का स्पष्ट आभास है—

भजो गोपाल भूलि जिन चीवौ,
मनुषा देह कौ यहि है ल्हावौ।

इनमें राज्य-वैभव की प्रतिष्ठा भी बड़ी युक्ति से की गई। भगवान् के विग्रह को 'ठाकुर' कहा गया। 'ठाकुर' इस युग में राजा के लिए ही प्रयोग में आता था। सूरदास जी ने भगवान् को ठाकुर बताकर उनके राज्य-शासन का ही उल्लेख रूपक से किया है।[७] वल्लभाचार्य तथा गोस्वामी विठ्ठलनाथ जी ने ठाकुर जी की सेवा के विधान में पूर्ण राजसी वैभव का समावेश किया। ठाकुर जी के विविध वर्णन राजसिक वैभव और ऐश्वर्य को प्रकट करते हैं। मणि, मोती, हीरा, मूँगा, स्वर्ण से कम का उल्लेख तो हुआ ही नहीं। और यह वर्णन काल्पनिक नहीं यथार्थ था, क्योंकि वल्लभ-सम्प्रदायों के मन्दिरों में वह उपलब्ध था।

इस विधि के राजनीतिक राज्य-विधान के अन्तर्गत एक धार्मिक राज्य-विधान इस युग में खड़ा हो गया। धार्मिक और स्वेच्छा पर निर्भर करने वाला होकर यह मन में गहरा प्रभाव प्रस्तुत करने वाला था—इसी ने भक्तजनों को 'तन मन धन सब गुसाईं जी के अर्पण' करने को बाध्य किया।

इस पृष्ठभूमि पर सूर-सागर बना और इस सबकी झिलमिलाहट सूर-सागर में विद्यमान मिलती है। सूर-सागर के काव्य के विश्लेषण से हमें उसमें तीन तत्त्व मिलते हैं—

१—पुराण-कथा, २—वर्णन-वैभव, ३—भाव-सम्पत्ति।

इसमें 'पुराण-कथा' तो भागवत के अनुसार है, जैसा ऊपर कहा जा चुका है, अतः उसका सम्बन्ध मुख्यतः मूल कृष्ण से है—वह कृष्ण जो परम तत्त्व हैं और जिनके अवतार वल्लभ और विट्ठल हैं। पर उसमें जो वर्णन-विस्तार, विशदता और राजसिकता है, वह मन्दिरों और आचार्य गु..ओं के वैभव के आधार पर है। भगवान् के रूप की और श्रृङ्गार की कल्पना में पौराणिक श्रृङ्गार के बीज के साथ विस्तार उस श्रृङ्गार का है जो प्रतिदिन मन्दिर में ठाकुरजी का किया जाता था। वार्ता में स्पष्ट है कि सूरदासजी अपने कीर्तनों में जैसा श्रृङ्गार ठाकुरजी का होता था, वैसा ही वर्णन करते थे।[८] इस कथा और वर्णन-वैभव के साथ 'भाव-सम्पत्ति' का बड़ा मनोरम समागम है। यह भाव-सम्पत्ति आचार्य और गोसाइयों के प्रति भक्ति की प्रेरणा से प्रभावित थी। स्वयं सूरदास ने अपनी भाव-सम्पत्ति की कुञ्जी एक पद में दी है, उसकी पुष्टि और व्याख्या 'वार्ता' से भी होती है कि सूरदास की रचना का मूल मर्म महाप्रभु वल्लभाचार्य की भक्ति ही थी।[९] यह व्यक्तिगत धरातल पर इतनी गहरी थी कि सूर की कृष्ण-लीला के मौलिक वर्णनों

६(क्रमशः)— गुरु-सेवा करि भक्ति कमाई····
उठिकै प्रात गुरन सिर नावैं
प्रात समै श्रीकृष्ण ही ध्यावैं····
जो ठाकुर को करे प्रनाम····
सेवा की यह अद्भुत रीति
श्री विट्ठलेश सी राखै प्रीति····आदि।

७— हरि सौं ठाकुर और न जन कौ।
× × ×
हरि के जन की अति ठकुराई। आदि

८— देखिए प्राचीन वार्ता रहस्य में सूरदास की वार्ता का 'वार्ता प्रसंग ६'—"ये तीनों भाई कहे जो—ये सूरदास जी, जैसा श्रृङ्गार नवनीत-प्रिया जी को होत है, तैसे ही वस्त्र-आभूषण वरणन करत हैं।"—पृष्ठ ३०।

९— वार्ता प्रसंग यों है—"सो ता समय सगरे वैष्णव श्री गुसाईं जी के पास ठाड़े हते। उनमें से चत्रभुजदास ने कह्यौ जो—सूरदास जी परम भगवदीय हैं, और सूरदास जी ने श्री ठाकुर जी के लक्षावधि पद किये हैं, परन्तु सूरदास जी ने श्री आचार्य जी महाप्रभुन को जस बरनन नांही कियो।

में वात्सल्य के चित्र जैसे विट्ठलनाथ के ही बाल-जीवन के चित्र प्रतीत होने लगते हैं। इस गोवर्द्धनधारी के ढाढी-कीर्तनियाँ सूर के इन वात्सल्य वर्णनों में जो तन्मयता और भक्ति है, और काव्य-वस्तु की जो यथार्थता है, वह उनके किसी अन्य वर्णन में नहीं है। इसी कारण सूर के सूर-सागर में काव्य-वृत्ति का विकास कुछ इस प्रकार सिद्ध होता हुआ दिखाई पड़ता है :

यथार्थ-स्तर—	भावमय स्तर—	बौद्धिक स्तर
भाव-तन्मयता	भाव-माधुर्य	भाव-समृद्धि
वात्सल्य	संयोग	वियोग

सूरसागर का समस्त काव्य वात्सल्य तथा श्रृङ्गार-रस से युक्त है। इन रसों की क्रमशः स्थिति उपर्युक्त विधि से ही है : वात्सल्य, उसके उपरान्त संयोग-शृंगार तदनन्तर वियोग। वात्सल्य में कृष्ण की बाल-क्रीड़ाएँ हैं जिनमें भक्ति की भाव-संयोजना के साथ बालक के मानसिक विकास का सूत्र भी परिलक्षित होता है। इस वात्सल्य के यथार्थ में आरम्भ से ही गोपियों के प्रेम का अवलम्ब दृष्टिगत होता है। पहले यह गोपी-कृष्ण-प्रेम अत्यन्त साधारण धरातल पर है—गोपियाँ कृष्ण को चाहती हैं, कृष्ण गोपियों के घर में घुसकर उपद्रव करते हैं, माखन चुराते हैं। कृष्ण इस समय बालक ही हैं किन्तु गोपियों का कृष्ण पर प्रेम यशोदा के प्रेम से भिन्न प्रतीत होता है। यह प्रेम कुछ विकसित होते ही 'राधा' सामने आ जाती है और गोपियों के प्रेम की पृष्ठभूमि पर ही राधा-कृष्ण के प्रेम की लीला होने लगती है। इसकी चरम परिणति रास में होती है, तभी 'वियोग' हो जाता है इस वियोग का चरमोत्कर्ष 'भ्रमर-गीत' में होता है। वात्सल्य में भावतन्मयता है, कृष्ण की बाल-लीलाओं के अवलम्ब के साथ। संयोग में भाव-माधुर्य है—वयःसन्धि और अंकुरित यौवन के साथ मुरली और रास का इस संयोग में विशेष स्थान है। इन सबमें भाव का ही अस्तित्व प्रधान है। इस काल की क्रीड़ाओं में किसी का भी अवलम्ब यथार्थ नहीं, प्रत्येक यथार्थ के संकेत में शृंगारिक कल्पना से भावोद्रेक होता है जिसमें मधु और माधुर्य है—जिसमें गोपी-कृष्ण और राधा-कृष्ण दोनों ही महकते हैं—तब वियोग में यह भाव-मुग्धता तो कम हो जाती है, बौद्धिक पक्ष प्रबल हो उठता है। बौद्धिक होकर गोपियाँ अपने प्रेम-उन्माद के लिए युक्तियों तथा तर्कों का भी सहारा लेती हैं।

इस विश्लेषण से सूर के काव्य के तन्तुओं का परिचय मिल जाता है। किन्तु सूर का काव्य इन तन्तुओं से निर्मित होते हुए भी, इन्हीं में नहीं है। इन तन्तुओं को जो मानव-कल्याण की महत् भावना अभिमण्डित किये हुए है, वह न समय की परिधि से घिरी हुई है, न सम्प्रदाय की सीमाओं से। मानव में उसके शारीरिक सौन्दर्य की पूर्ण प्रतिष्ठा के साथ मानसिक मुग्धता अवतीर्ण करते हुए आध्यात्मिक उपलब्धि इस काव्य के द्वारा सम्पन्न होती है।

यह सुनि के सूरदास जी कहे जो—मैं तो सगरो जस श्री आचार्य जी को ही बरनन कियो है। जो मैं कछु न्यारो देखतो तो न्यारो करतो। परि तैंनें मोसों पूछी है, सो मैं तेरे पास कहत हौं, सो या कीर्तन के अनुसार सगरे कीर्तन जानियो सो पद राग विहाभरी—भरोसो इन दृढ़ चरणन केरो। प्राचीन वार्ता रहस्य—पृ० ५२।



सूरसागर और प्राकृत अपभ्रंश का कृष्णकाव्य

डॉक्टर मान्धाता राय

महाकवि सूरदास की अमर कृति 'सूरसागर' को 'भागवत' का अनुवाद और छायानुवाद कहा जाता है। कुछ सहृदय समीक्षकों ने अनुवाद के स्थान पर प्रभाव की वात स्वीकार की है। कुछ अन्य कथाओं को, जिनमें राधा सम्वन्धी पूरी लीला है, पहले तो मौलिक कहा गया, फिर उनका सम्वन्ध 'ब्रह्मवैवर्त पुराण' और प्राकृत-अपभ्रंश के ग्रंथों से जोड़ा गया। किन्तु सही कहा जाये तो सांस्कृतिक वर्णन, कथानक रूढ़ियों, लोकतत्त्वों के समावेश आदि की दृष्टि से सूरसागर का जितना निकट संवंध प्राकृत-अपभ्रंश साहित्य से है, उतना संस्कृत ग्रंथों से नहीं। अनेक पदों में सीधे-सीधे अनुवाद का स्वर मिलता है। प्रेम, श्रृंगार, वाललीला, रास, फागु जैसे प्रसंगों पर इस साहित्य का प्रभाव स्पष्ट है। इस पर विचार किये विना 'सूरसागर' का सही मूल्यांकन सम्भव नहीं होगा।

'सूरसागर' को प्रेम का सागर कहा गया है। इसमें माता, पुत्र, प्रेमी, प्रिया, पत्नी, सखा आदि के प्रेम का विवेचन हुआ है। सूरसागर का यह प्रेम-वर्णन 'गाथा सप्तशती' के प्रेम-वर्णन की अगली कड़ी के रूप में है जो 'वज्जालग्ग', हेमचन्द्र कृत प्राकृत व्याकरण और विद्यापति से होकर आया है। पाँचवी शती के ग्रन्थ 'वज्जालग्ग' में राधा-कृष्ण एवं गोपी-कृष्ण के प्रेमवर्णन के अतिरिक्त 'प्रेमवज्जा' शीर्षक में प्रेम के विविध रूपों का वर्णन हुआ है। 'गाथा सप्तशती' की नायिका के सौन्दर्य का वखान करती हुई दूती एक अंग की छवि पर ध्यान केन्द्रित रह जाने की वात कहती है —

> जस्स जहं विअ पढमं, तिस्सा अंगम्मि णिवडिमा दिट्ठी।
> तस्स तहिं चेअठिया सव्वंगं केणवि ण दिट्ठं॥ (३।३४)

(उसके जिस किसी भी अंग पर जिसकी भी दृष्टि पड़ी, उसकी दृष्टि वहीं रह गई, पूरा शरीर कोई न देख पाया।)

यही वात 'सूरसागर' में रावा कहती हैं—

> मैं तो एक अंग अवलोकति, दोऊ नैन गए भरि पानी।
> कुंडल-झलक कपोलनि-आभा मैं तो इतनेहि माँझ विकानी॥ (२४००)

'वज्जालग्ग' की गोपियाँ कृष्ण-प्रेम में उन्मत्त होकर सिर पर दही लिए कृष्ण-कृष्ण चिल्लाती हैं—

> ववलं ववलच्छीए महुरं महुराउरीइ माज्झम्मि।
> तक्कं विक्कंतीए कण्हो कण्होत्ति वाहरिओ॥ (५९७)

(सुन्दर धवल आँखोंवाली गोपियाँ श्वेत दही लिए मथुरापुरी के मध्य में बेचते समय अत्यन्त मुग्ध होकर कृष्ण-कृष्ण कह उठीं।)

'सूरसागर' के दानलीला-प्रसंग में गोपियाँ पूर्ण नेह प्रकट होने पर गलियों में सिर पर दही की मटकी लेकर घूमते समय श्याम-श्याम चिल्लाती हैं—

सिरकौं भार सुरति नहिं आवति स्याम स्याम टेरत भइ भोरी।
घर घर फिरति गुपालहिं बेचति मगन भई मन ग्वारि किसोरी ॥ (२२६१)

सूरदास को शृंगार का रस-राजत्व दिखानेवाला कहा गया है। इस परंपरा का आरंभ भी 'गाथा सप्तशती' से हुआ है। वहाँ भक्ति का आवरण न होकर लौकिक शृंगार का उल्लेख है। 'वज्जालग्ग' की विशाखा वस्तुतः राधा ही हैं। पुष्पदंत के महापुराण में कृष्ण के मथानी तोड़ने, भाँड़ फोड़ने और गोपियों द्वारा आलिंगन माँगने का वर्णन मिलता है। 'गाथा सप्तशती' में कृष्ण को विष्णु का अवतार बताकर उनकी लौकिक एवं अलौकिक लीलाओं का समन्वय किया गया है। 'प्राकृत-पैंगलम्' के एक ही पद में उनके लोकरक्षक अवतारी रूप और लोकरंजक प्रेमी रूप का समन्वय हुआ है। 'वज्जालग्ग' के कृष्ण प्रेमवश गोपियों के पैर पड़ते हैं—

तिहुयण णमिओ वि हरी निवडइ गोवालियाइ चलणेसु।
सच्चं चिय नेहणिरंधलेहि दोसा न दीसंति ॥ (५९३)

(जिनके चरणों में त्रिभुवन नत होता है, वे हरि गोपिकाओं के चरणों में नत होते हैं। सच ही कहा है, नेह अन्धा होता है। उसमें दोष नहीं दिखाई पड़ता।) फागु के अवसर पर सूरदास की गोपियाँ कृष्ण को पकड़ कर राधा के पाँव पड़ने को कहती हैं—

अब हम दाउँ आपनौ लैहैं पाइ परौ राधा गोरी की। (३४९१)

हेमचन्द्र के प्राकृत-व्याकरण की नायिका प्रवास के समय हृदय के तड़ से फटने की बात कहती है। सूर की राधा सखियों द्वारा कृष्ण को भला बुरा कहे जाने पर अपने हृदय के फटने की बात कहकर स्वयं को दोषी मानती हैं। 'गाथा सप्तशती' की नायिका प्रियतम की माला को निर्गन्धता के बावजूद, स्मृति ताजी रखने के लिए धारण किये रहती है। सूर की वृषभानुकुमारी स्मृति बनाये रखने के लिए 'हरिस्रम जल' से भीगी साड़ी को धुलाती नहीं हैं। 'कुमारपाल प्रतिबोध' में नायक-नायिका के रंग की तुलना मरकत मणि और सुवर्ण से की गयी है। सूर ने भी कृष्ण और राधा के क्रमशः ये ही रंग बताये हैं—

यौं लपटाइ रहे उर उर ज्यौं मरकत मनि कंचन में जरिया।

हेमचन्द्र के प्राकृत व्याकरण में नायिका पपीहा की बोली सुनकर कभी संवेदना और कभी खीज व्यक्त करती है—

बप्पीहा पिउ पिउ भणवि कित्तउ रुअहि हयासि।
तुह जलि महु पुणु वल्लहइ बिहुँविण पूरिअ आस ॥
बप्पीहा कइँ बोल्लि एण निग्घिण बारइ बार।
सायरि भरिअइ विमल जलि लहहि न एक्कइ धार ॥

(हे पपीहा, तू पी-पी बोलकर हताश कितना रोएगा ? जल के विषय में तेरी और वल्लभ के विषय में मेरी—दोनों की आशा पूरी न होगी। हे पपीहा, हे निर्दय ! बारम्बार बोलने से क्या लाभ ? विमल जल से सागर के भरे रहने पर भी तू एक भी धार न पायेगा।)

यही बात सूर की गोपियाँ व्यक्त करती हैं—

वहुत दिन जीवौ पपिहा प्यारौ।
वासर रैनि नाम लै वोलति, भयौ विरह जुर कारौ।
आपु दुखित पर दुखित जानि जिय, चातक नाम तुम्हारौ ॥ (३९५६)

× × ×   × × ×

(हौं तो मोहन के) विरह जरी रे तू कत जारत।
रे पापी तू पंख पपीहा, पिय पिय करि अधराति पुकारत।
सव जग सुखी दुखी तू जल विनु, तऊ न उर की व्यथा विचारत ॥ (३९५७)

पुष्पदंत के कृष्ण धूल-धूसरित रूप में आँगन में दौड़ लगाते हैं। सूर के कृष्ण भी घुटुरुवनि रेंगते समय धूल-धूसरित हैं। पुष्पदंत के कृष्ण आँगन में घूमते समय अपने प्रतिविम्व को वुलाते हैं—

घय भायणि अवलोइवि भावइ।
णिय पडिविंवु विट्ठु वोल्लावइ ॥ (महापुराण ३, संधि ३५।७)

सूर ने इसी भाव को अनेक पदों में गाया है—

मनिमय कनक नंद कैं आँगन विंव पकरिवैं धावत।
कवहुँ निरखि हरि आपु छाँह कौं कर सौं पकरन चाहत ॥ (७२८)

इसी प्रकार मथानी तोड़ने, भाँड फोड़ने, आधी विलोई दही पलटने का वर्णन भी दोनों कवियों ने किया है। यमुना-तट की क्रीड़ाओं के वर्णन में 'सूरसागर' पर पुष्पदंत की छाप है।

गोपियों के उलाहना देने पर 'गाथा सप्तशती' की यशोदा अपने कान्ह को वालक कहकर उन्हें डाँटती हैं। निरुत्तर गोपियाँ कृष्ण के मुख पर दृष्टि डालकर हँस देती हैं—

अज्जवि वालो दामोदरेत्ति इअ जम्पिए ज सेआए।
कण्ह मुहपेसिअच्छणिहुअ हसिअं वअवहूहिं ॥

(दामोदर आज भी वालक है, यशोदा के ऐसा कहने पर कृष्ण के मुख की ओर देखकर व्रजवधुएँ हँस पड़ीं।) सूर की यशोदा भी गोपियों को डाँटती हुई कहती हैं—

इनहीं कौं अपराध लगावति कहा फिरति इतराती।

....

सूर स्याम मेरौ माखन भोगी तुम आवति वेकाज ॥ (१३९३)

× × ×   × × ×

यह वानी कहतहीं लजानी समुझ भई जिय ओर।
सूर स्याम मुख निरखि चली घर आँनद लोचन लोर ॥ (१३९४)

'सूरसागर' में राधा को ह्लादिनीशक्ति कहा गया है। 'वज्जालग्ग' में राधा के कपोल की छाया पड़ने से कृष्ण के धवल (प्रसन्न) होने का वर्णन हुआ है। इसी प्रकार 'सूरसागर' के दानलीला, चीरहरण एवं पनघटलीला के संकेत 'गाथासप्तशती' और 'महापुराण' में मिलते हैं।

'सूरसागर' के कथाभिप्रायों में से अधिकांश प्राकृत-अपभ्रंश साहित्य से आये हैं। इनमें रूप-गुण-श्रवणजन्य प्रेम, प्रेमी की प्राप्ति के लिए पूजा, व्रत एवं उपासना, एकान्त में मिलन, रूप-परिवर्तन, लौटने का वादा, प्रकृति-वर्णन के सहारे उपालंभ, सन्देह, तंत्र-मंत्र एवं ज्योतिष का उल्लेख मुख्य है। 'वज्जालग्ग' के राधा-कृष्ण प्रेम करने के पूर्व एक दूसरे को जानते हैं। सूर की राधा नन्द के ढोटा के माखन-दधि-चोरी

की वात पहले से जानती हैं। सूर की गोपियाँ कृष्ण को पतिरूप में पाने के लिए शिव एवं रवि की विनती करती हैं। 'गाथा सप्तशती' में नायिका द्वारा सूर्य एवं गणपति की पूजा करने का उल्लेख हुआ है। सूर के राधा-कृष्ण कुंजों में मिलते हैं। 'गाथा सप्तशती' में प्रेमीजन नदी के किनारे कुंजों एवं जीर्ण-शीर्ण मंदिरों में मिलते हैं। 'गाथा सप्तशती' में मंत्र-तंत्र का वर्णन हुआ है। 'सूरसागर' के गारुड़ी प्रसंग में कृष्ण द्वारा राधा को झाड़-फूँककर स्वस्थ करने का वर्णन मिलता है।

कथा-विन्यास की दृष्टि से सबसे महत्त्वपूर्ण साम्य कृष्ण-कथा के मुक्तक एवं प्रवन्ध के सम्मिलित रूप में लिखे जाने में है। प्राकृत-अपभ्रंश में कृष्ण-कथा मुक्तक एवं प्रवन्ध, दोनों रूपों में लिखी गयी है। सूरदास ने इन दोनों का समन्वय किया है। एक ओर उसमें मुक्तक की सरसता, प्रसंग-कल्पना, समासशक्ति और गेयता है, तो दूसरी ओर प्रवन्ध के अनुरूप कथात्मकता, तारतम्य और विविध विषयों का समावेश है।

कथानक रूढ़ियों की दृष्टि से भी 'सूरसागर' और प्राकृत-अपभ्रंश के कृष्ण-काव्य में वहुत साम्य है। 'महापुराण.' के तृतीय खंड का आरम्भ गुरुवन्दना से हुआ है। 'वज्जालग्ग' के 'कण्हवज्जा' शीर्षक में कृष्ण को नमन किया गया है। 'सूरसागर' के दशम स्कंध के आरंभ में हरि-चरणों में सीस नवा कर कथा कहने की वात कही गयी है। 'महापुराण' और 'प्राकृत-पैंगलम्' में शिव और विष्णु को एक वताकर समन्वय किया गया है। 'सूरसागर' में कृष्ण और शिव की एकता दिखाई गयी है। 'वज्जालग्ग' की गोपियाँ पथिक से संदेश भेजकर चीरहरण की घटना का उल्लेख करके कृष्ण को प्रणय की याद दिलाती हैं। 'सूरसागर' की गोपियाँ वचपन की क्रीड़ा और गाय-गोसुत की याद दिलाकर कृष्ण को वुलाती हैं। गोपियों के संदेश में अन्योक्ति का प्रभाव अपभ्रंश साहित्य की देन है। सूर के विरह-वर्णन में वारहमासा अपभ्रंश साहित्य के प्रभाव से आया है। 'सप्तशती' की विरहिणी उँगलियों पर गिन-गिन कर दिन विताती है और घवराकर एक ही दिन में कई रेखाएँ खींच डालती है। सूर की गोपियाँ भी नख से चिह्न वनाकर दिन गिनती हैं।

काव्यरूपों की दृष्टि से भी 'सूरसागर' प्राकृत-अपभ्रंश साहित्य से अधिक प्रभावित है। सूरदास ने प्रत्येक पद के पूर्व रागों का उल्लेख किया है जिनका आरंभ सिद्धों ने किया था। दोहा-चौपाई की परिपाटी अपभ्रंश की कड़वकवद्ध शैली की देन है। पुष्पदंत और स्वयंभू इसके प्रवर्तक थे। सूर के गारुड़ी प्रसंग से सम्वद्ध विप्रलंभ काव्यरूप 'वज्जालग्ग' से प्रभावित है। फागु-वर्णन 'गाथा सप्तशती' में तथा वसंत-वर्णन 'वज्जालग्ग' में मिलता है। 'सूरसागर' में फागु एवं वसंत, दोनों का वर्णन हुआ है। लीलापदों के गायन की परंपरा लोकजीवन से उद्भूत होकर गाथा सप्तशती, वज्जालग्ग एवं विद्यापति से होकर सूर तक पहुँची है। अपभ्रंश कवियों का शौरसेनी अपभ्रंश ही पिंगल और व्रजवुलि के परिवर्तित रूप में आगे चलकर व्रजभाषा वना। इसे ही संगीतज्ञ कवियों ने स्वर-लहरी का पुट देकर मधुर वनाया। व्रजभाषा के सर्वनाम और क्रियापदों में अधिकांश अपभ्रंश की देन हैं।

'सूरसागर' में वर्णित लोक-संस्कृति एवं घोषजीवन की रंगीनी पर इन ग्रंथों का पर्याप्त प्रभाव है। 'गाथा सप्तशती' में विवाह के अवसर पर हल्दी-तेल मलने एवं मंगल-गीत गाने का वर्णन हुआ है। 'सूरसागर' में भी कृष्ण के विभिन्न संस्कारों के अवसर पर हल्दी-तेल लगाने एवं गीत गाने का वर्णन है। सूर की राधा कुंज में फूलों की शय्या तैयार करती हैं एवं फूलों का आभूषण पहनती हैं। 'गाथा सप्तशती' की नायिका भी फूलों के गहने पहनती है और अपने केश में पुष्प लगाती है। हेमचन्द्र कृत प्राकृत व्याकरण में नायक को अन्य के साथ अनुरक्त देखकर नायिका के मान करने, वर्षा एवं तूफान के समय पर्वतों में शरण लेने एवं सगुन उचारने के लिए कौआ उड़ाने का उल्लेख मिलता है। 'प्राकृत पैंगलम्' में प्रेमीजनों के वीच खुले हास-परिहास का वर्णन हुआ है। 'गाथा सप्तशती' में तत्कालीन समाज के रहन-सहन, खान-पान एवं वस्त्राभूषण का उल्लेख है। 'सूरसागर' में वर्णित घोष-जीवन पर इनका पूरा प्रभाव दीखता है।

'गाथा सप्तशती' में गलियों के मोड़ों, चौराहों एवं चबूतरों पर होली का उत्सव मनाया जाता है। 'सूरसागर' में रंगों की कीच मच जाती है। इस अवसर पर मादक वस्तुओं के सेवन का उल्लेख इन दोनों ग्रंथों में है। गाथा सप्तशती में नायिका के भूत-ग्रस्त होने पर फूँक मारकर उपचार होता है। सूर की राधा को कारे भुजंग के डँसने पर श्याम स्वयं गारुड़ी बनकर फूँक मारकर उसका विष उतारते हैं। 'वज्जालग्ग' में कण्ठ लगने एवं मस्तक चूमने का वर्णन हुआ है। सूरसागर में तिनका तोड़ने, राई-लोन उतारने, कण्ठ लगने और मस्तक चूमने का वर्णन है। आवास-वर्णन के अन्तर्गत फूस की झोपड़ी, देवमंदिर, सरोवर, नदी एवं बगीचों में मिलन का वर्णन दोनों ग्रंथों में हुआ है। 'महापुराण' और 'वज्जालग्ग' में साड़ी और कंचुकी का उल्लेख है। गाथा सप्तशती में कंगन, वलय, कण्ठी, नूपुर पहनने का वर्णन हुआ है। महापुराण में मोर-मुकुट का उल्लेख है। सूरसागर में चूड़ी, वलय, नूपुर, मोर-मुकुट, कण्ठश्री, नई फरिया, चुनरी आदि का उल्लेख हुआ है।

खेल की दृष्टि से भी अनेक समानताएँ मिलती हैं। गाथा सप्तशती में चौपड़, धनुष, वर-वधू के कंगन खेलने, रंग-कीचड़ डालने का वर्णन हुआ है। वज्जालग्ग में रास, दधिविक्रय, आलिंगन एवं चुंबन और महापुराण में छाया को बुलाने और गाय-बछड़ों के बीच कृष्ण के खेलने का वर्णन है। सूरसागर में नाचने, मथानी पकड़ने, चोरी करने, झूलन, चौपड़, होली, जलक्रीड़ा आदि का सविस्तार वर्णन है। गाथा सप्तशती में प्रेम, होली, विरह, झूलन, ग्रीष्म एवं शरद ऋतु के गीत हैं। सूर में होली, रास, झूलन ग्रीष्म, पावस, शरद एवं वियोग के गीतों की प्रचुरता है। गाथा सप्तशती में आजीविका का प्रधान साधन पशुपालन बताया गया है। सूर के समाज का भी मुख्य धन्धा पशुपालन और 'गोरस-दधि' बेचना था।

अपर्युक्त विश्लेषण से यह धारणा पुष्ट होती है कि अपनी संपूर्ण मौलिकता एवं विस्तार के बावजूद 'सूरसागर' के लोक-जीवन के चित्रण में प्राकृत-अपभ्रंश साहित्य का पर्याप्त प्रभाव है।

■

मैं तुम्हरे मन की सब जानी।
आपु सबै इतराति फिरति हौ, दूषन देति स्याम कौं आनी॥
मेरौ हरि कहँ दसहिं बरस कौ, तुम री जोवन-मद उमदानी।
लाज नहीं आवति इन लँगरिनि, कैसे धौं कहि आवति बानी॥
आपहिं तोरि हार चोली-बँद, उर नख-घात बनाइ निसानी।
कहाँ कान्ह की तनक अँगुरियाँ, यह कहि बार-बार पछितानी॥
देखहु जाइ और काहू कौं, हरि पर सबहिं रहसि मँडरानी।
सूरदास-प्रभु मेरौ नान्हौ, तुम तरुनी डोलति अठिलानी॥

सूरसागर २१०८

■

सूरसागर और रामचरितमानस का दर्शन साम्य

श्री अमरेन्द्र मिश्र

विपुल भारतीय वाङ्मय के सम्यक् अनुशीलन से यह स्पष्ट हो गया है कि हिन्दी-भक्तिकाव्य-धारा वैदिक ऋषियों के आस्तिक्य-भाव-बोध[1] से प्रस्थान करने वाली भक्ति-भागीरथी का ही स्वाभाविक विकास है। इसे 'मोहम्मदी धर्म का प्रभाव'[2], 'ईसाइयत की देन'[3] या 'इसलामी आक्रमण की प्रतिक्रिया'[4] मानना आधुनिक विद्वानों के शोध की आतुरता, पूर्वाग्रह या अनभिज्ञता के अतिरिक्त और कुछ नहीं।

वैदिक भाव-भूमि से प्रस्थित भक्ति का यह पावन प्रवाह काल, पात्र और देशजन्य व्यवधानों के कारण कभी ब्राह्मणकालीन याज्ञिक अनुष्ठान और आरण्यक-उपनिषद् के निवृत्तिपरायण शुष्क ज्ञान की मरुभूमि में अन्तःसलिल बना, तो कभी सिद्ध-नाथ योगियों के भयानक साधना-शैवाल में प्रच्छन्न-सा हुआ, किन्तु सूखा नहीं। इसकी जीवंतता के अनेक उपलब्ध प्रमाणों में गीता, भागवत, नारद-भक्ति-सूत्र और शांडिल्य-भक्ति-सूत्र के दर्शन होते हैं। गुप्त सम्राटों की ध्वजा पर अंकित विष्णु का वाहन गरुड़ उक्त स्थापना का एक प्रबल आधार है। यही कारण है कि वैदिक ऋषियों के भक्तिपरक उद्‌गार सोलहवीं शती के भक्त कवियों की वाणी में ज्यों के त्यों सुरक्षित हैं। ऋग्वेद का मंत्र है—

त्वं महीमवनिं विश्वधेनाम् तुर्वीतये वैय्याय क्षरंतीम्।
अरमयो नम सैजदर्णः सुतरणां अकृणोः इन्द्र सिन्धून्।[5]

अर्थात् भगवान काम क्रोध आदि शत्रुओं पर विजय प्राप्त करने वाले भक्तों के लिए विशाल पृथ्वी को कामधेनु बना देते हैं, उछलते हुए तूफानी समुद्र को शान्त कर उसे गो के खुर के बराबर कर देते हैं।

१– आ घा गमत् यदि श्रवत् सहस्रणीभिः ऊतिभिः। वाजेभिः उप नो हवम्। ऋ०–१–३०–८। अर्थात्, भक्तों की करुण कातर पुकार से भगवान अपनी सहस्र रक्षा-शक्तियों-सहित हमारी सहायता के लिए उतर आते हैं।

२– डॉ० ताराचन्द– Influence of Islam on Indian culture.

३– (क) वेबर– Indian Antiquity vol. III, V.
(ख) केनेडी—Journal of Royal Asiatic Society, 1907.

४– (क) प्रो० हैवेल—The History of Aryan Rule.
(ख) पं० रामचन्द्र शुक्ल– हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ० ६०।

५– ऋ० ४।१९।६

श्री रामचरितमानस में भी—

गरल सुधा रिपु करइ मिताई। गोपद सिंधु अनल सितलाई॥
गरुड़ सुमेरु रेनु सम ताही। राम कृपा करि चितवत जाही॥

यद्यपि लोकव्यापी वैदिक तत्त्वों का निषाद-संस्कृति के धार्मिक आचार-विचारों के साथ समन्वय का सफल प्रयास महाभारत में हुआ था, भागवत धर्म और महायानी बौद्ध सम्प्रदाय के मध्य मैत्री-स्थापना से संन्यास और गार्हस्थ्य के बीच की खाई पाट दी गयी थी, फिर भी शुष्क तर्क-प्रतिपादित निर्गुण अद्वैत तत्त्व का भार लोकमानस को अस्त-व्यस्त एवं अव्यवस्थित कर रहा था। जन-जीवन दर्शन की मनमानी कतर-ब्योंत से किंकर्तव्यविमूढ़ता, प्रताड़ना-प्रवंचना और निराशा का शिकार बन रहा था। बुद्धि का बाहुल्य था। भावना उपेक्षित थी, ज्ञान का प्राबल्य था, भक्ति कृशकाय थी। फलतः भक्ति को संस्कृति और दर्शन का प्राण मानकर जीनेवाले रामानुज, विष्णु स्वामी, मध्व, निम्बार्क, वल्लभ और रामानन्द प्रभृति भक्त आचार्यों की प्रखर साधना प्रारम्भ हुई और शुष्क वेदान्त से व्यग्र तथा त्रस्त जीवन में भक्ति-भावना का रस उड़ेल दिया गया। भगवान राम और कृष्ण के सगुण साकार रूप की लोक-रंजनकारी व्याख्या करनेवाले उपर्युक्त भक्ताचार्यों द्वारा निर्मित पूर्व-पीठिका पर सारस्वत साधना के युगल नभ-चुम्बी स्तूप के रूप में संत सूर एवं गोस्वामी तुलसी के दर्शन हुए। भारतीय संस्कृति और साधना की विशालता के प्रतीक राम और कृष्ण के शब्द-विग्रह के रूप में 'सूरसागर' और 'रामचरित-मानस' की रचना हुई। आराध्य युग्म के विराट् व्यक्तित्व की मर्यादित मधुर झाँकी के चित्रण के व्याज से वेद-मत, पुराण-मत और संत-मत का समस्त निचोड़ प्रजातांत्रिक शैली में प्रस्तुत कर दिया गया।

सूर-सागर और रामचरित-मानस ऐसे अनर्घ कालजयी महाकाव्य हैं जो लक्षण-शास्त्र की लक्ष्मण-रेखा की चिन्ता नहीं करके भी जन-जीवन में नमक और पानी की तरह संपृक्त हो गये हैं। एक यदि ज्ञान, कर्म और उपासना का मैनाक है तो दूसरा सुमेरु; एक यदि साहित्य-सरोवर का कुमुद है तो दूसरा शतदल; एक यदि साहित्य-वाटिका का पाटल है तो दूसरा पारिजात। एक में यदि सागर की विशा-लता और गंभीरता है तो दूसरे में मानसरोवर की मधुरता और सुस्वादुता।

इतिहास-लेखन के सौकर्य से इन दोनों महाकाव्यों को दो भिन्न काव्य-धाराओं के प्रतिनिधि ग्रंथों के रूप में मान लेना कहाँ तक उचित है, यह तो विद्वान ही बता सकते हैं, किन्तु सागर और मानस में अवगाहन के पश्चात् प्राप्त होनेवाले मोतियों की चमक में जो अद्भुत एकरूपता दृष्टि-गोचर होती है, वह प्रमाणित करती है कि सूर-सागर और मानस की रचना एक ही सत्य की दो प्रतिछवियाँ, एक ही कथ्य की दो अभिव्यक्तियाँ, एक ही स्वरूप की दो अभ्यर्थनाएँ और एक ही लक्ष्य की दो यात्राएँ हैं। साधना के चरम क्षणों में दोनों सारस्वत साधकों ने परम तत्त्व की एक ही झाँकी का अवलोकन किया, अन्तःकरण की पवित्रता और मस्तिष्क की मेधा पर एक ही वस्तु की छाप पड़ी। इसी दृष्टि-समता या भाव-बोध की उभयनिष्ठता ने श्याम रंग में आपाद-चूड़-मग्न सूर के द्वारा श्री रामकी लीला चित्रित करायी और "तुलसी मस्तक तब नवै धनुष बान लेहु हाथ" के हठधर्मी तुलसीदास के द्वारा कृष्ण गीता-वली का गान कराया। युग्म अमर विभूतियों की दर्शनगत समता या चिन्तनजन्य उभयनिष्ठता ही प्रस्तुत प्रतिपादन का मूल विन्दु है।

सूर-सागर में वर्णित विषय के सम्बन्ध में कवि का कथन है—

श्रीमुख चारि श्लोक कियौ, ब्रह्मा कौं समुझाइ।
ब्रह्मा नारद सौं कहे, नारद व्यास सुनाइ।
व्यास कहे सुकदेव सौं, द्वादश स्कंध बनाइ।
सूरदास सोई कहै, पद भाषा करि गाइ।

मानस रचना के सम्बन्ध में गोस्वामी जी का कथन भी इस प्रकार है—

संभु कीन्ह यह चरित सुहावा । बहुरि कृपा करि उमहि सुनावा ।।
सोइ सिव काग भुसुंडिहि दीन्हा । राम भगत अधिकारी चीन्हा ।।
तेहि सन जागवलिक पुनि पावा । तिन्ह पुनि भरद्वाज प्रति गावा ।।

× × ×   × × ×

भाषा बद्ध करवि मैं सोई । मोरे मन प्रवोध जेहि होई ।।

दोनों ग्रन्थों के मंगलाचरण भी ऋग्वेद की निम्नलिखित ऋचा के भावानुवाद से ही प्रारम्भ होते हैं—

अभ्यूर्णोति यन्नग्नं भिषक्ति विश्वं भन्तुरम् ।
प्रेमन्धः रव्यत् निः श्रोणो भूत् । ऋ० ८–७९–२

(अर्थात् प्रभु नंगे और दीन को वस्त्र से आच्छादित करते हैं, व्यथित को ओषधि देते हैं, अंधा उनकी कृपा से देखने लगता है और पंगु में चलने की शक्ति आ जाती है ।)

चरण कमल वन्दौं हरि राई ।
जाकी कृपा पंगु गिरि लंघै, अंधे को सव कुछ दरसाई ।
वहिरो सुनै गूँग पुनि वोलै, रंक चलै सिर छत्र धराई ।। (सूरसागर)
मूक होइ वाचाल, पंगु चढ़इ गिरिवर गहन ।
जासु कृपा सो दयाल, द्रवहु सकल कलिमल दहन ।। (मानस)

यदि सूरसागर के अनुशीलन से व्याकुल हृदय परम सन्तोष प्राप्त करता है—

परम स्वाद सबही जु निरन्तर अमित तोष उपजावै ।

तो मानस का अध्ययन भी विश्राम और सुख प्रदान करने की उद्घोषणा करता है—

राम चरित मानस एहि नामा । सुनत श्रवन पाइहि विश्रामा ।।
मन करि विषय अनल वन जरई । होइ सुखी जौं एहि सर परई ।

सूरसागर के कृष्ण और मानस के राम एक ही उद्देश्य से धराधाम पर अवतरित होते हैं—

गोकुल प्रगट भये हरि आई ।
अमर उधारन असुर सँहारन अंतर्यामी त्रिभुवन राई ।। (सूरसागर)
असुर मारि थापहिं सुरन्ह राखहिं निज श्रुति सेतु ।
जग विस्तारहिं विमल यश, राम जन्म कर हेतु ।। (मानस)

दोनों कवियों की चित्तवृत्ति अपने-अपने आराध्यों के वालरूप में ही रमी हुई दृष्टिगोचर होती है—

आकर मन लाग्यौ नँदलालहिं ताहि और नहिं भावै (हो) । (सूरसागर)
वंदउँ वाल रूप सोइ रामू । सव सिधि सुलभ जपत जिसु नामू । (मानस)

यशोदा और कौशल्या की गोद में खेलनेवाले कृष्ण और राम कवियों की दृष्टि में पूर्ण व्रह्म हैं और सृष्टि के कण-कण में व्याप्त हैं—

आदि सनातन हरि अविनासी । सदा निरन्तर घट घट वासी ।।
पूरन व्रह्म पुरान वखाने । चतुरानन सिव अन्त न जाने ।।
गुणगन अगम निगम नहिं पावै । ताहि जशोदा गोद खेलावै ।। (सूरसागर)
व्यापक व्रह्म निरंजन, निर्गुण विगत विनोद ।
सो अज भगति प्रेमवस, कौसल्या के गोद ।। (मानस)

शिव, ब्रह्मा एवं अन्य देवता तथा मुनियों को दोनों कवियों ने अपने उपास्य का सेवक ठहराया है—

सिव विरंचि सुरपति समेत सब सेवत प्रभु पद चायो। (सूरसागर)
सिव विरंचि सुरमुनि समुदाई। चाहत जासु चरन सेवकाई ।। (मानस)

इतना ही नहीं, दोनों आराध्यों के अवतरण के समय देवताओं की भूमिका भी एक सी रही है—

चढ़ि बिमान सुर देखहीं, गगन रहे भरि छाय।
जय जय ध्वनि नभ करत हैं, हरषि पुहुप बरसाय ।। (सूरसागर)
गगन विमल संकुल सुरजूथा। गावहिं गुन गंधर्व बरूथा ।।
बरसहिं सुमन सुअंजलि साजी। गहगहि गगन दुन्दुभी वाजी ।। (मानस)

अपने शिशु के शरीर में अखिल ब्रह्माण्ड के दर्शन का सौभाग्य यदि यशोदा को प्राप्त होता है तो कौशल्या भी उस सुख से वंचित नहीं रहती है—

बदन उघारि देखायौ त्रिभुवन, बन घन नदी सुमेरु। (सूरसागर)
देखराया मातहिं निज, अद्भुत रूप अखंड।
रोम रोम प्रति लागे कोटि कोटि ब्रह्मण्ड ।। (मानस)

सच्चिदानन्द आनन्दघन के अवतरण से नन्द और दशरथ परिवार में व्याप्त प्रसन्नता के लिए देवगण लालायित रहते हैं—

सूरदास प्रभु जसुमति को सुख, सिव विरंचि नहिं पायो। (सूरसागर)
भाग्य विभव अवधेस कर देखि देखि ब्रह्मादि।
लगे सराहन सहस मुख जानि जनम निज बादि ।। (मानस)

आराध्य की शक्तियों के चित्रण में भी दोनों कवियों ने एक ही दृष्टिकोण का सहारा लिया है। यदि सूर की राधा "अगतन की गति भक्तन की पति श्री राधा पद मंगल दानी, अशरन शरनी भव भय हरनी वेद पुरान बखानी" हैं, तो तुलसी की सीता भी "उद्भव-स्थिति-संहारकारिणीं क्लेश-हारिणीं सर्व-श्रेयस्करीं" हैं।

साथ ही दोनों कवियों की दृष्टि में उनके आराध्य और उनकी शक्तियों में तादात्म्य भी एक सा ही है—

सूर स्याम नागर इह नागरि, एक प्राण तनु द्वै है।
राधा हरि आधा आधा तनु एकै ह्वै द्वै ब्रज मैं अवतरि। (सूरसागर)
गिरा अरथ जल वीचि सम कहियत भिन्न न भिन्न।
बंदउँ सीताराम पद, जिन्हहिं परम प्रिय खिन्न ।। (मानस)

राधा-कृष्ण और सीता-राम का सम्बन्ध मात्र तत्कालीन नहीं, अपितु अनादि और शाश्वत है—

तब नागरि मन हरष भई।
नेह पुरातन जानि स्याम को अति आनन्द भई ।। (सूरसागर)
चली अग्र करि प्रिय सखि सोई। प्रीति पुरातन लखइ न कोई ।। (मानस)

माया विषयक विवेचन में भी दोनों के विचार एक ही हैं। माया के विद्या या करण रूप और अविद्या या व्यामोहिका रूप तथा विद्या माया से जगत् का निर्माण दोनों को मान्य हैं—

अरु यह जगत जदपि हरि रूप है तउ माया कृत जानि। (सूरसागर)
आदि सक्ति जेहि जग उपजाया। सोउ अवतरिहि मोरि यह माया ।। (मानस)

अविद्या माया दोनों कवियों की दृष्टि में जीवात्मा को चक्कर में डालनेवाली और अपार कष्ट देनेवाली है—

तुम्हरी माया महाबली जिन जग वश कीनो।
नैंकु चितै मुसकाइ सबनि को मन हरि लीनो ॥ (सूरसागर)
सो माया बस भयउ गोसाईं। बंध्यो कीट मरकट की नाईं ॥
जड़ चेतनहि ग्रंथि परि गई। जदपि मृषा छूटत कठिनई ॥ (मानस)

साधारण जीव ही नहीं, विशिष्ट आत्माएँ भी इसके चंगुल से नहीं बच पाती हैं—

नारद मगन भयो माया में ज्ञान बुद्धि बल खोयो।
शंकर को चित हर्‌यो कामिनी, सेज छाँड़ि भुवि सोयो ॥ (सूरसागर)
सिव विरंचि को मोहइ, को है बपुरा आन। (मानस)

माया के इस विशाल महानद से पार होने के लिए दोनों कवियों ने एक ही जलयान का नाम लिया है—

बिनु हरि भक्ति मुक्ति नहिं होई। कोटि उपाय करौ किन कोई ॥ (सूरसागर)
वारि मथे बरु होइ घृत सिकता तें बरु तेल।
बिनु हरि भजन न भव तरिअ, यह सिद्धान्त अपेल। (मानस)

दोनों का प्रगाढ़ विश्वास है कि एक पत्ता भी प्रभु की इच्छा के बिना नहीं हिल सकता है—

करी गोपाल की सब होइ।
जो अपनो पुरुषारथ मानत अति झूठो है सोइ। (सूरसागर)
राम करइ चाहै सो होई। करै अन्यथा अस नहिं कोई ॥ (मानस)

इसके अतिरिक्त नाम-प्रेम या नाम-विश्वास में दोनों एकमत हैं, विशेषतः कलिकाल-संतरण के लिए राम-नाम की आवश्यकता पर दोनों ने पूरा बल दिया है—

कलि में राम कहै जो कोई। निश्चय भव जल तरिहै सोई। (सूरसागर)
नहिं कलि करम न भगति बिबेकू। राम नाम अवलम्बन एकू ॥ (मानस)

कृष्णोपासक सूर ने कृष्ण और राम में कोई अन्तर नहीं माना है। सूरसागर में कृष्ण की जगह राम का प्रयोग भी मिलता है—

जय गोविंद माधव मुकुंद हरि। (सूरसागर)
रामचन्द्र राजीव नैन वर। सरन साधु श्रीपति सारंगधर ॥ (सूरसागर)

मानस में भी यदि काल-दोष का अंकुश नहीं होता तो राम की जगह कृष्ण नाम का प्रयोग करने में आकाशधर्मा कवि तुलसी को कोई आपत्ति नहीं होती।

इन साम्यों के अतिरिक्त संत-माहात्म्य, गुरु-महिमा, सत्संग-विवेचन, आत्म-निवेदन, सांसारिक नश्वरता आदि के विवेचन में दोनों ही कवियों की विचारभूमि अद्‌भुत रूप से एक ही रही है।

तात्पर्य यह कि इतिहास-लेखकों द्वारा साम्प्रदायिकता का दोषारोपण एकांगी और दोषपूर्ण है। एक ही सिक्के के दो पहलुओं के रूप में सूरसागर और रामचरितमानस की दार्शनिक उभयनिष्ठता, विचार और चिन्तन-साम्य यह सिखाते हैं कि कृष्ण और राम के बीच अन्तर मानकर बावेला मचाने की कोई आवश्यकता नहीं। सांस्कृतिक अखंडता की ज्योति में उक्त दोनों ग्रन्थों का अनुशीलन एक ही आनन्द-समुद्र की ओर संकेत करता प्रतीत होता है। ■

गुजराती कृष्ण-काव्यके परिप्रेक्ष्य में सूरदास का अध्ययन

डॉक्टर अम्बाशंकर नागर

गुजरात में वैष्णव भक्ति

यद्यपि भक्तियोग के मूल उपदेशक श्रीकृष्ण के मथुरा छोड़कर यादवों के साथ द्वारका जा वसने का उल्लेख महाभारत, हरिवंश और भागवत आदि ग्रंथों में मिलता है, तथापि ई० ५ वीं शती से पूर्व गुजरात में वैष्णव धर्म के प्रचार का कोई ऐतिहासिक प्रमाण समुपलब्ध नहीं होता। ई० ५ वीं शती के कुछ शिलालेख जूनागढ़ के पास उपलब्ध हुए हैं। उनसे यह पता चलता है कि गुप्त राजाओं के राज्यकाल में गुजरात और सौराष्ट्र में भागवत धर्म का प्रचार था। अणहिल्लपुर पट्टन (पाटन) के आसपास ई० १०वीं और ११ वीं शती के मन्दिर और मूर्तियों के जो भग्नावशेष प्राप्त हुए हैं, उनसे यह स्पष्ट हो जाता है कि तब तक गुजरात में भागवत धर्म का पर्याप्त प्रचार हो चुका था। एक ही मंदिर में ब्रह्मा, विष्णु और महेश की मूर्तियाँ देखकर इस बात की भी पुष्टि होती है कि इनके अनुयायियों में द्वेष भाव नहीं था। पौराणिक भागवत भक्ति की यह परम्परा गुजरात में १५ वीं शती तक चलती रही। इसके पश्चात् वैष्णव धर्म का प्रभाव गुजरात में विभिन्न नए रूपों में प्रकट हुआ।

गुजरात में वैष्णव धर्म के प्रादुर्भाव के साक्ष्य हैं, वहाँ के वैष्णवधाम — द्वारिका और डाकोर। द्वारिका की स्थापना ई० १३ वीं शती में और डाकोर की १६ वीं शती में हुई थी।[1] इन दोनों वैष्णव-धामों में श्री रणछोड़राय (श्रीकृष्ण) की मूर्ति की प्रतिष्ठा है। दोनों मंदिर १५वीं शती के अंत तक पर्याप्त लोकप्रियता प्राप्त कर चुके थे। १६वीं शती के पश्चात्, गुजरात में वल्लभादि विभिन्न वैष्णव संप्रदायों का उदय हुआ। इन सम्प्रदायों में रामानुज, निम्बार्क, वल्लभ, मध्व, चैतन्य और स्वामीनारायण संप्रदाय उल्लेखनीय हैं। इनमें भी गुजरात में जिन सम्प्रदायों का सर्वाधिक प्रभाव रहा और जिन्होंने वहाँ के जनजीवन, साहित्य और संस्कृति को प्रभावित किया, उनमें वल्लभ संप्रदाय और स्वामीनारायण संप्रदाय सर्वोपरि हैं।

गुजरात में कृष्ण-काव्य का विकास

यहाँ यह स्पष्ट कर देना आवश्यक प्रतीत होता है कि गुजरात में संप्रदाय-निरपेक्ष कृष्ण-काव्य का प्रणयन हेमचन्द्राचार्य के समय से ही होता चला आ रहा था। इसका कारण सम्भवतः गुजरात में भागवत धर्म और श्रीमद्भागवत का प्रचार था। हेमचंद्राचार्य द्वारा उद्धृत दो-तीन दोहों में राधाकृष्ण का उल्लेख मिलता है। ई० १४ वीं शताब्दी तक जयदेवकृत गीतगोविंद भी गुजरात के लोगों में प्रचलित हो चुका था। रणमल्ल छन्द के रचयिता श्रीधर कवि (ई० सन् १३७८) ने भागवत के दशम स्कंध की रचना की है। इसके पश्चात् ई० १५ वीं शती के उत्तरार्ध में सुप्रसिद्ध कवि भालण ने भी भागवत

१– वैष्णव धर्मनो इतिहास – दुर्गाशंकर शास्त्री।

के दशम स्कंध का गुजराती में अनुवाद किया है और भागवत के प्रभाववाली अनेक रचनाएँ की हैं। ई० १६ वीं शती के उत्तरार्ध में विद्यमान गुजरात के सुप्रसिद्ध कृष्णभक्त कवि नरसिंह मेहता ने भागवत और जयदेव के प्रभाववाले सुन्दर एवं विपुल कृष्ण-काव्य की रचना गुजराती में की है। एक पद में उन्होंने जयदेव का श्रद्धासह स्मरण भी किया है,[२] जिससे स्पष्ट हो जाता है कि उनपर जयदेव का पर्याप्त प्रभाव था। इसी शती में केशवदास और भीम कवि भी हुए किन्तु नरसिंह के प्रखर आलोक के सामने वे फीके पड़ गए और उजागर नहीं हो सके।

गुजरात को कृष्ण-भक्ति के रंग में रँगकर, साहित्य में वल्लभीय तल्लीनता युक्त संप्रदायसापेक्ष कृष्णकाव्य के प्रवर्तन का श्रेय निश्चय ही वल्लभाचार्य और उनके पुत्र विठ्ठलनाथ जी को है। उन्होंने ई० १६ वीं शती में गुजरात में अनेक यात्राएँ की थीं।[३] परिणामस्वरूप गुजरात वल्लभ-संप्रदाय और पुष्टि-मार्ग का प्रमुख केन्द्र बन गया था और यहाँ के कवि ब्रजराज, ब्रजमंडल और ब्रजभाषा के अनन्य प्रेमी बन गए थे। वे ब्रजमंडल की यात्राएँ करते थे और लौटकर ब्रजभाषा में काव्य-प्रणयन करते थे। आराध्य की मातृभूमि और वहाँ की भाषा के प्रति गुजराती कवियों के मनमें अनन्य अनुराग था।

इन कृष्णभक्त कवियों ने गुजराती में 'भाव-भक्ति', 'भक्तचरित्र' और 'भक्तिबोध' विषयक कविताएँ की हैं।[४] 'भावभक्ति' से अभिप्राय है कृष्ण-प्रेम विषयक भावपूर्ण कविता। नरसिंह मेहता, मीरां दयाराम आदि कवियों की सरस कविता इसी कोटि में आती है। दूसरे प्रकार की कविता है 'भक्त-चरित्र' विषयक कविता। इसके अंतर्गत कवियों ने भक्त-चरित्र एवं आख्यानों की रचनाएँ की हैं। 'सुदामाचरित' 'रुक्मणी-हरण' आदि कृतियाँ इसी कोटि की हैं। तीसरे प्रकार की रचनाएँ आत्मदैन्य और वैराग्योपदेश-पूर्ण हैं। कहीं-कहीं संप्रदाय एवं सिद्धांत प्रतिपादन भी इन कवियों के ग्रन्थों में मिलता है। स्पष्ट है कि प्रथम वर्गकी रचनाएँ ही उच्चकोटि की हैं तथा साहित्य में उच्च स्थान पाने की अधिकारिणी हैं। आगे हम भाव-भक्तिपूर्ण कविता करनेवाले कृष्ण-भक्त कवियों और उनकी कृतियों का ही अवलोकन करेंगे। इन कवियों में उल्लेखनीय हैं—भालण, नरसिंह, केशवराम, कृष्णदास, मीरां, मुकुन्द, त्रीकमदास, हर्षदास, दयाराम, गिरधर, आदित्यराम, राधाबाई, जामसुता प्रतापबाला। इनमें से कुछ प्रमुख कवियों एवं उनके कृतित्व का हम अत्यन्त संक्षेप में विहंगावलोकन करेंगे।

प्रमुख कवि

१—भालण (सन् १४८९ ई०)

गुजरातीभाषा का सर्वप्रथम नामकरण (गुर्जरभाषा) करने का श्रेय पाटण-निवासी वैष्णव कवि भालण को है। उनके जन्म एवं मृत्यु-समय के बारे में विद्वानों में पर्याप्त मतभेद है। उनके द्वारा रचित 'द्वितीय नलाख्यान' के अनुसार उनका संवत् १५४५ अर्थात् सन् १४८९ ई० में विद्यमान होना सिद्ध होता है।[५] भालण ने राम और कृष्ण की बाल-लीला के सुन्दर पद गुजराती में रचे हैं। इस कवि के द्वारा रचित दशमस्कंध में गुजराती पदावली के साथ-साथ निम्नलिखित पाँच पद ब्रजभाषा में भी प्राप्त होते हैं—

२— एक जणो छो, ब्रजनी गोपी, के रस जयदेवे पीधोरे।
उगतो रस अवनी ढलतो, नरसैये ताणीने लीधोरे॥ नरसिंह मेहता, काव्यसंग्रह, पृ० २६६।

३— वैष्णव धर्मनो इतिहास, पृ० २५१।

४— गुजराती साहित्य, अनन्तराय रावल, पृ० ४२।

५— ''बंदर से पीस्तालीस मांहि गाया नलगुणग्रामजी''—द्वितीय नलाख्यान—२८।

१– मैया मोहे भावै दधि भात ॥ २१२ ॥
२– व्रज को सुख समरत स्याम ॥ २१४ ॥
३– कहो मैया कैसे सुख पाऊँ ॥ २१५ ॥
४– अव पढ़वे को आयो दिन ॥ २१६ ॥
५– सुत मैं सुनी लोक में वात ॥ २१९ ॥

(दशमस्कंध , संवत् १७५५ की हृ० लि० प्रति में)

न सभी पदों के अंतिम चरण में भालण के नाम की छाप है। गुजराती साहित्य के सुप्रसिद्ध विद्वान ० के० का० शास्त्री ने इन पदों को प्रामाणिक मानकर भालण को व्रजभाषा का आदि कवि कहा है।[६] र-पूर्व व्रजभाषा पर विचार करनेवालों के लिए गुजराती कवि भालण की पदावली निश्चय ही एक प्रश्न-चिह्न वनी हुई है।

२. नरसिंह मेहता (सन् १५०० से १५८० ई०)

भालण की भाँति सुप्रसिद्ध कृष्ण-भक्त नरसिंह मेहता का समय भी संदिग्ध है। श्री के० एम० मुन्शी के मतानुसार उनकी अवस्थिति ई० सन् १५०० से १५८० के वीच थी। इस प्रकार ये महाकवि सूरदास के समकालीन सिद्ध होते हैं। इनकी कविता में कवीर का तत्त्वदर्शन, मीरां की प्रणयविह्वलता और सूर का पदलालित्य एक साथ विद्यमान है। इन्होंने गुजराती में विपुल पद-साहित्य की सृष्टि की है। ये न केवल सूर के समकालीन थे वल्कि भाव और रचना-शैली की दृष्टि से भी उनके समकक्ष और समान थे। विद्यापति और जयदेव की संगीतात्मक पद-परम्परा का अनुसरण जैसे सूर ने व्रजभाषा में किया, वैसे ही नरसिंह ने गुजराती में किया है। इनकी कृतियों में 'शामलशाह नो विवाह', हार, हुण्डी, मामेरुं, राग-सहस्रपदी, श्रृंगारमाला, सुदामा-चरित्र, हिंडोला, वसन्त, कृष्णजन्म, वाललीला, श्रृंगार आदि के पद प्रमुख हैं। भालण की भाँति इनके भी व्रजभाषा-पद उपलब्ध होते हैं किन्तु उनमें गुजराती पदों जैसा लालित्य नहीं है। नरसिंह मेहता की गुजराती पदावली की रचना-शैली का एक राधा-विषयक पद द्रष्टव्य है—

झांझर ने झलमकै डुंझमकी ने जागी
जाणे म्हारा पिउजी ने कण्ठडे हूं लागी
पछी तो लजाणी हे आलिंगन देतां
व्हालाजीए पूछयूं सखी तूने वर्ष के तां
महाश रे नरस व्हाला हूं शुं रे जाणूं
मास थया छे मने एक सौ ने वाणूं

नरसिंह मेहता के अन्य पदों में 'वैष्णव जनतों तेने कहिए', 'सुमरने श्री हरि', 'अखिल व्रह्मांड मां एक तू श्री हरि', 'जागीने जोऊँ तो जगत दीसे नहीं', 'निरखने गगन मां कोण घूमी रह्यो' आदि गेय पद भक्तिकालीन गेय पद-परम्परा के सुन्दर उदाहरण हैं।

३. केशवदास (ई० सन् १५३२)

भालण के उत्तरसमकालीन और नरसिंह मेहता के समकालीन कवि केशवदास कायस्थ ने ई० सन् १५३६ में जूनी गुजराती में 'कृष्णलीला-काव्य' की रचना की। इसके १४वें और १६वें सर्ग में इन्होंने व्रजभाषा में भी रचना की है।

६– गुजराती साहित्यनुं रेखादर्शन–पं० के० का० शास्त्री, पृ०८८।

४. कृष्णदास अधिकारी (ई० सन्० १४९६ - १५७९ ई०)

अष्टछाप के आठ कवियों में से एक कृष्णदास अधिकारी गुजरात में चरोतर के पाटीदार थे।[७] प्रसिद्ध है कि ये भेंटिये का काम करते थे और इन्होंने मीरां की भेंट वापस कर दी थी। ये वल्लभ सम्प्रदाय और पुष्टि-सिद्धांतों के गूढ़ ज्ञाता थे। इन्होंने श्रीकृष्ण के बालरूप, सखारूप, किशोररूप, स्वामीरूप, वात्सल्यरूप, कांतारूप, और युगलरूप की उपासना की है। इनके कृतित्व से हिन्दी-संसार सुपरिचित है।

५. मीरांबाई (ई० सन् १४९९–१५४७)

प्रेमदीवानी मीरां को हिन्दी-सेवी, हिन्दी और गुजराती भाषी गुजराती कवयित्री मानते हैं। गुजराती में उनका स्थान बहुत ऊँचा है। जहाँतक उनके गुजराती साहित्य में परिगणित होने का प्रश्न है, यह निर्विवाद कहा जा सकता है कि मीरांबाई ने अपने जीवन के अन्तिम १५ वर्ष गुजरात में व्यतीत किए थे। गुजराती भाषा में उनके रचे कृष्ण-भक्ति के सौ-डेढ़ सौ पद भी प्राप्त हैं, जो भाव, भाषा और संगीतात्मकता की दृष्टि से अद्वितीय हैं। मीरांबाई की गुजराती रचना के कुछ उदाहरण द्रष्टव्य हैं—

(१)

प्रेमनी, प्रेमनी, प्रेमनी रे, मने वागी कटारी प्रेमनी रे।
जल जमुनानां भरवा ग्यां, तां, हती गागर माथे हेमनी रे।
काचे ते तांतणे हरिजीए बाँधी, जेम खेंचे तेम तेमनी रे।
मीरां के प्रभु गिरिधर नागर, शामली सूरत शुभ एमनी रे।

(२)

मुखडानी माया लागी रे, मोहन प्यारा!
मुखडुं में जोयुं तारुं, सर्व जग थयुं खारुं,
मन मारुं रह्युं न्यारुं रे, मोहन प्यारा।
संसारीनुं सुख एवुं, झांझवा ना नीर जेवुं,
तेने तुच्छ करि फरिये रे, मोहन प्यारा।
मीरांबाई बलिहारी, आशा छे एक त्हारी,
हवे हुं तो बड़भागी रे, मोहन प्यारा।

६. प्रेमानन्द (सन् १६३६--१७२४)

परिमाण और गुणवत्ता की दृष्टि से प्रेमानन्दकी गणना गुजराती भाषा के श्रेष्ठ कवियों में की जाती है। इन्होंने दीर्घायु पाई और ५७ आख्यान-काव्यों की गुजराती में रचना की। ये गुजराती भाषा के बड़े हिमायती थे और इन्होंने प्रण किया था कि जब तक मैं गुजराती भाषा को अन्य भारतीय भाषाओं के जितना समृद्ध नहीं कर लूँगा, पगड़ी नहीं पहनूँगा।

यद्यपि इनकी गणना शुद्ध कृष्णभक्त कवियों में नहीं की जाती, तथापि इन्होंने अपने अनेक आख्यानों में कृष्ण के अलौकिक चरित्र का निरूपण किया है। सुदामाचरित्र, रुक्मणीहरण और भागवत दशम स्कन्ध इनकी प्रसिद्ध गुजराती रचनाएँ हैं।

७. गुगली, हरखजी तथा त्रीकमदास

मीरांबाई के पश्चात् द्वारिका के श्रीरणछोडराय के मन्दिर के पुजारी मुकुन्द गुगली (ई० सन्१६५२) ने भक्तमालिका की रचना गुजराती एवं व्रजभाषा में की। इसी प्रकार भावनगर के पुष्टीमार्गी कवि हरखजी

७– अष्टछाप (कांकरोली)।

मेहता (जन्म स० १७६४ ई०) ने 'भक्त मुकुटमणि' 'तथा तीर्थाज्ञाप्रवन्ध' शीर्षक ग्रन्थ तथा स्फुट पद लिखे। जूनागढ़ के वैष्णव कवि त्रीकमदास (ई० सन् १७३४–९९) ने 'डाकोरलीला', 'रुक्मणी विवाह' नामक काव्य लिखे हैं। इन सभी कृष्णभक्त कवियों ने गुजराती के साथ-साथ व्रजभाषा में भी काव्य रचना की है। त्रीकमदास श्रीकृष्ण के अनन्य भक्त थे। इनकी व्रजभाषा-रचना-शैली का एक उदाहरण द्रष्टव्य है—

औरन उज्ज्वल रंग रुच्यौ, हम कारे सों प्यार कर्यो सो कर्यो,
वड़देव भजौ किन और कोऊ, हम बारे सों नेह धर्यो सो धर्यो।
कोऊ भाव भरो तप तीरथ को, हम येहि सुभाव पर्यो सो पर्यो,
गुन कीर्तन वर कोउ और करो, हम श्री रणछोड बर्यो सो बर्यो।
(रुक्मणी विवाह)

दयाराम (सन् १७७७)

गुजराती साहित्य के कृष्णभक्त कवियों में दयाराम का महत्त्वपूर्ण स्थान है। गर्सी-द-तासी नामक हिन्दी साहित्य के फ्रांसीसी इतिहासकार ने फ्रांसीसी भाषा में लिखित इतिहास में इस कवि की तथा उसके 'गुजराती तथा व्रजभाषा कृतित्व की प्रशंसा की है।[८] ये कृष्ण के अनन्य भक्त थे और पुष्टि-पथ के सन्निष्ट पथिक थे। ये वड़े ही प्रतिभासम्पन्न कवि थे। ये अनेक भाषाओं के ज्ञाता थे और उनमें काव्य-रचना भी करते थे। इन्होंने एक कवित्त में १४ भाषाओं का प्रयोग किया है, जिससे इनके वहु-भाषाविद् होने का प्रमाण मिलता है। गुणवत्ता और परिमाण की दृष्टि से इनका साहित्य उच्चकोटि का एवं विशाल है। इन्होंने गुजराती में ४८ ग्रन्थों और ७००० स्फुट पदों तथा व्रजभाषा में ४१ ग्रन्थों और १२००० स्फुट पदों की रचना की है। इनके गुजराती ग्रन्थों में 'रसिकवल्लभ' सर्वोत्तम है। व्रज-भाषा कृतियों में सतसैया (दयाराम सतसई) और 'रसिक रंजन' सर्वोत्कृष्ट हैं। कृष्णभक्त कवि तो अनेक हुए किन्तु शुद्धाद्वैत और पुष्टिमार्गीय सिद्धान्तों का निरूपण करनेवाला ऐसा कवि गुजरात में तो क्या, भारतवर्ष में दूसरा नहीं हुआ। सूरदास को महाप्रभु ने 'पुष्टिमार्ग का जहाज' कहा था। इस दृष्टि से गुजराती कवि दयाराम को 'पुष्टिपयोधि' का मार्गसूचक स्तंभ कहना होगा।

संगीतात्मक गेय 'गरवियाँ' लिखने में दयाराम अप्रतिम थे। आज भी कृष्ण-प्रेम की ये गरवियाँ गुजराती रमणियों के कलकंठ का शृंगार बनी हुई हैं। शायद ही कोई गुजराती महिला होगी जिसे दयाराम की कोई गरवी याद न हो। 'ऊभा रहो कहूँ वातड़ी विहारीलाल', 'आठकुवा, नववावडी', 'श्याम रंग समीपे न जाऊँ', 'व्रजव्हालुं रे, वैकुंठ नहिं आवुं', 'माणीगर! आवो म्हारे म्होले' जैसी गरवियाँ कृष्ण के प्रति गोपियों के उत्कृष्ट प्रेम के सच्चे उद्गार हैं। दयाराम ने गोपीभाव में विभोर होकर ही ये मार्मिक गरवियाँ लिखी हैं। सूर के पदों की भाँति दयाराम की गरवियाँ भी भारतीय कृष्णभक्ति साहित्य की अमूल्य थाती हैं।

दयाराम के कृष्ण-भक्ति विषयक (गुजराती तथा हिन्दी) कृतित्व के कुछ उदाहरण द्रष्टव्य हैं—

(गरवी)

जे कोई प्रेम अंश अवतरे, प्रेमरस तेना उरमां ठरे।
सिंहण केरुं दूध होय ते, सिंहण सुत ने जरे ॥
कनकपात्र पाखे सहु धातु, फोडी ने निसरे ॥ प्रेम० ॥
सकरखोरनुं साकरजीवन, खरना प्राण हरे।
क्षार सिंधुनुं माछलडुं ज्यम, मीठा जल मां मरे ॥ प्रेम० ॥

८– हिन्दुई साहित्य का इतिहास—डॉ० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय।

सोमवेलिनुं रसपान शुद्ध जे, ब्राह्मण होय ते करे ।
वगलवंशि ने वमन करावे, वेदवाणि उचरे ॥ प्रेम० ॥
एम कोटि साधने प्रेम विन, पुरुषोत्तम पूठ न फरे ।
'दया' प्रीतम गोवर्धन धारी, प्रेम भक्ति में वरे ॥ प्रेम० ॥

दोहे (व्रजभाषा)

चिंता तू चित क्यों करै, विश्वम्भर व्रजपाल ।
सक्कर सक्करखोर कौ, दधि मधि देत दयाल ॥
कटाछ नोंक चुभी किधौं, गड़े उरोज कठोर ।
कै कटि छोटी मो हितू, रुचि न नंद-किशोर ॥(सतसैया)

कवित्त (व्रजभाषा)

पन्हैया वतावैं तातैं, रईदास राख्यौ पास,
नामा वस्त्र व्यौंते सीवैं, कैसे वनै त्यागनौ ।
सैनो नाई क्षौर करै, सिदामा वनावै दाम,
धोवी धोय दे पुशाग, वनै नहीं भागनौ ।
नरहरी सोनी घेहेनो, जनी दासी टेहेल करै,
पिंगला तो नाचै गावै, चहिए अनुरागनौ ।
दयाराम ब्राह्मण लही डरपौ हो दीनानाथ,
श्रीमुख दिखैयौ नित्य, कछु नहीं माँगनौ ॥ (रसिकरंजन)

दयाराम के पश्चात् भी कृष्ण-काव्य की परम्परा चलती रही । स्वामीनारायण सम्प्रदाय के कवियों में से ब्रह्मानन्द, प्रेमानन्द (प्रेमसखी), निष्कुलानन्द आदि कवियों ने कृष्ण-भक्ति की सुन्दर रचनाएँ कीं । तदुपरान्त आधुनिक काल के उदय के साथ हिन्दी की भाँति गुजराती साहित्य में भी कृष्ण-काव्य का पर्यवसान हो गया ।

गुजराती कृष्ण-काव्य की मुख्य प्रवृत्तियाँ

१. व्रजराय, व्रजमंडल एवं व्रजराज के प्रति अनन्य प्रेम

गुजरात के कृष्ण-भक्त कवियों की सबसे प्रमुख ध्यानपात्र विशेषता यह है कि वे व्रजराज, व्रज-मंडल और व्रजभाषा के अनन्य प्रेमी थे । अपने आराध्यदेव के प्रति तो उनका पूर्ण समर्पण-भाव था ही, उनसे संवद्ध उनकी लीलाभूमि और वहाँ पर वोली जानेवाली भाषा के प्रति भी उनका अनन्य अनुराग था । ये कवि अपने प्रेम-प्राचुर्य में प्रेमावतार रसखान को भी वहुत पीछे छोड़ गए हैं । नरसिंह मेहता ने 'व्रज वहालुं रे वैकुंठे नहिं जाऊं !' कहकर व्रजमंडल के प्रति अपने प्रेमका परिचय दिया । दयारामने वृन्दावन के भंगी को भी अन्य देशों के भूपालों से अधिक भाग्यवान वताया और व्रजभाषा को गीर्वाण-गिरा संस्कृत से भी श्रेष्ठ सिद्ध किया है । यह उल्लेखनीय है कि गुजराती भक्तकवि व्रजमंडल की अनेक दीर्घकालीन यात्राएँ करते थे और लौटकर स्वभाषा के साथ-साथ व्रजभाषा में भी रचनाएँ करते थे । अकेले दयाराम ने व्रजभाषा में ४७ ग्रन्थों की रचना की है ।

२. असांप्रदायिक एवं सांप्रदायिक काव्य

गुजराती कृष्णकाव्य में दोनों तरह के कवि हुए हैं । एक वे जो सांप्रदायिकता से मुक्त होकर काव्य-रचना करते थे, जैसे कि भालण, नरसिंह मेहता आदि, और दूसरे दयाराम, ब्रह्मानन्द जैसे जो पूर्णतया

सांप्रदायिक कवि थे, जो सांप्रदायिक विचारधारा और आचार-संहिता के कट्टर पक्षपाती थे। यही कारण है कि हिन्दी कृष्णकाव्य की अपेक्षा गुजराती कृष्णकाव्य एक ओर तो उन्मुक्तता में अद्वितीय हैं, दूसरी ओर शुद्धाद्वैत एवं पुष्टिमार्ग विषयक सांप्रदायिक काव्यग्रन्थों की रचना में भी अप्रतिम है। दयाराम ने सांप्रदायिक काव्यों की जैसी रचना की है, वैसी शायद ही किसी अन्य कृष्णभक्त ने की हो।

३. संयोग शृंगार की प्रचुरता

गुजरात के कृष्णभक्त कवियों का कृतित्व प्रेमलक्षणा भक्ति, हृदय की उमंग और भावविभोरता से ओतप्रोत कृतित्व है। कृष्ण, राधा और गोपियों की लीलाओं का जो मनोरम वर्णन इन कवियों ने किया है, वह अपने आपमें अनूठा है। गुजराती कृष्ण-काव्य पर यद्यपि जयदेव, चंडीदास, विद्यापति और अष्टछाप के कवियों की पदावली का पर्याप्त प्रभाव है, तथापि इन कवियों ने कृष्णलीला के कितने ही ऐसे अछूते प्रसंगों की उद्भावना की है, जिनकी ओर इनके पूर्ववर्ती कवियों की दृष्टि नहीं गई थी। साथ ही इन्होंने मानव-मन के ऐसे अनेक क्षितिज उद्घाटित किये जो अद्यावधि अज्ञात थे। जो मार्दव और कहीं-कहीं जो खुलापन इन कवियों की रचनाओं में मिलता है, वह अन्यत्र दुर्लभ है। यों तो हिन्दी कृष्ण-काव्य की भाँति गुजराती कृष्ण-काव्य में भी शृंगार, वात्सल्य और शांत, तीनों रस गृहीत हैं, किन्तु कृष्णभक्त गुजराती कवियों का मन शृंगार में ही अधिक रमा है। शृंगार में भी वियोग की अपेक्षा संयोग शृंगार ही उन्हें अधिक रुचा है। आगे के उद्धरणों से यह बात स्पष्ट हो जायेगी—

कुंज समीपे आविया, कुंवरीने तेडी कुमार।
एकान्त स्थाने रची शैया, मली करेरे विहार।
भूधरे मीड़ी हृदेशुं, चुंबन लीधुं गाल।
रसियों तें रस प्रीते पीए, कंदर्प रस रसाल। (नरसिंह)

भक्त कवि नरसिंह मेहता का उन्मुक्त शृंगार-निरूपण कहीं कहीं औचित्य की सीमाओं का भी अतिक्रमण कर गया है। विद्यापति की भाँति भक्त-शिरोमणि नरसिंह मेहता ने भी राधा-कृष्ण के संयोग शृंगार का बड़ा ही उन्मुक्त एवं स्थूल निरूपण किया है।

उछंगे लीछी वाल्हमें अने विधि विलस्या श्री हरि।
जीणे गोवर्धन कर धर्यो, तेहने में राख्यो उर धरी॥
....

हलवे हलवे धंधोडरे भांजीश रे, कटि झीणी रे।
अधर उसी राता किडला, जाणे कुंकुम चेवा रे॥
धोली नाख्या दुरिजन काइमें विचारे, शम खाता नव्यमाने रे।
नरसिमाचास्वामी, तमारी शेज्यें जे भीडोते थोडु रे॥ (नरसिंह)

ये उद्धरण भक्त कवि नरसिंह मेहता के काव्य के हैं। परवर्ती कवियों में दयाराम ने तो उन्मुक्तता को चरम सीमा तक पहुँचा दिया। 'रमीशुं रातडीरे, आवजो अलबेला घेर' जैसे शृंगारिक पदों में मर्यादा और औचित्य की सीमाओं का अतिक्रमण हो गया है।

ऐसा नहीं है कि वियोग-वर्णन की ओर इन गुर्जर कवियों का ध्यान बिलकुल न गया हो, उस ओर भी इनका थोड़ा बहुत ध्यान गया है, किन्तु उसमें उनका मन नहीं रमा। नरसिंह और दयाराम का विप्रलंभ वर्णन केवल प्रसंग और औचित्य-निर्वाह के लिए ही किया गया प्रतीत होता है। यथा —

लाव लाव सखि एक कागल हरिने लखिए।
नाथ शो रे अमारो वांक, के न आव्या फरीने रे ॥ (नरसिंह मेहता)

....

कार्तक महीने कृष्णजी मेली गया रे महाराज
रुदन करे राणी राधिका, नयणे आँसू नी धार
पापी प्राण न जाय, शु रे जीवु संसार मां

....

वैशाखे वन फूलिया, फूलिया दाडमदाख।
कौमलडी ए टहुआ करै, पाकी आंवा नी शाख ॥

स्पष्ट है कि सूरदास तथा अष्टछाप के कवियों ने अपने कृतित्व में जहाँ शृंगार के वियोग पक्ष को अधिक महत्त्व दिया, वहाँ गुजराती कवियों ने संयोग को ही प्रधानता दी। वात्सल्य की ओर भी इन कवियों ने विशेष ध्यान नहीं दिया।

४. माधुर्य भाव की प्रधानता

भक्ति के आधार भाव ही हैं। भगवान के प्रति मानव-प्रेम के प्रधान चार भक्तिभाव हैं। इन भावों में से सूरदास का मुख्य भाव सख्य भाव था। गुजराती कवियों ने भगवान् की उपासना के लिए प्रधानतया माधुर्य भाव को अपनाया। वे गोपी-भाव से गोपीवल्लभ के प्रति आकृष्ट एवं समर्पित हुए। दास्य भाव में गुजराती कवियों का मन नहीं रमा। यदि कभी इन्होंने प्रयत्न भी किया, तो आत्मदैन्य के अभाव में ये मुँहलगे भृत्य-से अड़ गए और वरजोरी करने लगे। 'हार समे ना पदों' में नरसिंह श्रीकृष्ण से कहते हैं—'एक हार मुझे दे देने में तेरे बाप का क्या जाता है।' वे उन्हें लंपट, व्यभिचारी और कामी तक कह डालते हैं—

नरसिंहाने एक हार आपत।
तहारा बापनूं शूं रे जाये।
× × ×
शामला। तूंहने लोक लंपट कहे,
थयो व्यभिचारय कानुडा कामी।

इसी तरह दयाराम भी माधुर्य-गोपी भाव में तो अप्रतिम हैं, किन्तु दास्य भाव का अनुसरण करते ही वे भी औद्धत्य पर उतर आते हैं। वे कहते हैं, यदि आप गरीब समझकर मुझे डुबोयेंगे तो याद रखिए, मैं अकेला नहीं डूबूँगा, आपके सारे विरुद को भी साथ ले डूबूँगा।[९] अन्यत्र भी उन्होंने व्याज से ही कृष्ण को स्वार्थी, मनमौजी कहा है। सारांश यह है कि दास्य भाव गुजराती कवियों की प्रकृति-प्रवृत्ति के अनुकूल नहीं रहा।

स्वरूप-निरूपण

श्री कृष्ण

कृष्ण का व्यक्तित्व बहुमुखी है। किन्तु सूरसागर में मुख्यतः ब्रजराज-स्वरूप ही गृहीत है। सूर के ब्रजराज साक्षात् लीला-पुरुषोत्तम गोपी-जन वल्लभ हैं, भक्त-वत्सल, आनन्दकंद श्रीकृष्ण हैं। साम्प्रदायिक मान्यतानुसार वे पूर्णावतार हैं। सूरदास ने जहाँ उनकी बाल-किशोर-लीलाओं का मनोहारी चित्रण किया

९— रसिकरंजन, प्रकरण २, छंद १।

है, वहाँ भक्तभयहारी और दुष्टसंहारक स्वरूप का भी निरूपण किया है। एक ओर यदि वे वंशीवट, यमुना-तट पर रास रचाते हैं तो दूसरी ओर वे गोवर्धन धारण करके अपने भक्तों की रक्षा भी करते हैं।

गुजराती साहित्य में कृष्ण-भक्तों द्वारा निरूपित कृष्ण का स्वरूप असाम्प्रदायिक एवं सांप्रदायिक, दोनों प्रकार का है। सूरदास द्वारा निरूपित कृष्ण के स्वरूप की अपेक्षा नरसिंह के द्वारा निरूपित कृष्ण का स्वरूप अधिक विराट्, व्यापक एवं उन्मुक्त है। इसका कारण यह है कि उस पर किसी सांप्रदायिक मान्यता का अंकुश नहीं है। नरसिंह के गोपाल गोपियों के साथ कुंजों में रासलीला एवं मुक्त विहार करते हैं। वे प्रेम और आनन्द के अधिष्ठाता और कला के अधीश्वर हैं। वे यशोदानन्दन हैं, राधा-रमण हैं, वहुप्रिया पति हैं, गोपीवल्लभ हैं। वे लौकिक और अलौकिक दोनों रूपों में विद्यमान हैं। वे विविध रूपों में प्रकट होकर अपने भक्तों की रक्षा भी करते हैं और उनकी मनोकामना भी पूरी करते हैं।

दयाराम को छोड़ कर अन्य किसी कवि की रचना में गोपीवल्लभ श्रीकृष्ण के स्वरूप का साम्प्रदायिक निरूपण नहीं मिलता। पुष्टिपथानुयायी एवं घोर मर्यादावादी होते हुए भी दयाराम ने कृष्ण का उन्मुक्त स्वरूप ही अंकित किया है। कृष्णभक्त गुजराती कवियों ने यद्यपि पुरुषोत्तम श्रीकृष्ण के आधिभौतिक, आध्यात्मिक और आधिदैविक, तीनों रूपों को स्वीकार किया है, तथापि उनका विशेष ध्यान गोपीजन-वल्लभ श्रीकृष्ण के सौन्दर्य-निरूपण और गोपियों के साथ उनकी विविध लीलाओं के संकीर्तन की ओर ही अधिक रहा है। कुल मिलाकर गुजराती कृष्णकाव्य में निरूपित श्रीकृष्ण का स्वरूप श्रीमद्भागवता-नुमोदित एवं श्रीमद्वल्लभाचार्यानुमोदित स्वरूप है जिसका प्रसार विविध कवियों ने अपनी मौलिक सूझबूझ और कल्पना के सहारे किया है।

श्री राधा

कृष्ण-भक्त कवियों के आकर्षण का मुख्य केन्द्र राधा है। वह कृष्णकाव्य की प्रधान नायिका है। उसी के आश्रय से कृष्ण-काव्य का लोकरंजनकारी स्वरूप उभरता है। राधा की परिकल्पना ब्रह्म-वैवर्तपुराण और जयदेव के गीत-गोविन्द से होती हुई विद्यापति और चण्डीदास के काव्यों में उजागर हुई है। किन्तु उसकी पूर्ण परिणति सूरसागर में ही हुई। सूर की राधा की परिकल्पना अपने आप में मौलिक एवं विलक्षण है। 'बूझत श्याम कौन तू गोरी' जैसे पदों के द्वारा श्रीकृष्ण और राधा का प्रथम परिचय करवाते हुए 'खेलन के मिस कुंवरि राधिका नन्द महर के आई हो' जैसे पदों में परस्पर नैकट्य स्थापित करवा के 'पूछत जननि कहाँ हुति प्यारी' जैसे पदों के द्वारा राधा और कृष्ण के सगाई एवं विवाह का दस्तूर करवाके, सूरदास ने परकीया राधा को स्वकीया रूप प्रदान कर दिया है। इस प्रकार सूरकी राधा परकीया होते हुए भी स्वकीया है।

गुजराती कवियों के द्वारा निरूपित राधा का स्वरूप सूर के निरूपणकी अपेक्षा अधिक वैविध्यपूर्ण, सम्प्रदाय-मुक्त एवं उन्मुक्त है। गुजराती कवियों द्वारा निरूपित राधा सौंदर्य, यौवन एवं जीवनोल्लास का प्रतीक है। गोपीवल्लभ श्रीकृष्ण की वह वालसहचरी है। दधि वेचने जाते समय अथवा जल भरने जाते समय अनायास ही व्रजराज से उसका साक्षात्कार हो जाता है। सूरकी राधा की भाँति वह समर्पिता स्वकीया नहीं है। वह रूपगर्विता मानिनी परकीया है। वह रूपछटा के साथ-साथ वाक्चातुरी से भी सम्पन्न है। नरसिंह मेहता ने अपने एक पद में षोडषी राधिका की प्रणय-विह्वलता एवं वाक्-चातुरी का अत्यंत मनोहारी वर्णन किया है। श्रीकृष्ण के आने की आहट पाकर राधा जाग उठती है। वह दौड़ कर श्रीकृष्ण से आलिंगनबद्ध हो जाती है। श्रीकृष्ण के यह पूछने पर कि 'प्रिये! तुम कितने वर्ष की हो?' राधा लजा जाती है, और कहती है, मैं यह तो नहीं जानती कि मैं कितने वर्ष की हूँ, इतना अवश्य जानती हूँ कि मुझे १९२ महीने हुए हैं—

म्हारा रे वरस व्हाला हूँ शूं रे जाणूं ।
मास थया छे मुने एक सौने वाणू ॥

गुजराती कवि दयाराम ने भी अपने सुप्रसिद्ध गुजराती ग्रन्थ 'रसिक वल्लभ' और व्रजभाषा ग्रन्थ 'रसिकरंजन' में राधा के स्वरूप का अत्यन्त वैशिष्ट्यपूर्ण निरूपण किया है। वयःसंधि काल के आगमन के साथ ही राधा के शरीर में हेर-फेर हो गया—कटि क्षीण हो गई, उरोज पीन हो गए। कटि की क्षीणता ही मानों उरोजों का उभार बन गई हो। इसी प्रकार उदर की पीनता ही मानो वहाँ से हटकर नितम्बों का भार बन गई हो।

कटि की कसर सो तो आई है उरोज मानु,
उदर की पीनता नितम्ब जाय बसी है।
चरण की चंचलता नैन में नीकैत कीनो,
बैनन की फूटता सौ लाज ही में लसी है।
हास्य की मोहनता सो जाय मिली मान भानुं,
बाल केलि आतुरता लाल केलि कसी है।
जोवन के आये राधे वस्त अस्तव्यस्त भई,
तुहूँ दया प्रभू नैन ही तें हिये धँसी है॥

इन उदाहरणों से स्पष्ट है कि सूरदास की राधा की भाँति गुजराती कवियों की राधा अतिशय मौन, कष्ट-सहिष्णु, सुरतिवंचिता नहीं है। वह मुग्धा, सुरतिलब्धा, कृष्णकेलिरता, प्रगल्भा है। सूरसागर में कहीं भी राधा की रति-केलियों का ऐसा उन्मुक्त वर्णन नहीं है जैसा गुजराती कवियों के काव्य में हुआ है। स्पष्ट है कि नरसिंह और दयाराम की राधा सूर की राधा की अपेक्षा अधिक स्वच्छन्द, स्वतन्त्र तो है ही, एक हद तक स्वैराचारिणी भी है। श्रीकृष्ण की यह परकीया सहचरी उन्हें सुरति के लिए न केवल आमन्त्रित करती है, वह प्रगल्भा उन्हें पानी से पहले पाल बाँधने की सलाह देने से भी नहीं चूकती। वह कहती है—"हे प्राणवल्लभ, तुमने चंचल नेत्र नचाकर मुझे मोहित कर लिया है। हे अलबेले प्रियतम, अब आज रात को तुम मेरे आवास पर अवश्य आना। हम रात में रमण करेंगे। माँ से कह देना कि एक गाय खो गई है, उसी को मैं खोजने जा रहा हूँ। पानी (बाढ़) आने से पहले पाल (दीवार) बाँध देना उचित है। मेरा आवास श्वसुरगृह से दूर एकांत में है। तुम्हारी प्रतीक्षा में दीपक जलाये रखूँगी। तुम अवश्य आना, आज हम मन की मौज मनाएँगे—

वाहला वहालमां रे, नचाव्या, ललचाव्या लोचन
रमीशु रातडी रे, आवजो अलवेला घेर।
कहजो मात ने रे, गाय एक खोवाणी-छे आज
जाऊं छुं शोधवा रे, बाँध जो पाणी-पहेला पाल।
सासरिया थकी रे, मारो आवास छे एकांत
राखीश दिवड़ो रे, माणीसुं मनमानी मोज। (दयाराम)

इस अवलोकन से स्पष्ट है कि सूर की राधा की भाँति गुजराती कवियों की राधा भी सौन्दर्य, सौकुमार्य-युक्त श्रीकृष्ण की बालसहचरी, रसेश्वरी, निकुंजेश्वरी और सौन्दर्याधिष्ठात्री है। अन्तर केवल इतना है कि देश-कालानुरूप गुजराती काव्य में उसका स्वरूप अधिक उन्मुक्त, अधिक खुला हुआ एवं अधिक

स्वाभाविक है और यह भी कि गुजराती कवियों ने उसे वियोगिनी के रूप में न देख कर संयोगिनी के रूप में अधिक देखा है।

गोपी

कृष्ण-भक्ति-काव्य में गोपिकाएँ प्रेम की ध्वजाओं के रूप में निरूपित हुई हैं। वे लोकमर्यादा को त्यागकर अपना सर्वस्व गोपेश्वर के चरणारविन्दों में अर्पित करती हैं। अनिर्वचनीय आसक्ति ही उनकी सबसे बड़ी विशेषता है। ये ब्रजांगनाएँ ब्रजेश्वर की परकीया सहचरियाँ हैं। इनका प्रेम, प्रेम की पराकाष्ठा का अद्भुत उदाहरण है। विवाहित होते हुए भी ये गोपांगनाएँ श्रीकृष्ण को ही अपना पति मानती थीं। सूरसागर में जिस प्रकार ललिता, चन्द्रावली, विशाखा, कुमुदा, प्रमुदा आदि गोपियों का श्रीकृष्ण की प्रेयसियों और राधा की सखियों के रूप में निरूपण हुआ है, गुजराती कृष्ण-काव्य में भी उसी प्रकार इनका स्वरूपांकन हुआ है। अन्तर केवल इतना है कि, गुर्जरगोपिकाएँ अपेक्षाकृत अधिक चंचल और प्रगल्भ हैं। यद्यपि वे राधा से ईर्ष्या नहीं करतीं, तथापि वे राधा के सम्मुख श्रीकृष्ण से हास-परिहास अवश्य करती हैं। नरसिंह मेहता की एक खण्डिता गोपिका तो इतनी उदार है कि कृष्ण के शरीर पर अन्य गोपी-द्वारा अंकित दन्तक्षत, नखक्षत देखकर ईर्ष्याविष्ट होने के बजाय उल्टे उस दुर्धर्ष रमणी की प्रशंसा करती है और कृष्ण से कहती है, चलो मुझे "अभी अपने साथ उस धन्या के पास ले चलो, मैं उसे अपने गलेका हार अर्पण करूँगी [१०]।" राधा से आयु में बड़ी होने के कारण वे अज्ञातयौवना राधा को भी यौवन के रहस्यों से अवगत कराती हैं। दयाराम की राधा जब गोपियों से पूछती है, हे सखी, प्राणवल्लभ क्यों नहीं आये ? मेरे कटाक्षों की नोक तो उनके नहीं गड़ गई, मेरे कठोर उरोज तो उनके नहीं चुभ गए, कहीं मेरी कटि की अत्यधिक क्षीणता तो उन्हें अरुचिकर नहीं हुई, तो ये गोपिकाएँ ही राधा को समझाती हैं कि ये ही तो वे विशेषताएँ हैं जिनके कारण कृष्ण अनुरक्त हैं [११]। इन उदाहरणों से गुर्जर गोपिकाओं का वैशिष्ट्य स्पष्ट हो जाता है।

भ्रमरगीत प्रसंग में सूर, नन्ददास आदि कवियों की गोपिकाओं की भाँति ही गुजराती कृष्ण-काव्य में निरूपित गोपिकाएँ भी उद्धव को भला बुरा कहने, उससे तर्क-वितर्क करने, और अपने वाक्य-बाणों से उसे वेधने में नहीं चूकतीं। कहीं-कहीं ऐसा भी लगता है कि कृष्णकाव्य में निरूपित गोपिकाओं में ब्रजांगनाएँ गुर्जरललनाओं की अपेक्षा अधिक सरल, सौम्य एवं सौजन्यशील हैं। जो अन्तर ग्राम-वनिताओं में और नागर नारियों में होता है, सम्भवतः वही अन्तर सूर की ब्रज-वनिताओं एवं गुर्जरगोपिकाओं में है।

यशोदा-नन्द, उद्धव आदि

कृष्ण-काव्य में यशोदा एवं नन्द वात्सल्य भाव के प्रतीक हैं। जिस प्रकार सूरसागर में इनका वात्सल्य के पदों में उल्लेख हुआ है, उसी प्रकार गुजराती काव्य में भी प्रायः उन्हीं प्रसंगों में इनका उल्लेख हुआ है। उद्धव कृष्ण के उद्धत, अक्खड़ एवं ज्ञानी मित्र के रूप में गुजराती कृष्ण-काव्य में भी यथावत् समाविष्ट हैं। इनके सम्बन्ध में विशेष भ्रमरगीत-प्रसंग में कहा जायगा।

बाललीला

कृष्ण काव्य के अन्तर्गत, श्रीकृष्ण की बाल सुलभ चेष्टाओं का 'सूरसागर' में जैसा मार्मिक वर्णन हुआ है, वैसा न केवल भारतीय भाषाओं में बल्कि विश्वसाहित्य में भी दुर्लभ है। शिशु कृष्ण की बाल केलियों का जैसा मनोहारी वर्णन जन्मांध सूर ने किया, वैसा तो सम्भवतः कृष्ण को रैन-दिवस निरखने वाली यशोदा भी न कर पाती।

१०– चातुरी पृ० ५७।   ११– सतसैया, दोहा १९२।

सूरदास के पूर्वसमकालीन कवि भालण एवं नरसिंह ने ब्रजभाषा में बाललीला के कुछ पद अवश्य लिखे हैं, पर उनमें न सूर की जैसी मौलिकता है, न सहृदयता। सूरदास निर्विवाद रूप से वात्सल्य-सम्राट् कहे जा सकते हैं।

उन्होंने बालक के पालने में पड़े-पड़े हाथ-पैर हिलाने, पग के अँगूठे को मुंहमें लेने, घुटने के बल सरकने, ठुमक कर चलने, मिट्टी खाने, मक्खन चुराने और तरह-तरह के बहाने बनाने का जैसा वर्णन किया है, वैसा अन्यत्र देखने में नहीं आया।

गुजराती कृष्ण-भक्त कवि भी कृष्ण के बालरूप पर मुग्ध थे और उन्होंने भी बाललीला और वात्सल्य भाव के पद रचे हैं, किन्तु एक तो वे परिमाण में स्वल्प हैं, दूसरे गुणवत्ता में भी वे सूर के पदों की समकक्षता प्राप्त नहीं कर सकते। नरसिंह मेहता ने कहीं-कहीं अपनी मौलिक सूझबूझ का परिचय दिया है। नृत्यरत बालकृष्ण का वर्णन देखिए—

रमझुमनादे नूपुरवाजे झाँझरना झमकारारे।
ताली ताल मृदंग धुन नाचे, कटि किंकणि रणकारारे॥[१२]

इसी प्रकार, आकाश में चन्द्रमा एवं नक्षत्र देखकर जब श्रीकृष्ण उन्हें लेने की जिद करते हैं, उस समय का नरसिंह मेहता का वर्णन भी द्रष्टव्य है। कृष्ण कहते हैं—मुझे चन्द्रमा ला दो, नक्षत्र मेरी जेब में डाल दो। जसोदा मैया कटोरे में पानी भर कर, उसमें चन्द्रबिम्ब बताकर श्रीकृष्ण को जैसे-तैसे शांत करती हैं—

ओ पेलो चांदलियो, आइ मुने रमवाने आलो,
नक्षत्र लावीने माता, मारा गजवामा घालो।
वाटका मां पाणी घाली, चाँदलियो दाख्यो
नरसैंयानो स्वामी रड़तो तब राख्यो॥

गुजराती कृष्ण-काव्य में बाललीला के वे सभी प्रसंग समुपलब्ध हैं जो सूरसागर में हैं, किन्तु उनमें वैसी स्वाभाविकता व गहनता नहीं है। किशोरलीला एवं रासलीला में अवश्य गुजराती कृष्णभक्तों का मन रमा है।

श्रृंगार

जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, गुजराती कवियों का मन श्रीकृष्ण की बाललीलाओं में उतना नहीं रमा जितना उनकी रासलीला एवं अन्य लीलाओं में रमा है। इन कवियों ने कृष्ण की रूप-माधुरी के सुन्दर चित्र अंकित किए हैं तथा वेणुवादन, गोचारण, गोपियों के साथ अभिसार, रस, पनघटलीला, दानलीला, चीर-हरण-लीला, वसन्तलीला, सम्भोग, मानलीला आदि के सुन्दर पद रचे हैं। नरसिंह मेहता तो मानो संयोग श्रृंगार के ही मूर्तिमान अवतार हैं। उनके द्वारा निरूपित श्रृंगार जीवनोल्लास का अप्रतिम उत्स है।

(क) संयोग श्रृंगार

जिस प्रकार सूरकी गोपियाँ मुरली की धुन सुनते ही आत्म-विभोर होकर गृहकाज छोड़कर, लोक-मर्यादा का उल्लङ्घन करके बेसुध-सी मुरलीधर से मिलने के लिए निकल पड़ती थीं, उसी प्रकार नरसिंह की राधा एवं गोपियाँ भी प्रेमविह्वल होकर कहती हैं—

१२– नरसिंह मेहता कृत काव्य-संग्रह, पृ० ४६०।

छानी केम रहूं ? बनमां वेणु वागे ।
सांभलतां अंगे अंगे अनंग जागे ॥[13]

× × ×

वरीशमां, माता, तू मुझेने नन्दतणो सुत नाथ भजूं ।
आडी आँख कांदिइ रे माता, जवादी जदुनाथ भणी ।
रंगभरि रास रचे राधावर, सखी समाणी मिलिय घणी ॥[14]

पनघट प्रसंग के पदों में भी नरसिंह मेहता, दयाराम आदि कवियों ने मार्मिक पदों की रचना की है। पनघट पर गोपियों के साथ कृष्ण के विलास के स्थूल प्रसंगों की उद्भावना अधिक है, यथा—

सरोवर पाणी हूं गई, वाहलो मारी तें मरडेय वाँयरे ।
पीन पयोधर ग्रही ते रह्यो अधर अमृत रस पीये पायरे ।
सास पूछे सुण वहुआरु, आ अधर डंक कहाँ लागोरे ।
सरवर कुभ चढ़ावतां हुंने, सहियर नो नख वागोरे ॥[15]

दान-लीला के अन्तर्गत सूर की भाँति नरसिंह, दयाराम आदि ने भी प्रायः एक से ही प्रसंगो की उद्भावना की है। कृष्ण गोपियों को रास्ते में रोककर दान माँगते हैं । गोपियाँ मक्खन देकर पीछा छुड़ाती हैं। जब श्रीकृष्ण गोरस (इन्द्रिय-रस) माँगते हैं तो प्रायः सूर की गोपियाँ उन्हें माता जसोदा से कह देने की धमकी देती हैं। नरसिंह की राधा एवं गोपियाँ अपना लेन-देन स्वयं निपटा लेती हैं। कृष्ण के दान माँगने पर राधा कहती है, संकेत से समझा तो रही हूँ, समझो, अभी पानी का घड़ा रखकर संकेत-स्थल पर जाती हूँ, वहीं प्रतीक्षा करो, वहीं तन-मन की बातें होंगी, वहीं मेरे जोवन का रस लेना—

राधाजी पाणीलां नीसर्या, सोल वरुस नी नारी रे,
लटके भी आऊ हूँ लटक थी जाऊँ, लटवामासमजाऊँ रे,
एक घडी तमे ऊभा रहज्यो, बेडां मेली पाछी आउँ रे,
एक हे काम तमने एवुं वताऊं, त्यां जई ऊभा रहो, सो रे,
मन तन नी आपणे वात करीशुं, म्हारो जोवनियो रस लेजोरे ।[16]

(ख) विप्रलंभ शृंगार

शृंगार का दूसरा पक्ष वियोग है। प्रेम की पूरी परीक्षा इसी पक्ष में होती है। संयोग में प्रेम की मांसलता, स्थूलता प्रकट होती है, वियोग में उसकी सूक्ष्मता एवं सात्विकता प्रकाशित होती है। वियोग-वर्णन में जितनी विशदता एवं जितनी मार्मिकता अष्टछाप के कवियों की पदावली में है, उतनी गुजराती कवियों के पदों में नहीं है। गुजराती कवि, संयोग-वर्णन में जहाँ अष्टछाप के कवियों से भी आगे निकल गये हैं, वहाँ वियोग-वर्णन में वे परिमाण और गुणवत्ता दोनों ही दृष्टियों से काफी पीछे रह गये हैं। इन कवियों ने विप्रलंभ पद का निरूपण अत्यंत स्वल्प मात्रा में किया है। नरसिंह मेहता के गोपी-विरह संबंधी केवल दस-बारह पद मिलते हैं। इसी तरह दयाराम की गरवियों में भी गोपी-विरह का चलता-सा चित्रण हुआ है। इन कवियों का ध्यान गोपियों की विरह-दशा का चित्रण करने की ओर अधिक नहीं गया,

१३– रास, सहस, पदी, संपा० कें० का० शास्त्री, पृ० ३ ।
१४– रा० स० प०–पृ० ३ ।
१५– नरसिंह मेहता कृत काव्य-संग्रह–इ० सू० देसाई, पृ० ३५६ ।
१६– न० म० का० सं०, पृ० ५२९ ।

गोपी उपालंभ ही उनका विषय बना रहा। यथा, नृसिंह मेहता के एक पद में गोपी कहती है, "कृष्ण अब यहाँ क्यों आने लगे, वे कुबजा के प्रेमपाश में बँध गये हैं। यहाँ आयें तो गाय दोहनी पड़े, गोपालन में व्यस्त रहना पड़े, इसीलिए वे मथुरा जा बसे हैं"—

ना आवे, ना आवे नाथ जी ना आवे।
एने मथुरामां मली मोहनी नाररे, गोकुल केम आवे।
काको कहानो, काली कुवजा, अपने रमाडया रासरे।
नरसैयाना स्वामी हमने करी गया छे निराश रे॥[१७]

इन कवियों ने गोपी-विरह-निरूपण के लिए बारहमासे भी लिखे हैं, जिनमें लोकगीतों की-सी सरलता तो अवश्य है, पर उच्चकोटि की साहित्यिकता का प्रायः उनमें अभाव ही है। इस क्षेत्र में सूरदास निश्चय ही अप्रतिम हैं।

भ्रमरगीत-प्रसंग

आश्चर्य तो यह देखकर होता है कि कृष्ण के मथुरागमन के पश्चात् के भ्रमरगीत जैसे मार्मिक प्रसंग में भी गुजराती कवियों की वाणी मुखर नहीं हुई। गोपी-उद्धव संवाद को लेकर जो पद लिखे गये वे भी संवेदनासिक्त नहीं हैं। नरसिंह मेहता के भ्रमरगीत विषयक एक पद में उद्धव कृष्ण का पत्र लेकर नहीं आते, बल्कि राधा ही कृष्ण को उपालंभ का पत्र लिखती हैं—

लावलाव सखी एक कागल
नाथ शो रे हमारो वांक,
के न आव्यां फरि ने रे।
नाथ ते दहाडा नो स्नेह लगाडी अमने रे
हवे वलती दो छो छेद घटे नहिं तमने रे
फरी-फरी लखजो पत्र, कुबजा के तोरे॥[१८]

इसी तरह दयाराम की गोपियाँ उद्धव से कहती हैं—

उद्धव नंदनो छोरो, ते नमेरो थयो जो।
मने अकेली मूकीने मथुरा गयो जो॥
अने मूकी जतां दया नव ऊपनी जो।
मने भ्रांति पड़ी छे अेना रूपनी जो॥

इसी प्रकार अन्य कवियों में रत्नोभावसार, प्रेमानन्द आदि कवियों ने भी इस प्रसंग को लिया है—

उद्धव संदेशो कहीने वहेला आवजो जो।
साथे 'दया' प्रीतम ने तेडी लावजो जो॥
× × ×
ओधव! अलवेला ने कहजो, के ज्यम हमो कहाविअे रे लोल।
हवे तो हद थई छे नाथ के गोकुल आविमे रे लोल॥[१९]

१७— वही पृ० २८२।
१८— न० म० का० सं० पृ० ४१५।
१९— देखिए प्रेमानंदकृत 'राधिका विरहना वार मास', प्रा० का० मं० पृ० २२५।

उद्धव को संबोधित करके लिखे गए पदों में गुजराती साहित्य में ऐसे पद भी हैं जो नन्द यशोदा के द्वारा उद्धव को संबोधित करके कहे गए हैं। जैसे कि विश्वनाथ जानी का—'नन्दजी कहे, उद्धव सुणो कुंअर जी कालारे'।[20] ऐसे पदों में भ्रमरगीत, प्रसंग में वियोग-वात्सल्य का सामान्यतः अच्छा निरूपण हुआ है। किन्तु इन प्रसंगों की उद्भावना एवं निरूपण में सूर की जैसी मार्मिकता नहीं है।

दर्शन एवं भक्ति

कृष्णभक्त कवियों का उद्देश्य दार्शनिक सिद्धांतों का निरूपण नहीं था। वे सहृदय कवि थे और रास-रसेश्वर का लीलागान ही उनका प्रतिपाद्य था। फिर भी उच्चकोटि के काव्य का मूलाधार दर्शन होता है, इस मान्यता को भी अस्वीकार नहीं किया जा सकता। जहाँ तक अष्टछाप के कवियों का प्रश्न है, वे सब श्रीमद्वल्लभाचार्यजी एवं विट्ठलनाथ के शिष्य थे। गुजराती कृष्णभक्त कवियों में से भी, कुछेक को छोड़कर, अधिकांश या तो महाप्रभुओं से दीक्षित थे या फिर वे उनकी विचार-धारा से प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष रूप से प्रभावित थे। स्पष्ट है कि वे वल्लभाचार्य जी के शुद्धाद्वैत दर्शन-सिद्धांत और पुष्टिमार्गीय साधना-पद्धति से प्रभावित थे।

जहाँ तक गुजराती कवि नरसिंह मेहता की दार्शनिक विचारधारा का प्रश्न है, यह कहना कठिन होगा कि उन्होंने किसी एक ही विचारधारा को अपनाया है। यद्यपि उनके विचार शुद्धाद्वैत से अत्यधिक साम्य रखते हैं, तथापि केवलाद्वैत, अर्थात् अद्वैत वेदांत की छाप भी उनके पदों में स्पष्ट झलकती है।

ब्रह्म

नरसी के ब्रह्म सगुण रूप में छैल-छबीले गोपीवल्लभ हैं और निर्गुणरूप में ब्रह्मांड में व्याप्त श्रीहरि—

छैल छबीलो ने छोगालो,
तेहने मेहलीने बीजो भजवो नथी ॥[21]

× × ×

अखिल ब्रह्मांड में एकतुं श्री हरी,
जूजवे रूपे अनन्त भासे।
देहमां देव तुं, तेज मां तत्व तुं,
शून्य मां शब्द थई वेद वासे।
पवन तुं, पाणी तुं भूधरा,
वृक्ष थई फली रह्यो आकाशे ॥[22]

× × ×

जे रस व्रजतणी नार विलसे सदा।
सखी रूपे ते नरसैंये पीधो ॥[23]

× × ×

निरखने गगनमां कोण घूमी रह्यो।
तेज हूँ तेज हूँ शब्द बोले ॥
श्याम ना चरणमां इच्छू हूँ मरण रे।
अहींया कोई नथी कृष्ण तोले ॥[24]

२०– प्राचीन काव्य मंजरी, संपा० जेठालाल त्रिवेदी, पृ० १९९।
२१– हार समे ना पद अने हारमाला–के० का० शास्त्री, पृ० ३६।
२२– नरसी मेहता कृत काव्य-संग्रह–ई० स० देसाई, पृ० ४८५।
२३– वही, पृ० ४८४। २४– वही, पृ० ४८४।

परवर्ती कवियों ने ब्रह्म के इन्हीं रसेश्वर एवं विराट स्वरूपों को लिया है। पुष्टिमार्गी कवि तो भारत में अनेक हुए किन्तु दयाराम जैसा पुष्टिपथ का पुरस्कर्ता कवि अन्य नहीं हुआ। इस कवि ने शुद्धाद्वैत और पुष्टिमार्ग का प्रतिपादन अपने व्रज एवं गुजराती भाषा में लिखे ग्रंथों में किया है। दयाराम की मान्यताएँ वल्लभमतानुरूप थीं। उन्होंने सुप्रसिद्ध व्रजभाषा ग्रंथ रसिकरंजन में निर्गुण मत का खंडन करके सप्रमाण सगुण ब्रह्म का संकीर्तन किया है, यथा—

ईंधन विच अग्नि है, तासुं ना रसाई होवे,
स्फुट अग्नि लागे विन, सुधरे नां वात है,
तैसे दया नाथ कृष्ण, स्पष्ट स्वरूप देखे विना
अंतरजामी का सुख देवै नहीं गात है।[२५]

जीव

शुद्धाद्वैतानुसार जीव ब्रह्म का ही अंश है। यह जीव मायाधीन होकर संसार-चक्र में भ्रमित होता है। भगवद्कृपा से जब जीव अविद्या से मुक्त हो जाता है तो आनन्दस्वरूप हो जाता है और मुक्ति को प्राप्त होता है। सूरदासजी ने जीव को ब्रह्म (गोपाल) का ही अंश माना है। नरसिंह मेहता ने भी उसे 'देह में देव', 'तेज में तत्व', 'शून्य में शब्द', 'वृक्ष में बीज', कहकर ब्रह्मांश माना है। यथा—

वृक्ष मां बीज तुं, बीजमां वृक्ष तुं, कोऊ पटंतरो एज पासे।[२६]

जगत्

जगत भी ब्रह्म का ही अंश एवं स्वरूप है। वह ब्रह्म से अभिन्न है। ब्रह्म सच्चिदानन्दस्वरूप है। अक्षर ब्रह्म के चित्-अंश से जीव-रूप पुरुष और सत् अंश से प्रकृति (जगत्) का प्रादुर्भाव होता है। वल्लभाचार्य जी के मतानुसार जगत् और संसार में भेद है। जगत् सत्य है, संसार असत्, क्योंकि जगत् ब्रह्म का कार्य है, संसार अविद्या का। नरसी मेहता आदि गुजराती कवियों ने जगत् का निरूपण इसी दृष्टि से किया है—

जागीने जोऊँ तो जगत दीसे नहीं।
ऊँघ मां भोग अटपटा भासे॥
× × ×
सुमर ने श्री हरि, मेल ममता परी,
जो ने विचारी ने मूल तारुं।
तू अल्या कोण ने कोने वलगी रह्यो,
वगर समजे कहे म्हारुं, म्हारुं॥[२७]

माया

वल्लभ-मतानुसार माया भ्रमरूपा न होकर ब्रह्मवशवर्तिनी है। उसके दो रूप हैं—एक विद्या, दूसरा अविद्या। अविद्यामाया से जीव सांसारिक बंधनों में बँध जाता है। इससे मुक्त होने का उपाय भगवद्कृपा (पुष्टि) है। सूर ने 'अविगत गति जानी न परे', 'अब हौं माया हाथ बिकानो' आदि पदों में माया का निरूपण किया है। गुजराती कवियों ने भी कई रूपों में अविद्या माया का चित्रण किया है—

२५– रसिकरंजन, विद्या, गुजरात युनिवर्सिटी, जनवरी, १९७२।
२६– नरसी मेहता कृत काव्य-संग्रह, के० का० शास्त्री, पृ० ४८५।
२७– वही, पृ० ४८२।

पटक माया परी, अटक चरणे हरी
वटकमां वात सुणतां ज साची।
आ शंनुं भवन आकाश सुधी रच्युं
मूढ़ ए मूल थी भींत काची।।[२८]
× × ×
भाई तमे माया तजी, था ओने ज्ञानी,
नरसैयानो स्वामी साचो, दुनिया दिवानी।[२९]

भक्ति

भगवान में परमानुरक्ति की भावना ही भक्ति है। वह समर्पण की रसात्मक अनुभूति है। सूरदास एवं अष्टछाप के कवियों ने भक्ति के माहात्म्य का संकीर्तन किया है; गुजराती कवियों ने भी भव-सागर की इस तरिणी का, दशधा, प्रेम-भक्ति का यशोगान किया है। भूतल में यही एक महान पदार्थ है—

भूतल भक्ति पदारथ मोटुं, ब्रह्मलोक मां नांहीरे।[३०]
× × ×
भक्ति विना जे जन जीवे ते क्यम कहिये मानव रे।[३१]
× × ×
नवधामां तो नहीं नर वेडो दशधा मां देखाशे रे
अचवो रस छे ऐहेनी पासे, ते प्रेमी जन ने पाशे रे।[३२]

सारांशतः गुजराती कवियों ने प्रेमलक्षणा रागानुगा भक्ति को ही श्रेष्ठ माना है। जिस तरह सूर ने 'जो सुख होत गोपालहिं गाये' कहकर गोपेश्वर के गुणगान को आनन्द की चरम सीमा बताया, उसी तरह नरसिंह, दयाराम आदि कवियों ने परकीया भाव की मधुरा प्रेमलक्षणा भक्ति को सर्वोत्कृष्ट बताया। इसीलिए तो नरसिंह मेहता ने कहा कि 'पुरुष से पुरुष का प्रेम किस काम का, गोपी-भाव से किया गया गोपेश्वर का प्रेम ही रमणीय है'—

पुरुषनो पुरुप थी स्नेह शा कामनो।
कामी-पुरुष नो संग रुडो।।[३३]

अंत में निष्कर्ष रूप से कहा जा सकता है कि यदि प्रादेशिक वैशिष्ट्य को छोड़ दिया जाय तो ब्रज-भाषा-कृष्ण-काव्य और गुजराती कृष्ण-काव्य की प्रवृत्तियाँ प्रायः समान हैं। प्रबंध और मुक्तक, दोनों ही प्रकार के काव्यों की रचना गुजराती कवियों ने की है। रुक्मणी-विवाह, सुदामा-चरित, भ्रमरगीत आदि प्रसंगों पर नरसिंह, चतुर्भुज, भीम, ब्रह्मदेव, फूढ़, देवीदास, कृष्णदास, नरहरि, प्रमानन्द, रत्नेश्वर, दयाराम आदि ने प्रबंध-काव्यों की भी रचना की है। किन्तु कृष्ण-काव्य की मूल प्रवृत्ति गेय मुक्तकों की ही रही है। यह गेय गुजराती कृष्ण-काव्य-धारा यद्यपि सूरसागर जैसी असीम एवं अगाध नहीं है, किन्तु है वह राधा-कृष्ण के प्रेम की पावन पयस्विनी। इस पयस्विनी के अंजुलिभर आचमन से निश्चय ही 'सूर-सागर' के अवगाहन में सुविधा होगी और यह तथ्य उद्घाटित होगा कि गुजराती कृष्ण-काव्य पर सूर और अष्टछाप की पदावली का व्यापक प्रभाव है। ■

२८– वही, पृ० ४८१। २९– वही, पृ० ४७४। ३०– वही, पृ० ४६९। ३१– वही, पृ० ४९०। ३२– वही, पृ० ४९१। ३३– वही, पृ० ४९१।



सूरदास : एक और दृष्टि

डॉक्टर श्यामसुन्दर घोष

तुलसी पर लिखते हुए जब मैंने यह दृष्टिकोण प्रस्तावित किया कि तुलसी का साहित्य आम आदमी के पक्ष में और उसकी प्रतिष्ठा के लिए है, तो यह तुलसी पर समसामयिक साहित्यिक अपेक्षाओं का 'आरोप' माना गया। लेकिन यदि इसे आरोप माना जाये, तो हर युग का आलोचक और अध्येता पूर्ववर्ती रचनाकारों पर अपनी युगीन रुचि और व्याख्याओं को आरोपित करता है। क्या शुक्ल जी की तुलसी-सम्बन्धी आलोचना और व्याख्या भी आरोपित नहीं है ?

केवल तुलसी ही नहीं, मैं तो सभी प्राचीन कवियों और रचनाकारों को इस दृष्टि से देखने का पक्षपाती हूँ। हिन्दी सदा से जन-भाषा रही है। पहले भी जिन भाषाओं या बोलियों ने इसे रूप दिया है, वे सभी जनवाणी रही हैं और उनमें जनाकांक्षा ही प्रमुख रूप से ध्वनित हुई है। ऐसी भाषा या बोली के आसंग में आकर रचना-कार्य में प्रवृत्त होनेवाला रचनाकार बराबर आम आदमी को ही ध्यान में रखेगा। वह आदमी का ही पक्षधर होगा, उसीके सुख-दुःख और नियति को लेकर चिंतित रहेगा। हिन्दी का पुराना से पुराना कवि भी इसका अपवाद नहीं है, न हो सकता है। इस प्रसंग में सूरदास का भी नया मूल्यांकन उपयोगी और प्रासंगिक है।

सूरदास ने कृष्ण के बालरूप को ही क्यों स्वीकारा ? वे भी तो तुलसी की तरह दशरथ-सुत, अयोध्या-नरेश, सीतापति जैसे किसी विशिष्ट आराध्य को स्वीकार कर सकते थे। लेकिन ऐसा नहीं करके उन्होंने नन्दनन्दन, यशोदाप्रिय, गोपीवल्लभ, माखनचोर कृष्ण को अपना आराध्य क्यों माना ?

हर युग के कवि में उसके युग की सीमा या उसके अन्तर्विरोध लक्षित होते हैं। तुलसी ने जिस राम को अपना नायक बनाया, वह विशिष्ट और उच्चकुल-सम्भूत ही है। लेकिन उस उच्चकुल-सम्भूत नायक को उन्हें जननायक, दीनबंधु, करुणानिधान भी प्रतिपादित करना था। इसलिए वे समय निकाल कर गुह-प्रसंग, गीध-प्रसंग और शबरी-प्रसंग की अवतारणा और योजना करते हैं। तुलसी के भक्त और रचनाकार को शायद अवचेतन में यह लगता रहा होगा कि यदि राम की भक्ति में केवल भरत, लक्ष्मण, हनुमान, सुग्रीव, अंगद आदि को ही लीन दिखाया जाता रहा, तो जनसाधारण सोच सकता है कि यह भगवान् राम भी तो विशिष्ट जनों के ही आराध्य हैं। हनुमान, सुग्रीव और अंगद चाहे वानर ही रहे हों, लेकिन थे अपनी जाति के विशिष्टजन। उन सबके राम विशिष्ट जनों के राम ही कहे जा सकते हैं। इसीलिए तुलसी को गुह, गीध और शबरी प्रसंगों की अवतारणा और योजना कर यह दिखाना पड़ा कि राम केवल विशिष्ट जनों के ही नहीं, सामान्य जनों के भी प्रिय और आराध्य हैं। यहाँ तुलसी का, अपने युग के

सन्दर्भ में, प्रगतिशील और जनवादी रूप प्रकट हुआ है। तुलसी के राम जिस भाव से विशिष्ट जनों को ग्रहण करते हैं, उसी भाव से गुह, गीध और शबरी को भी अपनाते हैं। ऐसे स्थलों पर तुलसी आम आदमी के पक्षधर के रूप में उपस्थित हुए हैं। लेकिन तुलसी की अपनी सीमा जो कुछ हद तक उनके युग की भी सीमा है, यह है कि राम दशरथ-सुत और अयोध्या के राजकुँवर ही हैं।

कृष्ण का चरित्र राम के चरित्र की तुलना में और भी साधारण और मानवीय इस अर्थ में है कि उनका जन्म राजकुल में भले ही हुआ हो, लेकिन वे एक अभिशापित मनुष्य की तरह कारागार में पैदा हुए। जन्म के साथ ही जीवन में कठिनाइयाँ और संघर्ष उनके भाग्य में थे। उनके जन्म के अवसर पर न तो बधावे बजे और न किसी प्रकार का समारोह हो सका। वसुदेव जी किसी तरह कारागार की सीमा लाँघकर, उमड़ती हुई यमुना को पारकर, उन्हें गोकुल पहुँचा आये।

इस प्रकार कृष्ण के चरित्र में परम्परागत उच्चकुल-सम्भूत नायक का सामान्यीकरण हुआ। अब यह बात जरूर है कि कृष्ण को वसुदेव जी नन्द जी के घर ही छोड़ गये जो गोकुल के मुखिया या विशिष्टजन की हैसियत रखते थे। मार्क्सवाद की शब्दावली में वे बुर्जुवा भले ही न रहे हों, पर पेटी-बुर्जुवा तो जरूर थे। यहाँ प्रश्न उठ सकता है कि गोकुल में और कोई सामान्यजन वसुदेव जी का मित्र था या नहीं? क्या उसके पास रखने पर कृष्ण का समुचित लालन-पालन नहीं होता? क्या वह कंस से भयभीत होकर कृष्ण को मथुरा में उस अत्याचारी के हाथों सौंप आता? कृष्ण-चरित्र की जनवादी परिकल्पना के प्रसंग में ये प्रश्न उठाये जा सकते हैं। लेकिन युग की सीमा को देखते हुए यह भी कम क्रांतिकारी कल्पना नहीं है कि उच्चकुल-सम्भूत नायक को निपट गाँव-गँवई परिवेश में पालित-पोषित होते हुए दिखाया जाये। क्या वसुदेव जी अन्यान्य राजकुलों के विशिष्ट जनों से सम्बन्धित नहीं थे? क्या वे कृष्ण को लेकर किसी राज्याश्रय में नहीं जा सकते थे? इसकी सम्भावना थी। लेकिन तब कृष्ण-चरित्र को जनोन्मुखी चरित्र सिद्ध होने में दिक्कत होती।

कृष्ण का चरित्र मेरी दृष्टि में राम के चरित्र की तुलना में ज्यादा लोकोन्मुखी और वैशिष्ट्यहीन है। राम ने बचपन में जो लीलाएँ कीं, वे राज-आँगन में कीं। कुछ बड़े होने पर जब वन गये तो गुरू विश्वामित्र की यज्ञ-रक्षा के लिए गये। इस प्रकार रामचरित्र के आसंग में शुरू से ही ज्यादातर विशिष्ट जन ही रहे हैं जबकि कृष्ण शुरू से ही मामूली लोगों के साथ और उनके लिए जिये। उन्होंने महाभारत में भी सामान्य जन की भूमिका ही निवाहने की कोशिश की—अर्जुन के रथ का सारथ्य किया। वे अपने कार्य और विचारणा की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण चाहे जितने रहे हों, लेकिन यज्ञ-समारोहों के अवसर पर पत्तल उठाने का ही काम करते थे। इस प्रकार तुलनात्मक रीति से विचार कर यह कहना असंगत नहीं है कि राम-चरित्र की तुलना में कृष्ण-चरित्र आम आदमी के ज्यादा निकट है।

जब कृष्ण-चरित्र का यह लोकाधार स्पष्ट है तो सूरदास ने कृष्ण के इसी चरित्र को, पूरा का पूरा, ज्यों का त्यों, क्यों नहीं ले लिया? उन्होंने कृष्ण-चरित्र के एक विशेष अंश को ही (मेरा मतलब कृष्ण के बाल-रूप से है) क्यों अधिक महत्त्व दिया? वे बराबर उसी पर अधिक रोशनी क्यों डालते रहे? उसे ही अपनी रचनात्मकता और कल्पना से धो-पोंछकर क्यों चमकाते और निखारते रहे? उसी की विशिष्टता को क्यों उजागर करते रहे? इसके भी कारण हैं।

सूरदास की बन्द आँखों के सामने सामान्य भारतीय थे—समाज के आम दुखी-दलित लोग थे जो भक्ति का सहारा लेकर जीवन-सागर की कठिन यात्रा तय करना चाहते थे। आराध्य का और कोई रूप उन्हें उतना ग्राह्य-उपयोगी और प्रिय नहीं हो सकता था जितना कि उसका बालरूप। बालक को कौन नहीं चाहता? बच्चे-बूढ़े, स्त्री-पुरुष, धनी-निर्धन, सभी चाहते हैं। द्वारिकाधीश कृष्ण के पास जाने में किसी

को भी संकोच और असमंजस हो सकता है—वालसखा सुदामा तक को हुआ था। विशिष्ट आराध्य के पास पहुँचने के लिए विशिष्ट उपक्रम और तैयारी की आवश्यकता होती है—यह वाल-सखा सुदामा तक को करना पड़ा था। अपनी गरीवी से त्रस्त रहते हुए भी उन्हें संदेश, भोग या उपहार के रूप में चावल की पोटली ले जानी पड़ी थी। जव आराध्य विशिष्ट होगा, तो उसके लिए कुछ विशिष्टता की दरकार जरूर ही होगी। यह वात सूरदास भी जानते रहे होंगे। उनकी दृष्टि में भारतीय समाज के सामान्य दीन-हीन लोग ही थे जो गरीवी और साधनहीनता में सुदामा से भी गये-बीते थे। सुदामा को तो कम से कम वाल्यावस्था में कृष्ण के साथ गुरुकुल में पढ़ने का सुयोग प्राप्त हुआ था। उनमें पात्रता भी थी। लेकिन भारतीय समाज में तो ऐसे भी विपन्न जन हैं जिन्होंने कभी पाठशाला का मुख तक नहीं देखा है और न विद्या के योग्य उनकी पात्रता है, या समझी जाती है। ऐसी दशा आज भी कुछ हद तक हैं। तव उस समय की सामाजिक दशा की कल्पना तो सहज ही की जा सकती है। एकलव्य जैसा व्यक्ति उसी युग में तो पैदा हुआ। ऐसे समाज के लोग सुदामा जैसा साहस भी कहाँ से जुटा पायेंगे? उन्हें तो कभी भगवान का साहचर्य न मिला। ऐसों के आराध्य विशिष्टतायुक्त या वयप्राप्त ईश्वर हो ही नहीं सकते। ऐसों को तो सीधा-सादा, भोला-भाला वालरूप आराध्य ही चाहिये। सूरदास ने अपने आराध्य कृष्ण के वालरूप को अधिक महत्त्व देकर एक तरह से कृष्ण-चरित्र का सरलीकरण या जनतांत्रीकरण ही किया। समय को देखते हुए यह वड़ा जनोपयोगी और क्रांतिकारी कार्य है।

सूरदास द्वारा भक्ति के तत्त्ववाद की अपेक्षा लीलाओं को अधिक महत्त्व देना भी जन-भावना के आधिक्य का ही प्रमाण है। सूरदास अष्टछाप सम्प्रदाय के दीक्षित भक्त कवि थे। उस समय धर्म, भक्ति और साधना मे तत्त्ववादों का जो घटाटोप था, उसको देखते हुए यही संगत था कि सूरदास भी अपनी रचनाओं में तत्त्ववाद को प्रमुख वनाये रखते। लेकिन उनके लीला-विषयक पदों की संख्या, संरचना और मिजाज को देखते हुए यही स्पष्ट होता है कि भक्ति के तत्त्ववाद में उनकी उतनी रुचि नहीं है। वास्तव में जनरुचि को समझने और महत्त्व देनेवाला रचनाकार किसी प्रकार के तत्त्ववाद के झमेले में पड़ना ही नहीं चाहता। साधारण लोग तो साधारण वातों से– लीलाओं, प्रसंगों, दृष्टान्तों आदि से– भावमग्न और विचार-प्रेरित होते हैं। इसलिए सूरदास ने अपनी रचनाओं में लीला-चित्रण को प्रधानता दी। लीलाओं के सहारे ही उनका रचनाकार जन-जन के मन तक पहुँच सकता था। यदि सूरदास के कृष्ण लीला-रसिक न होते तो इतने लोकप्रिय और लोक-ग्राह्य न हो सकते थे।

लीलाओं को महत्त्व देने के कारण भी सूरदास को कृष्ण के वाल-रूप पर अधिक ध्यान देना पड़ा। लीलाओं का सौन्दर्य तव है जव लीलाएँ लीला के लिए हों। यदि लीलाएँ विशेष प्रयोजनवश होती हैं, तो वे लीलाएँ न होकर कुछ और हैं, आप उन्हें 'लीलाभास' कह लीजिये। ऐसी लीलाएँ वयप्राप्त नायक नहीं कर सकते। लीलाओं में एक निष्कलुष सौन्दर्य और निर्दोषिता होनी चाहिये। ऐसी लीलाएँ बच्चे ही कर सकते हैं।

सूरदास के वाल-लीला-विषयक पदों में कहीं-कहीं तो कृष्ण, यशोदा और नन्द विल्कुल गौण हो जाते हैं और अनाम ग्वाल-वाल और गोपिकाएँ ज्यादा प्रमुख हो जाती हैं। पदों में कहीं-कहीं उनकी इतनी भीड़ है या कि उनका इतना शोरगुल है कि उसके वीच कृष्ण कन्हैया, या यशुमती मैया गुम-सी हैं; बहुत ध्यान से देखने पर वे मुश्किल से ही दिखाई देते हैं या उनकी इकली-दुकली आवाज सुनाई देती है। सूरदास की इस प्रकार की कविताओं में जो जन-सभागम है, वह अद्भुत है। ऐसे स्थलों पर तो कवि का भक्तरूप गौण और जनवादी रूप अधिक प्रत्यक्ष हो उठा है। जब ग्वाल-वाल किसी बात को लेकर कृष्ण को खिजाते और चिढ़ाते हैं, और तालियाँ पीट-पीटकर हँसते हैं, तो साफ हो जाता है कि सूर ऐसे स्थलों

पर अपने आराध्य कृष्ण के साथ न होकर या तो हुजूम के साथ हैं, आनन्द और कौतुक से तालियाँ पीट रहे हैं, या दर्शक बनकर दूर खड़े होकर जन-समागम और भक्त और भगवान् के परिहास और क्षोभ का तमाशा देख रहे हैं।

सूरदास की कविता में जन सामान्य के संगी-साथी गाछ-वृक्ष, नदी-तीर, परपट-कछार, पेड़-पौधे, गाय-बछड़े आदि जिस रूप में और जिस मात्रा में आये हैं, उससे कवि की जनवादिता स्पष्ट उभर कर सामने आती है। भक्ति के अन्तर्लोक में डूबे हुए कवि को इतना अवकाश कहाँ है कि वह बाहर की दुनिया को इस सम्पूर्णता और विविधता के साथ देख और चित्रित कर सके। यह काम तो कोई ऐसा कवि ही कर सकता है जिसका रोम-रोम माटी-पानी, गर्द-गुबार और खून-पसीने की गंध में डूबा हुआ हो।

सूरदास के उद्धव को उनकी गोपियाँ जिस प्रकार निरुत्तर करती हैं, वह तत्त्ववाद, पांडित्य और आभिजात्य की तुलना में जनविश्वास का उदग्र आस्था-घोष ही है। उद्धव यहाँ विशिष्ट जन के प्रतीक और प्रवक्ता हैं। उनका एक विशिष्ट वर्ग-चरित्र है। गोपियाँ भोली-भाली जनता का प्रतिरूप हैं। जनता को तत्त्ववाद से नहीं बरगलाया जा सकता। उद्धव और गोपियों का यह प्रसंग निर्गुण-सगुण का आख्यान-प्रत्याख्यान हो सकता है, लेकिन वह पढ़े-लिखे लोगों के वाग्जाल के सामने जनता का मार्मिक और प्रभावी वक्तव्य नहीं है, यह कौन कहेगा?

●

पाई पाई है रे भैया, कुंज कुंज मैं टाली।
अबकैं अपनी हटकि चरावहु, जैहैं भटकी घाली।
आवहु बेगि सकल दहुँ दिसि तैं, कत डोलत अकुलाने?
सुनि मृदु वचन देखि उन्नत कर, हरषि सबै समुहाने।
तुम तौ फिरत अनत हीं ढूँढ़त, ये वन फिरतिं अकेली।
वाकी गई कौन पैंडैं ह्वै, सघन बहुत द्रुम वेली।
सूरदास प्रभु मधुर वचन कहि हरषित सबहिं बुलाए।
नृत्य करत आनँद गो चारत सबै कृष्ण पै आए।

सूरसागर ११२१

■



सूर का सामाजिक सोच

डॉक्टर रमेश चन्द्र सिंह

सूर का सामाजिक सोच क्या था ? क्या वह सोच आज के भारतीय समाज के लिए भी प्रासंगिक है ? फिर आज का हमारा समाज पहले की तरह दुनिया से अलग-थलग अस्तित्व तो रखता नहीं, इसलिए प्रश्न यह भी है कि क्या सूर का सोच मनुष्यमात्र को स्वीकार्य हो सकता है।

पर दिक्कत यह है कि सूर के विचारों को उनकी कविता से पूरी तरह अलगाया नहीं जा सकता। अनुभूति के रस में घुल कर वे सूर की भाव-प्रतिमाओं में इस तरह विलीन हो गये हैं कि उनकी कोई अलग सत्ता दीखती ही नहीं। पर यह सूर की कविता का दोष नहीं, उसकी उत्कृष्टता का प्रमाण है। सुप्रसिद्ध फ्रांसीसी कवि पॉल वेलरी इसे श्रेष्ठ काव्य का एक प्रमुख लक्षण मानता है। उसका कहना है कि जिस तरह फल में उसका पोषक तत्त्व छिपा रहता है, उसी तरह श्रेष्ठ कविता में विचारों की स्थिति होती है। फल के पोषक तत्त्व को हम देख नहीं पाते, हमें केवल उसके स्वाद का अनुभव होता है। इसी तरह श्रेष्ठ काव्य में विचार निहित रहते हैं, पर प्रतीति हमें महज आनन्द की होती है। सूर काव्य में भी विचार अनुभूति में इस कदर ढल गये हैं कि भाव-समीकरणों के रूप में भी वे हमें नहीं मिलते।

तब, सूर के सामाजिक सोच तक पहुँचने का रास्ता क्या है ? सच पूछा जाये तो सीधा रास्ता एक भी नहीं। सूर के दार्शनिक दृष्टिकोण को समझने के लिए समीक्षकों ने अक्सर पुष्टिमार्ग की ओर से चलकर सूर-काव्य पर विचार किया है। उनके सामाजिक सोच के उद्‌घाटन के लिए भी हमारे पास क्या पुष्टिमार्ग के अतिरिक्त कोई दूसरी राह नहीं है ? पर सोचने की बात यह है कि सूर का क्या अपना विचार कुछ भी नहीं था ? क्या यह सच नहीं कि वल्लभाचार्य से मिलने के पहले सूर महात्मा के रूप में प्रतिष्ठा पा चुके थे ? हमें यह मानने में आपत्ति नहीं होनी चाहिए कि सूर जैसे अन्तर्दृष्टिसम्पन्न महात्मा के पास जीवन और जगत् के सम्बन्ध में कुछ अपने विचार निश्चय ही रहे होंगे। समाज और व्यक्ति के अन्तः-सम्बन्धों पर उनकी निजी दृष्टि भी होगी। तभी तो अनेक सम्प्रदायों के रहते हुए भी सूर ने पुष्टिमार्ग का ही वरण किया। पर सूर के निजी सोच को हम पायें कैसे ? एक तो सूर-काव्य में विचारों की सत्ता ही खोयी हुई है, दूसरे उनके अपने विचारों को पुष्टिमार्ग की साम्प्रदायिक धारणाओं से तोड़ कर अलग लेना क्या सम्भव है।

ऐसे में मेरा एक विनम्र सुझाव है। जब सीधा रास्ता उपलब्ध नहीं है तो क्यों न हम सूर-सागर में चोर-दरवाजे से प्रवेश करें ! 'चोर दरवाजे' से मेरा आशय उन आख्यानक प्रसंगों से है, जो सूरसागर के नितान्त हल्के अंश माने जाते हैं। काव्य की दृष्टि से ये इतने हल्के पड़ते हैं कि कहा जा सकता है कि सूर यहाँ सूर नहीं हैं। इन आख्यानक प्रसंगों में अधिकांश ऐसे हैं जिन्हें श्रीमद्भागवत से तद्वत उठा कर

रख दिया गया है। इनमें न सूर की कल्पना का उन्मेष मिलता है, न उनकी भाषा का लालित्य। बड़े बेमन से इनकी रचना की गयी है सिर्फ आज्ञापालन के लिए या परम्परा के निर्वाह के लिए। पर इन प्रसंगों में ही कतिपय स्थल ऐसे भी हैं, जहाँ परम्परा-पालन के दायित्व से मुक्त हो भागवत का आधार छोड़कर सूर ने नये आख्यानों की योजना की है, या फिर भागवत से लिये गये आख्यानों में नया अर्थ भरा है। इन स्थलों पर ही सूर के समाज-चिन्तन की मोटी-मोटी रेखाएँ उभर आयी हैं। या यों कहें, कृष्ण के व्यक्तित्व का सामाजिक पक्ष उद्‌घाटित हुआ है। आख्यान कई हैं, पर मैं केवल तीन ले रहा हूँ। इनसे केवक एक संकेत मिलता है कि सूर का सामाजिक सोच क्या था!

पहला आख्यान श्रीधर ब्राह्मण का है। पूतना का वध हो चुका था। कंस दुश्चिन्ता में पड़ा हुआ था कि अब वह क्या करे। नन्दसुत को मारने की कौन सी विधि अपनाये? गोकुल किसे भेजे? तभी उसका एक सेवक ब्राह्मण श्रीधर उपस्थित हुआ और उसने कृष्ण की हत्या करने का बीड़ा उठाया। कंस ने उसे तत्काल गोकुल भेजा। श्रीधर के ब्राह्मण होने के कारण यशोदा ने उसे आदर के साथ घर में बिठाया और उसके भोजन का इन्तजाम करने में व्यस्त हो गयीं। स्वच्छ जल लाने के लिए कृष्ण को सूने घर में अकेला छोड़ कर वे यमुना गयीं। इधर अच्छा मौका देखकर श्रीधर कृष्ण को मारने के लिए आगे बढ़ा। कृष्ण उसकी नीयत जानकर सोचने लगे कि ब्राह्मण को मारना तो उचित नहीं, तब क्यों न इसका अंग-भंग कर दिया जाय! ज्यों ही श्रीधर उनके निकट आया, उन्होंने श्रीधर की गर्दन चाँप कर उसकी जीभ मरोड़ डाली। इतना ही नहीं, बर्तन फोड़कर चारों तरफ दही ढरका दिया और उसके मुख पर कुछ दही पोत दिया। उसके बाद पालने पर आकर, लेटकर उन्होंने रोना शुरू कर दिया। इसी समय यशोदा आ गयीं। इस दृश्य को देखकर क्रुद्ध हो उन्होंने श्रीधर से पूछा कि उसने ऐसा क्या किया कि कृष्ण इतना रो रहे हैं! पर ब्राह्मण के मुख में जीभ हो तब तो कुछ कहे। अत्यन्त तिरस्कृत करके वह घर से निकाल दिया गया।

यह आख्यान भागवत में नहीं मिलता। काफी खोज के बाद भी शोधकर्ताओं ने इस आख्यान को किसी अन्य पूर्ववर्ती ग्रन्थ में अब तक नहीं पाया है। इसलिए यह मानना अनुचित नहीं कि सूर की यह नितान्त मौलिक योजना है। पर इसका आशय क्या है? ऊपर-ऊपर से ऐसा लगता है मानो सूर वर्ण-व्यवस्था के समर्थक हैं। सामाजिक जीवन में वे ब्राह्मण के श्रेष्ठत्व को स्वीकार करते हैं। 'बाँभन मारैं नहीं भलाई'—कृष्ण के इस सोच का अन्य अर्थ हो भी क्या सकता है। लेकिन, गोजाति के प्राणी भी ब्राह्मण से कम पूज्य नहीं होते। पर सूर ने वत्सासुर का वध अपने कृष्ण से कराया, फिर बाँभन का क्यों नहीं? जवाब में कोई कह सकता है कि वत्सासुर असुर था, पर श्रीधर असुर नहीं था। लेकिन था तो वह 'करम-कसाई', परम भागवत-विरोधी, फिर भी सूर को उसका वध वांछनीय नहीं लगा। क्यों?

मेरा ख्याल है कि इस आख्यान का एक दूसरा निष्कर्ष भी निकलता है जो पहले निष्कर्ष से कहीं अधिक संगत है! हमें मालूम है कि मध्य युग तक ब्राह्मण इस देश के बुद्धिजीवी के रूप में स्वीकृत रहा है। श्रीधर को यदि हम इस बुद्धिजीवी का प्रतीक मानें, तो कोई आपत्ति नहीं होनी चाहिए। फिर जिह्वा का पर्याय वाणी है, जो ज्ञान-विज्ञान की प्रकाशिका होती है। यह वाणी जब स्वार्थ-सिद्धि का साधन बन जाती है तब अपनी सारी पवित्रता खो बैठती है। ब्राह्मण ज्ञान का अधिकारी नहीं रह जाता। अन्यायी व्यवस्था का पोषक बन कर उसका ज्ञान अपने अस्तित्व की सार्थकता भी गँवा बैठता है। मेरी समझ से सूर ने इस आख्यान द्वारा इस तथ्य को ही संकेतित किया है। फिर सूर ने श्रीधर का वध नहीं करवाया पर मृत्यु-दंड से भी कठोर दंड क्या उसे नहीं दिलवाया! श्रीधर की जीभ मरोड़ दी गयी, अपमानित हो घर से उसे बहिष्कृत होना पड़ा और कंस के यहाँ भी उसको पुनः जगह नहीं ही मिली होगी।

दूसरा आख्यान महाराने के पाण्डे का है। यह आख्यान भी भागवत में नहीं मिलता। महाराने के पाण्डे, कृष्ण-जन्म का समाचार सुन कर एक दिन व्रज आये। यशोदा ने बड़ी श्रद्धा से उनके चरण धोकर घर में बिठाया। शुद्धता के साथ उनके रसोई बनाने के लिए यशोदा ने अपना घर लिपवाया और गाय दुहवाकर दूध, घी आदि सामग्री पाण्डे के समक्ष रख दी। पाण्डे प्रेम से खीर बनाकर और रसोई परोस कर भगवान का ध्यान करने लगे। पर आँख खोलकर देखा तो उनकी परोसी हुई थाली में कृष्ण खा रहे हैं। यशोदा ने यह देखा, अपने बेटे के व्यवहार से अत्यन्त लज्जित होकर पाण्डे से क्षमा माँगी और रसोई की सारी सामग्री एकत्र कर पुनः पाण्डे को दी। पर इस बार भी कृष्ण ने बनी बनायी रसोई जूठी कर दी। इस पर यशोदा ने कृष्ण को खूब डाँटा और कहा कि वह क्यों पंडितजी को बार-बार चिढ़ा रहा है। वे अपने ठाकुर को भोग लगाते हैं, पर क्यों वह हर बार रसोई जूठी कर डालता है? कृष्ण का उत्तर था—'क्या करूँ माँ! तू मुझे क्यों दोष देती है? देखती नहीं यह पाण्डे अनेक प्रकार से मेरा ध्यान कर रहा है। आँखें बन्द कर, हाथ जोड़कर, मेरा ही नाम तो बार-बार ले रहा है। कृष्ण की इन बातों को सुनकर पांडे को अपनी भूल का अहसास हुआ। क्या भूल थी पांडे की?

भूल यह थी कि महाराने के पाण्डे ने बच्चों को जाति-पाँति के भेद-भाव से ऊपर नहीं समझा। इस बात को भी नहीं समझा कि बच्चे निर्दोष और निर्मल चित्तवाले होते हैं। वे ईश्वर के रूप हैं। इसलिए इस प्रत्यक्ष ईश्वर को विस्मृत कर जो व्यक्ति ईश्वर को जाति-पाँति और आचार-सम्बन्धी शुद्धताओं में ढूँढ़ता चलता है, उससे बड़ा मूर्ख और कोई नहीं। जिस समाज में बच्चों के प्रति स्नेह और आदर नहीं होता, वह समाज धर्म का ढोंग चाहे जितना कर ले, है वह निहायत पतित और गिरा हुआ। इस जीवित प्रत्यक्ष देवत्व को उपेक्षित करनेवाला व्यक्ति धार्मिक नहीं हो सकता। महाराने के पाण्डे की कथा, जाति-पाँति के संस्कारों पर सूर की एक मीठी पर अत्यन्त मार्मिक टिप्पणी है।

तीसरा आख्यान यज्ञ-पत्नियों का है। यह आख्यान श्रीमद्भागवत में आया जरूर है, पर सूर ने इसमें अपना अर्थ भरा है। एक दिन वन में गाय चराते-चराते कृष्ण के सखा गोप-बालकों को भूख लगी। निकट ही ब्राह्मणों का एक यज्ञ हो रहा था। कृष्ण ने ग्वालों से कहा कि वहाँ जाकर वे भोजन की याचना करें। ग्वाले गये, पर ब्राह्मणों ने भोजन देने से साफ इन्कार कर दिया। कहा कि जिस रसोई को उन्होंने यज्ञ के लिए तैयार किया है, उसे वे ग्वालों को पहले कैसे खिला दें। पहले खाने का हक तो ब्राह्मणों को है। ग्वाले लौट आये। तब कृष्ण ने समझा बुझा कर उन्हें पुनः यह कहकर भेजा कि इस बार वे भोजन ब्राह्मणों से नहीं, उनकी पत्नियों से माँगें। ब्राह्मण-पत्नियाँ उनकी भक्त हैं, वे अवश्य भोजन दे देंगी। सचमुच ही स्त्रियों ने इसे अपना भाग्य माना और उन्होंने न केवल ग्वालों को तरह तरह के पकवान दिये बल्कि कृष्ण के लिए व्यंजनों के थाल सजा कर चल पड़ीं। कई ब्राह्मण-पुरुषों ने अपनी पत्नियों को रोका, पर कृष्ण के प्रेम में वे इतनी बावली थीं कि जाति-पाँति और घर के सारे बन्धन उनके लिए तुच्छ थे।

इस कथा का आशय भी स्पष्ट है। सूर इसके द्वारा बस इतना ही कहना चाहते हैं कि वह ज्ञान किस काम का, जो कर्मकांड में इतना उलझ जाये कि सामान्य मनुष्य की भूख और पीड़ा के प्रति भी उसमें संवेदना न रहे। यज्ञ-पत्नियाँ अनपढ़ थीं। शास्त्र का अभ्यास उन्होंने नहीं किया था। पर भाव-संवलित होने के कारण उन्हें इस बात का ज्ञान था कि भूखों की सेवा ही भगवान की सेवा है। भागवत में रंतिदेव की कथा आयी है। वहाँ भी भक्त का सबसे बड़ा गुण सेवा-भाव ही माना गया है। इस बल पर ही यज्ञ-पत्नियों ने भगवान का सान्निध्य प्राप्त किया। और उनके पास था भी क्या! श्रीमद्भागवत में यज्ञपत्नियों की कथा की समाप्ति यज्ञ पुरुषों के इस कथन से होती है—

अहोपश्यत नारीणामपि कृष्णे जगद्गुरौ।
दुरन्तभावं योऽविन्ध्यन्मृत्युपाशान् गृहाभिधाम्॥
नासां द्विजाति संस्कारो न निवासो गुरावपि।
न तपो नात्ममीमांसा न शौच न क्रियाः शुभाः॥
अथापि ह्युत्तमश्लोके कृष्णे योगेश्वरेश्वरे।
भक्तिर्दृढ़ा न चास्माकं संस्कारादिमतामपि॥ १०।२३।४१-४३

स्त्रियों के पास न तप का बल था, न पवित्र और शुभ संस्कार और न कोई अच्छा कर्म। शूद्र से बेहतर हैसियत मध्ययुग में स्त्रियों की नहीं थी। पर मात्र मानवीय संवेदन के बल पर इन्होंने परम पुरुषोत्तम को पा लिया।

सूरसागर में आख्यान और भी हैं। गोवर्द्धन-धारण का प्रसंग है, काली-दमन की कथा है, विभिन्न असुरों के संहार की कथाएँ भी हैं। पर इनकी चर्चा व्यापक रूप से हो चुकी है, इसलिए हम इनका उल्लेख नहीं करना चाहते। पर उपर्युक्त तीन आख्यानों के आधार पर ही यदि हम सूर के समाज-चिन्तन का स्वरूप निर्मित करें, तो वह कुछ यों होगा—

(१) सूर मनुष्य के सहज धर्म में आस्था रखते थे। उन्हें वह धर्म स्वीकार नहीं था जो मनुष्य की उपेक्षा करके, उसकी भूख, प्यास और पीड़ा को तुच्छ समझकर किसी अदृश्य लोक के ईश्वर की उपासना करता हो। सूर के लिए मनुष्य ही ईश्वर है। हर बालक में उन्हें ईश्वरत्व दिखायी पड़ा है।

इसीलिए सूर ने कृष्ण को अपना आराध्य बनाया था। कृष्ण एक ऐसे देवता की कहानी है जो हमेशा मनुष्य बनने की कोशिश करता रहा है। लोहिया ने लिखा है—'कृष्ण ने इन्द्र को हराया, बास लेनेवाले देवों को भगाया, खानेवाले देवों को प्रतिष्ठित किया, हाड़, खून और मांस वाले मनुष्य को देव बनाया, जनगण में भावना जागृत की कि देव को आसमान में मत खोजो, खोजो यहाँ, अपने बीच, पृथ्वी पर। पृथ्वीवाला देव खाता है, प्यार करता है, मिलकर रक्षा करता है।' सूर को कृष्ण शायद इसीलिए प्रिय थे। महाराने के पाण्डे की कथा हो या यज्ञ-पत्नियों की या फिर गोवर्द्धन-धारण की, इन सब कथाओं द्वारा सूर ने मनुष्य की सहज प्रवृत्तियों में ही देवत्व को उद्घाटित किया है।

इस मानव-धर्म का ही उद्घोष आज के युग में स्वामी विवेकानन्द और महात्मा गांधी ने किया है। स्वामी विवेकानन्द ने तो स्पष्ट कहा—'मैं उस धर्म में आस्था नहीं रखता जो स्वर्ग में तो परम आनन्द प्रदान करता हो, पर इस संसार में मुझे एक रोटी भी नहीं दे सकता।' बाइबिल की एक उक्ति है कि 'अगर तुम अपने भाई से प्रेम नहीं कर सकते, जिसे तुमने देखा है, तब तुम उस भगवान से कैसे प्रेम कर सकते हो, जिसे तुमने कभी नहीं देखा।' इसी बात को स्वामी विवेकानन्द ने भी कहा है। उनके शब्दों में ही रखूँ—'If you cannot see God in the human face, how can you see Him in the clouds or in images made of dull dead matter or in more fictitious stories of your brain. (अगर तुम भगवान को मनुष्य के चेहरों में नहीं देख पाते, तो कैसे तुम उसे बादलों में निर्जीव पदार्थों से बनी हुई प्रतिमाओं में, या फिर अपनी कल्पित कथाओं में देख सकोगे?) महात्मा गांधी के दरिद्रनारायण की कल्पना भी क्या इस मानव-धर्म पर ही आधारित नहीं है।

(२) सूर ने यह भी माना है कि ज्ञान को कंस का नहीं, कृष्ण का सेवक होना चाहिए। जो ज्ञान कंस का सेवक होगा, उसके अस्तित्व की कोई सार्थकता नहीं है। आइन्सटीन की पीड़ा यही थी कि आज वैज्ञानिकों ने अपनी विद्या को लोक-कल्याण के विधान में न लगाकर राजनीतिज्ञों की सत्ता की भूख को तुष्ट करने में लगाया है। इसलिए उनकी विद्या मनुष्य के लिए घातक हो उठी है। रूस के सुप्रसिद्ध वैज्ञानिक शाखारोव के संघर्ष का प्रमुख मुद्दा भी यही है कि बुद्धिजीवियों को विवेकशील आचरण की स्वतंत्रता मिलनी

चाहिए। एक स्वस्थ और लोकतांत्रिक समाज के लिए यह आवश्यक है कि ज्ञान न्याय का पक्षधर बने। पर दुनिया के प्रायः सभी देशों में व्यवस्था की यह कोशिश रहती है कि वह महज उसका सेवक बनकर रहे, कंस का आनुगत्य स्वीकार करे।

(३) सूर कबीर की तरह तीखे शब्दों में वर्ण-व्यवस्था पर चोट नहीं करते। पर तुलसी के समान वर्ण-व्यवस्था के पक्षधर भी नहीं हैं। सूरसागर में ऐसे अनेक स्थल हैं जहाँ वर्ण पर आधारित तत्कालीन सामाजिक जीवन का उन्होंने वर्णन किया है। पर्वों, त्यौहारों और सामाजिक अनुष्ठानों के चित्रण में वस्तुवादी दृष्टि अपनाते हुए उन्होंने वर्ण-व्यवस्था पर आधारित समाज के विविध पक्षों को उभारा है। पर सूर ने वर्ण-व्यवस्था के समर्थन में कुछ भी नहीं लिखा। वर्ण-विषमता का उल्लेख जहाँ भी सूर ने किया है, या तो सामाजिक जीवन के चित्रण के लिए या फिर कटूक्तियों के रूप में। कुब्जा को लेकर गोपियाँ कृष्ण पर व्यंग्य करते हुए कहती हैं—

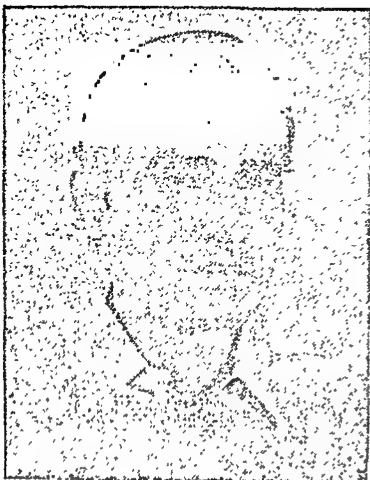
> कंस बध्यौ कुबिजा कौं काज।
> और नारि हरि कौं न मिली कहुँ, कहा गँवाई लाज॥
> जैसैं काग हंस की संगति, लहसुन संग कपूर।
> जैसैं कंचन काँच बराबरि, गेरू काम सिंदूर॥
> भोजन साथ सूद्र ब्राह्मण के, तैसौ उनको साथ।

या फिर—

> खेलत मैं को काकौ गुसैयाँ।
> हरि हारे, जीते श्रीदामा बरबस हीं कत करत रिसैयाँ।
> जाति-पाँति हमतैं बड़ नाहीं, नाहीं बसत तुम्हारी छैयाँ।

इस तरह की अनेक उक्तियाँ सूर-सागर में मिल जायेंगी। पर इनसे महज उस काल की सामाजिक स्थिति का परिचय मिलता है, यह नहीं लगता कि सूर इस व्यवस्था के समर्थक हैं। सच तो यह है कि जिन तीन आख्यानों का मैंने उल्लेख किया है, वे तीनों ही ब्राह्मणों से ताल्लुक रखते हैं। और इन तीनों आख्यानों के द्वारा उन्होंने ब्राह्मणवाद का प्रत्याख्यान कराया है। लेकिन ब्राह्मण-विरोध और ब्राह्मणवाद का विरोध—इन दोनों को मैं एक नही मानता, कुछ उसी तरह जिस तरह कि हम वणिक्-वृत्ति का विरोध तो करते हैं, पर वणिकों का नहीं। कबीर और सूर दोनों ही ब्राह्मणवाद के कट्टर विरोधी थे। ब्राह्मणवाद का मतलब है, शुद्धता के नाम पर चलनेवाला मिथ्या आचार, कर्मकाण्डी ज्ञान और जाति-संस्कार से उद्भूत अहंकार। इसका विरोध सूर और कबीर दोनों ने किया है। पर यह एक विडम्बना है कि कबीर के समाज-चिन्तन को जितना उभारा गया है उतनी ही उपेक्षा सूर के समाज-चिन्तन की की गयी है। शायद इसलिए कि सूर में कबीर की ओजस्विता नहीं है, पर सूर इसकी पूर्ति अपनी तरल संवेदना से करते हैं। इस तरह दोनों महाकवियों ने सहज मनुष्य को ही अपनी कविता का विषय बनाया और एक ऐसे समाज की कल्पना की जो जाति-पाँति और धार्मिक कर्मकाण्ड के पूर्वाग्रहों से मुक्त हो।

आधुनिक और मध्ययुग की मूल मानवीय प्रवृत्तियों में कोई विशेष अन्तर आया हो, ऐसा मुझे नहीं लगता। अन्तर है तो इतना कि धर्म का स्थान अब राजनीति ने ले लिया है और राजनीति के टोने-टोटके और कर्मकाण्डी व्यापार इस कदर फैल गये हैं कि मनुष्य इनके बीहड़ जाल में खो गया है। हमारे बीच एक नये किस्म का ब्राह्मणवाद फैल रहा है। इससे यदि मुक्ति नहीं मिली, तो भौतिक उन्नति चाहे जितनी हो जाये, हमारा सांस्कृतिक विकास नहीं हो सकता। इस बिन्दु पर ही सूर का समाज-चिन्तन हमारे लिए ही नहीं, सारी मानव-जाति के लिए अपनी अर्थवत्ता रखता है। आज भी हमारे बीच श्रीधर, महाराने के पाण्डे और यज्ञपुरुषों की कमी नहीं है। ऐतिहासिक सन्दर्भ की भिन्नता के कारण इनका रूप भले ही बदल गया है, पर हैं ये हमारे ही बीच। ■



सूरदास के काव्य की प्रासंगिकता

डॉक्टर हरदयाल

समय के साथ-साथ साहित्य के मूल्यांकन के मानदण्डों में परिवर्तन होता रहता है। इस परिवर्तन के कारण युगविशेष में यदि एक कवि का महत्त्व बढ़ जाता है, तो दूसरे का महत्त्व घट जाता है। जब समय फिर बदलता है, तो कवियों या अन्य साहित्यिकों के महत्ता-क्रम में भी अन्तर आ जाता है। जिन भाषाओं के साहित्य का इतिहास कुछ लम्बा है और जिनमें मूल्यांकन की कोई परम्परा बनी है, उनमें इसके उदाहरण खोजना कठिन काम नहीं है। आधुनिक काल से पूर्व के कवियों में "सूर सूर तुलसी ससी, उडुगन केसवदास" की उक्ति के अनुसार सूर का पहला, तुलसी का दूसरा और केशव का तीसरा स्थान निश्चित किया गया। केशव के स्थान को लेकर विवाद नहीं हुआ; तुलसीदास और सूरदास के स्थान को लेकर विवाद हुआ। उक्त उक्ति में परिवर्तन किया गया। तुलसीदास को रवि बनाया गया और सूरदास को शशि। केशवदास उडुगन ही रहे। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने सूरदास की महत्ता को स्वीकार किया, किन्तु अपनी कसौटी के अनुसार तुलसीदास को सूरदास से बड़ा कवि सिद्ध किया। उन्होंने केशव को ऐसी जगह पटका कि कोई उन्हें ऊपर न उठा सका। नयी कविता के दिनों में जब कवि-कर्म काव्य-वस्तु की अपेक्षा अधिक महत्त्वपूर्ण हो उठा, कविता में भावना की अपेक्षा बौद्धिक सजगता अधिक महत्त्व की चीज समझी जाने लगी, तब अज्ञेय ने हिन्दी के प्राचीन कवियों में केशव को प्रासंगिक पाया और नये सिरे से उनका मूल्यांकन किया। किन्तु केशव चर्चा के केन्द्र में नहीं आ सके, क्योंकि हिन्दी में 'शुद्ध कविता' की खोज तो हुई, लेकिन वह अधिक समय तक चल नहीं पायी। आचार्य शुक्ल की कसौटी पर कबीरदास भी खरे नहीं उतरे थे। कबीर को फिर से प्रतिष्ठित करने में आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी को सफलता मिली। द्विवेदी जी को कबीर को पुनर्प्रतिष्ठित करने में सफलता इसलिए भी मिली कि समय कबीर के अनुकूल था। समय कबीर के कितना अनुकूल था, इसका अनुमान इससे लगाया जा सकता है कि हिन्दी कवियों की युवा पीढ़ी ने प्राचीन कवियों में उन्हें अपने लिए सबसे अधिक प्रासंगिक पाया। नयी पीढ़ी के कवियों और आलोचकों को लगा कि हमारे प्राचीन कवियों में एकमात्र 'आधुनिक' कवि कबीर थे। कवियों के एक ग्रुप ने अपना नाम ही 'कबीर पीढ़ी' रख लिया। द्विवेदी युग में देव और बिहारी को लेकर घमासान युद्ध हुआ था। इससे हम परिचित हैं। लेकिन यह वहीं तक सीमित रह गया, आगे नहीं बढ़ा। छायावादी कवियों में प्रसाद, पन्त और निराला की महत्ता का क्रम पिछले पचास वर्षों में बराबर बदलता रहा है। इन तीनों कवियों में निराला पहले सबसे अधिक उपेक्षित रहे, किन्तु आज वे छायावादी कवियों में सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण माने जाते हैं। मुक्तिबोध का उदाहरण भी हमारे सामने है। इन सबसे यह स्पष्ट होता है कि किसी भी कवि

या साहित्यकार का कोई भी मूल्यांकन अन्तिम नहीं है। समय और अभिरुचि में परिवर्तन के साथ-साथ कवियों-साहित्यकारों के पुनर्मूल्यांकन की आवश्यकता बार-बार उपस्थित होती रहती है।

पुनर्मूल्यांकन का प्रश्न अनिवार्यतः प्रासंगिकता का प्रश्न है। पश्चिम में भौतिक विज्ञानों के विकास ने साहित्यमात्र की और विशेष रूप से कविता की प्रासंगिकता पर प्रश्नचिह्न लगाया। इसका उत्तर देने के लिए अँग्रेजी के प्रसिद्ध रोमांटिक कवि शैली ने 'ए डिफेन्स ऑफ पोइट्रि' नामक प्रवन्ध की रचना की। इसी प्रश्नचिह्न का उत्तर देते हुए गेटे ने कहा—

And who the voice of poesy disdains
Is a barbarian, be he who he may.

पश्चिम में आलोचना के कई सिद्धान्तों का आविष्कार इस प्रश्नचिह्न से मुक्ति पाने के लिए हुआ। इसकी कुछ झलक हिन्दी आलोचना में भी हमें मिलती है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल जब अपना निवन्ध 'कविता क्या है' लिख रहे थे, तव यह प्रश्नचिह्न उनके मस्तिष्क में विद्यमान था। इसीलिए उन्होंने अपने इस निवन्ध में 'कविता की आवश्यकता' पर भी विचार किया। कविता की आवश्यकता के विषय में उनका विचार लगभग वही है जो रिचर्ड्स और गेटे का है। शुक्ल जी ने लिखा है कि "मनुष्य के लिए कविता इतनी प्रयोजनीय वस्तु है कि संसार की सभ्य-असभ्य सभी जातियों में, किसी न किसी रूप में, पाई जाती है। चाहे इतिहास न हो, विज्ञान न हो, दर्शन न हो, पर कविता का प्रचार अवश्य रहेगा। वात यह है कि मनुष्य अपने ही व्यापारों का ऐसा सघन और जटिल मण्डल बाँधता चला आ रहा है, जिसके भीतर वँधा-वँधा वह शेष सृष्टि के साथ अपने हृदय का सम्बन्ध भूला-सा रहता है। इस परिस्थिति में मनुष्य को अपनी मनुष्यता खोने का डर बरावर रहता है। इसी से अन्तःप्रकृति में मनुष्यता को समय-समय पर जगाते रहने के लिए कविता मनुष्य-जाति के साथ चली आ रही है और चली चलेगी। जानवरों को इसकी जरूरत नहीं।" तमाम व्यावसायिक प्रतिद्वन्द्विता के वावजूद कविता आज भी जीवित है। इससे रामचन्द्र शुक्ल आदि की स्थापना सत्य सिद्ध होती है।

जव तक मानव-जाति जीवित है, तव तक कविता भी जीवित रहेगी—यह असंदिग्ध है। यह वात सामान्यतः कविता के विषय में जितनी सच है, क्या कवि-विशेष की कविता के विषय में भी उतनी ही सच है? यहीं तो सूरदास की कविता की प्रासंगिकता का प्रश्न उठता है। सूरदास ने अपनी काव्य-रचना १५वीं-१६वीं शताब्दी में की थी। उस समय उत्तरी भारत में भक्ति की लहर आई हुई थी। आज वह स्थिति नहीं है। आज भी अनेक लोग भक्ति-भावना से प्रेरित हैं। अनेक 'भगवान्' और 'वावा' आधुनिक जीवन की भौतिक सुविधाओं का भोग करते हुए भक्तों का 'उद्धार' कर रहे हैं, किन्तु भक्ति-भावना आधुनिक जीवन की मूल प्रवृत्ति नहीं है। वह किनारे पड़ी हुई एक वहुत क्षीण-सी धारा है। आज के जीवन के सन्दर्भ में वह अप्रासंगिक है और जो लोग उसके साथ वह रहे हैं, वे भी अप्रासंगिक हैं। इसलिए सूरदास के काव्य को केवल भक्तिकाव्य के रूप में देखना, उसी रूप में उसकी सार्थकता खोजना प्रासंगिक नहीं होगा। आज जव प्रासंगिकता की वात की जाती है, तव सामान्यतः उसका स्थूल अर्थ लिया जाता है, और वह यह कि आज जो सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक स्थितियाँ हैं, उनमें सूर का काव्य कहाँ तक सार्थक है। कवीर के काव्य के अनेक तत्त्व ऐसे हैं जो आज की समस्याओं से सीधे सम्वद्ध हैं। धार्मिक-सामाजिक आडम्वर, ऊँच-नीच, छूआछूत का विरोध, धर्मगत उदारता, रूढ़ियों के प्रति विद्रोह की भावना और एकदम जनसामान्य की भाषा और मुहावरे में अपनी वात कहना आदि ऐसी चीजें हैं जो कवीर को हमारे विलकुल निकट ले आती हैं। किन्तु सूरदास में ऐसी चीजें नहीं हैं जो उन्हें हमारे निकट लाती हों। उन्होंने तो कृष्ण, गोप और गोपिकाओं के यौन जीवन का वहुत कुछ समाज-निरपेक्ष चित्रण किया है।

उनके काव्य का समाज आदिम कृषक-गोपालक समाज है, लेकिन उस समाज की आर्थिक, सामाजिक या राजनैतिक आदि समस्याओं का चित्रण सूरदास ने नहीं किया है। इसलिए आज जबकि साहित्य का मूल्यांकन उसके वर्गीय आधार पर किया जाता है और साहित्य को सामाजिक परिवर्तन के एक अस्त्र के रूप में देखा जाता है, सूरदास का काव्य एकदम अप्रासंगिक हो उठता है। आज के भौतिकवादी युग में उस आध्यात्मिक दर्शन की प्रासंगिकता भी संदिग्ध है जिसे सूर के काव्य का आधार माना जाता है। हाँ, दो बातें ऐसी अवश्य हैं जो भौतिकवादी दृष्टि से सूर के काव्य को कुछ प्रासंगिक बनाती हैं। पहली बात है भ्रमर-गीत-प्रसंग में निराकार ब्रह्म, वैराग्य, नीरस ज्ञान और योग-साधना का खण्डन। दार्शनिक स्तर पर यह सूर की मौलिक उद्भावना नहीं थी। यह तो वल्लभाचार्य की उद्भावना थी। लेकिन सूरदास ने इसे जो काव्यात्मक रूप दिया, वह सूर की अपनी चीज है। सूरदास ने निराकार ब्रह्म, योग और वैराग्य के विरोध में जो तर्क और युक्तियाँ प्रस्तुत की हैं, वे इतनी सहज और जनसामान्य के जीवन से गृहीत हैं कि आज भी उनकी प्रभावशीलता कम नहीं हुई है। सूरदास का उद्देश्य उस दृष्टि से भौतिक जीवन का प्रतिपादन करना नहीं था जिस दृष्टि से आज किया जाता है। लेकिन उनके तर्क और युक्तियाँ भौतिक जीवन के पक्ष में जाते हैं। *दूसरी बात है यौन जीवन का चित्रण। सूरदास के कृष्ण और गोपियों के बीच का प्रेम मात्र* भावात्मक नहीं है; उसमें खूब शारीरिक भोग है। राधा और कृष्ण के बीच बड़े स्वाभाविक ढंग से प्रेम उत्पन्न होता है—

खेलत हरि निकसे ब्रज खोरी।
कटि कछनी पीताम्बर बाँधे, हाथ लए भौंरा चक-डोरी॥
मोर मुकुट कुण्डल स्रवननि बर, दसन-दमक दामिनि-छवि छोरी।
गये स्याम रवि-तनया कैं तट, अंग लसति चन्दन की खोरी॥
औचक ही देखी तहँ राधा, नैन विसाल भाल दिये रोरी।
नील वसन फरिया कटि पहिरे, वेनी पीठि रुलति झकझोरी॥
संग लरिकिनी चलि इत आवति, दिन थोरी अति छवि तन गोरी।
सूर स्याम देखत ही रीझे, नैन-नैन मिलि परी ठगोरी॥

नयनों के मिलने से यह जो ठगोरी पड़ती है, वह मात्र भावना तक सीमित नहीं रहती, शारीरिक स्पर्श भी उसमें आता है। राधा साँप के काटने का बहाना करती हैं और कृष्ण गारुड़ी बन जाते हैं। उन्होंने "कछु पढ़ि-पढ़ि करि, अंग परसि करि, विष अपनो लियो झारि।"

कृष्ण इससे भी आगे बढ़ते हैं। वे केवल राधा तक ही सीमित नहीं रहते। वे राह चलती गोपियों से न केवल 'यौवनदान' माँगते हैं, बल्कि बलात् छीनते भी हैं—

कान्ह अब लँगराई हौं जानी।
माँगत दान दही कौ अबलौं, अब कछु औरै ठानी॥
....
छाँड़ि देहु अँचरा फटि जैहै, तुमकौं हम पहिचानी।
× × × × × ×
बन मैं पराई नारि रोकि राखी बनवारि,
जान नहिं देत हौ जू कौन ऐसी लँगरी।
माँगत जोबनदान, भले हौ जू भले कान्ह,
मानत न कंस आन, बसि ब्रज नगरी॥

कवहुँक चुम्बन देत उरज धरि, अति सकुचति तनु बाम ॥

....

वहुरि काम-रस भरे परस्पर, रति बिपरीत बढ़ाई।
सूर स्याम रतिपति विह्वल करि, नारि रही मुरझाई ॥

अगर इस वात को नज़रअन्दाज कर दिया जाये कि राधा, कृष्ण तथा अन्य गोपियों की रति-लीला आध्यात्मिक है, तो इसे स्वच्छन्द या मुक्त यौनाचार ही कहा जायेगा। आदिम समाज में यह विद्यमान था। सभ्यता के विकास के मध्यम चरण में अनेक प्रकार के बन्धन इस पर लगे। इन बन्धनों के नीचे मनुष्य की जैविकता छटपटाती रही—इसका प्रमाण न केवल मध्यकालीन साहित्य और कलाएँ हैं बल्कि वे अनेक व्यवस्थाएँ हैं जिनका सम्बन्ध धर्म और समाज, दोनों से है। बौद्धों के महायान सम्प्रदाय की अनेक साधना-विधियाँ, सामन्ती व्यवस्था में रखेलों की प्रथा, वेश्यावृत्ति, देवदासी प्रथा आदि कुछ उदाहरण हैं। इस सत्य को अपनी विकसित बौद्धिक क्षमता और वैज्ञानिक उपलब्धियों के सन्दर्भ में आज के उन्नत समाज ने फिर पहचाना है और वह उसी यौन-स्वच्छन्दता की ओर बढ़ रहा है जिसका चित्रण हमें सूर के काव्य में मिलता है। सूर के यौन-चित्रण की एक विशेषता यह भी है कि यौनानन्द अपने आप में लक्ष्य है। यौन उपभोग का लक्ष्य सन्तानोत्पत्ति नहीं है। कृष्ण के सम्पर्क के कारण किसी गोपी के कोई सन्तान उत्पन्न नहीं हुई। यौन-सम्पर्क से मिलनेवाले आनन्द का स्वयं अपने आप में लक्ष्य होना उन्नत समाज का प्रमुख लक्षण और एक प्रमुख उपलब्धि मानी जाती है। स्त्री-पुरुष का सेक्स-सम्बन्ध उन्हें समाधि की दशा तक ले जाता है, इसका प्रतिपादन आचार्य रजनीश जैसे लोग आज भी कर रहे हैं और हमारी तान्त्रिक साधना-पद्धति में पहले भी किया गया है। "देश और काल की सीमा से वाहर निकलने का एक मार्ग योग है, किन्तु उसकी दूसरी राह नर-नारी-प्रेम के भीतर से भी निकलती है, मनुष्य का यह अनुमान अत्यन्त प्राचीन है।" तन्त्र-साधना और अभिनव मनोविज्ञान, दोनों इसको मानते हैं। काम-सुख की उदात्त अवस्था समाधि जैसी होती है। सामान्य जैविक स्तर से ऊपर उठ सकने की क्षमता रखनेवालों को—

तत्पाणिस्पर्शसौख्यं परमनुभवति सच्चिदानन्दरूपम्।
तत्रासीद् वाणभिन्ना रमणरतिपतेर्योगनिद्रां गतेव ॥

पशु और मनुष्य के मैथुन में यही अन्तर हो जाता है। "काम-शक्ति पशु-जगत् में आवश्यकता और उपयोग की सीमा में है। मनुष्य में आकर वह ऐसे आनन्द का कारण बन गयी है, जो निष्प्रयोजन, निस्सीम और निरुद्देश्य है। वह नित्य नये-नये पुलकों की रचना करती है, नयी-नयी कल्पनाओं को जन्म देती है और मनुष्य को नित्य नये-नये स्फुरणों से अनुप्राणित रखती है। यह सच है कि काम के क्षेत्र में पशुओं को जो स्वाधीनता प्राप्त है, वह मनुष्य को नहीं है। किन्तु काम-जन्य स्फुरणों, प्रेरणाओं और सुखों का जो अनन्तव्यापी प्रसार मनुष्य में है, वह कल्पनाहीन जन्तुओं में नहीं हो सकता। और मनुष्यों में भी जो लोग पशुता से जितनी दूर हैं, वे काम के सूक्ष्म सुखों का स्वाद उतना ही अधिक जानते हैं।" (दिनकर, 'उर्वशी' की भूमिका।) यही काम-सुख सूर के काव्य की एक प्रमुख प्रवृत्ति है। सूर के काव्य में यौन-चित्रण में वैसा खुलापन भी है जैसा युवा पीढ़ी की कविता में हमें देखने को मिलता है, किन्तु उसमें युवा पीढ़ी की कविता जैसी आक्रामकता और भदेसता नहीं है।

प्रत्यक्ष स्तर पर आज सूर के काव्य की प्रासंगिकता का एक सन्दर्भ उपर्युक्त हो सकता है। लेकिन प्रासंगिकता की यह कसौटी बहुत संकुचित है। प्रासंगिकता की इतनी स्थूल और सीमित कसौटी लेकर चलना तो कविता को विकृत करना और मारना होगा। निस्संदेह कोई भी कवि अपने समय की उपज

होता है, किन्तु हर बड़ा कवि अपने समय को अतिक्रमित भी करता है। जो कवि अपने समय को अतिक्रमित कर पाने में समर्थ हो पाता है वही तो कालजयी कवि है, उसी की कविता तो काल-पृष्ठ पर अमर अक्षरों में अंकित होती है। जो कवि अपने समय की सीमाओं को अतिक्रमित नहीं कर पाता है, उसकी रचनाएँ या तो समय के साथ मर जाती हैं या फिर अप्रासंगिक हो जाती हैं। यहाँ विचारणीय बात यह है कि कविता के वे कौन-से तत्त्व हैं जो अपने समय के बाद भी उसे जीवित और सम्प्रेष्य बनाये रखते हैं। सामान्यतः कविता के विचार, भाव और इन्द्रिय-बोध—ये तीन मूल तत्त्व कहे जा सकते हैं। ये परस्पर असम्बद्ध नहीं हैं। यदि रचना कृत्रिम ढंग से गढ़ी गयी नहीं है तो ये एक दूसरे में परस्पर गुँथे होंगे, लेकिन विश्लेषण करने पर इन्हें अलगाया जा सकता है। इनमें से कविता में सबसे पहले पुरानी पड़नेवाली चीज विचार है। बहुत-से विचार जो एक समय में बड़े महत्त्वपूर्ण और प्रभावशाली होते हैं, वे ही दूसरे समय में निरर्थक और निर्जीव हो जाते हैं। यह काल के साथ-साथ देश और व्यक्ति के सन्दर्भ में भी सच है। देश के स्वाधीन होने के साथ ही अनेक तथाकथित 'राष्ट्रीय' कविताओं की प्रभावशीलता समाप्त हो गयी, 'राष्ट्र कवियों' का अवमूल्यन हो गया, लेकिन छायावादी कवियों की कविताओं की प्रभावशीलता कम नहीं हुई। इसीलिए कि उनमें सूत्रबद्ध विचारों का वैसा उद्गीरण नहीं था जैसा 'राष्ट्रीय कविताओं' में था। यहाँ यह भी कह देना उचित होगा कि कुछ विचार ऐसे भी होते हैं जो लम्बे समय तक पुराने नहीं पड़ते हैं बल्कि कभी-कभी वे बहुत प्रासंगिक हो उठते हैं। उदाहरण के लिए तुलसीदास की निम्नलिखित पंक्ति को एक वर्ष पहले समाप्त हुई आपातस्थिति के सन्दर्भ में स्मरण करें, तो तुलसी कितने प्रासंगिक लगने लगते हैं—

धीरज धरम मित्र अरु नारी।
आपत्काल परखिये चारी॥

यहाँ 'आपत्काल' शब्द भी रेखांकित करने योग्य है।

कविता में विचार जितनी जल्दी पुराना पड़ता है, भाव उतनी जल्दी पुराने नहीं पड़ते हैं। मनुष्य की मूल भावनाएँ तो ऐसी हैं जो देश-काल की सीमाओं का अतिक्रमण करके मानवमात्र के हृदय को एक सूत्र में बाँधती हैं। ये ही भावनाएँ कविताओं को अमर बनाती हैं। इन्हीं भावनाओं को जब व्यक्ति ठोस स्तर पर अनुभव करता है तो इन्द्रियानुभूति होती है। इन्हें शाश्वत कहा जा सकता है। निस्संदेह भावना-विशेष एक कही जा सकती है, लेकिन उसका भावन एक नहीं होता है। वह हर व्यक्ति का अलग-अलग और विशिष्ट होता है। जो कवि भावनाविशेष को जितनी अधिक तीव्रता और विविधता में अनुभव करता है और उस अनुभव को जितना अधिक भाषा में बाँध पाता है, यानी उसे पाठकों तक सम्प्रेष्य बना पाता है, वह उतने ही अधिक समय तक प्रासंगिक बना रह पाता है। वाल्मीकि, कालिदास, भवभूति आज भी जीवित हैं तो इसीलिए। इन्हें अप्रासंगिक कहनेवाले भी मिल सकते हैं, लेकिन वे अपनी ही मूढ़ता और अविवेक का परिचय देनेवाले होंगे। मनुष्य को मनुष्य बनाये रखने और उसे पशुता से ऊपर उठानेमें इन तथा इन ऐसे कवियों की महत्त्वपूर्ण भूमिका रही है। ऐसे ही कवियों की रचनाओं ने मनुष्य की अनुभूति-क्षमता को निरन्तर विकसित, विस्तृत और परिष्कृत किया है। पाठक की अनुभूति-क्षमता का विकास, विस्तार और परिष्कार प्रासंगिकता की मौलिक कसौटी हो सकती है।

प्रासंगिकता के इस निकष पर सूरदास खरे उतरते हैं। सूरदास के काव्य का केन्द्र दो भावनाएँ हैं, वात्सल्य और स्त्री-पुरुष विषयक रति। ये दोनों भावनाएँ मनुष्य की मूल भावनाएँ हैं—चाहे बिल्कुल आदिम अवस्था का मनुष्य हो या बीसवीं शताब्दी का सभ्य-सुसंस्कृत मानव। जिन व्यक्तियों में इन भावनाओं का अभाव मिलता है या स्वाभाविक रूप नहीं मिलता है, उन्हें सहज मानव न मानकर मनुष्यता का अपवाद ही मानना चाहिए। सूर ने इन दोनों भावनाओं का जितना विस्तृत और गहरा साक्षात्कार

किया था, उतना संसार के कम ही कवियों ने किया होगा। सूरदास ने अपनी बन्द आँखों से एक अनूठा संसार देखा था। बच्चों के रूप और चेष्टाओं के तथा उसके प्रति माता-पिता तथा अन्य जनों की प्रतिक्रियाओं के न जाने कितने चित्र सूर ने अंकित किये हैं। कृष्ण के नीचे उद्धृत बाल-चित्र नितान्त लौकिक हैं और सामान्य से सामान्य जन के घर में वे आज भी देखे जा सकते हैं और उनपर माता-पिता को मुग्ध होते हुए भी देखा जा सकता है—

कत हौ आरि करत मेरे मोहन तुम आँगन मैं लोटी।
जो चाहौ सो लेहु तुरत हीं, छाँड़ौ यह मति खोटी।
सूरदास कौ ठाकुर ठाढ़ौ हाथ लकुटिया छोटी॥

× × × × × ×

सोभित कर नवनीत लिये।
घुटरुनि चलत रेनु तन मंडित मुख दधि लेप किये॥

× × × × × ×

सिखवति चलन जसोदा मैया।
अरबराइ कर पानि गहावत, डगमगाइ धरनी धरै पैया॥

यदि ये चित्र आज भी नये-ताजे हैं और हमारे अनुभव-जगत के अभिन्न अंग हैं, तो ये अप्रासंगिक कैसे हैं! नीचे उद्धृत यशोदा का कथन आज भी किसी ऐसी माँ के मनोभाव को व्यक्त करनेवाला हो सकता है जिसका 'अपना' पुत्र 'पराया' हो गया हो—

सँदेसौ देवकी सौं कहियौ।
हौं तौ धाइ तिहारे सुत की मया करत ही रहियौ॥
जदपि टेव तुम जानति उनकी, तऊ मोहिं कहि आवै।
प्रात होत मेरे लाल-लड़ैतें, माखन रोटी भावै॥

स्त्री-पुरुष विषयक रति का जितना स्वाभाविक, विस्तृत और गहरा चित्रण सूरदास ने किया है, उतना कम ही कवियों ने किया होगा। इस रति के मानसिक और शारीरिक दोनों पक्षों का चित्रण है। शारीरिक पक्ष के चित्रण में मांसलता कम नहीं है। मांसलता के कुछ उदाहरण ऊपर दिये जा चुके हैं। सूर के कृष्ण और गोपियों के बीच बड़े स्वाभाविक ढंग से और बड़ी स्वाभाविक परिस्थितियों में प्रेम उत्पन्न होता है। बचपन की क्रीड़ाएँ किशोरावस्था की क्रीड़ाओं से होती हुई यौवन की क्रीड़ाओं में कब बदल जाती हैं, इसका पता न कृष्ण को लगता है, न गोपियों को। संयोग में आनन्दातिरेक के कारण गोपियाँ अत्यधिक उल्लसित और चपल हैं। ठीक इसी अनुपात में वियोग में वे नितान्त अवसन्न हो जाती हैं। वियोग में भी उनकी चपल प्रकृति की झलक उनकी विदग्धता और सहज तर्क में व्यक्त होती है जब वे अपने मन की भड़ास भ्रमर के बहाने भ्रमरगीत-प्रसंग में निकालती हैं। सूरदास ने संयोग और वियोग, दोनों में मानव-मन का बड़ा सूक्ष्म अध्ययन प्रस्तुत किया है। इससे हमारे अनुभव-जगत् का विस्तार और परिष्कार होता है।

वस्तुतः सूरदास के काव्य की प्रासंगिकता को समझने के लिए आज उसके अध्ययन की पद्धति को बदलने की आवश्यकता है। अब हमें सूर को मात्र कवि के रूप में देखना चाहिए, भक्त के रूप में नहीं। उनके काव्य में जो मनोभाव व्यक्त हुए हैं, उन्हें मनुष्य के शाश्वत मनोभावों के सन्दर्भ में परखना चाहिए। यदि हम सूर के काव्य का अध्ययन इस दृष्टि से करेंगे तो उसकी प्रासंगिकता को लेकर हमारे मन में प्रश्न नहीं उठेगा!

●

सूरदास की प्रासंगिकता

डॉक्टर विश्वम्भर नाथ उपाध्याय

"मानव-मस्तिष्क उसी तथ्य का ज्ञान प्राप्त कर सकता है, जो उसकी सृष्टि हो"—यह अभिमत लेटिन की एक उक्ति[1] के आधार पर प्रसिद्ध विचारक और इतिहास-विद्या के प्रस्थापक विचो (वीको) ने व्यक्त किया था। इसका अर्थ यह है कि मनुष्य, मानव निर्मित वस्तुओं और विद्याओं का ही ज्ञान प्राप्त कर सकता है। प्रकृति का ज्ञान मनुष्य को पूर्णतः नहीं हो सकता, क्योंकि वह मानवकृत नहीं है। मनुष्य काव्य, कला, इतिहास, गणित आदि को समझ सकता है, लेकिन वह प्रकृति के रहस्यों को पूरी तरह नहीं समझ सकता।

इसके विपरीत देश-विदेश के रहस्यवेत्ता, साधक, योगी, पैगम्बर और ऋषि-मुनि यह कहते आये हैं कि मनुष्य की चेतना में ऐसी शक्ति है कि वह ध्यान, धारणा और समाधि से ब्रह्माण्ड के रहस्यों का भेदन करती हुई अदृश्य, अलक्ष्य और परम-सत्ता को भी जान सकती है और उसके साथ मिलकर एक हो सकती है।

वल्लभाचार्य और सूरदास इस द्वितीय मत के माननेवालों में से हैं। उस सर्वव्यापक तत्त्व को किस प्रकार जाना जा सकता है? वल्लभ और सूरदास का मत है कि यह सूक्ष्म सत्ता के साथ तादात्म्य (आइडैन्टीफिकेशन) द्वारा सम्भव है। यह तादात्म्य इच्छा-शक्ति पर निर्भर है या उस अदृश्य परम सत्ता की कृपा पर? सूरदास मानते हैं कि यह उस शक्ति के अनुग्रह अथवा पुष्टि पर निर्भर है। अनुग्रह की आकांक्षा रखने से भेदबुद्धि जगानेवाला अहंकार नष्ट हो जाता है और जीव-चेतना या मानव-चेतना मूल तत्त्व पर एकाग्र होकर, सब कुछ उसी पर छोड़ कर, पुष्टि प्राप्त करती है; तब लीला में प्रवेश मिलता है।

"लीला" क्या है? यह बोध कि प्रकृति और प्राणि-जगत् में परम चिन्मय सत्ता या अस्तित्व अपना आविर्भाव कर रहा है। यदि प्रत्यक्ष जगत् जड़ नहीं है, चिन्मय है, उसमें यदि कोई परम शक्ति प्रकट हो रही है, तो यह उसी दिव्य सत्ता का खेल होगा, क्योंकि खेल या लीला के सिवा अन्य किसी और प्रयोजन से तो इस संसार की रचना सिद्ध नहीं हो सकती।

जगत् को ब्रह्म की लीला न मानने पर या तो शंकराचार्य की तरह चैतन्यमात्र को सत्य मान कर जगत् को माया या भ्रम सिद्ध करना पड़ेगा अथवा जड़वादियों की तरह जगत् को मात्र भौतिक सत्ता मानना होगा। दोनों ही दशाओं में प्रश्न होगा कि सृष्टि क्यों? भ्रमात्मक या जड़ात्मक प्रकृति की रचना क्यों की गई? वल्लभ के मतानुसार एक ही उत्तर ठीक लगता है कि यह सब भगवान् या अचिन्त्य

१— वेरुम एत फाक्तुम कोनवर्तुन्तूर।

अस्तित्त्व का खेल है और खेल का कोई प्रयोजन नहीं होता। लीला का उद्देश्य आनन्द है, अतएव संसार में सुख-दुःखादि खेल के प्रकार हैं। यदि इनमें पारमार्थिक प्रयोजन मान लिया जाये, तो जीवन की प्रत्येक स्थिति में भक्त आनन्द का अनुभव कर सकता है।

'सर्वं दुःखं दुःखम्, सर्वं क्षणिकं क्षणिकम्' की बौद्धचेतना, जो योगियों के अखाड़ों और गुह्य समाजों में मध्यकाल में भी प्रचलित थी, विश्व को विश्वम्भर ब्रह्म की लीला माननेवाले सूरदास के विश्वबोध से टकराती है। अपने "भ्रमरगीत" में सूरदास दृष्टिकोणों की इस टकराहट का परिचय देते हैं। संसार और मानव जीवन की सहज आकांक्षाओं को पाप मान कर, उनके दमन द्वारा, अमूर्त्त या निराकार सत्ता के आभासों में निमग्न रहनेवाले योगियों और ज्ञानियों का वे परिहास करते हैं और मानव-भावनाओं को, विशेषकर प्रेम-भावना को, पाप नहीं पुण्य ठहराते हैं, क्योंकि परमेश्वर कृष्ण प्रेम का देवता है। वह सबके प्रेम का विषय हो, यही साधना है। चूँकि वह जगत् में प्रकट हो रहा है, अतः प्रत्येक पदार्थ में उसकी झलक मिलती है, प्रत्येक बालक में बालकृष्ण है, प्रत्येक प्रेममय हृदय में गोपीवल्लभ रम रहा है। यह सब जो आकर्षण-विकर्षण का संसार है, सौन्दर्य और शिव है, उत्थान-पतन, लाभ-अलाभ, रोग-शोक, जय-पराजय, पश्चात्ताप-पराक्रम की दुनिया है, यह सब जगत् में व्याप्त और साथ ही उसमें मूर्त्तित परम-सत्ता की क्रीड़ा है। जैसे मंच पर शोक-भय-वीभत्सादि का अभिनय आनन्द देता है, उसी प्रकार प्राणी यदि सुख-दुःखादि में ईश्वरीय लीला की अनुभूति करें, तो दुःख कहाँ है?

यहाँ यह सिद्ध करने की आवश्यकता नहीं है कि मध्यकाल में इस देश पर मध्य एशिया के आक्रान्ताओं के आक्रमण हो रहे थे और चारों तरफ आतंक, भय और विनाश का वातावरण था। वल्लभाचार्य ने कृष्ण-स्तुतियों में बार-बार कहा है कि ऐसे दुष्काल में कृष्ण ही गति है—कृष्ण एव गतिर्मम।

इसका मतलब क्या था? इसका मतलब यह था कि वल्लभ के दर्शन के आधार पर सूरदास ने ब्रजमण्डल में पददलित लोगों के मनोबल को दुरुस्त रखने के लिए आनंदवादी पदों का प्रवाह उपजाया था। इस आनंदवाद में मात्र 'सिद्धावस्था' नहीं थी, जैसा कि आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने समझ लिया था। यह एक पूरे देश और मानवता को पाशविक वृत्तियों से बचाने का प्रयत्न था। यह कार्य पलायन सिखाने वाला नहीं था बल्कि युद्ध को भी लीला मानकर, संघर्ष में भी निश्चिन्त और मस्त रहने का उपदेश था। यही कारण है कि सूरदास के कृष्ण, कंस-कौरवादि साम्राज्यवादियों और आततायियों के विरुद्ध युद्ध की लीला करते हैं। आततायी वध्य है और यह वध या संहार लीलाभाव से हो, परेशान हुए बिना हो, साधारण जनता को संगठित करके हो, यह संदेश सूरदास के लीलागायन में है। तभी "जय गिरिराज जी की" कहकर आततायी राजाओं— बादशाहों और उनके परपीड़क सामन्तों के विरुद्ध इस देश में युद्ध का वातावरण बना था।

अभी तक किसान-विद्रोहों का अध्ययन इस दृष्टि से नहीं हुआ है। क्या कारण है कि वैष्णवों की लीलापरक व्याख्याओं के प्रभाव से जाट, बुन्देले, मराठे और सिक्ख किसान, भूमिहीन कृषक और श्रमिक तथा अन्य साधारण लोग संगठित होकर, जनसाधारण पर आधिपत्य जमाकर बलपूर्वक प्रजा का शोषण-दमन और प्रतिष्ठा-हरण करनेवालों के खिलाफ खड़े हो गये थे। यह लड़ाई जुल्म के खिलाफ थी, किसी मजहब के खिलाफ नहीं; यों पीड़क के विरुद्ध संघर्ष में प्रजा, पीड़क के विश्वासों पर भी चोट करती है। अंततः प्रजा के विश्वासों का अनादर करना परपीड़क और आक्रान्ता अपना धर्म समझते थे।

सूरदास का काव्य सामाजिक लक्ष्यों की घोषणा नहीं करता, जैसा कि तुलसीदास का काव्य करता है, लेकिन सूर का आनंदवाद सामाजिक हितों का अविरोधी ही नहीं, पूरक और प्रेरक भी है। वह एक ओर प्राणी और प्रकृति मात्र से प्रेम करना सिखाता है तो दूसरी ओर 'दुष्टदलन' को भी लीला मानता

है। पलायनवादी को इस आनंदवाद की उपलब्धि तब होती जब वह यह मानता कि आततायी से भी प्रेम करना चाहिये।

प्रेम की कोमलतम अनुभूतियों का जो महासागर सूरदास ने रचा है, वह विश्व की किसी भी भाषा में दुर्लभ है, लेकिन मात्र प्रेम तक ही सूर के कृष्ण सीमित नहीं हैं। कृष्ण साम्राज्यवादी कंस के विरुद्ध व्रजमंडल के पशुपालकों और आम जनता को **"गुरिल्ला युद्ध"** में दीक्षित करते हैं और संगठित जन-शक्ति के बल पर कंस का मानमर्दन करते हैं, जरासंध का वध कराते हैं, नरकासुर का नाश करते हैं और कौरवों का उन्मूलन कराते हैं।

प्राचीन ब्राह्मण पौरोहित्य यज्ञयाग का विश्वासी था, अतः इन्द्र को महत्त्व देता था। कृष्ण जनबल पर ब्राह्मण पौरोहित्य की उपेक्षा कर इन्द्र के स्थान पर 'जनता-जनार्दन' की पूजा कराते हैं, क्योंकि कृष्ण जनमय हैं, जनता-जनार्दन हैं।

कृष्ण सोलह कला के पूर्णावतार हैं, अतः सूरदास के आनंदवाद में किसी न्यूनता की कल्पना, दुष्ट-कल्पना होगी। कृष्ण की लीलाओं में सर्वत्र लीला-विघ्नकारकों के लिए प्राण-दण्ड का विधान है। जनता का जो सहज, आनंदमय तथा भावनाओं से भरा साधारण जीवन है, वह पवित्र है, स्पृहणीय है, उसमें बाधक बनने वालों का विनाश ही युद्ध-क्रीड़ा है, जिसके बिना न रास-रंग संभव है, न जनराज्य!

कृष्ण मदगर्वित, दुर्दमनीय और उच्छृङ्खल यादवों को भी नहीं छोड़ते; स्वयं कृष्ण-बलराम उन्हें अपने हाथों से मारते हैं, और लीला-समाप्ति जानकर संसार को छोड़ देते हैं।

पराक्रम के बिना प्रेमी के प्रति प्रेमियों की श्रद्धा स्थायी नहीं हो सकती। गोप-गोपियाँ और अन्य लोग, कृष्ण को मात्र "छैला" ही नहीं, अपना त्राता और संरक्षक भी मानते थे। कोरा विलासी देवता जनसाधारण का आराध्य नहीं हो सकता था।

और प्रेम पर इतना अधिक बल देने के पीछे भी एक सामाजिक लक्ष्य था। जातीय और मजहबी कटुता और वैमनस्य को दूर करना तभी संभव था जब प्रेम के देवता का मिथक खड़ा किया जाता। मध्यकाल में विज्ञान और समाजशास्त्र के अभाव में मिथकों की सृष्टि द्वारा ही समाज-मनोविज्ञान को बदला जा सकता था। कार्लमार्क्स ने धर्म को जनता के लिए अफीम बताया है, इस अर्थ में कि उच्च-वर्गीय धर्म-पुरोहित, जन-असंतोष भड़कने न देने के लिए धर्म का प्रयोग करते थे। परन्तु अन्यत्र मार्क्स ने यह भी लिखा है कि धर्म मनुष्य के दुःख को प्रकट करने का भी माध्यम है और उस दुःख के विरुद्ध विरोध प्रकट करने का भी माध्यम धर्म ही रहा है।

सूरदास का काव्य जनता के वास्तविक दुःखों को प्रकट करने और उनके विरुद्ध विरोध प्रदर्शित करने का भी अस्त्र है। वह मानवजीवन की पुष्टि (एफ़र्म) करता है और निषेधवादियों का विरोध करता है। वह मानव भावनाओं को मुक्ति या स्वतंत्रता का साधन सिद्ध करता है और मानव-अस्तित्व की श्रेष्ठता का आधार कोमल भावनाओं में खोजता है। वहाँ कुंठा, निराशा, निषेध, पलायन, दमन और शोषण का समर्थन नहीं है। अतएव सूरदास और अन्य कृष्ण भक्त कवियों का काव्य उस महान पुनर्जागरण (रिनेसाँ) का अनुगामी प्रयत्न है जो मध्यकालीन अंधकार संकीर्णता, परपीड़न और पशुबल प्रदर्शन के युग में **मानवीयता का कीर्तन** करता है और जो आज भी अपने इंसानी-तसव्वुर और महाभाव के कारण अद्वितीय लगता है।

सूर मानवप्रेम के आज भी सर्वोच्च कवि हैं। आधुनिक कवि प्रसाद, अज्ञेय, निराला, पन्त, महादेवी, मुक्तिबोध, कोई भी प्रेम-कवि के रूप में सूरदास की समकक्षता नहीं प्राप्त कर सके। यह गौरव तुलसीदास भी नहीं पा सके—

"सूर सूर, तुलसी ससी, उडुगन केशवदास !"

तुलसी का "ब्राह्मणवाद" आज आरोप और आलोचना का विषय है, उनका विधि-विधान, स्मृतियों पर आधारित है, अतः वर्गहीन समसमाज की संरचना में तुलसीदास प्रतिक्रियावादी नजर आते हैं, यों उनके 'रामराज्य' की मिथ से गांधी जी ने लाभ उठाया था। परन्तु सामाजिक क्रान्तिकारियों को 'रामराज्य' की परिकल्पना वर्गीय समाज की ही परिकल्पना लगती है। उसमें शोषणमुक्त 'जनराज्य' की परिकल्पना की गुंजायश नहीं है। इसके विपरीत आज की आत्मनिर्वासित (सेल्फ-एलिअॅनेटिड) समाज-व्यवस्था में वर्ग-वर्ण-जाति-मजहब से पीड़ित भारतीय समाज में, सूरदास का जीवन-प्रेम आत्म-निर्वासन को दूर कर, मानव-मानव के मध्य प्रेम का परितोष देता है। अ-लगाव को लगाव ही दूर कर सकता है, यह आश्वासन सूरदास ही देते हैं।

सूरदास के काव्य में नैतिक आतंक नहीं है, जैसा तुलसीदास में है। सूर में प्रेमजन्य स्वतःस्फूर्त्त नैतिकता है। सूर का काव्य नैतिकता-निरपेक्ष (एमॉरल) अथवा नैतिकता विरोधी (ऐंटि-मॉरल) नहीं है, क्योंकि प्रेम में सूरदास एकनिष्ठता के गीत गाते हैं। इसके सिवा सूर रासलीला में अलौकिक तत्त्व की उद्भावना कर यह भी बताते हैं कि कृष्ण का महाविलास एक मिथक है, परमात्मा का खेल है, वह सर्व-साधारण के लिए विधेय नहीं है; अतएव कृष्णलीलाओं का जो रहस्य है, वह मानव-प्रेम और प्राणी-प्रेम है और यह प्रेम ही मानव-जीवन को सार्थकता और आनन्द देता है।

पुरुषजाति के अत्याचारों को देखकर वल्लभाचार्य ने गोपियों के प्रेम को अनुकरणीय बताया था; नारी का अंतःकरण कोमल वृत्तियों का आगार होता है, अतः भक्त वही है जो कोमल-हृदय हो और जिसमें नारी के व्यक्तित्व के प्रति सम्मान हो।

सूरदास का काव्य, विधि-निषेध से परे होने के कारण 'आधुनिक' लगता है जबकि तुलसीदास का विधान कठोर है। इस 'आधुनिकता' के सिवा सूरदास के काव्य में प्रेम का जो गूढ़ मनोविश्लेषण है, वह आज तक बेजोड़ है। जो तन्मयता सूर में है, वह कहीं नहीं है। शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध के अनेक नए पक्षों और संवेदनाओं का पूरा महासागर ही सूरदास ने उत्पन्न कर दिया है। सौन्दर्य और प्रेम के इतने विस्मयकारक प्रारूप और विन्यास सूरदास में हैं, उनमें इतनी मुद्राओं, चेष्टाओं, छवियों और छटाओं का अनन्त सृजन है, उसमें इतनी वक्रोक्तियों और नूतन बिम्बों का विधान है कि सूर की प्रतिभा से पाठक, शोधक, अध्यापक और साधक चकित रह जाते हैं। सागर अगम्य और अक्षय होता है, उसी प्रकार सूर का काव्य-सागर भी अनंत और अक्षय है। इतने अनुसंधानों, विवरणों व्याख्याओं और भाषणों के बाद भी सूरसागर आधुनिक मनोविज्ञानवेत्ता, समाजशास्त्री, सौन्दर्य-मीमांसक और काव्यशास्त्री के लिए चुनौती देता प्रतीत होता है। गहन से गहन अवगाहन, आलोड़न और विलोड़न सूरसागर की अगम्यता को समाप्त नहीं कर पाता है।

वह देश निश्चय ही भाग्यशाली है, जिसके पास सूरसागर जैसी धरोहर है और यह धरोहर कोई जड़ वस्तु नहीं है; यह तो जीवंत-परंपरा है जो हमारी नस-नस में समाई हुई है। जबतक भारतीयों के पास सूरसागर है और जबतक वे जब वे इस महान काव्यस्रोत से अपने जीवन को सींचते रहेंगे, तबतक वे उस 'भावनात्मक अकाल' से बचे रहेंगे, जिससे आज पश्चिमी सभ्यता पीड़ित है।

■

सूरदास की कविता के प्रगतिशील आयाम

डॉक्टर शिवकुमार मिश्र

जब हम सूरदास अथवा किसी भी पुराने क्लासिक के सन्दर्भ में प्रगतिशील शब्द का प्रयोग करते हैं, तो कुछ लोगों को हैरानी होती है कि आखिर कालिदास, तुलसी, कबीर या सूर में प्रगतिशील तत्त्वों की स्थिति साबित करने का मकसद क्या है। लोगों की इस हैरानी को हम समझते हैं, इसीलिए शुरुआत में ही यह स्पष्ट कर देना चाहते हैं कि सूरदास की कविता के प्रगतिशील आयाम जैसे विषय पर चर्चा करने में हमारा मुख्य उद्देश्य सूरदास और उनकी कविता को उनके समय तथा परिवेश से काटकर आधुनिक अर्थों में प्रगतिशील साबित करना नहीं, वरन् काल के जिस विशेष दौर की उपज सूरदास और उनकी कविता है, उस दौर को मद्दे नजर रखते हुए खास उसके भीतर से यह जानने और पहचानने की कोशिश करना है कि आखिर सूरदास और उनकी कविता की जीवन्तता के वे कौन-से स्रोत और आयाम हैं जो बावजूद एक खास समय और उस समय की मानसिकता के गहरे निशानों के, सूर और उनकी कविता को अपने जन्म के ५०० सालों के बाद भी आज हमारे और हमारे युग के लिए प्रासंगिक बनाये हुए हैं। इस प्रकार कहा जा सकता है कि सूरदास की कविता में प्रगतिशील तत्त्वों की खोज प्रकारान्तर से आधुनिक सन्दर्भों में उसकी प्रासंगिकता की खोज है, और इस खोज के लिए हमारा प्रयास और हमारी बेचैनी महज इस कारण है कि सूरदास हों या दूसरे क्लासिक, समय के जिस मोड़ पर आज हमारी सभ्यता तथा संस्कृति पहुँच चुकी है तथा विकास की जिन नयी मंजिलों की ओर हम अपनी यात्रा प्रारम्भ करना चाहते हैं, हम सूरदास और इन दूसरे क्लासिकों को छोड़कर नहीं चलना चाहते। हम इनसे जुड़े रहना चाहते हैं ताकि हम यह महसूस कर सकें कि सभ्यता तथा संस्कृति की हमारी यह यात्रा कोई एकान्त यात्रा न होकर परम्परा से चली आ रही यात्रा की ही एक अविच्छिन्न कड़ी है, निरन्तर चल रही एक यात्रा है। हम अपने इन पूर्वजों की शानदार विरासत का पाथेय लेकर अपनी अगली यात्रा की निरापदता के प्रति भी आश्वस्त होना चाहते हैं, साथ ही अपनी नयी उपलब्धियों पर गर्व करते हुए उनके अंतर्गत इन पूर्वजों का दाय भी स्वीकार करना चाहते हैं। इसलिए भी हमारा सूर या अतीत के दूसरे क्लासिकों की ओर देखना लाजमी हो जाता है। दूसरे तमाम लोगों की तरह हम परम्परा और परम्परागत संस्कृति को महज चिन्तन की वस्तु नहीं मानते और न महज शौक के लिए या एक सतही किस्म की राष्ट्रीयता की अभिव्यक्ति के लिए हम उसकी चर्चा करते हैं। परम्परा और परम्परागत संस्कृति का उपयोग हम आज की दुनिया में अच्छी तरह जीने के लिए करना चाहते हैं। हम यह जानते हैं कि सभ्यता तथा संस्कृति के क्षेत्र में मनुष्य ने अब तक जो महान् उपलब्धियाँ की हैं, वे प्रारम्भ से लेकर आज तक चल रहे मनुष्य के सम्मिलित प्रयासों का प्रतिफल है। परम्परा तथा परम्परागत संस्कृति के

बारे में हमारी यही समझ हमें हर युग में उनके मूल्यांकन और पुनर्मूल्यांकन के लिए प्रेरित करती है ताकि हम जान सकें कि परम्परा तथा परम्परागत संस्कृति का ऐसा क्या कुछ है जो मात्र रूढ़ि बनकर रह गया है और त्याज्य है, साथ ही वह क्या है जो आज भी हमारे लिए प्रासंगिक बना हुआ है, अथवा जिसे नया अर्थ देते हुए हम आज के सन्दर्भ में प्रासंगिक बना सकते हैं। अतीत के महान् रचनाकारों के कृतित्व की अपने युग में परख तथा पड़ताल भी हम इसीलिए करते हैं कि उसके उस अंश को उस शेष अंश से अलगा सकें जो हमारे लिए आज भी मूल्यवान और प्रेरणास्पद है। हम इसीलिए अपने युग की आवश्यकताओं के अनुरूप उसे नया अर्थ और नयी प्रासंगिकता देते हैं ताकि वह एक जीवित अंश के रूप में हमारी अपनी उपलब्धियों में झलक सके। परम्परागत साहित्य तथा संस्कृति की हमारी यह पड़ताल यदि एक ओर हमें अपनी विरासत के प्रति सजग करती है, उसे संरक्षण देने की प्रेरणा देती है, तो दूसरी ओर वह पुराने तथा नये क्लासिकों के बीच सम्बन्ध-सेतु भी कायम करती है। स्पष्ट ही पुराने क्लासिकों को संरक्षण देकर हम उनके साथ कोई अहसान नहीं करते वरन् जैसा कि हम कह चुके हैं, ऐसा हम अपने हित में करते हैं क्योंकि हम अच्छी तरह एक सम्पूर्ण मनुष्य के रूप में जीना चाहते हैं, अतएव हमारे लिए य; जरूरी हो जाता है कि हम निरन्तर यह महसूस करते रहें कि कोई भी मनुष्य केवल वर्तमान में जीकर ही सम्पूर्ण मनुष्य के रूप में नहीं जी सकता—अतीत, वर्तमान और भविष्य, तीनों कालों की चेतना को आत्मसात करके ही वह सम्पूर्ण मनुष्य के रूप में जीने का अहसास कर सकता है। यदि हम आधुनिक सन्दर्भों में सूरदास की कविता की प्रासंगिकता की खोज करना चाहते हैं, तो इसीलिए कि उसमें ऐसा कुछ है जो अपने युग की सीमाओं तथा अन्तर्विरोधों के बावजूद, अपने युग की मानसिकता का अतिक्रमण करने के कारण आगामी युगों की विरासत बन सका है।

सूरदास में ही नहीं, सच पूछा जाये, तो मध्यकालीन समूचे भक्तिकाव्य में ऐसा कुछ है जो अपनी तमाम सीमाओं के रहते हुए अपने समय के खास सन्दर्भों में अपनी प्रगतिशील भूमिका को उजागर करता है। भक्ति-काव्य की यह प्रगतिशील आकृति हमारे समक्ष उस समय और भी स्पष्ट हो उठती है जब हम उसके पहले के नाथपंथी योगियों और वज्रयानी सिद्धों की कृच्छ तथा गुह्य धर्म तथा रहस्य-साधना एवं सामान्य जन पर पड़नेवाले उसके आतंकदायक चमत्कारी प्रभाव को देखते हैं तथा दूसरी ओर उसके बाद के नायिका-भेद-प्रधान दरबारी रीतिकाव्य और उसके मूल में निहित सामन्ती मानसिकता से साक्षात्कार करते हैं। इन दो छोरों के बीच ३०० वर्षों से भी ऊपर प्रवाहित होनेवाली भक्ति-काव्य की स्रोतस्विनी यदि हमें बलात् अपनी विशिष्ट अहमियत का अहसास कराती है, तो इसमें आश्चर्य की कोई बात नहीं है। भक्तिकाव्य के उद्भव के सन्दर्भ में नाथों और सिद्धों के समाज पर अहेतुक प्रभाव का उल्लेख करते हुए आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने गोस्वामी तुलसीदास की इस उक्ति के साथ कि "गोरख जगायो जोग भगति भगायो लोग", अपनी जो टिप्पणी दी है कि "जिस समय मुसलमान भारत में आये, सच्चे धर्मभाव का बहुत-कुछ, ह्रास हो गया था", वह तत्कालीन सन्दर्भों में भक्तिकाव्य की आवश्यकता तथा उसके प्रगतिशील चरित्र का सही अर्थों में आख्यान करती है। उनका कहना है कि "कालदर्शी भक्त कवि जनता के हृदय को सँभालने और लीन रखने के लिए दबी हुई भक्ति को जगाने लगे। क्रमशः भक्ति का प्रवाह ऐसा प्रबल और विस्तृत होता गया कि उसकी लपेट में केवल हिन्दू जनता ही नहीं, देश में बसनेवाले सहृदय मुसलमानों में भी न जाने कितने आ गये। प्रेमस्वरूप ईश्वर को सामने लाकर भक्त कवियों ने हिन्दुओं और मुसलमानों, दोनों को मनुष्य के सामान्य रूप में दिखाया और भेद-भाव के दृश्यों को हटाकर पीछे कर दिया।" (हिन्दी साहित्य का इतिहास)

यह सही है कि जिस भक्ति-आन्दोलन के प्रवाह में भक्तिकाव्य ने जन्म लिया, कालान्तर में उसका

वही रूप नहीं रह गया, जैसा कि वह प्रारम्भ में था। निर्गुण भक्ति से सगुण भक्ति और सगुण भक्ति में भी सगुण कृष्णभक्ति से सगुण रामभक्ति तक पहुँचते-पहुँचते साधारण जन और उसके प्रतिनिधियों के हाथ से निकलकर उसके सूत्र समाज के प्रभु वर्गों के हाथ में आ गये (इसका एक प्रमाण सगुण रामभक्ति के अन्तर्गत किसी भी उल्लेखनीय मुसल्मान अथवा हरिजन सन्त या भक्त की अनुपस्थिति है), जिस 'मनुष्य-सत्य' को चण्डीदास ने सबसे बड़ा सत्य घोषित किया था और वर्ग-वर्ण की दीवारों पर जबर्दस्त प्रहार करते हुए जिस मानवधर्म को कबीर जैसे अन्य निर्गुण सन्तों ने सबसे बड़ा धर्म बताया था, वे मनुष्य-सत्य और मानव-धर्म भी समाज के प्रभु वर्ग द्वारा अपने हितों के अनुरूप ढाल लिये गये; फिर भी कुल मिलाकर, इतना निर्विवाद रूप से कहा जा सकता है कि समूचे भक्ति-आन्दोलन तथा समूचे भक्ति-काव्य की मूल चेतना मानवतावादी-जनवादी चेतना ही है, और इस मानवतावादी चेतना से विच्छिन्न करके भक्ति-आन्दोलन, भक्ति-काव्य या सूरदास और उनकी कविता को नहीं पहचाना जा सकता। भक्ति-काव्य अपनी समग्रता में मूलतः मानवतावादी काव्य ही है, यह और बात है कि मानवतावादी स्वरों का उद्घोष किसी कवि की रचना में क्रान्तिकारी आस्था के साथ जुड़ा हुआ है, किसी में रागात्मक भूमि पर और किसी में सुधारवादी आशयों के साथ। भक्ति-काव्य की यह वह जमीन है जो अपने में इतनी पुष्ट है कि मात्र उसी के बल पर वह अपने कालजयी होने का दावा कर सकता है। कहना न होगा कि सूरदास की कविता इसी भक्ति-काव्य की उज्ज्वल मणि है, अतएव उक्त स्थापना करते हुए अपने मस्तिष्क में हम उसे केन्द्रवर्ती स्थान दिये हुए हैं।

सवाल है कि सूरदास या इस पूरे के पूरे भक्ति-काव्य की जीवन्तता का स्रोत क्या है ? जो मानवतावाद मूल चेतना के रूप में उसके भीतर स्थित है, उसका आलम्बन कौन है ? कौन है जो जादू बनकर इस सारे के सारे भक्ति-काव्य और सूरदास की कविता के शीर्ष पर चढ़कर बोला है ? कहाँ से सूरदास और उनके समानधर्माओं ने अपने अनुभवों की गहन राशि बटोरी है ? उनकी शिरा-शिरा में रक्त की तरह किसकी वाणी या किसकी आर्त पुकार प्रवाहित हुई है ? उनकी रचनाओं में अभिव्यक्त होनेवाले सुख-दुःख, हर्ष-उल्लास, शोक-सन्ताप किसके हैं ? अपने प्रभु और अपने आराध्य के समक्ष वे किसकी व्यथा-कथा को लेकर प्रस्तुत हुए हैं ? वह कौन-सा हृदय है जिसमें लीन होकर इतनी सरस उक्तियाँ उन्होंने कही हैं ? सूरदास की कविता हो अथवा भक्ति-काल के दूसरे सन्त तथा भक्त कवियों की कविता, जब हम इन तथा इन जैसे दूसरे तमाम सवालों की गहराई में उतरते हैं, तो उनका एकमात्र उत्तर हमें यही मिलता है कि भक्ति-काव्य की जीवन्तता और शक्ति का स्रोत और कुछ नहीं, वह लोक-जीवन ही है जिसे इन भक्त-कवियों ने खुली आँखों से निहारा तथा उसे समूचे वैविध्य और व्यापकता के साथ अपने रचनाकार मानस में आत्मसात किया है। किताबों से बढ़कर इन्होंने अपने देखे हुए और भोगे हुए पर विश्वास किया है। लोक-जीवन का कोना-कोना इन्होंने झाँका है और उसी के भीतर से अपने अनुभवों की राशि जुटायी है। लोक-जीवन के समूचे प्रसार में इन्होंने सामान्य जन के ही—उसकी सम्पूर्ण आशाओं-आकांक्षाओं, सुख-दुख, हर्ष-विषाद के साथ—दर्शन किये हैं, उसीसे उन्होंने एकात्म स्थापित किया है, उसीकी वाणी उनकी रचनाओं में गूँजी है, उसीके सुख-दुख लेकर वे अपने प्रभु के समक्ष प्रस्तुत हुए हैं। उनकी भक्ति का आलम्बन भले ही ईश्वर हो, किन्तु उनका जो मनुष्य-धर्म है, उसका आलम्बन यह सामान्य जन ही रहा है। लोक-हृदय में अपने हृदय को लीन कर, अपनी सरस वाणी से उन्होंने इसी जन की संतप्त छाती को सींचा और शीतल किया है। मनुष्य से, लोक से, जन से, संसार और समाज के राशि-राशि वैविध्य से जुड़ने की बातें तो बहुत लोग करते हैं, लोक हृदय को पहचान लेने का मुगालता भी प्रायः लोगों को हो जाया करता है, किन्तु लोक से, मनुष्य से, लोक और मनुष्य की प्रशस्त तथा

खरी संवेदनाओं से जुड़ना, संसार को उसकी समग्रता में आत्मसात करना तो दूर, पहचान भी पाना, और लोक-हृदय को पहचानकर उससे एकात्म हो जाना, हर व्यक्ति के बूते की बात नहीं है। ये सारी बातें ताक पर रखे किसी सामान की तरह नहीं है कि हाथ बढ़ाकर उन्हें उठा लिया जाये। ये आत्मदान माँगती हैं। जिसमें जन-देवता या लोक-देवता के समक्ष बाहर-भीतर, हर स्तर पर अपने को दे देने का साहस, उत्कंठा और सामर्थ्य हो, वही इनका स्वामी बन सकता है। सूरदास तथा उनके समानधर्माओं में यह सामर्थ्य, यह निष्ठा तथा यह आस्था थी, फलतः वे अपने को शक्ति के उस जीवन्त स्रोत से जोड़ सके जो सैकड़ों वर्षों के बाद आज भी उन्हें जिन्दा बनाये हुए है। उनकी कविता मिसाल है इस बात की कि लोक-जीवन और जन-जीवन से एकात्म होना किसे कहते हैं। वह मिसाल है इस बात की भी कि सामान्य जन से या कि लोक-जीवन से जुड़कर ही कोई रचना कालजयी बन सकती है। सूरदास की कविता हो, या कि भक्तिकाल के दूसरे कवियों की, वह लोक-जीवन से गृहीत प्रामाणिक अनुभूतियों की कविता है और इसीलिए लोक-जीवन को प्रभावित करने में वह इतनी सक्षम भी है। इस कविता के सारे आध्यात्मिक संकेतों को निकाल दिया जाये, उसके साम्प्रदायिक आशयों तथा दार्शनिक निरूपणों को भी तरजीह न दी जाये, उसे महज संसार-सागर की रूप तरंगों से प्रभावित होनेवाली, उसीसे प्रेरणा लेनेवाली विशुद्ध मानवीय और विशुद्ध लौकिक अनुभूतियों की कविता के रूप में अध्ययन और आस्वाद की वस्तु बनाया जाये, तो भी, लोक-जीवन के सौन्दर्य का जो अक्षय कोष उसमें है, मानवीय हर्ष-विषाद और मानवीय जीवन की समग्रता का जो आख्यान उसमें है, लोक की पीड़ा और लोक के उल्लास के जो स्वर उसमें हैं, लोक-जीवन की जितनी खरी और सटीक पहचान उसमें है, मात्र इन सबके बल पर ही वह किसी भी सहृदय के मन पर अपनी अद्वितीयता की छाप छोड़ने में समर्थ है। होगी वह अपने भक्तिपरक, आध्यात्मिक, रहस्यात्मक, साम्प्रदायिक और दार्शनिक-धार्मिक चरित्र के सन्दर्भ में किसी के लिए प्रासंगिक और किसी युग के लिए प्रासंगिक, जहाँ तक हमारा और हमारे अपने युग का प्रश्न है, वह अपनी मानवीय तथा लौकिक आकृति के सन्दर्भ में ही हमारे लिए प्रासंगिक और आस्वाद्य है, और वस्तुतः इसी रूप में एक मूल्यवान विरासत के रूप में वह हमें ग्राह्य भी है। वह हमें ग्राह्य है इसलिए कि उसके रचयिताओं में हमें वह आत्मसम्मान दीख पड़ता है, वह तेजोद्दीप्त वाणी सुन पड़ती है जो अपने आराध्य के अलावा किसी के समक्ष नत नहीं होती, बड़े से बड़े सम्राटों की मनसबदारी को भी लानत मानती है, बड़े-से-बड़े प्रलोभनों के समक्ष भी दीन होना नहीं जानती, उन्हें साहस के साथ ठुकराती है, व्यवस्था तथा स्थापित सत्ता से न केवल समझौता नहीं करती, उसकी अनीति, अन्याय, अनाचार तथा अहंकार की धज्जियाँ उड़ाती है, जन को त्रास देनेवाली शक्ति पर वज्र बनकर टूटती है, जन की व्यथा पर करुणार्द्र हो उठती है। यह उन भक्तों और सन्तों की वाणी है जिन्हें बड़े-बड़े आश्रय मुहैया थे, किन्तु जिन्होंने सारे आश्रयों को ठुकराकर ठेठ जन सामान्य के बीच, उसके हृदय में पैठकर निष्कम्प आस्था के साथ भक्ति के गीत गाये, जिन्होंने अपने आराध्य के सिवा, जिसके प्रति वे सम्पूर्णतः समर्पित थे, और साधारण जन के सिवा जिसके वे प्रतिनिधि थे, किसी से सरोकार नहीं रखा, जिन्होंने मनुष्य को कभी हेय नहीं माना, लोक और उसकी पीड़ा की सच्चाई के प्रति जो सदा सजग रहे, अपनी आस्था का प्रसार जिन्होंने मानव-जगत के विविध रूपों के भीतर ही किया, जिन्होंने मनुष्य में विकास और आत्म-विस्तार की अपार संभावनाएँ देखीं। इन भक्त कवियों की कविता को इसी आधार पर मानव-जीवन की समग्रता की कविता कहा गया है, और यह कथन सर्वथा उचित है।

यह वह भक्ति-कविता है जो मात्र वैराग्य, निवृत्ति अथवा परलोक की चिन्ता नहीं करतीं, जीवन के प्रति असीम अनुराग, लोक-जीवन के प्रति अप्रतिहत निष्ठा तथा प्रवृत्तिपरक जीवन-प्रेम पर भी बल देती है। उसमें रहस्यवाद और मिथकीय चेतना तथा यूतोपिया है तो जीवन का, मानव-जीवन का प्रखर यथार्थ-

वोध भी, साथ ही उतनी ही प्रखर सामाजिक चेतना भी। समूचे मध्यकाल में अकाल पर लिखनेवाले गोस्वामी तुलसीदास ही हैं, और वे ही हैं जिन्होंने हर प्रकार की आग से पेट की आग को वड़ा मानते हुए सामान्य जन की पीड़ा की नब्ज को पहचाना है। "इस भक्ति कविता में यदि एक ओर ईश्वर को मनुष्य के रूप में अवतार लेते, भाँति-भाँति की लीलाएँ करते और मनुष्य की ही भाँति सांसारिक सुख-दुख भोगते चित्रित किया गया है तो दूसरी ओर मनुष्य में ऐसे गुणों का निदर्शन भी किया गया है जो उसे ईश्वर के समकक्ष प्रतिष्ठा दे सकें। इस भक्ति कविता में संसार को असार और माया मानते हुए मोक्ष की सद्गति का आख्यान है, किन्तु जन्म से लेकर मृत्यु तक मनुष्य के समग्र संस्कारों और भावों की स्थिति भी उसमें है।" भक्ति कविता में पाया जानेवाला यह अन्तर्विरोध जैसा कि हम कह चुके हैं, मध्यकालीन धार्मिक मानसिकता का प्रतिफल है, जिसके गहरे निशान सूर और उनके समानधर्माओं में हैं। हम जिस वात पर वल देना चाहते हैं वह यह है कि सूर हों या उनके दूसरे समानधर्मा, हमारे लिए उनकी प्रासंगिकता उस आयाम पर नहीं है जो उन्हें मध्यकालीन धार्मिक मानसिकता से जोड़ता है, वे हमारे लिए उस आयाम पर प्रासंगिक हैं, जहाँ वे साहस के साथ मध्यकाल की इन सीमाओं का अतिक्रमण करते हुए दिखायी पड़ते हैं। वे अपने नितान्त मानवीय तथा लौकिक सन्दर्भों में ही हमारे लिए प्रासंगिक और ग्राह्य हैं और ये मानवीय तथा लौकिक सन्दर्भ ही सूर तथा अन्य सन्त और भक्त कवियों की रचना को एक प्रगतिशील अर्थवत्ता प्रदान करते हैं।

सूरदास की कविता के वहाने भक्ति-काव्य की प्रगतिशील, लोकोन्मुखी चेतना का यह विवेचन जितना भक्तिकाल के दूसरे संत और भक्त कवियों की रचनाओं से प्रेरित है, उतना ही सूरदास की अपनी कविता तथा काव्य-चेतना से भी। अगली पंक्तियों में हम संक्षेप में सूरदास की कविता के ही कुछ ऐसे पक्षों को उजागर करेंगे जो हमारे उक्त विवेचन को पुष्ट करने के साथ-साथ सूर की कविता के प्रगतिशील तथा प्रेरक विन्दुओं की अलग से पहचान करा सकें।

कहते हैं कि महाप्रभु वल्लभाचार्य से भेंट होने के पहले सूरदास केवल विनय के पद ही गाया करते थे। वल्लभाचार्य ने उन्हें पुष्टि-मार्ग में दीक्षित करते हुए उन्हें वालकृष्ण की लीला के गायन की ओर प्रेरित किया। लीला के इन पदों के संदर्भ में अपनी वात हम आगे करेंगे, सम्प्रति हमारा सवाल यह है कि 'विनय' के जो ढेरों पद सूर ने गाये हैं, उनका लौकिक सन्दर्भ क्या है। विनय के इन पदों के भीतर जिस दैन्य, आत्मग्लानि तथा जिस मर्मान्तिक पीड़ा को अभिव्यक्ति मिली है उसका स्रोत क्या है। क्या यह मात्र एक व्यक्ति का आत्म-निवेदन है अथवा व्यक्ति के माध्यम से एक पूरे के पूरे युग, एक पूरे के पूरे समाज की वाणी इन पदों में प्रतिध्वनित हुई है? इस वाणी को सूरदास तक ही सीमित मानना और उसका सम्वन्ध उनके हृदय के भक्तिभाव से ही जोड़ना एक वहुत वड़ा भ्रम होगा। कहना न होगा कि तुलसी के विनय के पदों की भाँति सूर के इन पदों में भी दैन्य और वेदना की जो मार्मिक अभिव्यक्ति है, वह तत्कालीन सामन्ती समाज में घुट-घुटकर जीनेवाले साधारण जन की ही वेदना तथा दैन्य की व्यंजना है। इन पदों के भीतर झाँककर तत्कालीन सामन्ती समाज के यथार्थ को वखूवी पहचाना जा सकता है।

वात्सल्य और शृंगार के क्षेत्र में सूरदास की वृत्ति विशेष रूप से रमी है। ये उनके प्रिय विषय रहे हैं। यह सही है कि कृष्ण की विविध लीलाओं का वर्णन करते हुए सूरदास जव तव अपने पाठकों को कृष्ण के ईश्वरत्व का वोध करा देते हैं, किन्तु कृष्ण पर चढ़े इस ईश्वरीय आवरण को हटाकर देखें, तो क्या ये लीलाएँ अधिक सहज और अधिक स्वाभाविक रूप में हमारे आकर्षण का विषय नहीं वनतीं? "मैया मोरी, मैं नहिं माखन खायौ", "धेनु दुहत अति ही रति वाढ़ी" जैसे सैकड़ों पदों में कृष्ण क्या अपने मानवीय रूप में इन पदों के अन्तर्गत हमें अपनी ओर नहीं खींचते? क्या जरूरी है कि इन पदों का आस्वाद करते हुए

कृष्ण के ईश्वरीय रूप का ध्यान रखा जाये, या इन्हें गाते या लिखते समय सूर के मानस पर कृष्ण के ईश्वरत्व की ही छाप थी ? सच पूछा जाये, तो अपने मानवीय तथा लौकिक सन्दर्भों में ही ये लीलाएँ सूर की कविता की स्थायी निधि हैं और इनकी इस मानवीय तथा लौकिक आकृति के सन्दर्भ में ही उनके अन्तर्गत निहित और उनके द्वारा व्यंजित सूर-काव्य की विशिष्टता को उभारा जा सकता है।

सवाल है कि सूर ने कृष्ण के वाल-स्वरूप का वर्णन इतनी तन्मयता और इतने विस्तार से क्यों किया या कि वल्लभाचार्य के पुष्टि-मार्ग में वालकृष्ण की उपासना को ही क्यों महत्त्व दिया गया दार्शनिक, आध्यात्मिक तथा उपासना की भूमि पर इस सवाल का जवाव दिया जा सकता है और कहा जा सकता है कि ईश्वर की सर्वाधिक निर्विकार कल्पना वालकरूप में ही सम्भव हो सकती है और सूर ने पुष्टिमार्गीय परम्परा के तहत कृष्ण के वालरूप को ही अपने गायन का विषय वनाया, किन्तु क्या अधिक गहराई में जाकर तत्कालीन स्थितियों के सन्दर्भ में इन प्रश्नों की छानवीन नहीं की जा सकती ? कहने की जरूरत नहीं कि साम्प्रदायिक, धार्मिक या दार्शनिक जमीन की अपेक्षा समाजशास्त्र की जमीन पर खड़े होकर इन सवालों के शायद कहीं सटीक उत्तर हम पा सकते हैं। नारी के सम्वन्ध में नाथपन्थी योगियों, वज्रयानी सिद्धों, वामाचारी तान्त्रिकों तथा निर्गुण सन्तों की जो दृष्टि रही है, नारी को या तो भोग की वस्तु मानते हुए या उसे ईश्वर-प्राप्ति के मार्ग में वाधा घोषित करते हुए प्रकारान्तर से नारी और गार्हस्थ-धर्म की जो अवमानना इन साधना-पद्धतियों में दिखाई पड़ती है। क्या पुष्टि-मार्ग के अन्तर्गत कृष्ण के वाल-रूप की उपासना तथा सूरदास द्वारा कृष्ण की वाल-क्रीड़ाओं तथा यशोदा के वात्सल्य के तन्मयतापूर्ण वर्णनों के भीतर से इस प्रकार का कोई भी प्रयास लक्षित नहीं होता कि अस्त-व्यस्त होते हुए सामाजिक जीवन में सन्तुलन लाने हेतु समाज में गार्हस्थ्य धर्म की मर्यादा को पुनः प्रतिष्ठित किया जाये तथा वाल रूप की महिमा के माध्यम से नारी को, और इस प्रकार उसके मातृत्व को एक वार पुनः सम्मानित किया जाय ? सूर यदि कृष्ण के वाल-स्वरूप के वर्णन में केवल पुष्टि-मार्ग की साम्प्रदायिक परम्परा का निर्वाह कर रहे होते, तो नारी के मातृत्व की तथा वात्सल्य की जितनी विशद व्यंजना उनके काव्य में हुई है वह कदापि सम्भव नहीं होती। नारी के मातृत्व तथा गार्हस्थ्य धर्म की गरिमा से अभिभूत हुए विना उस प्रकार के पदों की रचना की कल्पना भी नहीं की जा सकती जो सूरसागर में सैकड़ों की संख्या में सहज ही उपलब्ध होते हैं। वात्सल्य की एक-एक मनोदशा को, शिशु-मनोविज्ञान की एक-एक वारीकी को, माता-पुत्र और पिता-पुत्र-सम्वन्ध के एक-एक आयाम को विषय की सीमा में जितनी गहराई, जितनी तन्मयता, जितने विस्तार तथा जितनी विभोरता से सूर ने चित्रित किया है, क्या वह मात्र पुष्टिमार्गीय परम्परा का निर्वाह है ? क्या इसके मूल में सूर की स्वस्थ सामाजिक तथा मानवीय चेतना की स्थिति नहीं है ? ये ऐसे सवाल हैं जिन पर गहराई से विचार किये जाने की आवश्यकता है, मात्र साम्प्रदायिक भूमि पर इन्हें नहीं निपटाया जा सकता।

अव सूरदास के शृंगार-चित्रण पर आइए, जिसके लिए वे वेजोड़ कहे गये हैं। कृष्ण की शृंगार लीलाओं की भी आध्यात्मिक व्याख्या की गयी है, उनके रास को नित्य वताया गया है, रास ही नहीं राधा-कृष्ण की युगल मूर्ति की नाना केलिक्रीड़ाओं की मनोरंजक साम्प्रदायिक भूमिकाएँ निर्देशित की गयी हैं। सूर की साम्प्रदायिक भक्ति के सन्दर्भ में की जानेवाली इन तमाम व्याख्याओं का एकेडेमिक महत्त्व हो सकता है, और है। हम इस साम्प्रदायिक आधार की खोज में सम्प्रति दिलचस्पी नहीं रखते। अध्यात्म की भूमि पर इन लीलाओं का रस लेनेवालों की वात भी हम नहीं जानते, और सच पूछा जाये तो जानना भी नहीं चाहते। हम तो विशुद्ध मानवीय धरातल पर, विशुद्ध लौकिक भूमि पर, अपनी सम्पूर्ण लौकिक और मानवीय व्यंजनाओं के साथ सूर द्वारा सहज ही सुलभ किये गये प्रेम के इस महोदधि

में अवगाहन करना चाहते हैं और चाहते हैं कि दूसरे भी ऐसा ही करें। आँखों के सामने अपनी राशि-राशि सुषमा के साथ लहराते हुए प्रेम के इस महासागर में अवगाहन न कर इन लीलाओं की सत्ता एक दिव्य, अलौकिक जगत में माननेवालों के लिए अधिक से अधिक गोस्वामीजी के शब्दों में हम इतना ही कह सकते हैं कि "सकल पदारथ हैं जग माहीं····।" जो साक्षात् व्रज की धरती पर होनेवाली इन लीलाओं को दैवी मानते हैं, वे उन्हें दैवी माना करें, हमारे लिए तो यह सबका सब न केवल एकदम मानवीय है, हम इसे सूर के काव्य की सबसे मूल्यवान उपलब्धि भी मानते हैं। कृष्ण तथा राधा और कृष्ण तथा गोपियों के इस प्रेम की तुलना रीतिकालीन दरबारी कवियों के प्रेम-चित्रण से करें, जहाँ कृष्ण और राधा ही श्रृंगार के नायक-नायिका हैं, तो दोनों की दृष्टियों का अन्तर एकदम स्पष्ट हो जायेगा और तभी यह तथ्य भी उजागर होगा कि जहाँ रीतिकालीन दरबारी कवियों की सीमा मध्यकालीन सामंती मानसिकता ढोने में स्पष्ट हुई है, वहाँ सूर की कविता न केवल इस मध्यकालीन सामंती मानसिकता का तिरस्कार करती है, वह स्वस्थ और कुंठाहीन प्रेम-चित्रण की नयी भूमियों और नये प्रतिमानों की सृष्टि भी करती है। अपने प्रेम-चित्रण में सूर ने जीवन के सहज उल्लास तथा यौवन के सहज आवेग को नितान्त वर्जना-हीन अभिव्यक्ति दी है। यहाँ प्रेम कोई शौकिया वस्तु न होकर जीवन की अनिवार्यता बनकर आया है। यहाँ उसकी व्याप्ति जीवन की नाना भूमिकाओं तक है। वह यहाँ मात्र संयोग नहीं, वरन् बाल्यावस्था से क्रमशः अंकुरित होते हुए युवावस्था तक पूरी तरह पल्लवित-पुष्पित होते हुए दिखाया गया है। यहाँ यह लम्बे साहचर्य का परिणाम है, जिसके निशान मिटाये नहीं मिटते। तभी तो गोपियाँ उद्धव से कहती हैं—"लरिकाई कौ प्रेम कहो अलि कैसे छूटै ?" सूर के प्रेम-वर्णन की यह कुंठाहीन, अस्खलित, निर्मल तथा निखरी हुई छवि ही है जिसे लक्ष्य कर रीतिकालीन दरबारी प्रेम-चित्रण की भर्त्सना करते हुए आचार्य शुक्ल ने टिप्पणी की है—"सूर का संयोग-वर्णन मात्र एक क्षणिक घटना नहीं, प्रेम-संगीतमय जीवन की एक गहरी चलती धारा है।····किसी की रूपचर्चा सुन या अकस्मात् किसी की एक झलक पाकर हाय-हाय करते हुए इस प्रेम का आरम्भ नहीं हुआ है, नित्य अपने बीच चलते-फिरते, हँसते-बोलते, वन में गाय चराते देखते-देखते गोपियाँ कृष्ण में अनुरक्त होती हैं और कृष्ण गोपियों में। इस प्रेम को हम जीवनोत्सव के रूप में पाते हैं, सहसा उठ खड़े हुए तूफान या मानसिक विप्लव के रूप में नहीं जिनमें अनेक प्रकार के प्रतिबन्धों और विघ्न-बाधाओं को पार करने की लम्बी-चौड़ी कथा खड़ी होती है। सूर के कृष्ण और गोपियाँ पक्षियों के समान स्वच्छन्द हैं। वे लोक-बन्धनों से जकड़े हुए नहीं दिखाये गये हैं। जिस प्रकार के स्वच्छन्द समाज का स्वप्न अंग्रेज कवि शेली देखा करते थे, उसी प्रकार का यह समाज सूर ने चित्रित किया है।"

सूर द्वारा चित्रित बाधा-बन्ध-विहीन यह जो समाज है और इस समाज में अपनी समूची गहराई और मुक्तता के साथ उनका यह जो प्रेम है, वह यदि सूर की फंतासी है, उनके द्वारा रचित एक कल्पना लोक है, तो सवाल उठता है कि आखिर इस फंतासी और इस कल्पना-लोक की रचना सूर ने क्यों की ? क्या इसके मूल में मध्यकालीन रूढ़ि-जर्जर, भाँति-भाँति की वर्जनाओं से ग्रस्त सामाजिक तथा पारिवारिक जीवन के प्रति सूर की निहायत सात्विक तथा उतनी ही तीखी प्रतिक्रिया नहीं झलकती ? हाँ, मध्यकाल की घुटनभरी सामन्ती जिन्दगी और उसके तमाम जर्जर नियमों, नीतियों, कानून-कायदों के प्रति जीवन की सहजता में आस्था रखनेवाले सूरदास का यह सात्विक रोष ही है, जो उनकी सरस वाणी में घुल-मिलकर प्रेम का इतना शानदार महोत्सव बनकर प्रकट हुआ है। संयोग हो अथवा विप्रलम्भ, सूर ने प्रेम के इस महोत्सव को उसकी सम्पूर्णता में चित्रित किया है। उनका संयोग-वर्णन जितना महान है उतना ही वियोग-वर्णन भी। यहाँ वे रससिद्ध कवि पहले हैं, पुष्टिमार्गीय भक्त बाद में। यह वह प्रेम है

जिसके समक्ष सामन्ती मानसिकता से ग्रस्त रीतिकालीन दरबारी कवियों द्वारा चित्रित प्रेम पानी भरता हुआ दिखायी पड़ता है। इस प्रेम के सात्विक ताप में रीतिकालीन कवियों का सारा नायिका-भेद जैसे भस्म हो गया है।

वात्सल्य तथा शृंगार के इस चित्रण में व्रज की लोक-संस्कृति तथा लोक-जीवन की जो छवि निखरी है, वह सूर-काव्य की ही नहीं, समूची हिन्दी कविता की अमूल्य निधि है। यह एक ऐसी ग्रामीण संस्कृति है जो अपनी जीवन्तता में अनुपम है। व्रज के लोक-पर्व, तिथि-त्यौहार, उत्सव-समारोह ही नहीं, व्रजवासियों के दैनन्दिन जीवन की एक-एक रेखा, एक-एक पर्त यहाँ उद्घाटित है। रीतिकालीन नागरी संस्कृति की कृत्रिमता से दूर यह अपनी सहजता में हमें आकर्षित करती है। व्रज में रहते हुए कृष्ण का सारा जीवन ग्वाल-वालों के जीवन के समान ही बीतता है, उसमें सूर की ओर से कहीं कोई आरोपण नहीं है। यह सूर की अपनी ग्राम-दृष्टि है जो गाँवों की संस्कृति को इतनी विशदता से और इतनी बारीकी से देख और दिखा सकी है। व्रज प्रदेश और उसकी संस्कृति का इतिहास लिखनेवालों के लिए सूरसागर एक अक्षय कोष है, उनके लिए वह सूर की एक मूल्यवान विरासत है। यदि मात्र लोक-संस्कृति के अध्ययन की दृष्टि से ही सूरदास की कविता को देखा जाये, तो इस विन्दु पर भी वह अद्वितीय ही मानी जायेगी। लोक-जीवन से तादात्म्य के विना लोक-संस्कृति का इतना यथार्थ और इतना हृदयग्राही चित्र सम्भव नहीं है। यह एक सीख है जिसे लोक-संस्कृति में रुचि रखनेवालों को सूरदास से ग्रहण करनी चाहिए।

कहा गया है कि सूर की दृष्टि वात्सल्य और शृंगार के क्षेत्रों में ही रमी है। शील, शक्ति और सौन्दर्य, ईश्वर की इन तीन विभूतियों में उन्होंने सौन्दर्य को ही अपनी उपासना का केन्द्र बनाया है। यह भी कहा गया है कि उनकी सामाजिक चेतना तुलसी की भाँति प्रखर नहीं है और इसी कारण लोकसंग्रह और लोकरक्षा का जो भाव तुलसी में पाया जाता है, वह सूर में नहीं मिलता। सूर के सम्बन्ध में कही गयी इन बातों से हमारा खास मतभेद नहीं है। आवश्यक नहीं है कि कोई कवि जीवन के सारे पक्षों तक दौड़ लगाये, और महत्त्वपूर्ण कविता की यह कोई आधारभूत शर्त भी नहीं है। सूर ने अपने ढंग से जीवन को उसकी सम्पूर्णता में देखा और चित्रित किया है। यही नहीं, इस सम्पूर्णता में वे जिये भी हैं। रही सामाजिक चेतना की प्रखरता की बात अथवा समसामयिकता के तीखे बोध की बात, तो अपने विवेचन में हम यह सिद्ध कर चुके हैं कि समसामयिक स्थितियों के प्रति अपनी तीखी प्रतिक्रिया में सूर तटस्थ नहीं हैं। ऐसा भी नहीं है कि सूर ने सदैव अप्रत्यक्ष रूप से ही अपनी बात कही हो। ऐसे अनेक पद हैं जो तत्कालीन सामाजिक जीवन के नाना पक्षों के प्रति सूर की प्रतिक्रिया को सीधे ही प्रस्तुत करते हैं। सामन्ती समाज की भोगलिप्सा का यथार्थ चित्र और उसके प्रति सूर की तीखी और कटु प्रतिक्रिया देखनी हो तो उनका "चौपरि जगत मँढ़े जुग बीते" पद देखें। यही नहीं, अपने अन्य पदों में उन्होंने अपने समय के शासन-प्रबन्ध, समाज-व्यवस्था, राज-दरबार आदि-आदि पर भी अपने स्पष्ट अभिमत दिये हैं। धार्मिक रूढ़ियों पर उनकी चोट का नमूना उनका "जरत ज्वाला गिरत गिर तें स्वकर काटत सीस" पद है, तो तत्कालीन शासन-व्यवस्था पर उनकी करारी मार, भले ही आध्यात्मिक रूपक में, उनके "जनम साहिबी करत गयो" शीर्षक पद में देखी जा सकती है। गोपियाँ जो बार-बार उद्धव को भ्रमर के रूप में सम्बोधित करते हुए उसकी रसलोलुपता का जिक्र करतों हैं, क्या उसके मूल में सामन्ती समाज की ह्रासशील प्रेमचर्या के प्रति सूर की वितृष्णा नहीं झलकती? यही नहीं, कृष्ण द्वारा परम्परा से चली आ रही इन्द्रपूजा के स्थान पर गोवर्धन-पूजा का प्रारम्भ करना मात्र लोकसंस्कृति के प्रति सूर के अनुराग का सूचक नहीं, वरन् इस प्रसंग के माध्यम से सूर ने स्थापित सत्ता के प्रति अपने विरोध और विद्रोह-भाव को वाणी दी है। कृष्ण का द्वारिकाधीश बन जाने पर सुदामा के साथ किया गया आत्मीय व्यवहार, जिसे लेकर सूर ने अनेक पद रचे

हैं, सामन्ती समाज में विघटित होते हुए मैत्री सम्बन्धों पर सूर का कठोर व्यंग्य ही है। ह्रासशील सामन्ती समाज के सन्दर्भ में सूर की ये निष्ठाएँ जितनी तात्त्विक और प्रगतिशील हैं, सूर के समसामयिक बोध को भी उतनी ही प्रखरता से उजागर करती हैं। अतएव लोक-संग्रह भाव का सूर में अभाव नहीं है, यह और बात है कि सूर ने उसकी अभिव्यक्ति सतह पर जाकर नहीं की है।

अब सूर द्वारा भ्रमर-गीत-प्रसंग में प्रस्तुत सगुण-निर्गुण-विवाद पर एक दृष्टि डालकर हम अपनी चर्चा का समापन करेंगे।

यह सही है कि सैद्धान्तिक तथा दार्शनिक भूमि पर सगुण भक्त कवियों ने ईश्वर के सगुण और निर्गुण रूप में कोई भेद नहीं माना, किन्तु व्यावहारिक धरातल पर उन्होंने निर्गुण के ऊपर सगुण की प्रतिष्ठा की है। इस प्रकार साधारण जन के समक्ष ईश्वर को देहधारी के रूप में अवतार लेते दिखाकर उन्होंने न केवल सामान्य जन की भक्तिपरक आस्था को एक ठोस आधार प्रदान किया है साधारण जन के लिए अपनी वाणी को ग्राह्य भी बनाया है। कबीर के साधनापरक रहस्यवादी काव्य से सगुण भक्ति कवियों की इस वाणी का मिलान करके देखें, तो स्पष्ट होगा कि इस भूमि पर सगुण भक्त कवि कबीर की तुलना में जन के अधिक निकट हैं। निराकार की तुलना में साकार यूँ भी जल्दी समझ में आता है। अतएव सगुण भक्त कवियों को निर्गुण निराकार की उपासना करनेवाले सन्त कवियों के साथ देखते समय हमें उनके इस पक्ष पर ध्यान देना चाहिए, ताकि उनका सही मूल्यांकन हो सके। कबीर जहाँ एक ओर प्रखर सामाजिक चेतना से सम्पन्न हैं, वहाँ दूसरी ओर उनके काव्य का साधना तथा भक्ति-पक्ष रहस्य, हठयोग तथा उलट-बाँसियों के जाल में उलझा हुआ है। सगुण भक्त कवि न केवल इस दुर्बोधता से मुक्त हैं, बल्कि एक कदम आगे बढ़कर जीवन के नाना क्षेत्रों में अपने आराध्य की सक्रियता को चित्रित करते हैं, साधारण जन के सुख-दुख में उन्हें भागीदार बनते दिखाते हैं; निवृत्ति, वैराग्य अथवा संसार को माया या नारी को ठगिनी न कहकर गार्हस्थ्य जीवन के भीतर से ही भक्ति का सहज-सुलभ मार्ग प्रशस्त करते हैं। पारिवारिक जीवन के जितने मर्मस्पर्शी चित्र हमें सगुण भक्त कवियों के काव्य में मिलते हैं, संसार की सचाई के जितने अकाट्य प्रमाण हमें वे देते हैं, निर्गुण सन्तों के काव्य में वे उतने सुलभ नहीं हैं। निर्गुण तथा सगुण भक्त कवियों की तुलना करते समय इस दृष्टिबिन्दु की उपेक्षा न की जाये, यहाँ यही कहना हमारा उद्देश्य है।

कुछ प्रसंगान्तर अवश्य हो गया है, किन्तु बात सगुण और निर्गुण की ही है। भ्रमरगीत के इस प्रसंग में सूर खूब जमे हैं। गोपियों के मुँह से उन्होंने निर्गुण और योग का जमकर मखौल उड़वाया है। सवाल है कि निर्गुण और सगुण के इस विवाद को उठाने और अन्ततः निर्गुण के ऊपर सगुण को प्रति-स्थापित करने में सूरदास का असली मकसद क्या था? क्या इसे महज सूर की भक्तिपरक आस्था से ही जोड़कर देखा जाये, और यह मान लिया जाये कि चूँकि वे सगुण भक्त थे, अतएव अपनी साम्प्रदायिक तथा दार्शनिक मान्यता के वशीभूत होकर उन्होंने निर्गुण के ऊपर सगुण की प्रतिष्ठा की। ठेठ लोकजीवन से उपजे उन तर्कों को हम छोड़ भी दें जिन्हें सूर की ग्राम्याएँ उद्धव जैसे ज्ञानी के समक्ष प्रस्तुत करते हुए उन्हें निरुत्तर कर देती हैं—गोकि बड़े मोहक और बड़े प्यारे वे तर्क हैं—तो क्या सगुण-निर्गुण के इस विवाद में सूर की लोकपरक आस्था नहीं झलकती? क्या संसार के मिथ्यात्व की बात को ये तर्क क्षतिग्रस्त नहीं करते? गोपियों का सात्विक निर्मल प्रेम तो उन तर्कों के भीतर से अभिव्यक्ति पा ही रहा है, क्या नारी-धर्म के प्रति, सांसारिक जीवन के प्रति उनकी और सूर की निष्ठा उनमें सम्मिलित नहीं है? सच पूछा जाये तो निर्गुण और सगुण का यह विवाद भ्रम और वास्तविकता के बीच का झगड़ा है और इसमें सूर ने भ्रम की तुलना में वास्तविकता की, संसार के मिथ्यात्व की तुलना में उसकी सत्यता

की, रहस्य और योग, निवृत्ति और वैराग्य की तुलना में सहज सांसारिक धर्म की विजय प्रदर्शित की है। यह सूर-काव्य की एक महत्त्वपूर्ण उपलब्धि है।

सूर-काव्य की प्रगतिशील आकृति की ये कुछ रेखाएँ हैं जिन्हें इस निबन्ध में हल्के रंगों में उकेरा गया है। ये प्रगतिशील विन्दु ही सूर-काव्य को हमारे और हमारे युग के लिए प्रासंगिक बनाते हैं। सूर निश्चय ही एक भक्त कवि हैं और एक भक्त के रूप में उनकी आस्था के दूसरे आयाम भी हैं। उनकी भक्ति और उनकी धार्मिक आस्थाओं से विचलित होने की आवश्यकता नहीं है। मध्यकाल के सन्दर्भ में धर्म तथा भक्ति वे तत्त्व थे जिन्हें साथ लेकर ही चला जा सकता था। सूर भी उन्हें साथ लेकर चले किन्तु उनके भीतर से उन्होंने जो कुछ व्यंजित किया, वह मात्र धर्म और भक्ति का ही अंग नहीं, उस लोक-जीवन और उस मानवीय संवेदना से भी जुड़ा है जिसका हम सबसे भी गहरा रिश्ता है। धर्म और भक्ति का स्रोत तो उतना कालजयी सिद्ध नहीं हुआ—मध्यकाल में ही घुल-पचकर क्षीण हो गया—किन्तु लोक-जीवन और मानवीय अनुभूतियों के साथ उनकी कविता का जो अंश जुड़ा हुआ है, वह निश्चय ही कालजयी साबित हुआ और आज भी हमारे लिए उतना ही जीवन्त, प्रेरणास्पद और ग्राह्य है जितना वह तब था। हम कह चुके हैं कि भक्ति का सारा तामझाम हटा दीजिए, तो मात्र लोक-जीवन और लोक-संस्कृति की मर्मस्पर्शी छवियों के लिए, वात्सल्य और शृंगार की भरी-पूरी सम्पदा के लिए और सबसे ऊपर वर्जनाओं और कुंठाओं से रहित उमंग और उल्लास-भरे जीवन के प्रति अपनी अप्रतिहत आस्था के लिए सूर की कविता हमारे अपने युग के लिए ही नहीं, आगे के युगों के लिए भी अपनी प्रासंगिकता बरकरार रखेगी। कहना न होगा कि इस अन्धे कवि में लोक-जीवन और कविता दोनों को चरितार्थता मिली है। सूर की कविता हमारे लिए पितृ-ऋण है, जिसे हम कृतज्ञता के साथ स्वीकार करते हैं।

■

कान्ह कुँवर कौ कनछेदन है, हाथ सोहारी भेली गुर की।
बिधि बिहँसत, हरि हँसत हेरि हरि, जसुमति की धुकधुकी सु उर की।
रोचन भरि लै देत सींक सौं, स्रवन-निकट अतिही चातुर की।
कंचन के द्वै दुर मँगाइ लिए, कहीं कहा छेदनि आतुर की।
लोचन भरि-भरि दोऊ माता, कनछेदन देखत जिय मुरकी।
रोवत देखि जननि अकुलानी, दियौ तुरत नौआ कौं घुरकी।
हँसत नंद, गोपी सब बिहँसीं, झमकि चलीं सब भीतर दुरकी।
सूरदास नँद करत बधाई, अति आनंद बाल ब्रज-पुर की।

सूर सागर ७९८

■

सूर की अपेक्षा क्यों है ?

डॉक्टर रमेश कुंतल मेघ

सूरदास (१४७८-१५८०) ने वड़ी लम्बी उमर पाई थी। वे महाप्रभु वल्लभाचार्य से केवल दस दिन छोटे थे। वे महाभक्त, महाकवि तथा महागायक थे। मथुरा-आगरा के वीच गऊघाट पर रहनेवाले सूरदास पहले एक रमते जोगी और तपसी थे। वे विनय के पद गाया करते थे, जिनमें 'हरि' का प्रयोग हुआ है और कृष्ण-लीलाओं का कोई विस्तार नहीं है।

उनके नामों को लेकर एक समस्या उठती है। 'सूरसागर' तथा भ्रमरगीत में भी 'सूरज' छाप के कई पद हैं। इसी प्रकार सूर-सारावली के शुरू में 'सूरज' नाम मिलता है। सूर के कृतित्व में 'सूर' के अलावा 'सूरज', 'सूरस्याम', 'मदनमोहन' नाम आये हैं। या तो उन्होंने इन कई नामों से कविताई की है और विभिन्न काव्य-यात्रा-खण्डों में नाम वदले हैं, अथवा अन्य कवियों की रचनाएँ भी उनकी कृतियों में जोड़ दी गई हैं, अथवा इस नाम में ही अर्थ-भ्रांति है। वल्लभाचार्य ने उनके 'सूर' होकर भी घिघियाने की भर्त्सना की; इस प्रकरण से लगता है कि उन्होंने युवक शूर या सूर्यवत् कवि (जहाँ न जाय रवि, वहाँ जाय कवि) से 'घिघियाना' छोड़ने को कहा होगा। यही संगत है। वे जन्मांध नहीं हो सकते। वे यदि अन्धे हुए भी होंगे तो वहुत ही पकी बूढ़ी उमर में। सकल शरीर वेधनेवाले सूर के पद और तीर मानो एक कवि-शूर का ही कमाल है, न कि अंध कवि का।

एक तपसी से वे एक लीलागायक हो गये। यह उनकी सृजन-प्रक्रिया के रहस्यों को सुलझाता है।

जव उन्होंने 'घिघियाना' (वैराग्य, नैराश्य, पापी और पतित होने का पश्चात्ताप) छोड़कर 'लीलागान' करना शुरू किया तो ताउम्र करते रहे, अर्थात् उन्होंने अपनी सही सर्जनात्मक चेतना को पहचान लिया जिसे महाप्रभु ने खोजा था। अतः मूलतः वे सुकुमार मार्गगामी अनुरागी मधुर कवि थे और सही पथप्रदर्शक को पाकर वड़ी दूर मृत्यु तक उसी जहाज में चढ़कर चले गये।

वे भागवत से प्रभावित थे। किन्तु 'सूरसागर' को कथात्मकता की समानता के कारण भागवत का अनुवाद कह वैठना हिन्दी साहित्य की इतनी वड़ी निधि का अवमूल्यन है। एक ही कथानक को लेकर अनेक काव्य लिखे जाते हैं। मौलिकता अभिव्यक्ति या अभिव्यंजना में होती है, मात्र कथानक में नहीं।[1] अतः मौलिक रचना के लिए सूर वहुधा पूर्ववर्ती परम्परा को नवीन और आधुनिक वनाने की आकुलता रखते थे, और तव अपनी अनुभूति की सच्चाई के द्वारा स्वयं भोगे हुए क्षणों में उसकी अभिव्यंजना करते थे।

१– सूरदास की लालित्य चेतना–परेश, भारतीय ज्ञानपीठ, दिल्ली (१९७२), पृष्ठ ४३।

सूर को गोवर्धन पर श्रीनाथजी के मन्दिर में कीर्तन की सेवा सौंपी गई थी। भागवत की कथा का पाठ सुनते और फिर वे उसे पदों में रूपांतरित करके लीलागान करते। अतः कृष्णकथाओं की व्याख्याएँ उनको आवेशित करती थीं और वे उन्हें तीव्र भावदशा में गद्य से अर्थात् गद्य के घटना-विन्दु से काव्य में अर्थात् कविता के रस-विम्ब में रूपांतरित कर देते थे। इसीलिए सूर के काव्य में चित्र और शब्द के दोहरे गुण हैं, घटना और अनुभूति का परिपाक है, मिथक और स्वप्न की अन्विति है। दो माध्यमों ने उनके काव्य-विम्बों में वैयक्तिक अनुभूति तथा जातीय अतीत के अवचेतन को समरस कर दिया है।

सूर को उनके समवर्ती भक्तमालाकारों, वैष्णव वार्ताकारों ने उद्धव का अवतार बताया है। यह समकालीन इतिहासकारों का एक महत्त्वपूर्ण आकलन है। इससे सूरदास की प्रकृति तथा संस्कृति का परिचय मिलता है। उद्धव कृष्ण के परमप्रिय सखा थे—कृष्ण के महामात्य, महाभृत्य, महाशिष्य, महा-प्रियतर! सूर को मानव-सम्बन्धों में से सामंतीय दास्य सम्बन्धों के एवज में सख्य सम्वन्ध प्रिय थे। उनके सृजन में भी इसके अनुरूप निस्संकोचता, निर्भीकता और निश्छलता दृष्टिगोचर होती है। यह भी प्रकट होता है कि लीलापद-रचना के क्षणों में वे कृष्ण के सम्बन्ध से ही सब दर्शन करते रहे होंगे। उद्धव से उनके व्यक्तित्व का तादात्मीयकरण (आइडेंटिफिकेशन) यह भी लक्षित करता है कि पहले तो वे भी ज्ञानमार्गी वैरागी थे, किन्तु कृष्णानुराग ने उन्हें पूर्णतः राधा-भाव तथा सख्य-भाव में डुबो दिया। जिस तरह गोपियों से मिलकर वैरागी-ज्ञानी उद्धव के व्यक्तित्व में रूपांतरण हुआ था, उसी तरह सूर के साथ भी हुआ।

विशाल सूरसागर एक "महाकाव्यात्मक शिल्प है,जिसका मूल मनोराग लिरिकल या गीति काव्यात्मक है" (हजारी प्रसाद द्विवेदी)। इससे यही पुष्ट होता हैं कि सूर मूलतः अन्तर्मुखी-अन्तर्द्रष्टा हैं, तथा आख्यानक प्रेमी न होकर आवेशगुच्छों (इंपल्सेज) की द्रुति या भावदशा की दीप्ति से चमत्कृत होकर अपने काव्य-निर्झर को स्वप्न-विम्बों की लड़ियों में झरझरा देते हैं। भ्रमरगीत से भी यह सिद्ध होता है कि वे सुदीर्घ कालघटी तक एकतान काव्य रचना नहीं कर सकते; इतिवृत्त के मजमून नहीं बाँध सकते वलिक मन की गाँठें खुलते ही मौन भावक और ग्राहक हो जाते हैं। तर्क और ज्ञान उनके स्वभाव में नहीं हैं। सुन्दर विरहिणी युवतियों के सामने तो वे पूर्णतः निरस्त और नारीमय ही हो जाते हैं। यह उनके जीवन-गत आचरण का भी भाग होगा। इसीलिए गोचारण, वंशीवादन, रूपवर्णन, रासलीला आदि के प्रसंगों में वे मुग्धानारीवत् हो गये हैं। प्रणय और सौन्दर्य के रचनाधर्मी साक्षात्कारों में सूरदास के व्यक्तित्व का यह गूढ़ गोपन तथा सारगर्भित हाशिया उघड़ पड़ता है। इसके प्रमाण में आगे भी कहा जा सकता है कि विश्व-साहित्य में वे अकेले ही ऐसे महाकवि हैं जिन्होंने वात्सल्य भाव से बाल-लीलाओं का इतना सूक्ष्म मनोवैज्ञानिक चित्रण किया है। अतः रचना-दशा में नर सूर 'राधा-भाव' (एनिमा) की अनुभूति करते हैं। रचना-उपक्रम में 'महामाता' के आद्य विम्ब से बिंध कर यशोदाचित्त से वाललीला का वर्णन करते हैं। सूर के मनोविज्ञान के लिए यह रेखांकित होकर परीक्षण के वास्ते है।

वैष्णव पुष्टि सम्प्रदाय में दीक्षित होकर भी सूर सम्प्रदायवद्धता से वहुत दूर थे। उनकी रचना में स्थान-स्थान पर हठयोग के पारिभाषिक शब्दों का, नाथ-योगियों के सिद्धान्तों का इतना उल्लेख है कि लगता है कि वे अपने पहले के योगी-जीवन के अनुभवों को भी संशोधित आत्मोपलब्धि आद्य विम्बों में करते हैं। "हम अलि गोकुलनाथ अराध्यौ",[२] "फिरि फिरि कहा सिखावत मौन"[३], "हम तौ तवहिं तें जोग लियौ"[४] जैसे पदों से यह वात पुनः सिद्ध हो जाती है कि सूरदास की रचना-प्रक्रिया में इतिवृत्त की

२– सूरसागर ४१४८। ३– वही ४३०८। ४– वही ४३११।

कारण-कार्य-शृंखला, अधम दार्शनिक ऊहापोह को स्थान ही नहीं मिला। तुलसी या नन्ददास की तरह उनमें दर्शन की इतनी पेचीदगी नहीं है। उनमें तीव्रता तथा गहराई के कारण भाव ही को महाभाव में रूपायित करने की वृत्ति है। वे पुष्टिमार्ग की सांप्रदायिक कट्टरताओं में भी नहीं वँधे। वे उन्माद और आवेश के उपासक थे, अर्थात् वे बौद्धिकता-विरोधी तथा तार्किकता-विरक्त थे। ऐसे आवेशपरक तथा प्रज्ञापरक (इंटयूश्नल) कवि-कर्म पर चमत्कार, शोभा और अलंकार का सम्मोहन छा जाता है। यही उनका 'अद्भुत मानवीय रस' (हज़ारी प्रसाद द्विवेदी) है।''''राधाभाव से पहले भोगा हुआ। अतः ''सूरदास जब अपने प्रिय विषय का वर्णन शुरू करते हैं, तो मानो अलंकार शास्त्र हाथ जोड़-जोड़कर उनके पीछे-पीछे दौड़ा करता है। उपमाओं की बाढ़ आ जाती है, रूपकों की वर्षा होने लगती है। संगीत के प्रवाह में कवि स्वयं वह जाता है। वह अपने को भूल जाता है।''[५] अपनी सृजन प्रक्रिया के उपक्रम में सूरदास माध्यम (मीडियम) पर इस तरह पूर्णाधिकार जमा लेते हैं।

सूर (शूर/सूर्य) दास के काव्य का देश या दिक् (स्पेस) गोकुल-वृन्दावन-मथुरा (गोलोक/वैकुंठ) है। सूरसागर में इस देश का विस्तार या परिवर्तन नहीं होता, वल्कि वह गोकुल में ही केन्द्रित होता आता है। अतः अनुभवों की विविधता और परिवर्त्तन वहुत कम मिलेगा अलवत्ता अनुभवों की आवृत्ति-पुनरावृत्ति और गहनता-सूक्ष्मता जरूर मिलेगी। यह सूर-काव्य में इसलिए हुआ है कि इसमें एक ही 'देश' है जो एक आदिम समाज-व्यवस्था के संस्कारों तथा गोप-सम्वन्धों से मिली हुई प्राथमिक कृषि-व्यवस्था के यथार्थ को भोगता हुआ उसका ही आदर्शीकरण कर रहा है। क्रीड़ा का (नटवत) लालित्य-विधान 'लीला' में, वृन्दावन का 'गोलोक' में, गरीव किसानों का 'सुदामा' में, साधारण जनों का जीवों तथा जीवात्माओं (कृष्ण-सखा, कृष्ण-सखियों) में। यह सूरकाव्य में इसलिए हुआ कि कृष्णभक्ति-धारा 'काल' में प्रवाहित होते वक्त ज्ञान और यथार्थ की प्रामाणिकता की उपेक्षा करती चली गई, उसके वजाय यह प्रेम और स्वप्नों के रागोन्माद को ज्यादा नित्य (सत्य) मानती रही। देश-काल-अक्ष पर मध्यकालीन सूरकाकली का यह हश्र हुआ।

मुगल हुकूमत के फर्मानों में व्रज-क्षेत्र कृषि-सेक्टर में आता था। राजधानी आगरा के अलावा ग्वालियर और दिल्ली से नजदीक होने के कारण वह इलाका गँवई-कस्वाई-शहरी संभागों का एक सातत्य जैसा था। मथुरा एक तीर्थ-नगर अर्थात् देवता का नगर था। अतः वहाँ परम्परागत व्यवस्था के साथ-साथ जो प्राथमिक शहरीकरण हुआ था, वह पुनीत उपक्रम वाला था, क्योंकि वहाँ अनेक मन्दिरों का, चरागाहों का, कुन्जों-गलियों का जो विस्तार हुआ, वह मुगल नगरनिवेश (टाउन प्लानिंग) का न होकर 'मानसार' वाला पुरनिवेश का ही लगता है। आंचलिकता से लेकर तत्कालीन समकालीनता (आधुनिकता) के उस मिले-जुले पैटर्न में तव भी **कृषक** के वरावर **गोप** की महत्ता थी। तथापि उस समय न तो केवल अहीर (यादव) रहते थे और न ही वह संभाग गोप (पास्टोरल) था। फिर, मथुरा केन्द्र में अव तक गुजराती और वंगाली लोगों, दक्षिणात्यों और पठानों, तुर्कों, इरानी कलावंतों और सूफी दरवेशों के समूह भी आ सके थे, विभिन्न प्रकार के सगुण सम्प्रदायों की प्रसिद्धि हो चुकी थी, शैव, शाक्त, गोरखपंथी, हठयोगी, मायावादी आदि लोगों के ढोंगों अनाचारों दम्भों से टकराने के लिए मधुरोपासना की पद्धतियाँ चल चुकी थीं। मूलतः मथुरा शहर की तीर्थधुरी पर अव सगुण सवर्ण भक्तों का वर्चस्व था तथा इर्द-गिर्द के अहीर टोले और कवीले अभी भी थोड़ा-वहुत अपने आदिम तथा कवीलाई जीवन मूल्यों तथा सामूहिक जीवन से जुड़े थे। कम से कम कृष्ण-भक्ति आन्दोलन से उन्होंने तादात्म्य कर लिया था।

५— मध्यकालीन धर्म-साधना—हज़ारी प्रसाद द्विवेदी, साहित्य भवन, इलाहावाद (१९६२), पृष्ठ २०९।

तो सूरदास की इस गोपचारणवाली यूतोपिया को यथार्थ सन्दर्भ कहाँ से मिले ? भागवतवाला कल्पलोक भी प्रासंगिक तथा साक्षात् नहीं था। गोचारण (पास्टोरल) मूलतः घुमंतू और क्रीड़ायुक्त श्रमपरक है। यह श्रममूलक कृषि-कर्म नहीं। गोधुरी और गोपालन (दूध-दही-मक्खन आदि) के विनिमय आदि जीविका तथा आर्थिक कर्म में आधार हैं। कृषि से गोप की ओर मुड़ना वस्तुतः पीछे की ओर एक ज्यादा सरल अर्थ-रचना और एक ज्यादा स्वच्छन्द लोकजाति-समाज (फोक सोसायटी) पर मुग्ध होना है। अर्थात् सामंतवाद के शैशव और किशोरता के छोर को छूना है। कृष्ण-भक्ति-धारा के मिथकत्व (माइथीम) तथा मिथकथ्य (मुथास) की संरचना ही ऐसी है कि वर्णाश्रम-व्यवस्था में नहीं बँध सकती, कृषि-परिवारों की यौन-नैतिकता में नहीं जकड़ी जा सकती।

तथापि सूर एक वास्तविक मध्यकालीन मथुरा में भी जिन्दा रहे जिसका एक सेक्टर मुगल सामन्तवाद के विलासी जीवन तथा सम्बन्धों को भी प्रक्षेपित कर रहा था। वहाँ के कानून और निजाम मुगल हुक्मों के मुताबिक चल रहे थे। सूर ने अनेक प्रसंगों में **सामंतों का विलासी संसार** भी कृष्णमय करके चित्रित किया है, तथापि मथुरा के पवित्र सेक्टर में कीर्तन-सेवा करनेवाले सूरदास का असली संसार **ग्रामीणों का सहज दैनिक संसार** था।

मुगले आजम अकबर के शासन-काल में मथुरा मौजा में किस तरह के गोप-कृषक-कस्बाई समाज का हेलमेल था ? इससे कौन-कौन से जटिल और नये रिश्ते बने थे ? कौन-कौन रिश्ते तनाव में टूटे थे ? कौन-कौन सी जातियाँ, उपजातियाँ, कौन-कौन से आगमनार्थी (बंगाली, गुजराती, द्राविड़, पठान, तुर्क, ईरानी) तथा निष्क्रमणार्थी (शैव, जैन, योगी) समूह सांस्कृतिक हाशियों पर असर डाल रहे थे ? परिवार का गठन कैसा है ? क्या अहीरों के परिवार या कुटुम्ब या कबीले के रिश्ते अभी भी इतने ढीले हैं ? क्या संयुक्त परिवार नहीं रहे ? पतिपत्नीवाले गोपियों की प्रधानता से युक्त परिवार वास्तविक जीवन में भी हैं ? क्या उनमें सवर्ण शहरी परिवारों के मुकाबले नारी ज्यादा स्वतन्त्र और महत्वपूर्ण है ? कृष्ण-भक्ति में जो सेक्स और आर्थिक प्रणालियाँ आदि ज्यादा खुलीं, सरल तथा स्वच्छन्द चित्रित हुई हैं, क्या वे उस समय के परिवेश में वर्तमान हैं ?''''इसी लड़ी में 'सूरसागर' में **नये-नये** और **अनूठे** अनुभवों का प्रतिबिम्बन और स्वप्नीकरण (एक संग) हुआ है, अर्थात् सूर ने प्रत्यक्ष रूप से अपने काव्य में **सामाजिक यथार्थ** (परिस्थितियों) का आधार नहीं लिया है, लेकिन उस समय के प्रचलित संस्कारों, संस्थाओं, और मनोविनोद के साधनों का वर्णन किया है।''''जन्मोत्सव, नामकरण, अन्नप्राशन, कर्ण छेदन, उपनयन, रुक्मिणी के साथ विवाह जैसे संस्कार, विवाह में निमन्त्रण, मंडप, गान, गालियाँ आदि की प्रथाएँ, कृष्ण की दिनचर्या, भोजन आदि की व्यवस्था वर्णित है— सेवापद्धति तथा भोगपद्धति में। दिनचर्या मन्दिर और सेवा से नियमित होने के कारण नितान्त कर्मकांडी और आनुष्ठानिक थी। सूरदास भी उससे बँधे थे। काव्य में इसका प्रकाशन पूजा के विधि-विधानों, व्रत, होली, धमार, रासलीला, अन्य लीलाओं जैसे उत्सवादि में हुआ है। इसी के अन्य ध्रुवान्त में भगवत् लीला का वर्णन है। ब्रजनारियों के नूतन चीर, नयनों के काजल, कसी हुई कंचुकी, माथे के तिलक, गले के हार, हाथ के कंकण, कानों के तरिवन, केशों की कवरी आदि से युक्त सहज शृंगार के चित्र जिसमें स्वच्छन्दता और तन्मयता है। इसी क्रम में राधा का रूप-चित्रण, कृष्ण का रूप-चित्रण, बालकृष्ण के रेखाचित्र, संभोग के अंगों (आलिंगन, चुम्बन, नखच्छेदन, दशनछेदन, संवेशन, सीत्कार आदि) का उन्मुक्त तथा सविस्तार वर्णन है।

अतः हम निष्कर्ष निकाल सकते हैं कि भौगोलिक अर्थात् साक्षात् मथुरा वृन्दावन को ही 'नित्य गोलोक' मान लेने के कारण कृष्णभक्ति केवल काल की धुरी से उठकर नित्य या 'अनन्त' ही नहीं हुई, बल्कि देश की धुरी से भी उठकर पवित्र और सत्य भी हो गई। यही मध्यकालीन कृष्णभक्ति सूरदास की यूटोपिया का पंचकंचुकहीन देश-काल है जो मध्यकालीन देश-काल में एक रंगमंच

की तरह से अपना निजी संसार, अपनी निजी लीलाएँ, अपनी निजी रंग-योजनाएँ रचा रहा है। सूर की इस यूटोपिया को समाजशास्त्रीय व्याख्या अभी तक प्रतीक्षित है। इसमें **सामंतीय उच्चवर्गीय समाज** का विलास भी ऐश्वर्य बनकर झिलमिला रहा है (अष्टयाम में), इसमें कृषक समाज की प्रवृत्ति तथा वातावरण भाव-संसार को उद्दीपित करते हैं, इसमें **गोपचारणकारी** समाज की स्वच्छन्दता, तन्मयता तथा मूलवृत्तिधर्मा (इन्स्टिंकटिव) स्वतन्त्रता है, और इसमें **कृष्ण-भक्ति का** वह **उज्ज्वल लोक भी** है, जो इतिहास ने धर्म-साधना के रूप में प्रदान किया है। इसमें गोपचारक समाज को केन्द्र में रखा गया है और ज्यादातर उसके आद्य रूप (आर्केटाइप) प्रतिरोपित किये गये हैं। इस भाँति सूर का समकालीन 'कृषक ग्रामीण समाज' प्रतिविम्बित रूपांतरित हो गया है और वह एक "परम्परागत अनुदार समाज" तो कतई नहीं रहा। इस प्रातिभासिक यूटोपिया में ग्रामधर्मी सौन्दर्य बोध-शास्त्र (रूरल एस्थेटिक्स), ग्राम-संरचना (विलेज प्लानिंग) तथा मुगल वास्तुकला का अपार खजाना बिखरा पड़ा है। इसकी छानवीन होनी चाहिए। निष्कर्षतः सूरदास की यूटोपिया के चारों संसारों का संयुक्त चतुरंग ऐसा है।

एक झिलमिलाते निजंधर (लेजेंड) के प्रभामंडल में 'सूरसागर' का एक भाव-कल्प है जिसमें उसके सवा लाख पद हैं। वास्तव में अब तक लगभग पाँच हजार पदों (४९५१) वाला सूरसागर ही उपलब्ध है। इनमें सूरदास के विभिन्न रचनाखण्डों या पदवंदों को उनके जीवन-क्रम के अनुसार वर्गीकृत करना लगभग मुश्किल है। इसके अलावा यह ज्ञात करना भी असम्भव है कि श्रीनाथजी के मन्दिर में कीर्तन की सेवा में लगे हुए सूरदास किन प्रसंगों को अपने भाव-संसार और रुचि के अनुसार चुनते अथवा छोड़ देते थे, क्योंकि महाप्रभु "श्रीवल्लभाचार्य भागवत के जिन प्रकरणों की व्याख्या अपने कथा-प्रसंगों में किया करते थे, उन्हीं भावों में अपनी मौलिकता का समावेश कर सूरदास पद-रचना कर भगवान् श्रीनाथजी के सम्मुख उनका गायन करते थे।"[६] इसलिए "सूर-सागर भागवत का अविकल अनुवाद न होते हुए उस पर आधारित अवश्य है।"[७] आचार्य शुक्ल ने भी कहा है कि "सूरसागर किसी चली आती हुई गीतकाव्य-परम्परा का, चाहे वह मौखिक ही रही हो, पूर्ण विकास-सा प्रतीत होता है।"[८] वस्तुतः और अन्ततः इसकी मौलिकता अभिव्यंजना में है (परेश)।

सूरसागर का 'प्राण' तथा 'उसके लालित्य का नाभि-केन्द्र' (परेश) दशम स्कन्ध का पूर्वार्ध रहा है, जिसमें लगभग ४१६० पद हैं (४९५१ में से)। इसके पूर्वार्ध में कृष्ण-जन्म के प्रफुल्लित वातावरण से लेकर पूतना-वध, कागासुर-वध, नामकरण, अन्नप्राशन, वर्षगाँठ, वालछवि-वर्णन, क्रीड़न, माखनचोरी, गोदोहन, गोचारण, कालीदह-जलपान, दावानल-पान, चीरहरण-लीला, गोवर्धन-लीला, रास-लीला, दान-लीला, राधा-कृष्ण की अन्य प्रेम लीलाएँ, कृष्ण के मथुरागमन के उपरान्त विरह का विस्तार से वर्णन हुआ है। उत्तरार्ध में कृष्ण सम्वन्धी अन्य लीलाओं का चित्रण है। सूरसागर का सर्वप्रथम वास्तविक चित्रण महाराजा जगतसिंह (१६२८–१६५२ ई०) के शासन में उदयपुर में शुरू हुआ (मूलतः मेवाड़शैली में)। काँगड़ा कलम में भी कई पदों तथा लीलाओं का मनोहर अंकन हुआ है। वाल-लीलाओं के प्रसंग में भागवत में कृष्ण की अलौकिकता दर्शाई गई है तो सूरसागर में मानवीय लौकिकता। माधुर्य-प्रसंगों में अनुराग तथा आसक्ति का राधाभाव से उफान करते हुए भक्ति में उदात्तीकरण हुआ है। यह मूलतः रागानुग अभिव्यंजना है। यही इस प्रगीतात्मक महाकाव्य की मौलिकता की नाभि-भँवर है। सूरदास

६– राजस्थानी चित्रकला और हिन्दी काव्य–जयसिंह नीरज, राजकमल, दिल्ली (१९७६), पृष्ठ ९०।

७– सूरदास और उनका साहित्य–हरवंशलाल शर्मा, पृष्ठ १४३।

८– हिन्दी साहित्य का इतिहास, नागरीप्रचारिणी सभा, काशी।

अपने रचना-संसार के बीच-बीच में भागवत के कथासूत्रों को खोल देते हैं और पुनः थोड़ी देर बाद अपने काव्य-लोक में तन्मय हो जाते हैं। विशेष रूप से दशम स्कन्ध में यही सिलसिला चलता रहता है। सारे महाकाव्य में गेय पदों तथा कथा पदों का मिश्रित योग है जिससे भावात्मकता और प्रबन्धात्मकता का चमत्कार-विधान हो जाता है। महाकाव्य रूप का यह एक बिल्कुल नया प्रयोग है—गीतात्मक प्रबन्ध अर्थात् एक "महागीत प्रबन्ध" ! यही विचित्रता है।

सूरसागर का देश-काल भी इसी तरह विरुद्धों का सामंजस्य है—एक ओर श्रीकृष्ण का मिथक काल (महाकाल) है, दूसरी ओर ग्रामीण अहीरों का साक्षात् मध्यकाल; एक ओर नित्य वैकुण्ठ लोक, दूसरी ओर उसका प्रतिबिम्ब सूरदास के जीवनकाल की व्रजभूमि का वैकुंठ गोलोक। यही अद्भुत है।

'सूरसागर' की सौन्दर्याभिव्यंजना भी प्राकृत ग्रामीणजनों के लौकिक अनुभवों की ठोस तथा मांसल यथार्थभूमि से उभरी है। उसमें 'गाथा सप्तशती' की जो अन्तर्धारा बहती आई है, वह व्रज के लोक-गीतों, लोक-प्रथाओं, लोक-जीवन आदि का ऐसा आनन्दात्मक अनुरंजन करती है कि वह व्रजमंडल के जन-जीवन का भावात्मक इतिहास बन जाती है। यह उसकी अपूर्वता है।

सूरसागर में न तो (रूपगोस्वामी-जीवगोस्वामी जैसे) वैष्णव आलंकारिकों के सौन्दर्य-बोध-शास्त्र का अनुकरण है, न पुष्टि-मार्ग की साम्प्रदायिक कट्टरताओं के बन्धन हैं, न काव्यशास्त्रियों के मौलिकता-विहीन लक्ष्य-लक्षणादि हैं और न ही काम-सूत्रकारों के अभिजात वासना-विलास हैं। यही उसकी अनुपमता है।

इस तरह 'सूरसागर' की अभिव्यंजना तथा रूप-विधान विचित्र हैं, कुछ अद्भुत हैं, अपूर्व हैं तथा अनुपम हैं।

× × ×

कार्ल जुंग आद्य बिम्बों (आर्केटाइपल इमेजेज) के मोतियों के गोताखोर थे। वे इस महासूत्र से सहमत थे कि 'कविता हमारे शब्दों के परदे के पास आदिम शब्द की दूरवर्ती ध्वनि है।'

हमारे शब्द हमारे सन्दर्भों और हमारे युग के हैं, आदिम शब्द हमारी जातीय संस्कृति या समूची मानवता के इतिहास के हैं। इस तरह एक ऐसी अवस्था हो सकती है जब हमारे समय के सन्दर्भों वाले शब्द हमारी जातीय संस्कृति तथा मानवीय अनुभव के भी प्रतिबिम्ब हो जाएँ।

क्या बाल-क्रीड़ाओं अथवा उन्मुक्त यौन-अनुभवों वाले शब्द अथवा मिथकों वाले लीला-शब्द ऐसे शब्द नहीं हैं जो आद्य बिम्ब बन जाएँ ? सूरदास के नाभिकीय काव्य-शब्द वस्तुतः आद्य शब्द-बिम्ब हैं। यह महासूत्र उनकी सार्वभौम अनुभूति की कुंजी है।

सूरदास का काव्य-लोक व्रजभूमि के वृन्दावन की फान्तासी है—लीलाओं, क्रीड़ाओं से सक्रिय। यह सक्रिय फान्तासी उनकी सृजन-प्रक्रिया का बीज है। ऐसी फान्तासी ही आद्य बिम्ब बन जाती है। अतः सूरदास के गीत-पद तथा कथा-पद दोनों ही आद्य बिम्बों का सृजन करते हैं। नटखट बालक और बन्धनहीन नारी उनकी काव्याभिव्यंजनाओं के आद्य रूपात्मक आकृति-बंध (पैटर्न) बुनते हैं, अर्थात् ऐन्द्रियिक बिम्बों की लड़ी-पर-लड़ी, मोती-पर-मोती की भीड़ लगाकर वे बिम्बात्मक इकाइयाँ छापते हैं जिन्हें रिचार्ड्स "आवेश-गुच्छों (बंच ऑफ इंपल्सेज) का समतोलन" (साइनास्थेसिस) कहते हैं। अतः सूर के दोनों प्रकार के अधिकांश पद बिम्बात्मक इकाइयों के आवेश-गुच्छ हैं। अतः वे अनुभूति में डूबे हैं और मार्मिकता में डबडबाये हैं। वे आद्य-बिम्बधर्मिता के कारण ही मर्मस्थल को बेध देते हैं, जिससे हमारे जातीय अचेतन की मछली अथवा हमारे मिथकीय चित्र का कस्तूरी मृग उन्मादित तथा बाउल (पागल) हो जाता है। जब सूर ही शाश्वत आद्य रूपों के अग्नि-कवि हैं, तो फिर पुष्टिमार्ग के सिद्धान्तों

से, अथवा मध्यकालीन नैतिक प्रतिमानों से, अथवा काव्यशास्त्रीय लक्षणों से उनके काव्य की सटीक व्याख्या असम्भव है। उसका तो अनुभव ही हो सकता है— आद्य बिम्बों की लड़ियों और शृंखलाओं की एक-एक तेजस मणि की दीप्ति, द्युति तथा द्रवण का आत्मानुभव करते हुए!

सूर की कविता के शब्द पहले तो रमणीयार्थक शब्द हैं। इसके साथ ही वे गेय शब्द हैं। इसके साथ ही ये चित्र-शब्द हैं। इस तरह उनका शब्द रमणीय, गेय, चित्रात्मक होकर 'बिम्ब' में दीप्तिमान हो उठता है। इतने माध्यमों से संयुक्त होकर तथा मानवचित्त की सार्वभौम अनुभूति से भावित होकर यह सूर-शब्द एक साथ ही प्रतीक और आद्य बिम्ब में रूपायित हो जाता है। यही सूर की कविता की सौंदर्य-बोधानुभूति है। यही उसकी व्याख्या-बहिर्भूत तथा चिति-संभूत (साइके-सेंटर्ड) अनिर्वचनीयता है।

सूरदास ने शनैः शनैः 'राधा-भाव' की आकांक्षा करते हुए अन्त में इहलीला संवरण की थी। राधा-भाव प्रेम और प्रणय, प्रेमा, रागानुगा भक्ति का कौन-सा गहन-गूढ़-गंभीर भेद है? सूर-काव्य का तो यह कुंडलिनी-बिन्दु है।

कहा जाता है कि महाप्रभु चैतन्य स्वयं **'राधा-भाव'** से कृष्ण से प्रेम करते थे। किन्तु विरोधाभास यह है कि गुणी भक्तजन उन्हें श्रीकृष्ण का अवतार समझते थे। यह भी जनश्रुति है कि श्रीकृष्ण ने राधा-प्रेम को स्वयं अनुभव करने के लिए चैतन्य के रूप में अवतार लिया था। राधा-भाव से भक्ति करने का तात्पर्य नारीचिति (फीमेल साइके) के रहस्य-केन्द्रों को उद्घाटित कर देना, अर्थात् आद्य और आदिम, चिरंतन और प्रकृत नारीत्व (फेमिनिटी) को सिद्ध कर लेना। अर्थात् एक पुरुष द्वारा अपने अन्तःकरण में स्थित सुपुप्त नारी को उद्बुद्ध कर लेना। चैतन्य पुरुष होकर भी अपने मनोलोक में मानो नारी हो गये थे, अर्थात् 'प्रकृति' हो गये थे। अर्थात् चैतन्य का माया (एनिमा) पक्ष सक्रिय हो गया था। अर्थात् अर्द्ध-नारीश्वर के नारी-पक्ष का सक्रिय अनुभव निष्क्रिय पुरुष - पक्ष करने लगा। श्रीकृष्ण ने केवल पुरुष (मदन) भाव से राधा से प्रेम किया था। अतः उन्हें राधा के रति-भाव के उन्माद, विरह, लालसा, समर्पण आदि का प्राथमिक अनुभव नहीं था। चैतन्य ने प्रेमानुभव की प्रकृति ही उलट दी। पुरुष के लिए यह राधा-भाव ही 'महाभाव' था। यह 'माधुर्य भाव' भी था, अर्थात् नारी-रति के केन्द्र में विस्मयपूर्ण मधुरता संचित है।

यही मधुर राधा-भाव 'परकीया भाव' भी था। अर्थात् यहाँ नारी न तो नायिका है और न ही कुल-वधू, न पतिव्रता और न ही अबला, न ही अविवाहिता है और न ही विवाहिता, न ही स्वेच्छाचारिणी है और न ही बंदिनी। वह है, मात्र नारी-प्रकृति। वह मूलतः एक मानसी प्रिया है—स्वच्छंद और बंधनहीन। वह शरीर से दूसरे की वल्लभा होकर भी आत्मा से किसी अन्य (कृष्ण) की है। गृहपत्नी (स्वकीया) और प्रकृत प्रिया (परकीया) के दो पृथक् मॉडलों का धुँधला सम्बन्ध खींच कर भी गृहकेन्द्र की ही विमुक्त उन्मुक्त नारी को प्रकृति-धुरी में संचरणशील कर दिया गया है। ऐसी नारी के द्वन्द्व, ऐसी नारी का अहं, ऐसी नारी का मन, ऐसी नारी के कर्म इत्यादि या तो आदिम और आद्य होंगे ही, अथवा आर्य-पंथ और कुल-शील के भंजक होंगे, अथवा गूढ़ गोपन समर्पण और विरह की गहराई में गर्भित होंगे। विराट द्वन्द्वों के बीच आत्मसंघर्ष करती हुई यह वल्लभा नारी एक पूर्ण तथा चिरंतन पुरुषत्व की प्रिया के रूप में आत्मोपलब्धि करती है। सूर की राधा की अनुभूति भी पुरुष चित्त से न होकर नारी-चित्त (अर्द्धनारी-पक्ष) से हुई है। पुरुष-पक्ष से यह परकीया भाव से हुई है। अतः इसमें मधुरता और विरह का स्नेह-बाती की तरह सम्बन्ध हुआ है।

मनोविज्ञान के उत्स में यह परकीया राधाभाव रागानुगामी है, कामरूपात्मक है। सघन मधुर रस है।

गार्हस्थ्य जीवन में परकीय वल्लभा की मधुरा रति एक सामाजिक नैतिक अन्तर्विरोध है। तथापि यह काम के मुक्तिकामी तथा आनन्दपरक प्रकार्य का पुनरूत्थान करता है जो सामंतीय भोग-विलास में अथवा रूढ़ गार्हस्थिक मर्यादाओं में मृतप्राय हो गया था।

अतः सूर को भी दूती, सौत, देवरानी, सास, ननद आदि के सम्बन्धों को छोड़कर राधा-सखियों तथा कृष्ण-सखाओं के नये सम्बन्धों की रचना करनी पड़ी, क्योंकि मधुर परकीया राधा-भाव के अनुभव बदल जाते हैं। सखियों के भेद नित्य-सखी, प्राण-सखी, प्रिय-सखी और परमप्रिय-सखी के हैं।

इस तरह आभीरों की आदि प्रेम-देवी राधा अब वर्णाश्रम के घेरे से छूट कर मर्यादित गृहस्थ-धुरी को ढीला करती हुई स्वच्छन्दता और मुक्ति का भक्ति-प्रतीक हो जाती है। मूलतः वह कामरूपा प्रीति का आद्यरूपात्मक प्रतीक है। मध्यकालीन राधा और अहीर मुग्धाएँ-वनिताएँ कम से कम अपने चित्त-संस्कार से सवर्ण हिन्दू नैतिकता, कठोर पातिव्रत-धर्म, क्रीड़ाहीन गृहस्थ-धर्म में नहीं बँधीं। उनकी नैतिकता रोमांसपरक है। इसके द्वारा परम्परागत विवाह-विधान तथा मर्यादामुक्त प्रेम-विधान की भी तुलना की गई है। सीता और राधा एक ही मध्यकालीन समाज की विकल्प तथा आदर्श रूप हैं। दोनों ही आद्य रूप हैं। राधा-नारी साइके (चिति) के गुप्त और गूढ़ रहस्यों को खोलती है। जिस तरह राधा मूल व्यभिचार (इंसेस्ट) तथा स्वच्छन्द कामक्रीड़ा को रहस्यानुभवपरक भी बना देती है, उसी तरह कृष्ण भी अपने वास्तविक माता-पिता (देवकी-वसुदेव) के रिश्ते भुलाकर नन्द-यशोदा के रिश्तों को ही सँवारते हैं। ये सामाजिक तथा पारिवारिक सम्बन्धों में नारी-मुक्ति अथवा दत्तक पुत्र के कौन से भेद खोलते हैं? कन्या-वध भी किसी आदिम नर-बलि का सूचक है।

इस सन्दर्भ में राधा और कृष्ण के रूप-चित्रण में रूप-सौन्दर्य तथा वस्त्राभूषणों के लिए उपकरणों और वस्त्राभूषणों का शोभा-शास्त्र ही गढ़ डाला है। मानव देह का माधुर्य, भोग और क्रीड़ा तथा मानव श्रृंगार का ऐसा चमत्कार, सौन्दर्य और सम्मोहन आदि—इनके मूल में भी मानवीय अनुभव के ये नये तथा विपरीत रूप रहे हैं। सूर के सम्मोहन का वक्रपंथ यही है। अंग-प्रत्यंग समेत मांसल शरीर का ऐसा ऐन्द्रिय आह्वान अपने सहज और आदिम रूप में यहीं मिलता है—समूची मध्यकालीन संस्कृति के वृत्त में।

राधा-भाव की पूर्णता के लिए ही संभोग के अंग और विपरीत रति के प्रसंग हैं। विपरीत रति के लिए राधा और कृष्ण के विपरीत श्रृंगार-अंकन भी हैं।

अतः सूर-काव्य में माधुर्य रति, राधा-भाव, परकीया-भाव, संभोग-अनुभाव, रतिरंग में जूझना, विपरीत रति, विपरीत श्रृंगार, रूप-सौंदर्य-चित्रण, वस्त्राभरण-चित्रण आदि इतने नये हैं और साथ-साथ ही इतने परस्पर विरुद्ध, तथापि स्वच्छन्द-उन्मुक्त हैं कि इनसे मानव-देह, मानव-सौन्दर्य, मानव-क्रीड़ा तथा मानव-अनुभव के असंख्य गहरे रहस्य खुलकर चित्रोपम तथा बिम्ब-मांसल हो उठते हैं। मानवीय अनुभव की दशाओं को विपरीत कर देना (विरुद्ध नहीं)—यहीं सूर की नवीनता और मार्मिकता है।

आदिम और आर्य उद्गम की ओर जाने में सूर एक दूसरे ढंग की अन्तर्यात्रा करते हैं। नारी-चिति की पहचान के लिए वे परकीया भाव तथा विपरीत रति और विपरीत श्रृंगार के मनोशारीरिक मॉडल गढ़ ही चुके हैं। अब संधि-क्षेत्र में गहराई में डूबते हैं।

ये राधा को किशोरी उमिर (उम्र) में तथा मुग्धावस्था में केन्द्रीभूत करते हैं। यह एक महत्तम मनोवैज्ञानिक क्रांति है। अब उन्हें वयःसन्धि के अपूर्ण तथा मांसल अंगों के बीच ऐन्द्रिय कामातुरता तथा कुतूहल के नाना सूत्रों को खोलने का मौका मिलता है। उन्हें मुग्धा-किशोरी के नवयौवन की दीप्ति तथा ऊष्मा, उन्माद तथा लज्जा, सभी के द्वन्द्वों को सुलझाने का नया सौन्दर्य-विधान मिलता है। उन्हें मुग्धा

किशोरी के नवयौवन के मधुरोल्लास के बीच वसन्त और मदन (ऋतुराज और कृष्ण) की उत्तेजना से **प्रथम प्रेम** और **प्रथम मिलन** की भाव-लीलाओं, काम-क्रीड़ाओं का हास्य-कटाक्ष, हाव-भाव के साथ देखने-दिखाने, बताने-समझाने का खुला अवसर मिलता है। उनके सनातन जादू का यह दूसरा रहस्य है, अर्थात् नये प्रथम और मुग्ध का रहस्योन्मीलन तथा सौन्दर्यावगुंठन। सूर-काव्य का बहुत बड़ा भाग इसी कला-लीला में तन्मय है। इस रहस्य को खोलने के लिए ही बीच-बीच में वे छोटी उमिरवाले कृष्ण और भरे-फूटते यौवन वाली गोपियों द्वारा उन्हें छातियों में भरने का अनुभव चखाते हैं, वे गोपियों को पूर्णतः निर्वसन करके कुमारिका छवि को सभी लौकिक कुंठाओं (लज्जा) से बन्धनहीन कर देते हैं। वे गोरस देने या दधि देने की माँग का गूढ़ प्रतीकीकरण रति की माँग करने में कर डालते हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि सूर-काव्य में एक सनातन मानवचित्त में अर्धनारीश्वर का नया कामसूत्र रचा जा रहा है। फिर भ्रमरगीत में एक ज्ञानवरिष्ठ पुरुष और ज्ञानकनिष्ठ गोपियों का आमना-सामना कराकर सूरदास निर्गुण ज्ञान और सगुण प्रेम के बीच अन्तर्विरोध जताकर यही बताते हैं कि इन का वियोग ही योग है। ये इस प्रेमपंथ में जात-पाँत को, मानापमान को, माता-पिता को, पति-पुत्र को, आर्य-पंथ और मर्यादा-मार्ग को त्याग देती हैं।

अतः प्रेम (संभोग और विरह) और रोमांस और काम-भोग के जो नये अपूर्व अनुभव सूर-काव्य में हैं, वे पूर्ववर्ती कालिदास, भवभूति या श्रीहर्ष की कृतियों में भी नहीं हैं। आभीर जाति और गोपियों की प्रमुखता के कारण क्लासिकल नायिका-भेद गुम है। अद्भुत तथा नवीन तथा मौलिक बात यह है कि सूरसागर में 'प्रणय' के नये अनुभवों को नयी-नयी दशाओं में कलमबन्द किया गया है। तथाकथित अन्धे सूर नेत्रों के सबसे बड़े चितेरे हैं। भारतीय कला के इतिहास में अजन्ता के बाद नेत्रों की भाषा और अंगों की माधुरी का महाकाव्य तथा महाचित्र-वीथी सूर-काव्य में ही है।

सूर-काव्य में 'मुरली' आश्चर्य तथा चमत्कार का हेतु है। फ्रायडीय पारिभाषिक तो इसे यौन प्रतीक ही बतायेगा, किन्तु सूर ने इसे नामलीला का रूप, कृष्ण की अपारशक्ति, लोकोत्तर आनन्द से भी अधिक आह्लादक माना है। वंशी-ध्वनि को मादक, आर्य-मर्यादाएँ भंग करनेवाली, गोपियों को पागल करनेवाली, राधा की सपत्नी, कृष्ण की मोहिनी आदि कहा है। शृंगारिक लीलाओं के कान्त भाव में वेणु अद्भुत और अलौकिक है।

भ्रमर और वंशी और कुब्जा—ये तीन ऐसे सन्दर्भ हैं जो गोप-परिवेश में हास्य-व्यंग्य और उपहास का समाहार करते हैं। सूरकाव्य की जीवंतता, लौकिकता, स्वाभाविकता का आधार यह नया हाशिया भी है। इनका मनोवैज्ञानिक अवगाहन तो एक स्वतन्त्र विषय है।

अतः माधुर्य और हास्य के नये अनुभवों के उपरान्त हम सबसे प्रथम और प्रधान **वात्सल्य** भाव के अनुभव को लेंगे। सूर के लिए गोवर्धन के श्रीनाथ की **सेवा** बालभाव में है। किशोर से पहले बाल! उनके बालकृष्ण या बालगोपाल 'नट-खट' हैं जो आगे चलकर नट-नागर हो जाते हैं।

सूर के **'कृष्ण के बाल-रूप'** बालगोपाल पक्ष की प्रधानता भी अनूठी, अनुपम और अद्वितीय है। इसके पहले समस्त भारतीय कला में शिशु और बालक, मातृत्व और वात्सल्य, किशोर/बाल कृष्ण तथा उन्मादिनी व्रजांगनाओं के सम्बन्धों तथा भावदशाओं का निरूपण नहीं हुआ था। वे बाल-रति से किशोरता की प्रीति के जादू (मुग्धाभाव की तरह) तक को आत्मसात कर लेते हैं। उस मध्य-काल में भला एक नन्हा चपल 'चटुल बालक' कैसे नेताबुरी में आ गया? बाल-क्रीड़ाएँ क्यों? "वल्लभ कुल का साम्प्रदायिक

पक्ष वात्सल्य-भाव की उपासना है, अर्थात् भगवान को वालक के रूप में मानकर अपने को यशोदा, नन्द आदि के रूप में कल्पित करके उपासना करना, उस सम्प्रदाय की विशेषता है।.........वल्लभ कुल ने राग-भोग की इतनी लम्बी चौड़ी प्रथा चलाई.........कि सूरदास ने बाललीला सम्बन्धी पद सबसे अधिक लिखे हैं।[९] ये पद भागवत में कथित लीलाओं के आधार पर, गाँव में शिशु-जन्म से लेकर विवाह के संस्कारों तक, वालक की स्वच्छन्द क्रीड़ाओं और किशोर के अंकुरित होते हुए आक्रामक काम तथा अन्य क्रियाओं में स्थानांतरित हुए हैं। वाल-लीला और वाल-क्रीड़ा का अद्भुत समन्वय ! एक क्रीड़ित वाल और एक लीला-धारी वाल-ईश्वर। अकवर के समय में भी श्रीवल्लभाचार्य के एक **दिव्य शिशु** के भोलेपन (वाल-रति) के गीतों को सूरदास ने एक **दिव्य मुग्धा** की प्रेमारति के गीतों से जोड़ दिया। उन्होंने शिशु-मानव द्वारा इस दृश्यमान संसार का प्रत्यक्षीकरण और इस संसार का शिशु-स्वप्नों की फान्तासी द्वारा कल्प-सृजन—दोनों को ही अंगीकार किया। शिशु-कल्पना ने स्वयं को एक दैवी शक्ति सिद्ध किया और स्वयं सम्पूर्ण यथार्थ की धात्री वन गई। दृश्यमान वस्तुओं ने जो यथार्थता पर मुखौटे लगा दिये थे, सूर की कल्पना ने उनका निरावरण कर डाला और नित्य तक पहुँच गये। यह जीवन-दृष्टि कोरमकोर आध्यात्मिक और रोमांटिक है। शिशु-भोलापन (वाल रति) कल्प-सृष्टि के रहस्यों को खोलता है, तो किशोर-अनुभव (कांतरति) काम-सृष्टि के रहस्यों को उन्मीलित करता है। इन दोनों आद्य अँगड़ाइयों में यथार्थ (भौतिक जीवन की कुटिल चुनौतियों तथा सामंतीय (ऐंद्रिय) समाज के भ्रष्टाचारों का भी वध हो गया है। मध्ययुगीन (कलिकाल का) पाप, कुटिलता, पतन, खलता आदि भोलेपन और युवापन को भ्रष्ट तथा विनष्ट नहीं कर पातीं। यहाँ सूर अस्तित्व और अस्मिता की आप्त और आद्य दशाओं का प्रथम भोला साक्षात्कार करते हैं। पूतना-वध, कागासुर-वध, तृणावर्त-वध, धेनुक-वध, केशी-वध, व्योमासुर-वध, रंजक-वध, कुवलय-वध, हस्ती-वध, मुष्टिक-वध, चाणूर-वध, वकासुर-वध, अघासुर-वध, वत्सासुर-वध आदि वालकों के परिवेश अर्थात् गाय-वछड़ों और जंगल के जीव-जन्तुओं से सम्वद्ध हैं जिन्हें शिशु-कल्पना के राक्षसों और परियों के आद्य विम्वों में रूपायित कर दिया है। यह टोटेमिक वलि (वध के वजाय) हो सकती है। दोनों ही व्याख्याओं में कल्पना जगर-मगर होकर यथार्थ पर वँधे शिशु-मुखौटे उतार फेंकती है।

वाल-क्रीड़ाओं में गेंद खेलना, गिल्ली-डण्डा, आँख-मिचौनी, लड़ाई-झगड़ा, जल-विहार, छाक जीमना आदि ऊर्जा-प्रवाही हैं। इसी कड़ी में वर्षा और दावाग्नि से जूझने के ग्रामीण प्रयत्न कृष्ण के अलौकिक कृत्य वन गये हैं—जैसे, गोवर्धन-लीला, दावानल-पान-लीला, कालियनाग-मर्दन-लीला के प्रयोजन अन्य हैं। जल में सोता हुआ शेषनाग फणों पर गोल पृथ्वी को धारण किये है, किन्तु वस्तुतः इस गेंद (पृथ्वी) के नियामक, संचालक, क्रीड़क कृष्ण हैं। इस मिथकीय विश्वास को सिद्ध करने के लि वालकृष्ण कालिय-नाग के फणों का मर्दन करके उस पर नृत्य (सृष्टि और काल की गति तथा कला) करते हैं तथा गेंद को प्राप्त कर लेते हैं।[१०] शिशु कृष्ण की गेंद तथा किशोर कृष्ण की वंशी, ये दोनों ही सृष्टि के रहस्यों

---

९ – हिन्दी साहित्य का अतीत (भाग एक) विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, वाणी वितान, वाराणसी (सं० २०१५), पृष्ठ १९९।

१०– झिरकि कै नारि, दै गारि गिरिधारि तव, पूँछ पर लात दै अहि जगायौ।
उठ्यौ अकुलाइ डर पाइ खगराइ कौं, देखि वालक गरव अति वढ़ायौ।
पूँछ लीन्हीं झटकि, धरनि सौं गहि पटकि, फुंकर्‌यौ लटकि करि क्रोध फूले।
पूँछ राखी चाँपि, रिसनि काली काँपि, देखि सव साँपि अवसान भूले।
करत फन-घात, विष जात उतरात अति, नीर वरि जात, नहिं गात परसै।
सूर के स्याम प्रभु, लोक-अभिराम, विनु जान अहिराज विष ज्वाल वरसै॥

सूरसागर ११७०

के सूत्रों को कर्म तथा शब्द (ध्वनि) द्वारा उन्मीलित करते हैं ।

भोलापन और अनुभव का सातत्य दानलीला, मान-लीला, चीरहरण लीला, रासलीला आदि में प्रकट होता है । यहाँ भाव-लीला, भोग रस तथा रति में पग गये हैं । दानलीला गोपियों की कामपीड़ा का दाह है और दधि और गोरस माँगने के बहाने कृष्ण उनसे उनका मांसल शरीर तथा ऐन्द्रिय रति माँगते हैं । मान प्रसंगों में सम्भोग के सरस और नग्न चित्र हैं । चीरहरण-लीला में प्रकृतिरूपा, संस्कृति-संस्कार से विमुक्त, सभी आवरणों-मुखौटों से निरावृत नग्न नारी-काया और विशुद्ध नारीत्व का प्रतिकल्प हुआ है । राधा-भाव की गूढ़ता तक पहुंचने के लिए वयःसंधि वाले कृष्ण को ये अनुभव करने ही हैं ।

भारतीय धर्म के इतिहासकारों के लिए यह पहली सामग्री है कि सूर ने बाल-कृष्ण तथा बाल-ईश्वर गोपाल के केन्द्र से सृष्टि और राग-सृष्टि, प्रणय और प्रलय दिव्य और मानवीय की आदिचिति और महाशक्ति को मिथक कथा पदों में व्याख्यायित किया है । शिशु कृष्ण और शिशु गणेश ऐसे ही शिशु देवता हैं ।

बहुधा शिशु देवता के आद्यरूप सृष्टि-रहस्यों, मानवीय भाव-लोक के उन्मेष तथा सामूहिक अवचेतन का उन्मीलन करते हैं । उनकी अवचेतन फान्तासी-प्रक्रिया मानो सृष्टि-प्रक्रिया है, यथार्थ की व्याख्याएँ हैं और आत्मरति के चित्र भी हैं ।

शिशु का नग्न शरीर फिर उसकी स्वप्न क्रीड़ाएँ तथा संस्कार, फिर उसका विभक्तीकृत यौवन-विकास और उस युवा शरीर का शृंगार और भोग····यह 'नग्न शरीर' को (यौवन, सौन्दर्य, प्रेम आदि से) 'देदीप्यमान शरीर' में रूपायित कर देता है । भावलोक और लीलाओं के उन्मेष से यही देदीप्यमान शरीर गूढ़ और रहस्यात्मक रति-भाव-शरीर हो जाता है । सूर ने मानो अपने समय के ग्रामीण शिशु का ही दिव्य शिशु के आर्कटाइप में कायाकल्प (मेटामार्फोसिस) कर डाला ।

बाल-लीलाओं के प्रसंगों में गहरी **गीत्यात्मकता** (लिरिक) है । ठीक है, किन्तु भोलेपन और पवित्रता के प्रतिपक्ष में चतुरता है । छल और छद्म है । अतः इन गीत-पदों में व्यंग्यात्मकता (सेंटायर) भी अभिव्यंजित हुई है । यह व्यंग्यात्मक बुद्धि ही स्याम को चतुर बना देती है (कहाँ तुम यह बुद्धि पाई स्याम चतुर सुजान) । गाय दुहने के बहाने, माखन चोरी के बहाने, सर्पदंश के बहाने, दधि माँगने के बहाने और गोपिकाओं के कई ढंग के बहाने, मान-लीला के बहाने आदि इसी लिरिकल व्यंग्यात्मकता के उद्‌गम हैं जो कुब्जा, वंशी तथा भ्रमर के बहानों में ताने, उपहास, कटाक्ष, व्यंग्य, विडम्बना, परिहास आदि के नाना रूपों में अभिहित लक्षित व्यंजित हुए हैं ।

वंशी की तरह बाल-क्रीड़ा-लीला सन्दर्भों में भी जो अलौकिकता है, वह यही संकेत करती है कि शैशव के अनुभव अद्‌भुत हैं । सृष्टि और रति के रहस्यों से गुँथे हैं । अतएव सूरदास मथानी से बँधने पर, मिट्टी खाने पर, पैर का अँगूठा चूसने पर आश्चर्य तथा कौतुक से पूर्व क्रीड़ा-आयाम का संस्मरण कराते चलते हैं ।

क्रीड़ा और केलि को भी, लीला और क्रीड़ा की भाँति, मिलाने पर सूर नृत्य को अभिनव संस्कार देते हैं । कार्त्तिक (शरद) का 'महारास' तथा चैत्र (वसन्त) का 'वसन्त रास' भी एक 'लीला' होकर रास-लीला अर्थात् कामाध्यात्म की नृत्य-कथाकेलि बन गया है । यहाँ गोपियों के साथ 'नटवर' या 'नट-नागर' का ललित नृत्य है । लास्य नृत्य में युवकों के हृदय में शृंगार भावना उत्पन्न करने के लिए रमणी नर्तकी अपने आकर्षक एवं उत्तेजक अंगों को झीने आवरण से ढाँकती है । रास के लास्य में युवा कृष्ण गोपियों के हृदय में शृंगार और काम भावना को भी उत्पन्न करने के लिए रास-लीला रचाते हैं जो नृत्य, क्रीड़ा, केलि, लीला और गान, इन पाँचों का संयुक्त कलारूप है ।

एक ओर शिशु कृष्ण के वाल नृत्य ('आँगन स्याम नचावहीं जसुमति नँदरानी'), तरुण कृष्ण के (कालिय नाग प्रसंग में) तांडव नृत्य, होली के हुल्लड़-हुड़दंगभरे लोक-नृत्य आदि के सन्दर्भ हैं, दूसरी ओर रासलीलावाले पदों में हाव-भाव, अंग संचालन, पैरों की पटक, कामोद्दीपक आभूषणों की मादक ध्वनि का संयोजन हुआ है। (नृत्यत स्याम स्यामा हेत । / मुकुट-लटकनि भृकुटि-मटकनि, नारि-मन सुख देत ॥ / कवहुँ चलत सुचंग गति सौं, कवहूँ उघटत वैन । / लोल कुंडल गंड मंडल, चपल नैननि सैन ॥[११]

राधा मोहन मंडल माँझ । मनहुँ विराजत चंदा साँझ ॥

रास रसिक गुन गाइ हो ।

पग पटकत लटकत लट वाहु । मटकत भौंहनि हस्त उछाहु ॥

अंचल चंचल झूमका ।

....

मंडित गंड प्रस्वेद कन ।

....

नूपुर किंकिनि कंकन चुरी । उपजत मिलित ध्वनि माधुरी ॥[१२]

यहाँ रासलीला की मुद्राएँ वस्तुतः कामशास्त्र के उज्ज्वल रस में लय होती हैं। संभोग के अनुभाव और रासलीला की मुद्राएँ पारस रूप हो गयी हैं। (हरषि पिय प्रेम तिय अंक लीन्ही । प्रिया विनु वसन करि, उलटि धरि भुजनि भरि, सुरति रति पूरि अति निवल कीन्ही ॥ / आपने कर नखनि अलक कुरवारहीं, कवहुँ वाँधैं अतिहिं लगत लोभा । / कवहुँ मुख मोरि चुम्बन देत हरष ह्वै, अधर भरि दसन वह उनहिं सोभा । / वहुरि उपज्यौ काम, राधिका-पति स्याम, मगन रस-ताम नहिं तनु सम्हारैं । / सूर प्रभु नवल नवला, नवल कुंजगृह, अन्त नहिं लहत दोउ रति विहारैं ॥)[१३] कहा जो गया है कि भागवत प्रेमशास्त्र है। रासलीला संभोगपूर्व क्रियाओं-मुद्राओं आदि की भूमिका वनती है और इसका परिपाक कामशास्त्र है। इस तरह 'भागवत' के प्रेमशास्त्र की प्रीति तथा कामशास्त्र की रति का घुलामिला अनुभव-संसार झिलमिलाता है। भागवत शास्त्र के अनुसार शुद्ध जीव का ब्रह्म के साथ विलास ही 'रास' है। रासलीला में कृष्ण ने (शिव की तरह काम के गर्व का मर्दन कर दिया। रासलीला भूली हुई, देहाध्यास से मुक्त नारी की कथा है, जहाँ वे 'चिन्मयी लीला' में प्रवेश पा जाती हैं—रिश्ते, नाते, लज्जा, मर्यादा, वस्त्र (पाँच) को छोड़कर। सारांश में प्रतीक (सिम्वल), चिति (साइकी) और रति (सेक्स) का त्रिकोण वन जाता है।

मानवीय मुद्राओं के कालक्रम में कृष्ण ने नरदेह को त्रिभंग मुद्रा में लाकर नटनागर रूप में रास-नृत्य की उन्मादक विमुक्ति प्रसारित की। मथुरा की यक्षिणियों या तांडवरत नटराज की कायाएँ एकभंग या द्विभंग हैं किन्तु यहाँ नरदेह त्रिभंग होकर कटि और घुटनों से लास्यमंडित हो गई है। इस मुद्रा से श्रृंगारिक नृत्य अपनी पूर्णता प्राप्त करता है। जैसे, मणिपुरी शैली का नृत्य। नृत्य के इतिहास में, डायोनीसियन सेक्स क्रीड़ा के नगरीय सेक्स लीला में रूपान्तरण में, मानव-देह की त्रिभंगी मुद्रा के कृष्ण, वसन्त की कामोद्दीपक ऋतु और निर्वंध अकुंठ नारी के वीच जीवात्मा गोपियों के मिलन (संभोग) या कर्म ब्रह्म की क्रीड़ा (रास) के प्रतीक काफी धुँधले पड़ते जाते हैं।

इस तरह कृष्णलीला के महागायक महाकवि सूर रासलीला में भी मानवदेव के महाभोग को, नारीमन के महाभाव को और नृत्य की महामुद्रा को मानो एकतान कर डालते हैं। यही उनकी काव्य-वाँसुरी की जनम-जनम जन्मांतर की पुरानी तान की नयी समकालीन पहचान है।

इस तरह सूर पुरुष और नारी के कला और काल के, क्रीड़ा और केलि के, क्रीड़ा और लीला के रहस्यों को उद्घाटित करनेवाला हमारा समकालीन पथेरदावी है। ■

११– वही १७६६ । १२– वही १७९८ । १३– वही २६०६ ।



श्रीगोकुलनाथ कृत "चौरासी वैष्णवन की वार्ता" में कीर्तित सूरदासजी

Prof. Enzo Turbiani
Vico Pescatori 1/11,
18039 Ventimiglia (Italy)

सूरदास जी की जीवनी के वारे में यदि हम ऐतिहासिक एवं वैज्ञानिक खोज करना चाहते हैं, तो हमारे लिए श्री गोकुलनाथ कृत "चौरासी वैष्णवन की वार्ता" महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है। डॉ० रामकुमार वर्मा के मतानुसार भी यह "प्रामाणिक ग्रन्थ" है।[1] महात्मा सूरदास के जीवन-वृत्तान्त के सम्वन्ध में अनेक किंवदन्तियाँ और जनश्रुतियाँ हैं, उनके वीच में से सत्य निर्धारित करना वहुत कठिन है। "चौरासी वैष्णवन की वार्ता" में अष्टछाप के अन्य सन्त कवियों के साथ सूरदास जी के चरित की प्रधान घटनाओं का मनोरंजक वर्णन सामने आता है; सरस व्रजभाषा भी कथा को विशेष स्पष्टता देनेवाली है। डॉ० रामरतन भटनागर ने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक "सूर-साहित्य की भूमिका" में लिपिवद्ध किया है[2] कि "८४ वार्ता" की प्रामाणिकता में सन्देह नहीं; वे कहते हैं कि उपर्युक्त ग्रन्थ से "सूरदास के सम्वन्ध में वहुत-सी वातों का पता चलता है।"

सूरदास के पंचशती समारोह के अवसर पर "वार्ता" की यथावत् प्रतिष्ठा की जा रही है, क्योंकि अनेक समालोचक तथा विद्वान् समझ पाए हैं कि उसका सूरदास की जीवनी से सम्बन्ध रखनेवाला अंश वहुमूल्य तथ्यों से भरा हुआ है। साथ ही, गोकुलनाथ जी पुष्टि-मार्ग के प्रवर्तक महाप्रभु वल्लभाचार्य के पोते थे और उनके परिजनसमूह में श्रद्धेय पितामह जी की परम्परा सर्वदा जीवित रहती थी। यह तो सुप्रसिद्ध है कि "वे सूरदास जी श्रीआचार्य जी महाप्रभून के ऐसे परम कृपापात्र भगवदीय हैं"।[3]

सूरदास की "वार्ता" का अनुशीलन करने से उनका व्यक्तित्व सूक्ष्म आकार के श्लक्ष्ण पट पर चित्रित-सा हो जाकर हमारी आँखों के आगे अपने गूढ़ मर्म को ही प्रकट करता है। पहले तो श्रीगोकुलनाथ लिखते हैं कि "श्रीआचार्य जी महाप्रभू....व्रज को पाव धारे" और "गऊघाट ऊपर....उतरे"। यह गऊघाट कहाँ है ? वार्ताकार समझाते हैं, "आगरे और मथुरा के वीचोंवीच"[4] अतः वृन्दावन के समीप। इस गऊघाट

१—डॉ० रामकुमार वर्मा, हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास, रामनारायणलाल वेनीमाधव, इलाहावाद १९७१ (६ वाँ संस्करण), पृ० ५२०।

२— देखें डॉ० रामरतन भटनागर, सूर-साहित्य की भूमिका, रामनारायण लाल वेनीमाधव, इलाहावाद १९६४ पृ० ३९।

३— देखें श्री गोकुलनाथ कृत "अष्टछाप", संकलनकर्ता श्री धीरेन्द्र वर्मा एम० ए०, डी० लिट्०, रामनारायण लाल, इलाहावाद १९५९, पृ० ५। यह पुस्तिका "श्री गोकुलनाथजी के नाम से- प्रचलित '८४ वैष्णवन की वार्ता' तथा '२५२ वैष्णवन की वार्ता' शीर्षक ग्रन्थों से अष्टछाप कवियों की जीवनियों का" प्रामाणिक संग्रह है।

४— गोकुलनाथ, अष्टछाप, पृ० १।

में "सूरदास जी को स्थल हुतो"[५]। सूरदास के विषय में जो हम जानते-मानते हैं, सो विट्ठलनाथ के पुत्र अपनी कथा के द्वारा प्रमाणित करते हैं, "सूरदास जी भगवदीय हैं। गान बहुत आछो करते, ताते बहुत लोग सूरदास जी के सेवक भये हुते"[६]। अनन्तर, वार्ताकार सरल और मधुर ब्रजभाषा में महाप्रभु वल्लभाचार्य से सूरदास के साक्षात्कार का ब्योरेवार विवरण करके बतलाते हैं कि "पीछे श्रीआचार्य जी महाप्रभून ने सूरदास जी को पुरुषोत्तम सहस्रनाम सुनायो। तब सूरदास जी को सम्पूरण भागवत स्फुर्तना भई।.... पाछें फेरि ब्रज को पाव धारे, तब सूरदास जी हू श्रीआचार्य जी महाप्रभून के साथ ब्रज को आये"[७]। वस्तुतः प्रसंग ३ में श्री गोकुलनाथ निर्दिष्ट करते हैं कि वल्लभाचार्य जी सबसे पहले "श्रीगोकुल पधारे",[८] जो वृन्दावन के बहुत निकट ही है। उनके साथ सूरदास जी भी गोकुल गए। प्रसंग ५ में भी यह लिखित है कि "बहुर सूरदास जी श्रीनाथ जी द्वार आयकें बहुत दिन ताईं श्रीनाथ जी की सेवा कीनी। बीच-बीच में श्रीगोकुल श्रीनवनीतप्रिया जी के दर्शन कों आवते", जो सिद्ध करता है कि "सूरसागर" के रचयिता श्रीगोकुल में बहुधा पदार्पण करते थे।

श्री गोकुल एवं उसके पास का वृन्दावन सर्वदा कृष्ण-भक्ति के मुख्य केन्द्र रहे हैं, जहाँ पश्चिमोत्तर भारत, दक्षिण भारत और बंगाल के उपासकों के दल मिल जाते हैं। बंगला साहित्य के महाविद्वान् श्रीअसितकुमार बन्द्योपाध्याय जी वैष्णव वाङ्मय का विमर्श करके बतलाते हैं कि 'चैतन्यप्रवाहेर दु'कूलप्लावी स्रोते जेमन बांगला देश भेसे गियेछिलो, तेमनि ताँर कयेकजन शिष्य ओ अनुचर-परिकर, जाँदेर अनेकेइ स्थायिभावे प्रसिद्ध वैष्णव-तीर्थ मथुरा ओ वृन्दावने थाकतेन, ताँरा सेइ भावावेगेर निर्बाध उच्छ्वास के तत्त्वकथा ओ दर्शनेर सुदृढ़ बाँध दिये विशाल धर्म-सम्प्रदायेर सुदृढ़त्व दान करेछिलेन"[९]। सन् १५१५ के लगभग महाप्रभु श्री चैतन्य ने भी वृन्दावन की परिक्रमा की थी, किन्तु "वार्ता" में इस पर्यटन की कोई चर्चा नहीं मिलती। यद्यपि श्रीकृष्ण चैतन्य एवं सूरदास समकालीन थे और वैष्णव-सम्प्रदाय के उत्साही अनुयायी थे, तथापि "चौरासी वैष्णवन की वार्ता" के रचयिता बंगाल के कृष्ण-भक्ति के प्रसिद्ध प्रवर्तक के बारे में कुछ नहीं लिखते।

"सूरदास की वार्ता" को पढ़ने से यह ज्ञात होता है कि ब्रजभूमि के महिष्ठ कवि की भेंट सम्राट् अकबर के साथ हुई थी—देशाधिपति से "भगवदिच्छा ते सूरदास जी मिले"। उस अवसर पर बादशाह ने कहा था कि "मोकों परमेश्वर ने राज्य दीयो है"[१०]। सचमुच, यह वाक्य उनके व्यक्तित्व का उत्कृष्ट प्रकार से बोध कराने में इसीलिए सहायक है कि सोलहवीं शती के हिन्दुस्तान में एक राजेश्वर ने स्पष्टतः यह स्वीकृत किया था कि उनका शासन भगवान् की ही धरोहर थी। अकबर की धर्मशीलता का हृदय-स्पर्शी उदाहरण उसी तृतीय प्रसंग में द्रष्टव्य है : "देशाधिपति ने पूछो जो सूरदास जी, तुम्हारे लोचन तो देखियत नाहीं, सो प्यासे कैसें मरत हैं, और बिन देखें तुम उपमा को देत हो, सो तुम कैसें देत हो। तब सूरदास जी कछू बोले नाहीं। तब फेरि देशाधिपति बोलो जो इनके लोचन हैं सो तो परमेश्वर के पास हैं,

---

५– वही पृ० २।

६– वही पृ० ३।

७– वही पृष्ठ ५।

८– वही, पृष्ठ ५।

९– श्री असितकुमार बन्द्योपाध्याय, बांगला साहित्येर सम्पूर्ण इतिवृत्त, मॅडर्न बुक एजेन्सी, कलिकाता १९७१ (तृतीय संस्करण), पृष्ठ १०१।

१०– गोकुलनाथ, अष्टछाप, पृष्ठ ८।

सो उहाँ देखत हैं सो वर्णन करत हैं''[११] । इसी से प्रत्यक्ष है कि सूरदास देखने की शक्ति से भले ही रहित थे, किन्तु उनकी आँखें भगवान् के पास होने से वहाँ संसार के प्रतिरूप देख लेतीं, जिनको वे अपनी मनोरम और सुन्दर उपमाओं में वर्णित करते । ''वार्ता'' के इसी प्रसंग से यह भी प्रमाणित है कि ''सूरदास जी ने सहस्त्रावधि पद कीये हैं । ताको सागर कहियै । सो सब जगत में प्रसिद्ध भये''[१२] । इसका तात्पर्य है कि व्रजभूमि के सबसे प्रख्यात कवि ने a few thousands वा कई सहस्र पद लिखे हैं; ''नागरी-प्रचारिणी-सभा'' के सूरसागर का उत्तम संस्करण, जिसमें ४९३६ पद संकलित हैं[१३], गोकुलनाथ की ऐसी उक्ति को पुष्ट करता है ।

''वार्ता'' में बहुत-सी ललित कथाएँ भी हैं जो सूरदास के व्यक्तित्व पर प्रकाश डालती हैं । वस्तुतः प्रसंग ४ में वर्णित कथा तो इंजील के दृष्टान्तों से अपूर्व सादृश्य रखती है । गोकुलनाथ जी कहते हैं कि ''एक समय सूरदास जी मार्ग में चले जात हैं सो कोऊ चौपड़ खेलत हुते । सो वा चौपड़ खेल में ऐसे लीन हैं जो कोऊ आवते जाते की सुधि नाहीं''''सूरदास जी ने कह्यौ जो देखौ वह प्राणी कैसौ अपनौ जनमारो खोवत हैं । भगवान ने तौ मनुष्य देह दीनी है सो तौ अपनी सेवा भजन के लियै दीनी है । सो ये तौ या देह सों हाड़ कूटत हैं । या में यह लौकिक सिद्ध नाहीं सो काहे ते जो या लोक में तो अपजस और परलोक में भगवान ते बहिर्मुख''[१४] । ईसा मसीह और सूरदास के बीच में कितनी समानता है, दोनों में कितनी दीनता है !

''चौरासी वैष्णवन की वार्ता'' पढ़ने से यह भी जान लेते हैं कि ''बहुर सूरदास जी श्रीनाथ जी द्वार आयकें बहुत दिन ताईं श्रीनाथ जी की सेवा कीनी । बीच-बीच में श्रीगोकुल श्रीनवनीतप्रिया जी के दर्शन कों आवते''[१५] । ज्ञात है कि महाप्रभु जी ने सं० १५६४ में पूर्णमल्ल द्वारा निर्मित पवित्र मन्दिर में श्रीनाथ जी का स्थापन किया था ।[१६] (मन्दिर के शिखर आदि वाह्य भाग का निर्माण सम्वत् १५७६ में पूर्ण हुआ ।) गोकुलनाथ बतलाते हैं कि ''श्रीनाथ जी के वहाँ और तो सब सेवा को मंडान भयौ और कीर्तन कौ मंडान नाहीं कियौ है, तातें अब सूरदास जी को दीजियै''''तब श्रीमहाप्रभून जी ने कह्यौ जो अब तौ सूरदास तुममें कछू अविद्या रही नाहीं । तुम्हारी अविद्या तो प्रभून ने दूर कीनी । तातें कछू भगवद्यश वर्णन करौ''[१७] ।

जैसा कि प्रो० असितकुमार वन्द्योपाध्याय लिखते हैं, महाप्रभु श्री कृष्णचैतन्य के दो भक्त शिष्यों, सनातन एवं रूप जी, द्वारा वृन्दावन और मथुरा का लुप्त गौरव पुनः प्रतिष्ठित हुआ था । सनातन का देहान्त सोलहवीं शती के मध्य में हुआ था, अतः वे भी श्री वल्लभाचार्य तथा सूरदास जी के समकालीन

११– वही, पृष्ठ ९ ।

१२– वही, पृष्ठ ८ ।

१३– इस संस्करण के परिशिष्ट (१) में सम्पादक श्री नन्ददुलारे वाजपेयी ने २०३ संदिग्ध पद जोड़ दिए थे, जब कि परिशिष्ट (२) में ६७ प्रक्षिप्त पद मिलते हैं ।

१४– गोकुलनाथ, अष्टछाप, पृष्ठ ९–१० ।

१५– वही पृष्ठ ११ ।

१६– डॉ० व्रजेश्वर वर्मा के मतानुसार यह संवत् १५६६ है (हिन्दी साहित्य, द्वितीय खंड, भारतीय हिन्दी परिषद, प्रयाग, प्रथम संस्करण, पृष्ठ ३८३) ।

१७– गोकुलनाथ, अष्टछाप, पृष्ठ ७ ।

थे[१८], किन्तु "वार्ता" में उनकी विस्तृत चर्चा नहीं की गई है। इससे यह जिज्ञासा उत्पन्न हो जाती है कि पुष्टि-मार्ग और गौड़ीय वैष्णव-सम्प्रदाय के बीच कैसे सम्बन्ध रहे हैं। सब मनीषियों को यह तो ज्ञात है कि सनातन और रूप गोस्वामी के भतीजे जीव गोस्वामी ने वृन्दावन में गौड़ीय वैष्णव समाज का नेतृत्व किया था, अतः उनके अनुयायियों और वल्लभ सम्प्रदाय के सेवकों के बीच कोई सम्पर्क अवश्य हुआ होगा।

वास्तव में "कृष्णदास की वार्ता" के प्रसंग २ और प्रसंग ३ में गोकुलनाथ जी बंगालियों और पुष्टि-मार्ग के सेवकों के विवाद का विस्तृत विवरण देते हैं। सूरदास और कृष्णदास दो भिन्न व्यक्तित्व थे, अतः यह स्वाभाविक था कि "वार्ता" के रचयिता, जो मनोविज्ञान के उत्तम ज्ञाता भी थे, इन दोनों त्यागी सेवकों के विशिष्ट गुणों को निर्धारित करते। सूरदास तपस्वी, शान्तिप्रिय थे, परमेश्वर में मग्न रहा करते थे, और कृष्णदास चंचल, व्यावहारिक ज्ञान को प्रधानता देनेवाले भक्त थे, जो बंगालियों के विरुद्ध इसीलिए लड़ने लगे थे कि ये लोग श्रीनाथ जी को "बहुत दुःख देते हैं।[१९] यह प्रभुत्व (वैभव) का प्रश्न भी था, क्योंकि "प्रथम सेवा श्रीनाथ की बंगाली करते"।[२०] अवधूतदास के कहने पर कृष्णदास ने बंगालियों को प्रभुत्वहीन करने के उपाय किये, और फिर हम देखते हैं कि "तब सब बंगाली कृष्णदास सों लरन लागे। तब कृष्णदास ने द्वै-द्वै चार-चार लाठी सबन में दीनी। तब वे बंगाली तहाँ ते भाजे सो मथुरा आये। तब रूपसनातन के पास आय के सब बात कही। तब इतने में कृष्णदास आय ठाडे भये।[२१]

हम "सूरदास की वार्ता" पर ध्यान दें, तो देखेंगे कि इन दोनों में कितना पार्थक्य है। जब अकबर ने सूरदास का जाते समय अभिवादन किया, तो यह विचार किया "जो इनको कछू दीयौ चाहियै परि यह तो भगवदीय हैं, इनको कछू काहू बात की इच्छा नाहीं"। और "पाछें सूरदास जी देशाधिपति सों विदा होय कें श्रीनाथ जी द्वार आये"।[२२] इस विवरण को पढ़ने से स्पष्ट हो जाता है कि एक ही सन्तत्व कृष्णदास में वीररस, अतः रजोगुणप्रधान है, सूरदास में सत्त्वगुणप्रधान। इति ॥

■

१८– देखें श्री असित कुमार बन्द्योपाध्याय, बंगला साहित्य का इतिहास, पृष्ठ १०७।

१९– गोकुलनाथ, अष्टछाप, पृ० २०।

२०– वही, पृ० २०।

२१– वही, पृ० २३।

२२– वही, पृ० ९।

हमारे लेखक

श्री अमरेन्द्र मिश्र

हिन्दी विभाग, सी० एम० कॉलेज, दरभंगा।

डॉ० अम्बाशंकर नागर

आचार्य एवं अध्यक्ष, हिन्दी विभाग, गुजरात विश्वविद्यालय, अहमदाबाद – ९।

डॉ० आदर्श सक्सेना

प्राध्यापक, हिन्दी विभाग, श्री जैन स्नातकोत्तर महाविद्यालय, बीकानेर – ३३४ ००१।

डॉ० कमलाप्रसाद द्विवेदी

राष्ट्रीय पुस्तकालय, बेल्विडियर, कलकत्ता।

डॉ० कृष्णविहारी मिश्र

हिन्दी विभाग, बंगवासी कालेज, कलकत्ता।
७ बी, हरिमोहन राय लेन, कलकत्ता – १५।

डॉ० गोवर्धन नाथ शुक्ल

आचार्य, हिन्दी विभाग अलीगढ़, मुस्लिम विश्वविद्यालय, अलीगढ़।
शुक्ल सदन, पुरानी कोतवाली, अलीगढ़ – २०२ ००१।

श्री चन्द्रप्रकाश आर्य

नई बस्ती, बिजनौर, उत्तर प्रदेश।

श्री जगन्नाथ सेठ

चारुचन्द्र कालेज, लेक रोड, कलकत्ता – २९।
२०४ चित्तरंजन एवेन्यू, कलकत्ता – ७०० ००७।

डॉ० जितेन्द्रनाथ पाठक

हिन्दी विभागाध्यक्ष एवं कार्यवाहक प्राचार्य, स्नातकोत्तर महाविद्यालय, गाजीपुर।
वाणी प्रतिष्ठान, रवीन्द्रपुरी, गाजीपुर (उ० प्र०)।

श्री नर नारायण राय

हिन्दी विभाग, एम० एल० ए० कालेज, कसवा, पूर्णिया।
गढ़ बनैली, पूर्णिया (विहार) – ८५४ ३२५।

डॉ० नगेन्द्र चौरसिया

प्राध्यापक, राजभाषा विभाग, गृह मंत्रालय, भारत सरकार, हिन्दी-शिक्षण योजना,
२५, गवर्मेण्ट प्लेस ईस्ट, १० एजरा मेंसन, कलकत्ता – ७०० ०६९।
२ ई, घोषाल स्ट्रीट, कलकत्ता – ७०० ०१९।

सुश्री निर्मला भाउवाला

२, ऑकलैण्ड प्लेस, कलकत्ता – १६।

डॉ० परमानन्द श्रीवास्तव

हिन्दी विभाग, गोरखपुर विश्वविद्यालय, गोरखपुर।

बी ७०, आवास-विकास कॉलोनी, सूरजकुण्ड, गोरखपुर।

डॉ० प्रभाकर माचवे

ई १८०, ग्रेटर कैलाश, पार्ट २, नई दिल्ली – ११० ०४८।

डॉ० प्रभुदयाल मीतल

अध्यक्ष, साहित्य संस्थान, मथुरा।

मीतल निवास, डैम्पियर नगर, मथुरा – २८१ ००१।

डॉ० प्रेमशंकर

आचार्य एवं अध्यक्ष, हिन्दी विभाग, सागर विश्वविद्यालय, सागर (मध्य प्रदेश) – ४७० ००२।

स- ६८, सागर विश्वविद्यालय, सागर।

डॉ० बच्चन सिंह

आचार्य एवं अध्यक्ष, हिन्दी विभाग, हिमाचल प्रदेश विश्वविद्यालय, शिमला – १७१ ००५

डॉ० भ० ह० राजूरकर

प्रोफेसर एवं अध्यक्ष, हिन्दी विभाग, मराठवाड़ा युनिवर्सीटी, औरंगाबाद – ४३१ ००४, (महाराष्ट्र)।

युनिवर्सीटी कैम्पस, औरंगाबाद – ४३१ ००४ (महाराष्ट्र)।

डॉ० भगवती प्रसाद सिंह

आचार्य एवं अध्यक्ष, हिन्दी विभाग, गोरखपुर विश्वविद्यालय, गोरखपुर।

साकेत, बेतियाहाटा, गोरखपुर।

श्रीमती भारती शर्मा

हिन्दी विभाग, रानी बिड़ला गर्ल्स कॉलेज, सैयद अमीर अली एवेन्यू, कलकत्ता।

डॉ० मान्धाता राय

हिन्दी विभागाध्यक्ष, सहजानन्द महाविद्यालय, गाजीपुर।

श्री मृत्युन्जय उपाध्याय

३७ ए, दुर्गाचरण मित्र स्ट्रीट, कलकत्ता – ६।

डॉ० युगेश्वर

हिन्दी विभाग, काशी विद्यापीठ, वाराणसी।

डॉ० रमेश कुन्तल मेघ

आचार्य एवं अध्यक्ष, हिन्दी विभाग, गुरु नानक विश्वविद्यालय, अमृतसर – १४३ ००५।

डॉ० रमेश चन्द्र सिंह

गोखले मेमोरियल गर्ल्स कॉलेज, हरीश मुखर्जी रोड, कलकत्ता – २०।

८ ए/१, रासाल मुखर्जी रोड, कलकत्ता – २५।

डॉ० राजनारायण राय

अध्यक्ष, हिन्दी विभाग, सेना कैडेट कालेज (भा० सै० अ०) देहरादून ।
१३०, इन्दिरा नगर कॉलोनी, पो० काँवली, देहरादून – २४८ ००१ ।

डॉ० राममूर्ति त्रिपाठी

आचार्य– नवीनपीठ, अध्यक्ष– हिन्दी प्राध्ययन केन्द्र, अध्यक्ष– कला-संकाय, विक्रम विश्वविद्यालय, उज्जैन – ४५६ ०१० ।
कोठी रोड, उज्जैन ।

डॉ० राजकिशोर पाण्डेय

प्रोफेसर एवं अध्यक्ष, हिन्दी विभाग, उस्मानिया विश्वविद्यालय, हैदराबाद – ५०० ००७ ।

डॉ० राजमल बोरा

रीडर, हिन्दी विभाग, मराठवाड़ा विश्वविद्यालय, औरंगाबाद (महाराष्ट्र) ।
६, आनन्द नगर, टाउन हाल, औरंगाबाद (महाराष्ट्र) ।

डॉ० रामस्वरूप आर्य

रीडर एवं अध्यक्ष, हिन्दी विभाग, वर्धमान कॉलेज, नई बस्ती, बिजनौर (उत्तर प्रदेश) ।

डॉ० लक्ष्मीनारायण दुबे

रीडर, हिन्दी विभाग, सागर विश्वविद्यालय, सागर (मध्य प्रदेश) – ४७० ००३ ।

श्री लालबहादुर सिंह

मंत्री, वंगीय हिन्दी परिषद, १५ बंकिम चटर्जी स्ट्रीट, कलकत्ता ।
६ ए, जनक रोड, कलकत्ता – २९ ।

डॉ० वचनदेव कुमार

प्रोफेसर एवं अध्यक्ष, हिन्दी विभाग, राँची विश्वविद्यालय, राँची ।
हरिहर सिंह रोड, मोरावादी, राँची ।

श्री वासुदेव पोद्दार

७, हँसपोखरिया लेन, कलकत्ता – ७ ।

डॉ० वासुदेव सिंह

रीडर, हिन्दी विभाग, काशी विद्यापीठ, वाराणसी ।
प्राध्यापक आवास, काशी विद्यापीठ, वाराणसी ।

डॉ० विजय शुक्ल

हिन्दी विभाग, जबलपुर विश्वविद्यालय, जबलपुर ।
राजा गोकुलदास महल, जबलपुर ।

डॉ० विश्वम्भर नाथ उपाध्याय

रीडर, हिन्दी विभाग, राजस्थान विश्वविद्यालय, जयपुर– ४ ।
गया-प्रयाग, ७ ड-२५, जवाहर नगर, जयपुर – ४ ।

डॉ० विजयेन्द्र स्नातक

प्रोफेसर, हिन्दी विभाग, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली।
ए ५/३, राणा प्रताप बाग, दिल्ली – ९।

आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र

वाणी वितान, ब्रह्मनाल, वाराणसी।

आचार्य विनय मोहन शर्मा

ई ६/एम. आई. जी ७, अरेरा कॉलोनी, भोपाल – १४।

श्री विष्णुकान्त शास्त्री

रीडर, हिन्दी विभाग, कलकत्ता विश्वविद्यालय।
२८०, चित्तरंजन एवेन्यू, कलकत्ता – ६।

डॉ० वीरेन्द्र श्रीवास्तव

(भूतपूर्व) यू० जी० सी० प्रोफेसर, हिन्दी विभाग, पटना विश्वविद्यालय।
इन्द्र निकेतन, रामपुर रोड, पटना – ६।

डॉ० वेदप्रकाश 'अमिताभ'

स्नातकोत्तर हिन्दी विभाग, धर्म समाज कॉलेज, अलीगढ़।
राम निवास, द्वारकापुरी, अलीगढ़।

डॉ० शम्भुशरण शुक्ल

हिन्दी विभाग, उपाधि (स्नातकोत्तर) महाविद्यालय, पीलीभीत।
अमर भवन, मो० तुलाराम, पीलीभीत (उत्तर प्रदेश) – २६२ ००१।

डॉ० श्यामसुन्दर घोष

हिन्दी विभाग, गोड्डा कॉलेज, गोड्डा, संताल परगना।

श्री शान्ताकुमार

मुख्य मंत्री, हिमाचल प्रदेश।

श्री श्यामसुन्दर शुक्ल

१९८ बी, चित्तरंजन एवेन्यू, कलकत्ता – ७।

डॉ० शिवकुमार मिश्र

आचार्य एवं अध्यक्ष, सरदार पटेल विश्वविद्यालय, वल्लभ विद्यानगर (गुजरात)।

डॉ० शिवनारायण खन्ना

राष्ट्रीय पुस्तकालय, कलकत्ता।

श्री श्रीनिवास त्रिपाठी

हेरम्यचन्द्र कॉलेज, गोल पार्क, कलकत्ता – २९।
२, राजेन्द्र मल्लिक स्ट्रीट, कलकत्ता – ७।

श्री सन्हैयालाल ओझा

८/ए, नंदन रोड, भवानीपुर, कलकत्ता – ७०० ०२५ ।

डॉ० सत्येन्द्र

४ एल ३६, जवाहर नगर, जयपुर – ३०२ ००४ ।

आचार्य सीताराम चतुर्वेदी

६३/४३, उत्तर वेनिया वाग, वाराणसी – २२१ ००१ ।
वेदपाठी भवन, पंचमुखी महादेव मार्ग, मुजफ्फरनगर – २ ।

डॉ० सोम शेखर सोम

अध्यक्ष, हिन्दी विभाग, किट्टल कालेज, धारवाड़ – ५८० ००१ ।
अनन्त हर्ष, ५० तेजस्वी नगर, धारवाड़ – ५८० ००२ (कर्नाटक) ।

आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी

ए ३३, रवीन्द्रपुरी, वाराणसी – ५ ।

डॉ० हरदयाल

प्राध्यापक, हिन्दी विभाग, श्यामलाल कॉलेज (प्रातः) शाहदरा, दिल्ली – ३२ ।
जे ४, नवीन शाहदरा, दिल्ली – ११० ०३२ ।

